श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

अष्टादशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वतीजी महाराज

गीतामण्डली

श्री शंकराचार्य आश्रम,

१५, बलोपीबाग (ब्रह्मनिवास),

इलाहाबाद-६

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० इ०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
श्रीशंकराचार्य आश्रम १५—मलोपी
बाग (ब्रह्मनिवास) इलाहाबाद—६

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/२८ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-
निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना—५ (बिहार)

७—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

८—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच. एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

९—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे
कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

१०—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

❀ ॐ ❀
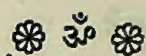
श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा) के तृतीय अध्याय का शुद्धि-पत्र

[गीतामण्डली के अध्यक्ष अस्वस्थ रहने के कारण प्रेस से (वाराणसी से) अधिक दूर थे इसलिये स्वयं प्रूफ नहीं देख सके। इस कारण ग्रन्थ में अनेक भूलें रह गयीं हैं किन्तु अधिकांश भूलें अल्पविराम (,) तथा पूर्णविराम (।) की ही हैं। अतः विशेष कोई महत्वपूर्ण भूल नहीं है। तथापि यह शुद्धि-पत्र विस्तृतरूप से प्रकाशित किया जा रहा है जिससे पाठकवर्ग को किसी स्थान पर वाक्यार्थ तथा भावार्थ समझने में कोई कठिनाई न हो। पाठकों से अनुरोध है कि वे स्वल्प परिश्रम करके पहले शुद्धि-पत्र द्वारा ग्रन्थ को शुद्ध कर लें एवं तत्पश्चात् ध्यान से पढ़ कर इस अभूतपूर्व ग्रन्थ का रसास्वादन करें।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१	२०	[	Delete
२	१५	तथा	तब
२	१६	ज्ञान कर्म के	ज्ञान-कर्म के
३	१५	विरुद्ध ही	विरुद्ध
५	६	करते हैं इत्यादि)	करते हैं इत्यादि)।
७	२६	प्रगट	प्रकट
१०	६	सकता।	सकता।]
३१	११ १५	तत्वज्ञान निष्ठा	तत्वज्ञाननिष्ठा
,,	१९	व्यामिश्र (उलट-पुलट बातों के	मानों (तुम) व्यामिश्र (उलट
,,	२१	कह (मानों	पुलट) बातों के द्वारा।
,,	२२	ज्ञान के (जो	मानते (जैसा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
२०	१	[असल बात यह है	[अभिप्राय यह है
२०	२	कम	कर्म
२०	१८	शब्द के	'इव' शब्द के
२०	१९	किया तब भी मुझे	किया । मुझे
२०	२३	श्रेयः प्राप्त कर सकूँ ।	श्रेयः (मोक्ष) प्राप्त कर सकूँ ।
२१	१६	(कल्याण मोक्ष	(कल्याण या मोक्ष
२२	११	दूसरी निष्ठा । स्थिति । ये	दूसरी निष्ठा (स्थिति), ये
२३	३	आविष्कार किया है ।	आविष्कार किया है
,,	१०	परमहस	परमहंस
,,	१५	ब्रह्मज्ञानम्"	ब्रह्मज्ञानाम्"
,,	१६	सभी वेदान्त के	जो सभी वेदान्तवाक्यों के
,,	१७	प्रतिपादित हुये हैं । वे	प्रतिपादित हुए हैं वे
,,	२०	इस स्थान में	Delete
,,	२०	मुक्त	युक्त
,,	३२	योग है । (अर्थात् चित्तशुद्धि लाभ का उपाय है)	योग है (अर्थात् चित्तशुद्धि लाभ का उपाय) है ।
२४	४	करता तो	करेगा, यह
,,	६	समुच्चय विकल्प	समुच्चय तथा विकल्प
,,	२८	कर्त्तव्य है	कर्त्तव्य है ।
,,	२९	रहती है ।	रहती है,
२५	११	मुक्त	युक्त
,,	२३	कारण भिन्न	कारण वे भिन्न
,,	२४	अनुष्ठित होता है	अनुष्ठित होते हैं,
२६	१-२	इस लिए वह दूसरा मोक्ष का साधन है ।]	इस लिए वह मोक्ष का गौण साधन है ।]
,,	७	निष्ठा	निष्ठा (मो[illegible]
,,	१७	कर्मयोगी ऐसे अधिकारी	ऐसे क[illegible]
,,	१९	सकते हैं)	सक[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
२६	२०	है।	है—
,,	२५	समझा,	समझा।
२६	३०	मन्विच्छन्	मन्विच्छ
२७	६	प्रगट	प्रकट
२८	३	वाचां	वाचो
,,	५	होता है	होता है।
,,	२५	दो, निष्ठा	दो निष्ठाएं
२६	३	शुद्धान्तःकरण होकर	शुद्धान्तःकरण हैं वे
२६	३	सर्वकर्म संन्यासी	सर्वकर्मसंन्यासी
,,	१२	अर्जुन विपन्न	अर्जुन विषण्ण
,,	१५	कहा गया है।	कहा गया है,
,,	१८	सकती है।)	सकती है)
,,	२१	नहीं।	नहीं
,,	२४	उदित होती है।	उदित होती है
,,	२८	असम्भव है।	असम्भव है
३०	१	अनारम्भात् नैष्कर्म्यं	अनारम्भात् न नैष्कर्म्यं
,,	४	नष्कर्म्य	नैष्कर्म्य
,,	७	पुरुषः मुमुक्षु ह्यन्ति	पुरुषः—मुमुक्षु
,,	८	प्रारम्भ	अनारम्भ
,,	८	करने से	करने से।
,,	६	इस जन्म में या जन्मान्तर में	Delete
,,	१०	हो जाती है।	होती है
,,	११	एवं इस कारण ज्ञान की	तथा ज्ञान की
,,	११	कारण हो जाती है।	कारण भी होती है।
,,	२७	(आत्म-	(क्योंकि आत्म-
३१	११	जो	Delete
,,	१६	युक्त	मुक्त
,,	२१	कह रहे हैं	कह रहे हैं—]
,,	२२	ज्ञान के बिना	Delete

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
३१	२६	सूत्र विहित	सूत्र तथा विहित
३२	४	ज्ञाननिष्ठा का रूप	ज्ञाननिष्ठारूप फल प्राप्त
३२	१७	ज्ञानं	ज्ञान
३२	२०	करते हैं,	करते हैं।
३३	१५	निष्फल,	निष्कल,
३६	६	कर्मत्याग से लिया जाय	कर्मत्याग हो
३६	७	होगा	होगा।
३६	१३	चाहिये	चाहिये,
३८	१५	वैसे	वह
३८	२६	वे लाग	वे लोग
४०	१८	अवशः—(सन्) अवश	अवशः (सन्)—अवश
४०	१९	कार्य में	Delete
४०	२१	लोग	Delete
४२	१४	जो	Delete
४३	८	सम्भव है	सम्भव है।
४३	८	कह रहे हैं वही	कह रहे हैं कि
४३	१६	जाता है	जाता है।
४४	८	के विहित	के लिए विहित
४४	११	कपट मात्र	कपटता
४४	१५	अज्ञ व्यक्ति	अज्ञ व्यक्ति की
४४	१६	[ ]	Delete
४४	२३	रागद्वेषरूपादि	रागद्वेषादि
४४	३५	असक्तः (सन्)	असक्तः (सन्)—
४५	१६	हैं दोनों भेद	दोनों में भेद है।
,,	२३	ऐसी बुद्धि को]	ऐसी बुद्धि अवलम्बन कर]
,,	२८-२९	अवस्था है।	अवस्था है,
४६	२७	होने के लिये	होने के कारण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
४६	२८	है।	है
४७	६	तथा	तब
,,	१०	जाती हैं	जाती हैं।
४७	१८	उस कारण के लिये	उस कारण
४८	५	स्वर्गादिप्राप्तिरूप	स्वर्गादिप्राप्ति
,,	१८	श्रेष्ठ है।	श्रेष्ठ है
,,	२०	तुम्हारे	Delete
४६	१५	शरीरयात्रा,	शरीरयात्रा
,,	२०	नित्यकर्म उपासना	नित्यकर्म, उपासना
,,	२५	भाष्यदीपिका के अकर्मणः कर्म उपाय इस वाक्य	भाष्यदीपिका में 'अकर्मणः कर्म ज्यायः' इस वाक्य
,,	२६	विहितकर्म ।	विहितकर्म
५०	५	'संन्यास एवाऽप्यरेचयत्'	'संन्यास एवाऽत्यरेचयत्'
,,	१५	आलसी इसे ही यहाँ कहा जा रहा है	Delete
,,	१७	जानकर)	कर)
,,	२३	अतः	Delete
,,	२६	लिये केवल	लिये करो। केवल
५१	६	प्रवाह के कारण	प्रवाह में
,,	२१	क	के
५२	१	शास्त्र के	अतः शास्त्र के
,,	१६	चित्त को शुद्ध रखकर (विषयों में अनासक्त कर) तत्त्वज्ञान	चित्त को अशुद्ध अर्थात् विषयों में आसक्त कर तत्त्वज्ञान
,,	१६	।	Delete
५३	२१	जाता है।	जाता है
५४	८	विष्णु प्रीति	विष्णु की प्रीति
५५	६-२१	नारायणी टीका-['कर्मणा. ....नहीं प्राप्त करोगे।]	नारायणी टीका-'कर्मणा...... ....नहीं प्राप्त करोगे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
५५	२८-२९	धर्म कर्म	धर्म-कर्म
५७	२	कर्मफल हेतु	कर्मफल के हेतु
,,	१२	धर्मञ्चार्थम:नमर्था	धर्मञ्चर्यमानमर्था
५७	१६	योगरूप फल	पुण्य रूप फल
,,	१७-१८	काम्य कर्म	काम्य-कर्म
५८	२०	भवेत्—	है।
,,	२२	प्रगट	प्रकट
,,	२४	भा	भी
,,	२९	की अधिकारिणी	का अधिकारी
५९	२	क	के
५९	१६	करो।	करो
६०	५	जाती है)	जाती है वह)
,,	१८	देवम्—	देवान्—
,,	२२	(देवताओं	देवताओं
,,	२२-२३	प्रतिबन्ध......निःशेष रूपसे	Delete
६१	४	स्वयं प्रभात विज्ञान	स्वयंप्रभातविज्ञान
६२	५	अर्थ ग्रहण से......इसका	Delete
,,	१३	चोर ही है।	चोर ही है।]
६३	२२	काम	Delete
,,	२४	यह जो	ये
६४	७	प्रतिबन्धक है, पापों	प्रतिबन्धक है वे पापों
६४	१८	अर्थात्	अर्थ है—
६४	२०	करते हैं।)]	करते हैं।]
६४	२९	टिप्पणी (१) मधुसूद—नअथ	टिप्पणी (१) मधुसूदन—अर्घ
६५	१	चुन्नी उदयकुम्भी	चुल्ली उदकुम्भी
६५	३	पेषणी (शिन) चुल्हा,	पेषणी (सिल) चूल्हा,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
६६	३	कर्त्तव्य हैं]	कर्तव्य है।
६६	२४	करते हैं।	करते हैं
६७	१	प्रतिदिन का अवश्य कर्त्तव्य है।	प्रतिदिन अवश्य कर्तव्य है,
६७	१३.१४	प्राप्ति होती है, जो कि ज्ञान तथा मोक्ष...में सहायक हैं।	प्राप्ति होती है (जो कि ज्ञान तथा मोक्ष....में सहायक है।)
६७	१८	करते हैं।	करते हैं
६७	२८	शुद्धि उत्पन्नकर	शुद्धि द्वारा
६७	२६	कर्म ही,	कर्म ही
६८	३	अतः वह द्रष्टव्य ही	Delete
६८	१५	अन्नरज–शुक्र के रूप में	अन्न रज–शुक्र के रूप में
६६	७	संग्राहक	संग्राहक है
६६	१३	चाहिये	चाहिये,
७१	४	होती है।	होती है
७१	८	जो कहा गया है, वह,	जो कहा गया है
७१	६	कारण (या प्रमाण) है उन्हें	कारण (या प्रमाण) है, अतः उन्हें
७१	१७	साच्चदानन्द	सच्चिदानन्द
७२	१	प्राणी ऐसे	Delete.
७२	६	हुआ है।	हुआ है,
७२	७	वेद सर्वार्थ प्रकाशक	(वेद) सर्वार्थप्रकाशक
७३	१	के द्वारा सर्वगत अर्थात् स्थित	के द्वारा वेद सर्वगत अर्थात् सिद्धविषयों में [भूतकाल में घटित विषयों के प्रतिपादक भूता-न्वाख्यान (भूतार्थवाद अर्थात् भूतकाल की घटनाओं का वर्णन) आदि में] स्थित
७३	८	(ऋक् आदि वेद)	(ऋक् आदि वेद से)
७३	२२	वेद विहित ही कर देना है—	वेद ही विहित कर देता है—
७६	२०	(जीवन) फल अघ	(जीवन) अघ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
७६	२०	ही रहती है; उसे	ही रहती है उसे
७६	२३	ईश्वर को	ईश्वर की
७७	१५	करना यज्ञ	करना। यज्ञ
७६	१८	'अहं ब्रह्मास्मि।' [मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा	'अहं ब्रह्मास्मि' ('मैं ब्रह्म ही हूँ') ऐसा
७६	२०	सर्वदा विहार) है]	सर्वदा विहार) है
७६	२२	'आत्मवृत्ति'	'आत्मरति'
७६	२५-२६	किया गया है। आत्मतृप्तः च आत्मतृप्तः एव	किया गया है अर्थात् आत्मतृप्तः च = आत्मतृप्तः एव
८०	६	रहती है।	रहती है
८०	८	गया है।	गया है
८०	१०	किया गया है।	किया गया है।]
८०	१०	जो ऐसे तत्त्वज्ञानी हैं	Delete
८१	१६	(आत्मविरक्ति)	(आत्मातिरिक्त)
८१	२४	उत्तर दक्षिण मार्ग	उत्तर तथा दक्षिण मार्ग
८२	११	अर्थात् मापयति ग्रहण	अर्थात् ग्रहण
८२	१६	विषयों में	विषयों में)
८२	२०	नहीं है)	नहीं है
८२	२८	जिस प्रकार का भी पुरुष	जिस प्रकार पुरूष
८३	३	शास्त्र से	शास्त्र में
८३	४	विद्वान् यजते	'विद्वान् यजते'
८३	२६	रति है।	रति है
८३	३१	रहती है।	रहती है
८३	१३	अर्थात् वे प्रतिकर्म	अर्थात् कर्म
८४	१५	कम	कर्म
८६	८	संस्मरण	संसरण
८६	२१	जाते हैं।	जाते हैं,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
८६	२४-२५	जागतिक सब'''इस प्रकार के	(जागतिक सब'''इस प्रकार के)
८८	१५	नहीं है,	नहीं है।
८८	२२	अद्वैतदर्शी की,	अद्वैतदर्शी की
८८	२३	पूर्णस्वरूप'''महात्मा की	(पूर्णस्वरूप'''महात्मा की)
८६	२	तरह का	तरह विधि-निषेध का
८६	६	कोई विधि–शास्त्र	किसी विधि–शास्त्र
८९	११	ऐसी बुद्धि)	ऐसी बुद्धि करते)
,,	१४	त्याग कर वाक्य के रूप में	त्याग कर बालक के रूप में
,,	१६	अर्थात् संगत	अर्थात् संयत
६०	२	नाक्रियेत्	नाद्रियेत्
,,	११	इत्यादि (बुद्धि को वशीभूत होकर)	इत्यादि बुद्धि के वशीभूत होकर
,,	१७	बनते हैं।	बनते हैं
६१	४	परमात्मा में,	परमात्मा में
,,	८-६	कर्म साध्य नहीं है केवल कर्म के द्वारा असम्भव है (अर्थात्	कर्म-साध्य नहीं है—केवल कर्म के द्वारा (अर्थात्
६१	१५	है। क्योंकि	है क्योंकि
,,	३०	ज्ञान के	ज्ञान से
६२	१२	व्यपाश्रय है।	Delete
,,	१४	अर्थव्यपाश्रय—अर्थ के	अर्थव्यपाश्रयअर्थ के
,,	१५	व्यपाश्रय अवलम्बन या आश्रय)	व्यपाश्रय (अवलम्बन या आश्रय)
६२	२४	अकृत (कोई कर्म	अकृत कोई कर्म
,,	२८	"तस्य च्न	"तस्य न
६३	१	'सप्लुतोदकस्थानीय	'संप्लुतोदकस्थानीय'
,,	१०-११	यह तीन का साधन एवं जब तक	ये तीनों ही साधन-अवस्था हैं। जब तक
,,	१४	साक्षात्कार यह	साक्षात्कार। यह
,,	२३	(६)पदार्थभाविनी–	(६) पदार्थाभाविनी–

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
९३	२५	पदार्थभाविनी	पदार्थाभाविनी
,,	२६	इसे योगियों	यह योगियों
,,	२८	ब्रह्मविदों में उत्कृष्ट	ब्रह्मविदों में उत्कृष्टतर
,,	३२	प्रलय के विना	प्रयत्न के विना
९४	७	मदिरामदन्धः	मदिरामदान्धः
,,	१९	शेतेऽयायमशरीरो मृतः	शेतेऽयमशरीरोऽमृतः
,,	२६-२७	सत्तापत्ति है। (ज्ञान की अवस्था)	सत्तापत्ति है ज्ञान की अवस्था।
९४	२९	पदार्थभाविनी	पदार्थाभाविनी
९५	५	श्रीधर—	(२) श्रीधर-
,,	१४	कर रहे हैं	कह रहे हैं
,,	२२	हुआ करते हैं	हुआ करते हैं।
,,	३१	करके प्रकृति पुण्य	करके पुण्य
९६	१	है।	है
९६	६	ब्रह्म है विज्ञान	ब्रह्म है, विज्ञान
९६	२४	ह	है
९६	२६	साधन योग्य	साधन के योग्य
९६	२६	विषय	(विषय)
९७	९	का	की
९७	१०	पृथक् नहीं	पृथक् सत्ता नहीं
९७	२९	होता है	होता है।
९८	११	रहता है	रहता है।
९८	१९	रहता है	रहता है,
९८	२०	नहीं है	नहीं है,
९९	३	त्नस्मादसक्तः	तस्मादसक्तः
९९	५	समाचर हि	समाचर, हि
९९	१८	चाहते हैं	चाहते हैं,
९९	२९	तब तक	जब तक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१०२	१६	प्राप्त हुए थे।	प्राप्त हुए थे
१०२	२६	कृतार्थी	कृतार्थ
१०३	२७	लोकेषणायाश्च उत्थानार्थं	लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ
१०५	८	नित्य कर्मादि को	नित्य कर्मादि) को
१०६	६	निकृष्ट लोक, लोग संग्रह शब्द का अर्थ ही	निकृष्ट लोक। लोकसंग्रह शब्द का अर्थ है
१०६	१२	(लोगों के'''जानकर)	लोगों के'''जानकर
१०८	५	वैध तथा अवैध कर्मों का	अवैध कर्मों का
११०	६	मे	में
११०	२२	लौकिक में मेरी	लौकिक कर्म में मेरी
११०	२७	मैं जागतिक किसी विषय की	मेरी किसी जागतिक विषय की
११०	२८	लिये कर्म में	लिये मैं कर्म में
१११	६	योग्यवस्तु) वस्तु	योग्य) वस्तु
११३	११	मेरे कर्म नहीं	मेरे कर्म न
११४	१६	–अहं चेत् कर्म न कुर्याम्–में	अहं चेत् –में
११४	२७	स्थिति (रक्षा के हेतु) स्वरूप	स्थिति (रक्षा) के हेतुस्वरूप
११४	२७	जायेंगे	जायेंगे,
११५	५	(अहं	अहम्
११५	१०	करूँगा।	करूँगा
११५	१३	अनुरूप	अननुरूप
११६	१८	उस वाणी	उस वर्ण
११७	२०	उत्पन्न हुए हो इसलिये अपना मत अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर उसमें रत	उत्पन्न हुए हो एवं भा में (सर्वप्रकाशक आत्मा में) रत
११८	६	में ही	में
११८	१८	श्री भगवान् के	श्रीभगवान् ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
११८	२६	व्यक्ति लोग	व्यक्ति
१२०	१४	व्यक्तियों को,	व्यक्तियों का
१२०	२८	किस	जिस
१२१	१७	बुद्धि	वृद्धि
१२२	१०	स्मृति	स्तुति
१२२	१६	हा	हो
१२२	१८	अज्ञस्याद्धप्रबुद्धस्य	अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य
१२२	२२	भा	भी
१२२	२३	ानत्यनैमित्तिक	नित्यनैमित्तिक
१२३	६-७	जिसके चित्त (आत्मा) में अहंकार है वह व्यक्ति	जिनके चित्त (आत्मा) अहंकार द्वारा विशेपरूप से मूढ़ता को प्राप्त हुए हैं, वे व्यक्ति
१२४	१४	माया के द्वारा	माया के
१२४	१६	हा	हो
१२४	२६	कर),	कर)
१२४	२७	'विमूढात्मा' ।	'विमूढात्मा'
१२४	२८	मन्त्र	मन्ता
१२४	२८	बाद्धा	बोद्धा
१२५	३	वृत्तिभावनापन्न रूप से	वृत्तिभावनापन्न
१२६	१७	सम्बन्धन	सम्बन्ध
१२६	१९	इन्द्रिय के रूप में, प्रकृति के गुण विषय के रूप में, परिणत	इन्द्रिय के रूप में प्रकृति के गुण, विषय के रूप में परिणत
१२७	४	(पृथक्) है स्वयं उन	(पृथक्) है तथा उन
१२७	५	जिस प्रकार	Delete
१२७	७-८	विलक्षणता''''अर्थात्	Delete
१२७	९	तत्त्व को	तीनों तत्त्वों को
१२७	१४	गुण हैं ।	गुण हैं
१२७	३२	एवं	Delete

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१२८	७	उस गुण	उस गुण तथा कर्म
१२८	८	विभागरूपमासक	विभागरूपभासक
१२८	२१	होता हूं,	नहीं होता हूँ,
१२८	२६	संकलन	संकल्प
१२८	३०	कर्म (क्रिया) नहीं	कर्म (क्रिया) नहीं है,
१२९	२	विद्वान् यहां	विद्वान्। यहां
१२६	११	स्थान में	रूप में
१२६	१६	तथा विकारी।	तथा विकारी है।
१३०	५	सज्जन्ते;	सज्जन्ते,
१३०	१५-१६	(मधुसूदन)] सम्यक् मूढ (मोह-ग्रस्त) व्यक्ति लोग चित्तशुद्धि के	(मधुसूदन)] चित्तशुद्धि के
१३५	१०	मयि—त्यागकर अर्थात् सर्वात्म-स्वरूप	मयि—सर्वात्म स्वरूप मुझ में
१३५	१७	ऐसा	ऐसा होकर
१३७	२	कि 'मैं कर्ता हूँ',	'मैं कर्ता हूँ',
१३८	१३	ये मे मतमिदं	ये मे मतमिदं
१३८	१६	अनुतिष्ठिन्ति	अनुतिष्ठन्ति
१३६	४	जो मत को	जिस मत को
१३६	६	नित्यम्—अनुतिष्ठन्ति सदा ही	नित्यम् अनुतिष्ठन्ति—सदा ही
१३६	१०	मन है।	मत है।
१३६	१६	सर्व	सर्वदा
१३६	२२	प्राप्ति धर्माधर्म	प्राप्ति द्वारा धर्माधर्म
१४१	२३	विवेकहीन व्यक्ति लोग)	विवेकहीन व्यक्ति)
१४१	२६	विधिरूप से	विविधरूप से
१४२	५	परमार्थ दर्शनरूप	परमार्थदर्शनरूप
१४२	११	योग अनुष्ठानकर्ता	योग के अनुष्ठानकर्ता
१४२	२०	उक्त लक्षण युक्त	उक्त लक्षणयुक्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१४३	६	यंत्र स्वरूप होकर,	यंत्र होकर,
१४४	६	प्रकृति शब्द का	[प्रकृति शब्द का
१४४	११	होता है; [श्रुति में	होता है । श्रुति में
१४४	१८	अभ्यास	अध्यास
१४७	३	समत	समस्त
१४७	१०	विधि निषेधों	विधिनिषेधों
१४६	६	करता है । अर्थात् उसे	करता है अर्थात् जैसे
१५०	१०	विवेकज्ञान,	विवेकज्ञान ।
१५०	२०	अर्थात् स्वाभाविक है अर्थात् स्वाभाविक रागद्वेष	अर्थात् स्वाभाविक रागद्वेष
१५१	५	पहले ही राग द्वेष के प्रतिबन्धक, नाशक	पहले ही शास्त्र रागद्वेष के प्रति-बन्धक (नाशक)
१५१	६	आदि में प्रवृत्त डूबने से	आदि में प्रवृत्त कर देता है। अतः डूबने से
१५१	१२	प्रत	प्रस्त
१५१	१८	कहेंगे' न द्वेष्टयकुशलं	कहेंगे 'न द्वेष्टयकुशलं
१५१	१६	षज्जते,	षज्जते',
१५१	३१	परिपन्थी—होते हैं	परिपन्थी होते हैं
१५२	३	करता है	करता है ।
१५२	११	ईश्वरगति	ईश्वर की प्रीति
१५२	२६	जो प्रकृति	प्रकृति
१५२	२६	जन्मार्जित होकर संस्कार	जन्मार्जित संस्कार
१५२	२६	अर्थात् विपरीत भावना, शास्त्र	(विपरीत भावना) अर्थात् शास्त्र
१५२	३०	प्रति भी	प्रति जो
१५२	३१	असमीचीनत्व	उसमें असमीचीनत्व
१५३	२०	उन्मुख	उन्मुक्त
१५८	२३	इच्छा न रहने पर	इच्छा रहने पर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१६०	२५	आयात	आपात
१६१	१०	एषः कामः, (एव) क्रोधः	एषः कामः, एषः (एव) क्रोधः
१६२	५	इस लिए कर्म को	इस लिये काम को
१६३	५	जा सकता है) ऐसा जानकर शम, शान्ति का अवलम्बन	जा सकता है, ऐसा जान कर शम (शान्ति) का अवलम्बन
१६३	२४	कहा जाता है [पहले	कहा जाता है। [पहले
१६४	२	दुष्ट काम	दुष्ट कर्म
१६४	३	पहले जो क्रोध	पहले क्रोध
१६६	१४	जिसकी	जिस
,,	१८	बोध होकर	बोध होने पर
,,	२७	महाशत्रु है	महाशत्रु है।
१६७	७	जटायु	जरायु
,,	२१	कुक्षीस्थ	कुक्षिस्थ
१६८	४	देकर	देकर उसे
,,	४	रूप को	रूप में
,,	२८	आदर्श, दर्पण	आदर्श (दर्पण)
१६९	७	जटायु	जरायु
,,	१५	वह्निः	वह्निः—
१७०	१७	भ्रण	भ्रूण
१७१	४	अनाल	अनल
,,	११	शत्र	शत्रु
,,	३०	ही	।
१७४	११	द्वारा	द्वारा।
१७७	१	प्राप्त करना,	प्राप्त कराना,
,,	६	विद्वान् व्यक्ति लोग	विद्वान् लोग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
१७९	२१	जिस आत्मादिक के	उत्पन्न आत्मविषयक
,,	२२	में बोध	में जो बोध
,,	३२	प्रजहिहि यहि+हि	'प्रजहिहि'
१८०	१	'हे'	'हि'
१८०	१	निःशेषतया	निःशेषतया।
१८०	१५	अपरोक्षज्ञान से एवं	Delete
१८१	१७	बात है	बात है।
१८१	६	लिये	सदृश
१८१	१२	'आदि में	['आदि में
१८१	१२	को	को',
१८१	२१	करना चाहिये।	करना चाहिये।]
१८१	२८	आत्माकाराकारवृत्ति	आत्माकारावृत्ति
१८२	८	सकता है।	सकता है
१८३	१२	इन्द्रिय से 'मन'	इन्द्रिय,
१८४	१४	सूक्ष्म	सूक्ष्म,
१८४	२४	देह,	Delete
१८४	२५	आवृत्त	आवृत
१८८	१०	उपायस्वरूप—	उपायस्वरूप
१८९	७	सामर्थ्य का प्रकाश	सामर्थ्य का प्रयोजन है, इसे प्रकाश
१८६	१३	सन्	सम्
१८६	२२	के रूप	के रूप में
१८६	२२	इस रूप में) में	इसरूप में)
१९०	२	जो मोक्ष	मोक्ष

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का अष्टादश अध्याय (मोक्षसंन्यासयोगः) प्रकाशित हो रहा है। यह अध्याय समस्त गीताशास्त्र का उपसंहार यानी सारसंग्रह है। इसलिये स्वामीजी ने अत्यन्त परिश्रम करके प्रति श्लोक की विस्तृत व्याख्या की एवं प्रतिपाद्य विषय का रहस्य यथास्थान पर अति स्पष्टतया उद्घाटन इस प्रकार से किया है कि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति मननपूर्वक केवल यदि इस अध्याय का ही पाठ करे तो समस्त गीता शास्त्र के यथार्थ तत्व को जान सकेगा। गीता के इस अन्तिम अध्याय की समाप्ति के सा- हमलोग अब साहस करके बोल सकते हैं कि इस प्रकार से सब प्रसिद्ध टीकाकारों मत का समन्वय करके तथा स्वानुभव से स्वामीजी ने जैसी "गीतामृतमञ्जूषा" में अपूर्व व्याख्या की है वैसी व्याख्या से पूर्ण विस्तृत ग्रन्थ केवल हिन्दी भाषा में नहीं अपितु किसी देश में या किसी भाषा में गीता के संबन्ध में अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। साहित्य की दृष्टि से तथा दार्शनिक दृष्टि से भी स्वामीजी का यह अमूल्य अवदान भविष्य में चिरस्मरणीय रहेगा, यही हमलोगों का दृढ़ विश्वास है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाशित कर रही है।

इति

बसन्त पंचमी
८-२-१९६३

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।
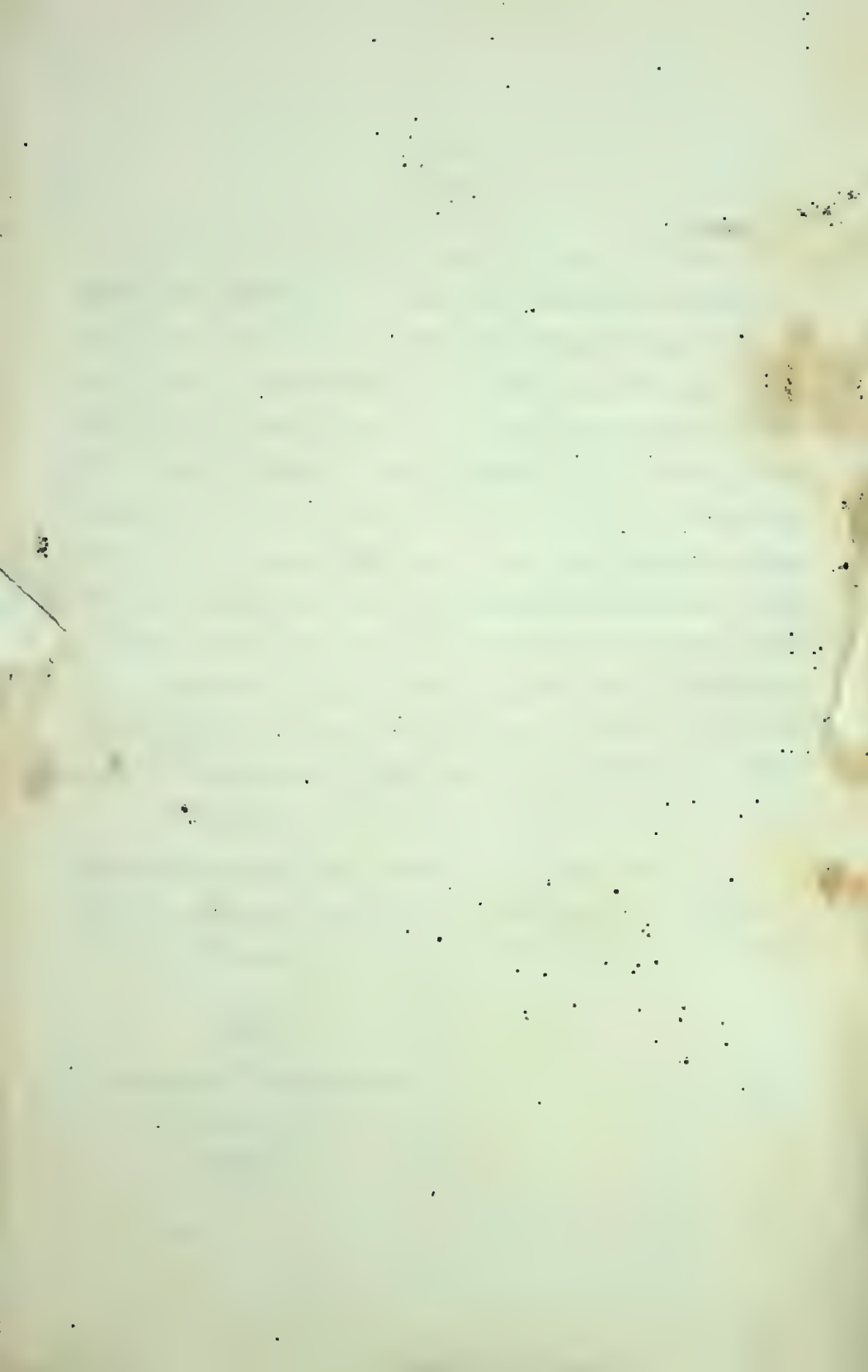
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशोऽध्यायः

"मोक्षसंन्यासयोगः"

समस्तगीताशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय एवं वेदों का सम्पूर्ण तात्पर्य एकत्र (इकट्ठा) करके कहने के अभिप्राय से यह अठारहवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है अतः पहले के सभी अध्यायों में जो जो विषय विस्तारपूर्वक कहे गये हैं उनका तात्पर्य इस अध्याय में संक्षिप्तरूप से अवगत होता है। तथापि अर्जुन केवल संन्यास और त्याग—इन दो शब्दों के अर्थ का भेद जानने की इच्छा से ही प्रश्न करता है—[सभी वेदों का तात्पर्य उपनिषदों में कहा गया है।. फिर समस्त उपनिषदों का सार गीता में ही मिलता है। अब प्रश्न होगा कि यदि वेद तथा उपनिषद् के तात्पर्य का वर्णन करना ही इस अध्याय का अभिप्राय है तो संन्यास या त्याग वेदार्थ के एक अंशमात्र होने पर भी केवल संन्यास एवं त्याग वेद को जानने के लिए अर्जुन ने जो प्रश्न किया उससे क्यों इस अध्याय का आरम्भ किया गया है ?

उत्तर—पूर्व अध्याय में श्रद्धा, आहार, यज्ञ तथा दान के भेद का (उनके सात्त्विक, राजस एवं तामस भेद का) विवरण दिया गया है उनमें से राजस एवं तामस भाव का परित्याग कर सात्त्विक आहारादि का ग्रहण करके मुमुक्षु जिससे अपने परम

पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त हो सके इसलिए ही इन सब भेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है क्योंकि सर्वप्रकार से सत्त्वगुण की उत्कर्षता होने पर ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है (गीता १४।१७) गीता में भी बहुत से स्थानों में कर्मसंन्यास (५।१३, ९।२८) एवं फलत्याग शब्दों का (४।२०-२१, १२।११) उल्लेख किया गया है। भगवान् गीता में आगे भी कहेंगे कि संन्यास से नैष्कर्म्यसिद्धि होती है (गीता १८।४९) एवं नैष्कर्म्यसिद्धि से आत्मा में परमस्थिति लाभ करना सम्भव है किन्तु उपनिषद् में कहा है—'त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः' (कैवल्योपनिषद्) अर्थात् त्याग द्वारा ही अमृतत्त्व (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है। अर्जुन अभी तक संन्यास एवं त्याग इन दोनों शब्दों की विशेषता (स्वरूपगतभेद) क्या है ? उसे समझ नहीं पा रहा है, इसलिए उसने इन दोनों के भेद को स्पष्टतया श्रीभगवान् के मुख से सुनने की इच्छा से प्रश्न किया]—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यास्य त्यागस्य च तत्त्वम् पृथक् वेदितुम् इच्छामि ।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे महाबाहो ! हे हृषीकेश (इन्द्रियों के नियन्ता) हे केशिनिषूदन (केषि नामक दैत्य का वध करने वाले) ! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ। [तुम उसे मुझको स्पष्टतया समझा दो।]

भाष्यदीपिका—अर्जुन उवाच—अर्जुन ने कहा हे **महाबाहो**—हे अत्यन्त शक्तिमान [अर्जुन का इसप्रकार सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि 'तुम्हारे बाहुद्वय' (भुजाएँ) जब महान् हैं (अत्यन्तशक्तिशाली हैं) एवं मैं जब तुम्हारा ही आश्रय ले चुका हूँ तब मेरी तत्त्वज्ञान प्राप्ति में तथा परम पुरुषार्थ सिद्धि में जो कुछ बाहर के उपद्रव उपस्थित होंगे उनसे तुम सदा ही मेरी रक्षा करने में समर्थ हो, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।] हे **हृषीकेश**—हृषीका के (इन्द्रियों के) ईश्वर या अधीश्वर या परिचालक ['तुम जब इन्द्रियों' के परिचालक हो तब तो मेरी इन्द्रियों को

भी अवश्य सदा ही शुभमार्ग में चालित करोगे क्योंकि मैं तुम्हारा शरणागत भक्त हूँ इस भाव का प्रकाश करने के लिए अर्जुन ने भगवान् को 'हृषीकेश' कहकर सम्बोधित किया।] **हे केशिनिषूदन !**—हे केशी नामक दैत्य का वध करने वाले [केशी कंश का एक असुर अनुचर था। कंश के आदेश से श्रीकृष्ण का विनाश करने के लिए जब वह अश्वरूपधारण कर वृन्दावन में अत्यन्त शिशु अवस्था में स्थित श्रीकृष्ण के पास पहुँच गया था तब भगवान् श्रीकृष्ण ने अनायास ही उसका निधन किया। अर्जुन का इस प्रकार से सम्बोधन करने का यह अभिप्राय है कि तुम केवल 'महाबाहु' अर्थात् केवल बाहर के ही उपद्रवों का निवारण करने में समर्थ हो अथवा केवल 'हृषीकेश' अर्थात् केवल भीतर की ही इन्द्रियों के नियन्ता हो, ऐसा नहीं परन्तु जिस प्रकार तुमने व्रजवासियों की रक्षा करने के लिए केशि नामक महाअसुर का विनाश किया था, उसीप्रकार अपने भक्त एवं आपके आश्रित मेरी भी सर्वप्रकार के आसुरिक उपद्रवों से अवश्य ही रक्षा करोगे'। भगवान् के प्रति पूर्णविश्वास तथा अत्यन्त अनुराग के कारण ही अर्जुन ने भगवान् को इन तीनों शब्दों से एक साथ सम्बोधित किया। इन सम्बोधनों से सर्वशक्तिमान् भगवान् की एकमात्र कृपा से ही संसारबन्धन के हेतुभूत तीन प्रकार के उपद्रव का (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप अज्ञान का) पूर्णतया नाश होना सम्भव है, यह सूचित किया गया है। यहाँ 'महाबाहो' शब्द से भगवान् बाहर के उपद्रवों का (अज्ञान की स्थूल अवस्था का) विनाशक है, 'हृषीकेश' शब्द से अन्तर (भीतर के) काम. क्रोधादि चित्तविक्षेप का अर्थात् अज्ञान की सूक्ष्म अवस्था का विनाश है तथा 'केशिनिषूदन' शब्द से अज्ञान की कारण-अवस्था का (मूढ़ अविद्या का) भी विनाशक है, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।] **संन्यासस्य**—संन्यास का अर्थात् 'संन्यास' शब्द के अर्थ का **त्यागस्य च**—और त्याग का अर्थात् त्याग शब्द के अर्थ का **तत्त्वम्**—यथार्थस्वरूप **पृथक्**—परस्पर (अलग-अलग) विभाग पूर्वक (संन्यास के स्वरूप को त्याग से पृथक् कर एवं त्याग के स्वरूप को संन्यास से पृथक् कर) **वेदितुम् इच्छामि**—जानना चाहता हूँ अर्थात् उनको सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से जानना चाहता हूँ। [श्रद्धा की त्रिविधता तथा आहार यज्ञ, तप और दान की त्रिविधता अर्थात् (सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद) के द्वारा कर्मियों की

त्रिविधता का वर्णन किया गया है। अब संन्यास की त्रिविधता बताकर संन्यासियों की त्रिविधता का भी वर्णन करना है। तत्त्वबोध के अनन्तर उसका फलभूत जो सर्वकर्म संन्यास होता है, जिसकी कि चौदहवें अध्याय में गुणातीत रूप से व्याख्या की गई है, वह सात्त्विक, राजस, तामस भेद के योग्य नहीं तत्त्वबोध के पूर्व तत्त्व की जिज्ञासा से वेदान्तवाक्य के विचार के लिए जो सर्वकर्म संन्यास किया जाता हैं उसे भी त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्गुणरूप से व्याख्यात किया गया है। किन्तु जिन्हें न तो तत्त्वबोध हुआ है और न तत्त्वजिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है, उन पुरुषों के जिस गौण कर्मसंन्यास की 'स संन्यासी च योगी च' इत्यादि श्लोक से व्याख्या की गई है, उसकी त्रिविधता सम्भव होने से उसकी विशेषता जानने की इच्छा से अर्जुन ने प्रश्न किया (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—

न्यासत्यागविभागेन सर्वगीतार्थसंग्रहम्।
स्पष्टमष्टादशे प्राह परमार्थविनिर्णये॥

अठारहवें अध्याय में परमार्थ का विशेषरूप से निर्णय करने के लिए संन्यास के विभाग पूर्वक समस्त गीता के अभिप्राय का संग्रह (सार) स्पष्टरूप से बताते हैं।

यहाँ गीता में पहले 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' 'संन्यासयोग युक्तात्मा' इत्यादि श्लोकों में कर्मसंन्यास का उपदेश दिया है तथा—'त्यक्त्वा कर्मफला-सङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः', 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान' इत्यादि श्लोकों में फलमात्र के त्यागपूर्वक अनुष्ठान करने का आदेश दिया है। किन्तु सर्वज्ञ परमकृपालु भगवान् परस्पर विरुद्ध उपदेश नहीं कर सकते। अतः कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) और कर्म अनुष्ठान का विरोध किस प्रकार से नहीं रह सकता उसे जानने की इच्छा करके अर्जुन ने पूछा—

अर्जुन ने कहा **हे हृषीकेश**—हे समस्त इन्द्रियों के नियामक (चलानेवाले)! **हे केशिनिषूदन**—भगवान् का यह नाम इसलिए है कि घोड़े की आकृतिवाला केशी नामक महान् दैत्य जब युद्ध में अपना मुख फैलाकर भक्षण करने के लिए आया था तब उसके फैले हुए मुख में अपनी बायीं भुजा को घुसाकर उस बढ़ी हुई भुजा के द्वारा

भगवान् ने तत्काल ही उसे कर्कटिका (ककड़ी) के फल की भाँति चीरकर मार डाला था। इस दृष्टि से उनके लिए 'हे महाबाहो' यह सम्बोधन आया है। [**हे महाबाहो !**– जिसकी भुजाएँ महान् हैं (सर्वशक्तिसम्पन्न हैं) उसे महाबाहु कहा जाता है।] **संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वम् पृथक् वेदितुम् इच्छामि**—संन्यास और त्याग का तत्त्व (स्वरूप) पृथक् अर्थात् अलग-अलग करके जानना चाहता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—सात्त्विक श्रद्धा से युक्त, सात्त्विक यज्ञ, तप, दान आदि से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ है ऐसे ब्राह्मण आदि का ही ज्ञान में अधिकार है, ऐसा सूचन करने के लिए यज्ञ, तप, दान आदि का हेयत्व और उपादेयत्व जानने के लिए उनके श्रद्धामूलक सात्त्विकत्व आदि भेद को विभागपूर्वक भली भाँति दिखलाकर अब त्याग और संन्यास दोनों शब्दों का एकार्थत्व, केवल काम्य और निषिद्ध का ही त्याज्यत्व, यज्ञ दान आदि नित्य कर्मों की नियम से कर्तव्यता, त्याग के सात्त्विक आदि भेद, नैष्कर्मसिद्धि का लक्षण ज्ञान का, कर्म का, कर्ता का, बुद्धि का, धृति का और सुख का सात्त्विकत्व, राजसत्व और तामसत्व, ब्राह्मण आदि के कर्म, उनसे शुद्ध हुए अन्तःकरण वाले का ज्ञान, ज्ञानवाले ःाति की ज्ञाननिष्ठा, परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रकार और ब्रह्म की प्राप्ति इत्यादि सम्पूर्ण गीताशास्त्र के और सम्पूर्ण उपनिषदों के अर्थ का संग्रहपूर्वक एकत्र प्रतिपादन करने के लिए अठारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा' (अध्यात्मचित्त से मुझमें सम्पूर्ण कर्मों का त्यागकर) 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' (जो सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर मत्परायण) 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' (कर्मफल के आसङ्ग का त्याग कर) 'सर्वकर्मफलत्यागम्' (सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को), इत्यादि से उसी-उसी स्थान में कर्मसंन्यास एवं कर्मफल त्याग दोनों का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु (क) कर्मफल के त्याग से कर्म का अनुष्ठान तथा (ख) कर्मसंन्यास जो कहा गया है उसका स्मरण करके दोनों के अनुष्ठान की अनुपपत्ति (असम्भावना मानकर उनका अनुष्ठान किस प्रकार से हो सकता है, उस प्रकार को जानने के लिए इच्छाकर अर्जुन बोले–**संन्यासस्य**—'संन्यास' शब्द के अर्थ का और **त्यागस्य च**–'त्याग' शब्द के अर्थ का ['च' समुच्चय के अर्थ में है] **पृथक्-पृथक्**—विभाग करके **तत्त्वं वेदितुम्**

इच्छामि—याथार्थ्य (अर्थात् निश्चित अर्थ, अर्थात् स्वरूप) आप से जानना चाहता हूँ। 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' (मुझमें सर्व कर्म का त्याग कर), 'योगसंन्यस्त-कर्माणम्', योग द्वारा जिसने कर्मों को त्याग दिए हैं उनको और 'सर्वकर्मफलत्यागम्' (सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को) इत्यादि तत्-तत् स्थानों में आप के द्वारा कहे गये संन्यास और त्याग दोनों शब्दों में से प्रत्येक का अर्थ विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। **हे केशिनिषूदन !**—जो केशी नामक दैत्य को मार चुके हैं। वे केशिनिषूदन हैं। गृहस्थ के विषय में जिस प्रकार ब्रह्मचर्य शब्द का अथवा अहिंसा शब्द का विशेष अर्थ है उसी प्रकार ही 'संन्यास' शब्द का और 'त्याग' शब्द का अर्थ विशेष कहना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—संन्यास तीन प्रकार का है—

(१) **फलभूतसंन्यास**—तत्वज्ञान का उदय होने पर ज्ञानी पुरुष के सभी कर्मों का स्वतः ही त्याग हो जाता है। यही अवस्था फलभूत संन्यास या मुख्य संन्यास की सहज अवस्था कही जाती है। यही विद्वत् संन्यास है। यह गुणातीत अवस्था होने के कारण इसमें सात्विक, राजसिक या तामसिक भेद हो नहीं सकता इस प्रकार गुणातीत अवस्था का ही चौदहवें अध्याय में वर्णन किया गया है।

(२) **विविदिषा संन्यास**—तत्वज्ञान प्राप्ति के पहले जो सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास वेदान्तवाक्य आदि का श्रवण, मनन (विचार) तथा निदिध्यासन के लिए किया जाता है उस विविदिषा संन्यास के भी निर्गुण (गुणातीत) होने के कारण इसका भी सात्विक आदि भेद हो नहीं सकता। इस [ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्तव्य कर्म निष्कामरूप से अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि प्राप्त होती है एवं उसके फलरूप से स्वतः ही आत्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस अवस्था में विषय-वैराग्य उपस्थित होने के कारण श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेकर वेदान्त वाक्यादि सेवन करने के लिए गृहस्थाश्रम के कर्मों का त्यागकर जो संन्यास धर्म का ग्रहण होता है उसे 'विविदिषा' संन्यास कहा जाता है।]

(३) परन्तु जिनको तत्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, तथा आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए भी तीव्र इच्छा उत्पन्न नहीं हुई है वे अपने-अपने कर्तव्य कर्म का निष्कामभाव से (किसी कर्म की फलाकांक्षा न कर) ईश्वर-अर्पण बुद्धि से केवल

आलभन करे], वह (प्रजापति) इसके लिए प्रजा को और पशुओं को उत्पन्न करता है, इससे काम्य कर्मों का फल जैसे सुनने में आता है वैसे 'अहरहः संध्यामुपासीत' 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति' (प्रतिदिन सन्ध्या करे, सायं और प्रातः काल अग्निहोत्र करे) 'अहरहर्यजमानः स्वयमेवाग्निहोत्रं जुहोति' (प्रतिदिन स्वयं ही यजमान अग्नि-होत्र करे) इत्यादि नित्य कर्मों का फल सुनने में नहीं आता। जैसे ब्रह्मचारी की भार्या न रहने के कारण उसका त्याग नहीं हो सकता वैसे ही नित्य कर्मादि का फल ही जब नहीं होता है तो उसके फल का त्याग कैसे हो सकता है ? ऐसा यदि कहो तो वह युक्त नहीं है क्योंकि 'कर्म से पितृलोक होता है', 'धर्म से पाप नष्ट होता है', 'सब ये पुण्य लोक वाले होते हैं 'अग्नीन्हुत्वा विधानेन यत्पुण्यं फलमाप्नुयात्' (विधान से अग्नियों में होम कर पुण्यफल प्राप्त करे) इस प्रकार नित्य कर्म का भी फल सुनने में आता है। 'अनिष्टमिष्टम् मिश्रं च' इससे भगवान् ने भी नित्य कर्मों का फल कहा है। इसलिए नित्य कर्मों का भी फल है ही। यदि नित्य कर्मों का फल न होता, तो फल के त्याग का विधान युक्त नहीं होता, इसलिए ठीक ही कहा है—समस्त कर्मों के फल के त्याग को विचक्षण **त्याग**—कहते हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि गृहस्थों का कर्मफल त्याग ही त्याग अर्थात् संन्यास है, सम्पूर्ण कर्मों का त्याग संन्यास नहीं है।

(३) **नारायणी टीका**—वेदादि शास्त्रों में चार प्रकार के आश्रम प्रसिद्ध हैं (१) ब्रह्मचारी (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थी तथा (४) संन्यासी। संन्यास दो प्रकार के हैं (क) विविदिषा संन्यास एवं (ख) विद्वत् संन्यास। जो महान् पुरुष आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके उनमें निरंतर स्थितिलाभ किये हैं उनके कोई कार्य अवशिष्ट न रहने के कारण सर्वकर्म अपने आप त्यक्त हो जाते हैं (गीता ३।१७) एवं इस प्रकार के त्याग से जो संन्यास होता है वह 'विद्वत्' संन्यास कहलाता है। और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के पहले परमतत्त्व के स्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा तथा विषय के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने पर कर्म का त्याग कर सद्गुरु से वेदान्त महावाक्यादि का श्रवण, मनन आदि करने के लिए जो त्याग (संन्यास) होता है उसे 'विविदिषा' संन्यास कहते हैं। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के पहले तत्त्व को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) का प्रयोजन है। चित्तशुद्धि न होने पर इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो सकती एवं

चित्तशुद्धि भी अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल वेदविहित कर्मादि का अनुष्ठान (अर्थात् स्वधर्म का पालन) न होने पर सम्भव नहीं होती है । इसलिए वेद में कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (बृह० उ० ४।४।२२) अर्थात् ब्रह्मचारी का धर्म है वेदानुवचन (गुरुगृह में रहकर वेदाध्ययन इत्यादि), गृहस्थ का धर्म है यज्ञ, दान इत्यादि एवं वानप्रस्थी का धर्म है अनाशक (देहादि इन्द्रियों के नाश करने वाले न हों इस प्रकार) तप । अपना अपना आश्रमधर्म ही नित्यकर्म है एवं इनका निष्काम भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने पर जो पूर्वजन्मार्जित पाप आत्मज्ञान की प्राप्ति के प्रतिबन्धक रूप से विद्यमान रहते हैं उन पापों का नाश होकर चित्त निर्मल (शुद्ध) होता है एवं आत्मप्रतिबिम्ब का ग्रहण करने में समर्थ होता है । इसलिए शास्त्र में कहा है—'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (मनुष्यों के पापकर्म का क्षय होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है) । अत एव निष्काम भाव से नित्य कर्म का अनुष्ठान करने पर एवं समस्त काम्यकर्मों का त्याग होने पर ही चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो सकता है । किन्तु तत्त्वज्ञान विविदिषा (अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने का तीव्र आग्रह या उत्कंठा) के बिना सम्भव नहीं होता । अतः निष्काम भाव से स्वधर्म पालन द्वारा चित्तशुद्धि के पश्चात् विविदिषा, एवं विविदिषा के बाद श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार होता है यही मोक्षमार्ग के साधन का क्रम है । विविदिषा होने पर ही चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यास के (सर्वकर्म के त्याग करने के) योग्य अधिकारी होता है । इसलिए ही, 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुति वाक्य में 'विविदिषन्ति' कहा गया है । अतः जो शुद्धान्तःकरण होकर विविदिषु होना (आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने के इच्छुक होना) चाहते हैं उनको फलाकांक्षारहित होकर सर्वकर्मों के फल का त्याग करना होगा अर्थात् अपने-अपने आश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित नित्य नैमित्तिक कर्म (तथा अन्य कर्म भी) भगवदर्पण बुद्धि से करना चाहिए । कहने का अभिप्राय यह है कि—कर्म करते हुए भी फलाकांक्षा के त्याग को 'त्याग' कहा जाता है एवं इसप्रकार के त्याग से चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि से ही विविदिषा (परमतत्त्व के स्वरूप को जानने की इच्छा) उत्पन्न होती है ।

'विविदिषा' शब्द का अर्थ है नित्य-अनित्य वस्तु के विवेक द्वारा देहादि में आत्मबुद्धि के निवृत्त होने पर बुद्धि की प्रत्येक प्रवणता अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा का स्वरूप जानने की तीव्र इच्छा। पहले ही कहा जा चुका है कि चित्तशुद्धि न होने पर इसप्रकार विविदिषा उत्पन्न नहीं होती है अतः तब तक ही ज्ञान के अविरुद्ध यथोचित्त आवश्यक कर्म (नित्य नैमित्तिक आदि कर्म) फलाकांक्षा को त्याग कर करना चाहिए (अर्थात् कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए) जब तक कि चित्तशुद्धि प्राप्त होकर विविदिषा उत्पन्न न हो जाय। इसके पश्चात् तो सर्वकर्म की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है संकल्प (इस कर्म के द्वारा इस प्रकार फल को प्राप्त करूँगा ऐसी भावना) ही कर्म के लिए प्रवृत्त का कारण होता है। संकल्प से ही काम (इच्छा) होती है एवं तत् पश्चात् क्रिया की निष्पत्ति होती है। अतः कर्मफल को त्याग करके कर्म करते हुए भी कर्म का मूलभूत जो संकल्प है वह क्रमशः नष्ट हो जाता है एवं सांसारिक विषय के प्रति वैराग्य उत्पन्न होकर अन्तरात्मा के लिए चित्त में श्रद्धा एवं पिपासा की वृद्धि होती है इसलिए भागवत में श्रीभगवान् ने कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(अर्थात् कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधिनिषेध हैं उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए, जब तक कि कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाय। उद्धव! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल धर्म में स्थित रहकर यज्ञों के द्वारा बिना किसी आशा और कामना—के मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर केवल विहित कर्मों का ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरक में नहीं जाना पड़ता। अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इस

शरीर में रहते-रहते ही निषिद्ध कर्म का परित्याग कर देता है और रागादि मलों से भी मुक्त (पवित्र) हो जाता है। इसी से अनायास ही आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत चित्त (पिघला हुआ चित्त) होने पर मेरी भक्ति प्राप्त होती है (श्री मद्भा० ११।२०।९-११)। अध्यात्म रामायण में भी कहा है 'यावच्छरीरादिषु माययात्मधीतावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्। नेतीतिवाक्यैरखिलं निषिध्य तत् ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत् क्रियाः॥' अर्थात् जब तक माया से मोहित रहने के कारण मनुष्य का शरीरादि में आत्मभाव है तभी तक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान का करना कर्तव्य है 'नेति-नेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं का निषेध करके अपने परमात्मस्वरूप को जान लेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिए (अध्यात्म रा० ५।१७) शास्त्र में यह भी कहा है 'अयमेव क्रियायोग ज्ञानयोगश्च साधकः'। कर्मयोगं विना ज्ञानं कस्चिन्नैव दृश्यते' अर्थात् निष्काम कर्मयोग ज्ञानयोग का साधन है। कर्म योग के विना किसी को ज्ञान हुआ है ऐसा देखा नहीं गया। किन्तु निष्काम कर्म द्वारा साक्षात् ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है निष्काम कर्म द्वारा पापक्षय होता है एवं पापक्षय से ज्ञान की उत्पत्ति होती है इसलिए भगवान् ने कहा कि सर्व (विहित) कर्म करते हुए फलत्याग ही यथार्थ त्याग है एवं उससे ही अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति करने के लिए अधिकारी होता है, श्रुति भी कहती है 'त्यागेनैकेनामृतत्वं ममनशु'।

प्रश्न—फल की कामना बिना किसी कर्म में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि मनुजी ने कहा—

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥

अर्थात् जो कुछ कर्म किया जाय उसमें प्रवृत्ति का कारण काम ही है कामना-शून्य व्यक्ति को कभी इस संसार में कर्म करते हुए देखा नहीं जाता।

उत्तर—यह कहना ठीक है इसलिए कामनाहीन विद्वान् पुरुष के लिए ही सभी काम्य कर्मों का अर्थात् सभी कर्म जिसके मूल काम हैं उनका (उन कर्मों का) त्याग करना सम्भव है क्योंकि उनके लिए इस प्रकार का त्याग स्वतः ही होता है यद्यपि

सभी कर्म मूलतः काम्य ही हैं तथापि लौकिक दृष्टि से काम्य कर्म—उसको ही कहते हैं जिससे इह लौकिक या पारलौकिक विषय भोगों की आशा रहती है एवं निष्काम कर्म उसी को कहते हैं जिसमें बाह्य विषय के लिए वासना नहीं रहती है परन्तु भगवान् की प्रसन्नता (अपने आत्मा की प्रसन्नता) से कामादि मल से रहित होकर अर्थात् चित्त-शुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान लाभ कर सके। इस लिए मनु जी कहते हैं—

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥

अर्थात् इहकाल में एवं परकाल में भोगप्राप्ति की कामना करके जिस कर्म में शरीरादि की प्रवृत्ति होती है वह काम्यकर्म है किन्तु वह कर्म ही जब निष्काम भाव से अर्थात् फलाकांक्षा से रहित होकर कर्माधिकारी पुरुष के द्वारा किया जाता है तो वह चित्तशुद्धि को उत्पन्न करके ब्रह्मज्ञान के अभ्यास द्वारा संसार की निवृत्ति का हेतु होता है सारांश यह है कि निष्काम कर्म में भी पापक्षय, चित्तशुद्धि तथा भगवत्प्राप्ति के लिए कामना (वासना) सूक्ष्म रूप से रहती ही है परन्तु वह काम संसार गति का कारण न होकर मोक्ष का हेतु होता है इसलिए भागवत में श्रीभगवान् ने कहा है कि मेरे लिये किया हुआ काम उसी प्रकार संसाररूप फल का कारण नहीं होता है जिस प्रकार कि भुने हुए या उबले हुए धान से अंकुर नहीं उत्पन्न हो सकता।

प्रश्न—नित्य नैमित्तिक कर्म का यदि कोई फल न हो तो उन सब कर्मों के फल का त्याग कैसे हो सकता है ? जैसे बन्ध्या के पुत्र त्याग का कोई अर्थ होना सम्भव है उसी प्रकार जिन कर्मों का फल ही नहीं है उन कर्मों के फल का त्याग कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्रुतिप्रमाण से यह जाना जाता कि नित्य नैमित्तिक कर्म का भी विशेष-विशेष फल होता है यथा 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' 'कर्मणा पितृलोकः', 'धर्मेण पापमपनुदन्ति' इति (अर्थात् इन सब अग्निहोत्रादि कर्मों से पुण्यलोक प्राप्त होता है, कर्म द्वारा मनुष्य पितृलोक में जाता है, नित्य अग्निहोत्रादि से पापक्षय होता है) अतः बुद्धिमान लोगों के द्वारा सभी विहित कर्म करते हुए उनका फलत्याग ही त्याग है, ऐसा कहना युक्ति युक्त ही है।

पूर्व श्लोक में काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास कहा गया है एवं कर्म फल के त्याग को यथार्थ त्याग कहा गया है। यह भी साथ-साथ सूचित किया गया है कि नित्य नैमित्तिक कर्मादि का फलाकांक्षा रहित होकर अनुष्ठान करने पर वह भी संन्यास (गौण संन्यास) ही है। अब जो लोग नित्यनैमित्तिक कर्मों का त्याग करने का समर्थन करते हैं उनकी युक्ति का खण्डन करने के लिए भगवान् अपने मत का निर्देश करते हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

अन्वय—कर्म दोषवत् इति त्याज्यम्—एके मनीषिणः प्राहुः। अपरे च यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम् इति प्राहुः।

अनुवाद—कुछ बुद्धिमान् लोगों का कथन है कि दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्मों को त्याग देना चाहिये किन्तु दूसरे लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

भाष्यदीपिका—कर्म दोषवत्—जिसमें दोष हो वह दोषवत् है। बन्धन के हेतु होने के कारण सभी कर्म दोषयुक्त हैं [कर्म करने पर शुभ या अशुभ फल का इस जन्म में नहीं तो पर जन्म में भोग करना ही पड़ेगा। अतः फलाकांक्षा के साथ जो कुछ किया जाय वह जन्म-मृत्युका हेतु होने के कारण संसार बन्धन का भी कारण होता हैं। बन्धन ही दोष है. अतः बन्धन के हेतुभूत सबकर्म ही दोषयुक्त हैं।] **इति त्याज्यम्, एके मनीषिणः प्राहुः**—इसलिये कर्म करने वाले कर्माधिकारी मनुष्य के लिए भी वे त्याज्य हैं अथवा 'दोषवत्' शब्द का अर्थ है दोष के समान अर्थात् जैसे राग द्वेष आदि दोष का त्याग किया जाता है, उसी प्रकार [जिन्हे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और न जिज्ञासा ही उत्पन्न हुई है उन कर्माधिकारियों को भी (मधुसूदन)] नित्यनैमित्तिक आदि सभी कर्मों का त्याग करना चाहिए ऐसा कुछ मनीषीलोग (सांख्य आदि मतावलम्बी पण्डितजन) कहते हैं। यह एक पक्ष है. इस विषय में दूसरा पक्ष यह है—**यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम् इति च अपरे प्राहुः**—कर्माधिकारियों को अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा जिज्ञासा की उत्पत्ति के लिए

शास्त्र में जिस प्रकार से यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का विधान किया गया है, इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए—ऐसे बुद्धिमानों का कथन है।

जो लोग कर्म के अधिकारी हैं उनको लक्ष्य करके ही कर्म त्याग करने योग्य है कि नहीं, इस प्रकार मतभेद दृष्ट होता है। जिस संन्यासी ने अज्ञानरूप निद्रा से उत्थान लाभ कर (जाग्रत होकर) ज्ञाननिष्ठा का लाभ किया है (अर्थात् तत्वज्ञान में स्थिति प्राप्त की है) उसको लक्ष्य करके ये सब विकल्प नहीं किये गये हैं क्योंकि 'सांख्ययोगियों की निष्ठा' ज्ञानयोग के द्वारा मैं पहले कह चुका हूँ (गीता ३।३)। उस कर्माधिकारी को अतिक्रमण करके (उससे पृथक् हो जाने के कारण), उनको लक्ष्य करके 'कर्म का त्याग करना उचित नहीं है' ऐसा कहना निरर्थक है क्योंकि उनके सभी कर्मों का त्याग (संन्यास) स्वतः ही हो जाता है। अतः उनके विषय में कोई चिन्ता (विचार) नहीं करनी है।

पूर्वपक्ष—'कर्मयोगेन योगिनाम्' कर्म योगियों की निष्ठा कर्म योग से कही गई है—(गीता ३।३)। इस कथन से जिनकी निष्ठा का विभाग पहले किया जा चुका है उन कर्माधिकारियों के सम्बन्ध में जिस प्रकार यहाँ गीताशास्त्र के उपसंहार प्रकरण में फिर विचार किया जाता है ऐसे ही सांख्यनिष्ठावाले संन्यासी के विषय में भी करना तो उचित है।

उत्तरपक्ष—नहीं, इस प्रकार को शंका ज्ञानी के सम्बन्ध में होनी उचित नहीं है क्योंकि ज्ञानी मोहवश या दुःखबोध से (अर्थात् कर्म करते हुए देह को जो क्लेश एवं दुःख होता है उन्हें आत्मा का क्लेश एवं दुःख मानकर) कर्म का त्याग नहीं करते हैं। उनका कर्मत्याग विषय के प्रति वैराग्य के कारण ही होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि १३ वें अध्याय में (क्षेत्रअध्याय में) भगवान् ने इच्छा और द्वेष आदि को शरीर का ही धर्म बतलाया है इसलिए सांख्यनिष्ठ संन्यासी शारीरिक पीड़ा के निमित्त से होने वाले दुःख को आत्मा में नहीं देखते। अतः वे शारीरिक क्लेशजन्य दुःख के भय से कर्म नहीं छोड़ते। फिर वे आत्मा में कर्म का अस्तित्व भी नहीं देखते, अतः उनकी दृष्टि में कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध न रहने के कारण उनके द्वारा नियत (शास्त्र-विहित) कर्म का परित्याग मोह से नहीं किया जा सकता है। 'समस्तकर्म गुणों के हैं,

'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, ऐसा समझकर ही वे कर्मों का त्याग करते हैं क्योंकि गीता में 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' (गीता ५।१३) इत्यादि वाक्यों द्वारा तत्त्वज्ञानियों का संन्यास (कर्मों का त्याग) किस प्रकार होता है वह भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा।

अतः जो अन्य आत्मज्ञानरहित कर्माधिकारी मनुष्य हैं, जिनके द्वारा मोह-पूर्वक या शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग किया जाता है, वे ही तामस और राजस त्यागी हैं। इसलिये उक्त प्रकार के आत्मज्ञान से रहित कर्माधिकारियों के कर्मफल त्याग की स्तुति करने के लिए उन राजस-तामस त्यागियों की निन्दा की जाती है अर्थात् उनको नियतकर्मों का त्याग करना उचित नहीं है वरन सर्व कर्म का अनुष्ठान कर्म फल की वासना को त्याग करके ही करना उचित है. ऐसा प्रतिपादन करने के लिए कर्मफल त्याग की स्तुति की जाती है क्योंकि—'सर्वारम्भपरित्यागी' 'मौनी' 'संतुष्टो येन केनचित्' 'अनिकेतः स्थिरमतिः' इत्यादि विशेषणों से (बारहवें अध्याय में) गुणातीत के लक्षणों में भी यथार्थ संन्यासी को पृथक् करके कहा गया है' तथा 'ज्ञानस्य या परानिष्ठा' (ज्ञान की जो परानिष्ठा है—गीता १८।५०) इस प्रकरण में भी यही बात कहेंगे। इसलिये यहाँ यह विवेचन ज्ञाननिष्ठा संन्यासियों के विषय में नहीं है। अतः उनके सम्बन्ध में यह विचार करना उद्देश्य नहीं है।) कर्म फल का त्यागरूप संन्यास तो सात्त्विकता रूप गुण से युक्त होने के कारण यहाँ तामस-राजस त्याग की अपेक्षा उसको गौणरूप से संन्यास कहा जाता है। अतः कर्म फल त्याग (सात्त्विक त्याग) सर्वकर्म-संन्यासरूप मुख्य संन्यास नहीं है क्योंकि मुख्य संन्यास तो गुणातीत पुरुष का ही होता है।

पूर्वपक्ष—'नहि देहभृता' (गीता १८।११) (अर्थात् देहधारी देह में आत्माभिमान करने वाला) पुरुष सर्वप्रकार से कर्मों का त्याग कर नहीं सकता इत्यादि हेतुयुक्त वाक्य से यह सूचित होता है कि स्वरूप से सर्व कर्म का संन्यास असम्भव होने के कारण कर्म फल का त्याग ही मुख्य संन्यास है—ऐसा यदि कहें।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह हेतुयुक्त वचन कर्म फल के त्याग की स्तुति के लिये है। जिस प्रकार गीता में पहले कहे हुये अनेक साधनों का अनुष्ठान करने में असमर्थ और आत्मज्ञान से रहित अर्जुन के लिए विशेष साधना का विधान करने के लिए भगवान् ने कहा 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' अर्थात् त्याग करने के

पश्चात् ही शान्ति या मोक्ष प्राप्त होता है (गीता १२।१२)। इस प्रकार कहना कर्म फल के त्याग की स्तुतिमात्र है क्योंकि केवल कर्म फल का त्याग करने से ही परमशान्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि उस प्रकार के त्याग से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है। यदि ज्ञान के बिना केवल फलत्याग मात्र से ही मोक्ष हो जाय तो। वह श्रुति तथा स्मृति के वाक्यों के साथ विरोध उपस्थित होगा। गीता में 'अद्वेष्टा' (गीता१२।१३) इत्यादि द्वारा ज्ञान के साधन का विधान किया गया है। अतः 'अद्वेष्टादि' साधन के अनुष्ठान में असमर्थ, तत्त्वज्ञान रहित, कर्म में ही अधिकारी अर्जुन को 'देही (जीव) सब कर्म का परित्याग नहीं कर सकता' इत्यादि भगवान् की युक्ति भी कर्म फल के त्याग के लिए ही है क्योंकि 'देही सब कर्मों को मन से छोड़कर न करता हुआ और न कराता हुआ रहता है' ऐसा जो कुछ भगवान् ने ज्ञानी की अवस्था के बारे में कहा, तो इस पक्ष का अपवाद (निराकरण या अस्वीकार) किसी के द्वारा भी दिखलाया जाना सम्भव नहीं है। अतः यह संन्यास और त्याग सम्बन्धी विकल्प जो पुरुष केवल कर्म में अधिकारी हैं उनके विषय में ही है। जिनको परमार्थ दर्शन हो गया है (अर्थात् जो यथार्थज्ञानी, सांख्ययोगी हैं) उनका केवल सर्व कर्म संन्यास (समस्त कर्मों का त्याग) रूप ज्ञाननिष्ठा में ही अधिकार है—अन्यत्र नहीं। इसलिए वे विकल्प के पात्र नहीं हैं अर्थात् श्लोक में जो काम्यकर्मों का संन्यास एवं कर्म फल त्यागरूप विकल्प कहा गया है वह उनके विषय में नहीं हो सकता। [वेदाविनाशिनम्' (गीता २।२१) श्लोक की व्याख्या में तथा तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में इस विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अविद्वान् के लिए फलत्यागमात्र ही 'त्याग' शब्द का अर्थ है, कर्मों का त्याग नहीं—इसी बात को विरुद्धमत का खण्डनपूर्वक दृढ़ करने के लिए मतभेद दिखाते हैं—**त्याज्यं दोषवत् इत्यादि**—एक पक्ष के मनीषी (विद्वान्) सांख्यमतावलम्बी लोग कहते हैं कि हिंसादि दोषों से युक्त होने के कारण सभी कर्म संसार में बांधने वाले हैं, इसलिए सभी कर्म त्याज्य हैं। इसका यह भाव है कि–'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' (अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करें) यह निषेध-वाक्य कहता है कि हिंसा मनुष्य के लिए अनर्थ का हेतु है। किन्तु 'अग्नीष्टोमीयं

पशुमालभेत' इत्यादि प्रकरणप्राप्त विधिवाक्य हिंसा को यज्ञ के लिए उपकारक बताते हैं। अतः भिन्नविषयक वाक्य होने से 'सामान्य वचनों की अपेक्षा विशेष वचन बलवान् होते हैं', इस न्याय के विषय न होने के कारण इनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं है। फिर द्रव्य द्वारा सिद्ध किये जानेवाले सभी कर्मों में हिंसादि दोष के सम्भव होने से सभी कर्म त्याज्य हो हैं। यह बात इस प्रकार कही गई है कि 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः' इसका अर्थ इस प्रकार है—जो गुरु के पढ़ाने से सुना जाता है वह अनुश्रव अर्थात् वेद है। उस वेद से स्वर्ग के उपायरूप से प्रतिपादित ज्योतिष्टोमादि यागादि भी अन्य दृष्ट उपायों की भाँति ही है क्योंकि वे भी (१) अशुद्धि तथा (२) हिंसा के द्वारा होनेवाले अतिशय क्षय अर्थात् विनाश के दोष से युक्त हैं फिर (३) अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से प्राप्त होनेवाले स्वर्गसुखों में तारतम्य (न्यूनता-अधिकता) का भेद है। फिर (४) दूसरे का उत्कर्ष (वृद्धि) प्रायः सबको दुःखी कर देता है। **यज्ञदानतपः कर्म इत्यादि**—दूसरे जो मीमांसक हैं वे कहते हैं कि यज्ञादि कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। भाव यह है कि यह हिंसा यज्ञार्थक होने पर भी पुरुष के द्वारा ही की जाती है; वह अन्य के उद्देश्य से भी की जाने पर पुरुष के लिए प्रत्यवाय की हेतु है ही, जिस प्रकार पुरुष के उद्देश्य से ही शास्त्रविहित (विधेय) कर्म का अनुष्ठान होता है क्योंकि सारे अङ्गभूत कर्म पुरुषकी अभीष्टसिद्धि के लिए ही किए जाते हैं। इस प्रकार से निषेध यह अपेक्षा नहीं रखता कि निषेध्य कर्म पुरुष के लिए ही हो, क्योंकि वह प्राप्तिमात्र की अपेक्षा करता है। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' (किसी कर्म की प्राप्ति होने पर ही उसका निषेध होता है) यह बात प्रसिद्ध है। यदि ऐसा न हो तो अज्ञान और प्रमाद से किये हुए कर्म में दोष के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इस प्रकार विधि और निषेध का विषय समान होनेपर विशेष शास्त्र से सामान्य शास्त्र का बाध हो जाता है; इसलिए यज्ञादि कर्म दोषयुक्त नहीं है। अतः विशेष शास्त्र से प्रतिपादित होने के कारण यज्ञादि कर्म नित्य हैं, इसलिए त्याज्य नहीं हैं, इस कथन से सामान्यविशेष न्याय का उपपादन करने के लिए विधिनिषेध की समानबलता का निषेध किया जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार संन्यास और त्याग दोनों का एक ही अर्थ होने पर भी मतभेद से 'संन्यास' शब्द का अर्थ है काम्यकर्म का त्याग तथा 'त्याग'

शब्द का अर्थ है सर्वकर्म के फल का त्याग। ऐसा प्रतिपादन करके फिर भी मतान्तर से 'त्याग' शब्द का दूसरा अर्थ कहते हैं 'त्याज्यम्' इत्यादि से।

कोई मनीषी (विद्वान्) दोषवत् (दोष यानी निषेधरूप दूषण जिसमें है वह दोषवत् है अर्थात् दोषयुक्त) अर्थात् 'विषसम्पृक्त बाणविद्ध मृगमांस को न खावे' 'सुरा न पीवे' इत्यादि शास्त्रप्रतिषिद्ध दुर्योनि और दुर्गति को प्राप्त करानेवाला कलञ्जभक्षण आदि पातकरूप जो कर्म है वह त्याज्य है (उसका त्याग करना चाहिए), ऐसा कहते हैं। दोषवाले कर्मों का त्याग करना ही त्याग है, काम्यों का और कर्मफल का त्याग करना 'त्याग' शब्द का अर्थ नहीं है, क्योंकि वे दुर्गति और दुर्योनि को प्राप्त करानेवाले नहीं हैं उनका फल तो सद्गति को प्राप्त करना ही है। यदि उनका फल न माना जाय तो प्रेक्षावान् की (बुद्धिमान की) उनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। 'जिसके लिए कर्म करता है, उसको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियों से विरोध है और 'जो दोषरहित' कर्म हैं, उनको करना चाहिए', इससे अदुष्ट वैदिक कर्मों की कर्तव्यता का श्रवण है। इसलिए दोषवाले कर्मों का त्याग करना ही त्याग (संन्यास) है, ऐसा कोई कहते हैं, अथवा मनीषी (प्रकृति और विकृति से विलक्षण असङ्ग चिद्रूप आत्मा का मनन करने का जिनका शील है वे मनीषी है) अर्थात् कोई सांख्यपंडित दोषवत् 'सब भूतों की हिंसा न करे' इस प्रकार प्राणीमात्र की हिंसा के निषेधक श्रुतिवचन के विद्यमान रहते हुए 'ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिए' यह निषेध बुद्धिपूर्वक की गई हिंसा अधिक दोषवती है, ऐसा बतलाने के लिए ही है। बुद्धिपूर्वक दोष की हेतुभूत हिंसा नहीं करनी चाहिए ऐसा अर्थ नहीं होता है क्योंकि ऐसा होनेपर तो अबुद्धिपूर्वक हिंसा में दोष के अभाव का प्रसंग होगा और विशेष विधि निरर्थक हो जायगी। इससे विशेष विधि अधिक दोष का बोधन करती है, ऐसा मानना चाहिए। इससे अग्नीषोमीय पशु हिंसा भी बुद्धिपूर्वक होने से उसमें दोष का आधिक्य ही है, क्योंकि दोनों में भी बुद्धिपूर्वकत्व समान है। तब 'अग्नीषोमीय पशु का आलभन करे', यह विधि व्यर्थ हो जायगी, ऐसा यदि कहो तो वह युक्त नहीं है क्योंकि दूसरे प्रकार से उसकी अर्थवत्ता हो सकती है। राग से प्राप्त मांसभक्षण को अग्नीषोमीय यजन के बहाने से अवकाश प्रदान करती है, अतः वह विधि सार्थक ही है। जैसे राग से प्राप्त मैथुन को 'धर्मप्रजा की सम्पत्ति के लिए

स्त्री के साथ विवाह करे' यह विधि कर्म के अंगरूप से स्त्रीपरिग्रह के विधान के व्याज से (छल से) अवकाश देकर सार्थक होती है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। जिस कारण से ऐसा है इसलिए 'सम्पूर्ण आरम्भ (कर्म) ही दोष से घिरे हुए हैं (जैसे अग्नि धूम से) इस न्याय से सभी कर्म द्रव्यसाध्य होने के कारण हिंसा-प्रधान होने से दोषवाले ही हैं। दोषवाले होने से बन्धक हैं, अतः श्रौत और स्मार्तरूप सब वैदिक कर्म भी त्याज्य हैं, इसलिए सब कर्मों के त्याग को ही त्याग कहते हैं, यह अर्थ है। यदि कहो कि विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होगा तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि दोषवाले कर्मों के अनुष्ठान से उससे भी अधिक प्रत्यवाय होगा, ऐसा कहते हैं इसलिए कलञ्जभक्षण क्रिया के समान सम्पूर्ण कर्म दोषवत् हैं, अतः उनके त्याग से दोष नहीं होता, ऐसा वे मानते हैं, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार सांख्य के मतभेद से 'त्याग' शब्द के अर्थविशेष को कहकर मीमांसक मतभेद से भी अर्थभेद का सूचन करने के लिए कहते हैं—'यज्ञेति'। 'वैदिक नित्यकर्मों का अनुष्ठान न कर मनुष्य प्रत्यवायी होता है' 'जबतक जीवे तबतक अग्निहोत्र करे', 'कर्म करता हुआ ही यहाँ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे', 'सत्य बोलो, धर्म करो', सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए' तथा 'धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए' इत्यादि श्रुतियों से और द्विज श्रौत और स्मार्त कर्म का अवलम्बन कर के रहे' उससे रहित (अवलम्बनरहित) 'अन्धे की नाईं गिर जाता है', इत्यादि स्मृतियों से वैदिक नित्य कर्मों के अवश्य करने का विधान है और न करने पर प्रत्यवाय का विधान है। इसलिए ब्राह्मण को यज्ञ, दान और तपरूप वैदिक कर्म त्याज्य नहीं हैं यानी कभी भी उनका त्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु निरुक्त, श्रुति और स्मृति के बल से जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिए। 'एकाहं जपहीनस्तु संध्याहीनो दिनत्रयम्। द्वादशाहमनग्निश्च शूद्रएव न संशयः। त्र्यहं संध्यारहितो द्वादशाहं निरग्निकः। चतुर्वेदधरो विप्रः शूद्र एव न संशयः। तस्मान्न लङ्घयेत्संध्यां सायं प्रातः समाहितः। उल्लङ्घयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम्। "एक दिन जपहीन, तीन दिन सन्ध्याहीन और बारह दिन बिना अग्नि का द्विज शूद्र ही है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। तीन दिन संध्यारहित, बारह दिन निरग्निक रहनेवाला चार वेदों को धारण करनेवाला ब्राह्मण भी शूद्र ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। इसलिए सायं

इत्यादि शास्त्रविहित कर्म अज्ञानी पुरुष के लिए त्याज्य नहीं है। गीता में भी भगवान् ने इस मत का समर्थन पुनः पुनः किया है। अतः कर्म अधिकारी के लिए इसप्रकार से कर्म करने का विधान युक्तियुक्त ही है अर्थात् जब तक विविदिषा संन्यास की अवस्था उपस्थित न हो तब तक स्वधर्म के अनुसार यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मों का त्याग न करके उन्हें निष्काम भाव से केवल चित्तशुद्धि के लिए करे ऐसा कहना युक्त ही है।

चित्तशुद्धि होने पर विविदिषा अर्थात् नित्यानित्य वस्तु के विवेक द्वारा (शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही नित्य है एवं उससे अतिरिक्त सब अनित्य है इस प्रकार दोनों की पार्थक्य बुद्धि द्वारा) देहादि में आत्माभिमान (आत्मबुद्धि) के निवृत्त होने के पश्चात् स्वच्छ बुद्धि की जो प्रत्यक् आत्मा के लिए प्रवणता (अत्यन्त आग्रह) उत्पन्न होती है अर्थात् उसके स्वरूप को जानने की जो तीव्र इच्छा होती है वह विविदिषा कही जाती है। इस प्रकार विविदिषा उत्पन्न होने के पश्चात् नित्यनैमित्तिक कर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है। इसलिए नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है—'प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव। (१।४९)।' अर्थात् जिस प्रकार वर्षा होने के अन्त में मेघ (बादल) सब नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार चित्तशुद्धि द्वारा कर्म समूह भी बुद्धि की प्रत्यक् प्रवणता (प्रत्यक् आत्मा के लिए विशेष रुचि) उत्पन्न कर कृतार्थ होकर नष्ट हो जाते हैं अर्थात् विविदिषा उत्पन्न करने के पश्चात् कर्मसमूह का और कोई प्रयोजन नहीं रहता है। जब विविदिषा संन्यास में कर्म का त्याग हो जाता है तो विद्वत् संन्यास में सर्वक्रिया की निवृत्ति हो जायगी इस विषय में तो कहना ही क्या है ! इसलिए सांख्यमतावलम्बी यदि विविदिषा एवं विद्वत् संन्यास को लक्ष्य करके सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य (त्यागने के योग्य) हैं ऐसा कहें तो युक्तियुक्त ही है। गीता में भी इसप्रकार ज्ञान के अधिकारी पुरुष के लिए बहुत स्थान पर कर्मों के त्याग का उपदेश दिया गया है अतः अधिकारी भेद से विहित सर्व कर्म करते हुए कर्मफल का त्याग करने का उपदेश एवं सर्व कर्म त्याग का उपदेश शास्त्रों में दिया गया है। अतः दोनों मत ही अपने-अपने स्थान पर युक्तियुक्त ही हैं। कर्म में अधिकारी पुरुष का फलाकांक्षात्याग ही त्याग है और ज्ञान में अधिकारी विविदिषा एवं विद्वत् संन्यासी का सर्वकर्मों का स्वतः ही त्याग हो जाता है, यही दोनों मतों का तात्पर्य है।

इसप्रकार विकल्प में (मतभेद में) भगवान् का क्या निश्चय है उसे कृपा करके स्वयं कहते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

अन्वय—हे भरतसत्तम तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु, हे पुरुषव्याघ्र! त्यागो हि त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ! उस त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो–हे पुरुषसिंह! त्याग तीन प्रकार का (सात्त्विक राजस तथा तामस) कहा गया है अर्थात् त्याग का शास्त्रों में तीन प्रकार के भेद से भली प्रकार निरूपण किया गया है।

भाष्यदीपिका—**हे भरतसत्तम**—हे भरत राजा के वंश में श्रेष्ठतम साधु अर्जुन! [इस प्रकार से सम्बोधन के द्वारा अर्जुन में भगवद् वचन को श्रवण तथा उसको अवधारण करने की योग्यता है, यह सूचित किया गया।] **तत्र त्यागे**—उस पूर्वोक्त त्याग के विषय में अर्थात् त्याग एवं संन्यास सम्बन्धी विकल्प के विषय में [जब पूर्ववर्ती श्लोकों में त्याग एवं संन्यास दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है अतः केवल त्याग के अवान्तर भेदों का ही वर्णन करते हुए भगवान् संन्यास शब्द की उपेक्षा कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि त्याग और संन्यास शब्द का जो वाच्यार्थ है वह एक ही है, अतः केवल त्याग का विस्तार करने से ही संन्यास का भी भेद स्पष्ट हो जायगा, इस अभिप्राय से केवल त्याग के नाम से ही श्रीभगवान् अब प्रश्न का उत्तर देते हैं।] **मे**—मेरे (ईश्वर के) वचन से **निश्चयं शृणु**—तुम मेरा निश्चय सुनो अर्थात् मेरे वचन से कहा हुआ तत्त्व भली प्रकार समझो (एवं सुनकर उसको अवधारण करो)। एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूप से शास्त्र का अर्थनिर्णय करते हैं किन्तु जब तक उस विषय पर हृदय में अवस्थित भगवान् या अन्तरात्मा का निश्चय नहीं जाना जाता है तब तक उस विषय के सम्बन्ध में संशय की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती है। इसलिए अन्तरात्मा भगवान् के वचन सुनकर ही संशयरहित हो सकता है, यही 'शृणु' शब्द का तात्पर्य है। **हे पुरुषव्याघ्र**—

हे पुरुषश्रेष्ठ ! [अर्जुन को पुरुषव्याघ्र कहकर अर्जुन का त्याग तथा वैराग्य सात्त्विक ही है (राजस या तामस नहीं है) यह सूचित किया गया है ।] **त्यागः**—कर्मफल के त्यागरूप त्याग **हि**—['हि' शब्द निश्चयार्थक है ।] कर्माधिकारी पुरुष कर्म करते हुए भी जो फलाकांक्षा का त्याग कर देता है, जिसके सम्बन्ध में पूर्व में कहा गया है, वह त्याग ही **त्रिविधः**—सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से तीन प्रकार का **संप्रकीर्तितः**—शास्त्रों में सम्यक् प्रकार से कथित हुआ है [कर्म में अधिकारी अज्ञानी पुरुष को लक्ष्य करके ही पूर्ववर्ती श्लोक में संन्यास एवं त्याग शब्दों का वाच्यार्थ जो त्याग है वह सात्त्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार का वर्णित हुआ है। जो परमार्थदर्शी (आत्मतत्त्वज्ञ तथा गुणातीत) होता है, अतः उसका त्याग भी निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुणों से रहित होने के कारण सदा ही एकरूप है। इसलिये इस त्याग के तत्व (स्वरूप) को जानना बहुत कठिन है] कोई भी अपनी बुद्धि से इस तत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए भगवान् ने कहा—**मे शृणु**—इस परमार्थ विषय में मेरा (ईश्वर का) निश्चित सिद्धान्त श्रवण करो। [मधुसूदन सरस्वती ने 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' की अन्य प्रकार से व्याख्या की संन्यास तथा त्याग शब्द द्वारा कर्मों को विशिष्ट रूप से तथा फलाभिसन्धि को (फल की आकांक्षा को) विशेषण रूप से ग्रहण किया गया है। इस विशेषण द्वारा त्याग की तीन प्रकार की अवस्था होती है।

(१) कर्मानुष्ठान है किन्तु फलाभिसन्धि (फल की आकांक्षा) नहीं है। इसमें विशेष्य (कर्म) किन्तु विशेषण (फलाभिसन्धि) नहीं है इस प्रकार का त्याग ही सात्त्विक है. एवं ऐसे त्याग द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इसके बाद विविदिषा (आत्मतत्व की जिज्ञासा) का उदय होता है। विविदिषा के उत्पन्न होने पर आत्म-ज्ञान के साधन जो वेदान्त वाक्यों के श्रवण तथा मनन एवं निदिध्यासन हैं उनमें प्रवृत्ति होती है। निष्काम कर्म का फल है चित्तशुद्धि तथा विविदिषा। विविदिषा के साथ-साथ कर्म भी स्वयं निवृत्त (परित्यक्त) हो जाता है। आगे भी भगवान् इस विविदिषा संन्यास के बारे में कहेंगे—'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' (गीता १८।४९)।

(२) फलाभिसन्धि है किन्तु कर्मानुष्ठान का त्याग कर दिया है अर्थात् फल का वासना रूप विशेषण है किन्तु उस वासना को पूर्ण करने के लिए जिस कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए वह (अर्थात् विशेष्य) नहीं है। इस प्रकार का त्याग दो प्रकार का होता है (क) दुःखबुद्धि से कर्म का जो त्याग होता है, वह राजस त्याग है (ख) विपर्य्यास हेतु अर्थात् विपरीत बुद्धि के कारण (मेरा कर्त्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है इस प्रकार की विपरीत बुद्धि से) कर्म का जो त्याग होता है वह तामस होता है। उक्त प्रकार का कर्मत्याग सभी कल्याणकामी पुरुषों के लिए त्याज्य है क्योंकि उन दोनों प्रकार के त्याग-कर्ता मिथ्याचारी माना जाता है।

(३) विषय वैराग्य के हेतु तथा एकमात्र आत्मा ही सत्य एवं ज्ञातव्य वस्तु है इस प्रकार की बुद्धि के निश्चय से आत्मा के प्रति तीव्र प्रेम के कारण जो कर्म का तथा कर्मफल की आकांक्षा का एक साथ त्याग होता है, वह निर्गुण (गुणातीत) त्याग है। कर्माधिकारी पुरुष इस प्रकार के त्याग का कर्ता नहीं हो सकता क्योंकि विवेकविज्ञान-सम्पन्न विविदिषासंन्यास या विद्वत्संन्यास में अधिकारी पुरुष का ही उसकी आत्म-चिन्तन से अतिरिक्त अन्य किसी कर्म में रुचि न रहने के कारण कर्म तथा कर्मफल की आकांक्षा का त्याग संभव है। इस प्रकार निर्गुणत्यागी अर्जुन के प्रश्न का विषय नहीं है क्योंकि उसका कोई कार्य ही नहीं रहता है। भगवान् ने भी (गीता ३।१७ श्लोक में) यही प्रतिपादित किया है तथा द्वितीय एवं चतुर्दश अध्याय में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणादि बतलाकर इस विषय को और स्पष्ट किया है।

त्याग का तत्त्व अत्यन्त दुर्बोध्य है। उत्तम अधिकारी के बिना अन्य कोई उसको धारण करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को 'भरतसत्तम' एवं 'पुरुषव्याघ्र' शब्द के द्वारा सम्बोधित करके यह सूचित किया है कि अर्जुन इस तत्त्व को श्रवण करने का उत्तम अधिकारी है क्योंकि वह केवल भरतवंश में उत्पन्न हुआ उत्कृष्ट साधु पुरुष ही नहीं है अर्थात् उसका केवल वंशजनित उत्कर्ष है, ऐसा ही नहीं है परन्तु पौरुषनिमित्त (शारीरिक तथा मानसिक बल के कारण) उत्कर्ष (श्रेष्ठत्व) भी है। जिसमें बल (मानसिकबल) नहीं है, वह आत्मतत्त्व को जानकर भी कभी उसको धारण नहीं कर सकता, इसलिए श्रुति में कहा है–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।

गीता में मुमुक्षु के लिए तीन प्रकार के त्याग का वर्णन है—

(१) क्रियमाण वेदविहित कर्मों का फलत्याग यथा 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' (गीता ५।१३) 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' (गीता ६।२७) इत्यादि अर्थात् इस काल या परकाल के किसी फल की आकांक्षा न कर ईश्वरार्पणबुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह **फलत्यागयुक्त कर्म** है।

(२) देहादि कर्म कर रहा है, अतः सर्वकर्म प्रकृति के ही हैं, इस प्रकार से आत्मा को द्रष्टा मानकर देहादि द्वारा निष्पन्न हुए कर्म में ममत्वबुद्धि न रहने के कारण जो त्याग होता है उसे यथार्थ **कर्मत्याग**—कहा जाता है।

(३) ईश्वर ही सर्वभूतों को यंत्ररूप से चालित कर रहे हैं, अतः सब प्राणी उनके हाथ में कठपुतली के समान यंत्र या निमित्तमात्र हैं (गीता १८।६१) इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि होने पर सर्वकर्म में कर्तृत्व का अभाव होने के कारण **कर्तृत्व त्याग**—होता है। ये सभी सात्त्विक त्याग हैं क्योंकि ये सब त्याग विवेक तथा वैराग्य के बिना होना असम्भव हैं किंतु कर्मत्याग राजस एवं तामस भी हो सकता है। आयास (परिश्रम) या शरीरादि के क्लेश के भय से जो कर्मों का त्याग होता है उसे **राजस कर्मत्याग**—कहा जाता है तथा जो अज्ञान (अविवेक) मोह (मूढ़ता) एवं प्रमाद के कारण शास्त्रविहित कर्म का त्याग किया जाता है वह **तामस त्याग**—है। भगवान् आगे स्पष्टतया इसका वर्णन करेंगे।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इस प्रकार से मतभेद का वर्णन करके अपना मत बताने के लिए कहते हैं—**निश्चयं शृणु इत्यादि**—हे भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार के विविध मतभेद से त्याग के विषय में संशय होना स्वाभाविक है, अतः तुम इस विषय पर मेरा निश्चय मेरी वाणी द्वारा सुनो। त्याग तो लोकप्रसिद्ध, है, इसलिए इसमें सुनने योग्य क्या है–ऐसा मत समझो इस भाव से कहते हैं कि हे पुरुषश्रेष्ठ! यह त्याग जानने में बड़ा कठिन है; क्योंकि यह कर्मत्याग तत्त्ववेत्ताओं द्वारा तामसादि भेद से तीन प्रकार का सम्यग् विवेकपूर्वक बताया गया है। तीन प्रकारों का वर्णन 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः' इत्यादि श्लोकों द्वारा आगे करेंगे।

(२) **शंकरानन्द**—त्यागरूप गुण से मुख्य संन्यास का सादृश्य होने के कारण गृहस्थ के लिए काम्यकर्मों का त्याग ही संन्यास है। सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग ही संन्यास है, दोषवाले कर्म का त्याग ही संन्यास है, काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग ही संन्यास है, इस प्रकार 'त्याग' शब्द के अर्थभूत संन्यास का पण्डित लोग अपने-अपने मत के अनुसार अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं अत्र मतमतान्तरों से 'त्याग' शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन करके अपना अभिमत अर्थ कहने के लिए श्रीभगवान् अपने मत से सिद्ध त्याग के अर्थ अधिकारियों के भेद से तीन प्रकार के हैं, ऐसा कहते हैं।

उक्त रीति से अनेक प्रकार से विकल्पित तुम्हारे प्रश्न के विषयभूत **त्यागे**—त्याग में–'त्याग' शब्द के अर्थ संन्यास में **मे निश्चयम्**—मेरा निश्चय (मेरा निश्चय अर्थ) मुझसे **शृणु**—सुनो। श्रुत अर्थ में प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए श्रोता की स्तुति करते हैं-**हे भरतसत्तम !**—हे भरतसत्तम ! (हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्थात् साधुपुरुष) **हे पुरुषव्याघ्र !**—हे पुरुषव्याघ्र ! **हि**—जिस कारण से त्याग का पण्डितलोग भी अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, इसलिए बुद्धिमानों को भी **त्यागः**—त्याग दुर्विज्ञेय है। 'सब कर्मों के फल का त्याग करो' इसमें नित्य और नैमित्तिक सब कर्मों के फल का परित्याग ही जैसे विवक्षित है वैसे 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' अर्थात् मुझमें सब कर्मों का त्याग करो, 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' अर्थात् योग से कर्मों का संन्यास करनेवाले को. इत्यादि में भी कर्मसंन्यासपद का अर्थ फलत्याग ही है कर्मसंन्यास नहीं, क्योंकि कर्म के अधिकार में कर्मसंन्यास का विधान युक्त नहीं है। जो उक्त लक्षणवाला **त्यागः**—त्याग है, वही **त्रिविधः**—तीन प्रकार का है अर्थात् तामस आदि तीन प्रकार का है, ऐसा मुनियों के द्वारा **सम्प्रकीर्तितः**—कहा गया है। मेरे द्वारा कहे जा रहे उसको सुनो, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में पंडित लोग अपने-अपने मत के अनुसार 'त्याग' शब्द के अर्थ का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। किसी के मत में त्याग से मुख्य संन्यास का सादृश्य होने के कारण काम्यकर्म का त्याग ही संन्यास है, किसी के मत में समस्त कर्मों के फल का त्याग ही संन्यास है, फिर किसी के मत में

दोषवत् (दोषयुक्त) कर्म का त्याग ही संन्यास है, फिर किसी के मत में यज्ञ, दान, तपरूप शास्त्रविहित कर्म का त्याग न करके ईश्वर-अर्पणबुद्धि से फलाकांक्षा रहित होकर उनका अनुष्ठान करना ही कर्माधिकारी गृहस्थ के लिए संन्यास या त्याग है अर्थात् अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में संग (आसक्ति तथा फलाकांक्षा) न रखना ही कर्माधिकारी पुरुष के लिए संन्यास या त्याग है (गीता ६।१)। इस प्रकार मतमतान्तर से 'त्याग' शब्द के अनेक अर्थ सुनकर साधारण पुरुष के लिये यथार्थत्याग क्या है ! उसे जानना बहुत कठिन है, अर्जुन के मन में भी इस प्रकार की शंका हो सकती है ऐसा सोचकर भगवान् ने कृपा करके उसको इस विषय पर जिससे कोई संशय न रहे एवं वह त्याग के सम्बन्ध में यथार्थ निश्चय कर सके, इस उद्देश्य से उससे कहा–हे अर्जुन ! तुम्हारे द्वारा पूछे गये त्याग के विषय में मेरे (अर्थात् मेरे वचन से) निश्चित अर्थ को सुनो। शुद्धचैतन्यस्वरूप सर्वात्मा निष्क्रिय भगवान् का निश्चय तो वही निश्चय है जो भगवन्निष्ठ (अर्थात् भगवान् में ही निरन्तर स्थिति प्राप्त हुए) ज्ञानी पुरुष का निश्चय है क्योंकि ज्ञानी उनकी आत्मा ही है (गीता ७।१८)। अतः पूर्वपूर्व तत्त्वनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी पुरुष ने इस विषय में जो निश्चय (सिद्धान्त) किया है एवं कहा है वही निश्चय एवं वचन भगवान् का भी है। इसलिए भाष्यकार ने 'मे' शब्द का 'मम वचनात्' इस प्रकार से अर्थ किया है किन्तु भगवान् के वचन का तात्पर्य अवधारण करने के लिए अत्यन्त निर्मल बुद्धि की आवश्यकता होती है। इसलिए जो भरतकुल में सत्तम हो गया है वही [अर्थात् जो आत्मा के निरन्तर चिन्तन द्वारा आत्मा का भरण (पालन) करता है वह 'भरत' है। उनके कुल में (समूह में) जो सत्=(साधु) + तम अर्थात् अत्यन्तसाधु (अत्यन्त शुद्ध) हो गया है वही भरतसत्तम है एवं वही] भगवान् के मुख से उनका निश्चय सुनने का अधिकारी है। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को भरतसत्तम कह कर सम्बोधित किया। केवल यही नहीं वरन भगवान् के वचन का पालन करने के लिए मन का अत्यन्तबल भी आवश्यक है क्योंकि वेद में कहा है–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् जिसमें मन का बल (दृढ़संकल्प) नहीं है वह कभी आत्मा का लाभ नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् अर्जुन को 'पुरुषव्याघ्र' कहकर [व्याघ्र जिस प्रकार पशुओं में बलवान् है, उसी प्रकार समस्त पुरुषों में तुम भी अत्यन्त मनोबल से सम्पन्न

हो, अतः मेरे निश्चय के अनुसार तुम कर्तव्य कर्म कर सकोगे, ऐसा आश्वासन देने के लिए 'पुरुषव्याघ्र' कहकर] सम्बोधन किया। जिस कारण से 'त्याग' शब्द का नाना प्रकार से अर्थ किया गया है उसी कारण से शास्त्रों में तथा तत्त्वज्ञानी लोगों ने इस त्याग का विभाग किस प्रकार सम्यक्रूप से कीर्तन किया है (कहा है) वह जानना आवश्यक है। यह पहले कहा जा चुका है कि विविदिषासंन्यास तथा विद्वत्संन्यास के अधिकारी के बिना समस्त कर्मों का त्याग करने का अधिकार किसी को नहीं है। देहादि में आत्मबुद्धि करनेवाले अज्ञ, कर्माधिकारी पुरुष के लिए यथोचित कर्म करते हुए फल का त्याग ही त्याग या 'गौण संन्यास' है। ब्रह्मवादियों ने इस प्रकार त्याग त्रिविध (तीन प्रकार के) हैं ऐसा भलीभाँति निर्णय किया है। त्याग के तीन प्रकार ये हैं—

(१) **सात्त्विक त्याग**—फल की कामना का त्याग करके अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्म ईश्वर-अर्पणबुद्धि से करना (२) **राजस त्याग**—फल की कामना है परन्तु कर्म कष्टकर (क्लेशदायक) है इस बुद्धि से कर्म का त्याग करना (३) **तामसत्याग**—अज्ञान एवं मोह (देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धि) तथा आलस्य के कारण (कर्म करने से क्या होगा इस प्रकार मूढ़ बुद्धि से) विहित (नित्यनैमित्तिकादि) समस्त कर्मों का त्याग करना।

इनमें से सात्त्विक त्याग से चित्तशुद्धि होती है, राजस एवं तामस त्याग मोक्ष के विपरीत साधन होने के कारण संसार बन्धन का ही हेतु होता है।

पूर्व श्लोक में कहा हुआ भगवान् का निश्चय क्या है? इस पर श्रीभगवान् यह बताते हैं कि पूर्वश्लोकोक्त मतभेद के कोटिरूप पक्ष में से दूसरा पक्ष ही मेरा निश्चय है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

अन्वय—यज्ञदानतपः (इति त्रिविधम्) कर्म न त्याज्यम्, तत् कार्यम् एव मनीषिणाम् यज्ञः दानम् तपः च पावनानि।

अनुवाद—यज्ञ दान और तपरूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं बल्कि उनका अनुष्ठान करना सभी कर्माधिकारी मनुष्यों का कर्तव्य है क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीन प्रकार के कर्म मनीषियों को (फलकामना रहित बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।

भाष्यदीपिका—यज्ञदानं तपः (इति त्रिविधम्) **कर्म न त्याज्यम्**—यज्ञ, दान और तपस्या इन तीन प्रकार के कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। **तत् कार्यम् एव**—इन्हें तो करना ही चाहिए अर्थात् इनका श्रद्धा, भक्ति एवं नियमपूर्वक अनुष्ठान शास्त्रविधि के अनुसार अवश्य ही करना चाहिए ['एव' शब्द निश्चयार्थ है अर्थात् ये सब कर्म अवश्य ही करने चाहिए यह कहने का अभिप्राय है]. **मनीषिणाम्**—बुद्धिमानों को अर्थात् फलकामना रहित पुरुषों को **यज्ञदानं तपः च एव पावनानि**—ये यज्ञ, दान और तप पवित्र करने वाले हैं [मनीषियों को अर्थात् फल अनुसन्धान न करने वाले को पवित्र करने वाले (ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूप मल को धोकर तथा ज्ञान उत्पत्ति की योग्यता रूप पवित्र गुण को देकर शुद्ध करने वाले) हैं। अर्थात् चित्त की शुद्धि करने वाले हैं जो लोग फलाकांक्षा नहीं करते हैं उनको यज्ञ, दान, तप ही शुद्ध करने वाले होते हैं यहाँ अन्तःकरणरूप उपाधि की शुद्धि से ही उपोहित की (पुरुष की) शुद्धि अभिप्रेत है अतः अन्तःकरण की शुद्धि के इच्छुक कर्माधिकारियों के यज्ञ, दान और तपरूप फलाकांक्षाशून्य जो कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करना चाहिए किन्तु उन्हें करना ही चाहिए। 'त्याग नहीं करना चाहिए' इतने से ही उसकी कर्तव्यता प्राप्त हो जाने पर भी अत्यन्त आदर के लिए 'करना ही चाहिए' इस प्रकार से पुनः कहा है अथवा ऐसा समझना चाहिए कि शास्त्रविहित कर्म कर्तव्य होने के कारण करना ही चाहिए अतः वह त्याज्य है ही नहीं। श्लोक के द्वितीय पाद में 'च' शब्द हेतु के अर्थ में है एवं 'एव' शब्द निश्चय के अर्थ में है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस कारण से यज्ञादि कर्म चित्तशुद्धिकर हैं इसलिए इनका अनुष्ठान अवश्य नियमपूर्वक करना चाहिए (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—पहले तो 'यज्ञदान' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा अपना निश्चय बताते हैं—शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं है वह आवश्यक

कर्तव्य ही है। यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही मनीषी (विवेकी) पुरुषों के लिए चित्तशुद्धि करने वाले हैं।

(२) **शंकरानन्द—यज्ञः**—यज्ञ श्रौत और स्मार्तरूप यज्ञ **दानम्**—दान पात्रों को धन प्रदान **तपः**—तप अर्थात् स्वाध्याय, क्योंकि यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन धर्म के स्कन्ध हैं, इससे अध्ययन धर्मस्कन्ध होने से गृहस्थ का धर्म है, ऐसा सुनने में आता है। 'तप स्वाध्याय है' इत्यादि श्रुति से भी स्वाध्याय में तपस्त्व का प्रतिपादन होने से 'तप' शब्द से प्रकृत में अध्ययन कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप तीन प्रकार के नित्यवैदिक कर्मों का जो मोक्ष चाहते हैं ऐसे विरक्त या गृहस्थ पुरुषों को कभी भी **न त्याज्यम्**—परित्याग नहीं करना चाहिए, किन्तु नित्य होने से, पुरुषार्थ के हेतु होने से तथा न होने से और न करने में प्रत्यवाय होने से, 'यज्ञ, अध्ययन, दान, 'प्रतिदिन संध्या करे', 'सूर्योदय होने पर प्रातः काल होम करे' इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये कर्मों का अनुष्ठान मुमुक्षु को नित्य करना चाहिए यानी श्रद्धा और भक्ति एवं नियम से करना चाहिए, यह अर्थ है। उक्त कर्म में प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए फल कहते हैं **मनीषिणाम्**—मनीषियों को अर्थात् जिन्होंने वेदों का अध्ययन और उनके अर्थों का परिज्ञान भली-भाँति किया है, तथा जो सत्य और असत्य के विवेक से युक्त हैं, ऐसे मुमुक्षुओं के लिए परमेश्वरार्पण बुद्धि से किये गये **यज्ञो दानम् तपः च एव**—यज्ञ, दान, तप [यहाँ पर चकार, दान आदि उक्त तथा अनुक्त श्रौत-स्मार्त कर्मों के समुच्चय के लिए है। 'एवकार' से वर्ण और आश्रम के अनुसार विहित यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्म ही पावन हैं ऐसा सूचित किया गया है।] यानी यज्ञ, दान, तपरूप श्रौत और स्मार्त कर्म ही पावन हैं—प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाले हैं अर्थात् अन्तःकरण के शोधक और उसके द्वारा ज्ञान के एवं उसके फल के कारण हैं, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में दो पक्षों का उल्लेख करके अब भगवान् अपना निश्चय बताते हैं—कर्माधिकारी पुरुष के लिए यज्ञ, दान तथा तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं परन्तु उन्हें श्रद्धापूर्वक शास्त्र के नियमानुसार करना ही चाहिए क्योंकि जो उन सब कर्मों के किसी जागतिक फलकी आशा न कर ईश्वर-अर्पणबुद्धि से

करते हैं उनको ये सब कर्म पवित्र करने वाले होते हैं अर्थात् उनकी चित्तशुद्धि उत्पन्न कर उन्हें तत्त्वज्ञान तथा मोक्ष के अधिकारी बना देते हैं। कोई-कोई टीकाकारों ने (यथानील-कण्ठ आदि ने) ऐसी व्याख्या की कि इन तीनों कर्मों का अनुष्ठान पृथक्-पृथक् तीनों के आश्रमों के लिए है क्योंकि श्रुति में कहा है—त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मा तमाचार्यकुलेऽव-सादयन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थाऽमृतत्वमेति (छा० उ० २।२३।१) [अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान वेदादि अध्ययन और दान गृहस्थ के धर्म हैं, तप वानप्रस्थ धर्म हैं एवं आचार्य कुल में वास करना ब्रह्मचारी का धर्म है, इन सभी कर्मों से पुण्य लोककी प्राप्ति होती है। अतः श्रुति के अनुसार यहाँ यज्ञ एवं 'दान' शब्द द्वारा गृहस्थ का धर्म कहा गया है तथा 'तपः' द्वारा वानप्रस्थ का धर्म एवं 'कर्म' शब्द द्वारा ब्रह्मचारी का गुरुसेवादि रूप धर्म कहा गया है] किन्तु श्लोक का अर्थ इस प्रकार करना समीचीन नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यज्ञ, दान एवं तप ब्रह्मचर्य गृहस्थ एवं वानप्रस्थ इनतीनों आश्रमों का सर्वसाधारण धर्म एवं कर्म है। अतः इनतीनों आश्रमीयों को चित्तशुद्धि के लिए निष्काम भाव से इनका अनुष्ठान करना ही चाहिए, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। जो लोग मनीषी हैं (बुद्धिमान हैं) वे कर्तव्य कर्म करते हुए फलकी कामना नहीं करते हैं, अतः उनके लिए ही यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म अवश्य ही पवित्र करनेवाले (अंतःकरण की शुद्धि करने वाले) होते हैं—सकाम कर्मी के लिए नहीं, यही 'मनीषिणाम्' शब्द का अर्थ है जो लोग मनीषी नहीं हैं अर्थात् फलाकांक्षा-सहित यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करते हैं उनको चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं होती है। उन सब सकाम कर्मों के द्वारा वे केवल पुण्य ही संचय करते हैं एवं उस पुण्यरूप फल से वे इस लोक या परलोक के विषय सम्बन्धी सुख का भोग करते हैं अर्थात् उस पुण्य का फलभोग करने के लिए वे जन्म मृत्युरूप संसार प्रवाह में भ्रमण करते हैं। पूर्व-पूर्व जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों से जो पाप पुण्य रूप संस्कार तथा वासना अज्ञान के कारण चित्त में संचित रहते हैं वे ही आत्मज्ञान के आवरण या प्रतिबन्धक होते हैं। शास्त्रविहित यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म नियमपूर्वक एवं निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर वे सब विषयसंबंधी संस्कार एवं वासना नष्ट हो जाते हैं एवं तत्त्वज्ञान के अनुकूल भगवान्

सम्बन्धी संस्कार का उदय होकर चित्त की शुद्धि (निर्मलता) सम्पादित होती है। इसलिए मनीषी (बुद्धिमान्) लोग इन सब यज्ञादि कर्मों का चित्तशुद्धि उपायरूप से अनुष्ठान करते हैं। निष्काम कर्म के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती, चित्तशुद्धि के बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता, एवं तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अतः यज्ञ, दान एवं तपरूप क्रियायोग का अनुष्ठान कर्ता को पवित्र करने वाले होने के कारण त्यागने योग्य नहीं हैं वरन् चित्तशुद्धि के उत्पन्न होने तक अवश्य ही कर्तव्य है, यही पावनानि एवं कार्यम् दोनों शब्दों का अर्थ है। चित्तशुद्धि के पश्चात् विविदिषा एवं विद्वत् संन्यास होने पर इन सब कर्मों का प्रयोजन न रहने के कारण ये स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं।

पूर्व श्लोक में जो कहा गया है उसका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् यज्ञ, दान तपरूप कर्म किस प्रकार से करने पर पवित्र करने वाले (चित्तशुद्धि करने वाले) होते हैं उसे अपने मुख से वर्णन करते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! अपि तु एतानि कर्माणि सङ्गं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति मे निश्चितम् उत्तमम् मतम्।

अनुवाद—हे पार्थ ! इन कर्मों को तो आसक्ति और फलत्याग करके (ईश्वर अर्पण बुद्धि से) करना ही चाहिए यह मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत है।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे पृथा के (कुन्ती के) पुत्र अर्जुन ! [पृथा (कुन्ती) ने जीवन में बहुत कष्ट तथा विघ्न प्राप्त करके भी अपने कर्तव्य कर्म का कभी त्याग नहीं किया। तुम तो उसके ही पुत्र हो, अतः तुम भी क्लेशबुद्धि से या मोहवश अपने स्वधर्म का त्याग नहीं करोगे, यह विश्वास मेरा है ऐसा कहने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' शब्द से सम्बोधित किया] **अपितु**—[यदि यज्ञ, दान और तप में अन्तःकरण को शुद्ध करने की सामर्थ्य है तो फलानुसंधान पूर्वक (फल की कामना के साथ) करने पर भी वे अन्तःकरण के शुद्ध करने वाले होंगे ही, इसलिए फल की आशा के त्यागकी कोई बात नहीं है। ऐसी शंका हो तो सकती है। इसलिए

यह 'तु' शब्द शंका का निराकरण करने के लिए है। यद्यपि शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म धर्मरूप होने के कारण काम्य होने पर भी वे कर्मकर्ता को पवित्र (शुद्ध) करते हैं तथापि वह शुद्धि उस कर्म के फल का ही भोग करने की उपयोगिनी होती है—चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न करने में उपयोगिनी नहीं होती है अर्थात् मोक्षप्राप्ति की सहायक नहीं होती है। बल्कि और अधिक विषयभोग में कर्मकर्ता को लिप्तकर उसके बंधन का कारण ही होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि काम्यकर्म के अनुष्ठान से भी मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है यदि ऐसा न होता तो 'शत अश्वमेधयज्ञ कर मनुष्य इन्द्रत्व लाभ करता है, इस प्रकार समस्त शास्त्रवचन मिथ्या हो जाता। इन्द्र का देह लाभकरके स्वर्ग में इद्रत्व पद का भोग करना सम्भव है, अतः यदि यज्ञादि द्वारा मनुष्य-देह की शुद्धि न हो तो इन्द्रादि रूप देवदेह की प्राप्ति किस प्रकार से सम्भव होगी? अतः यह मानना ही पड़ेगा कि शुद्धि सम्पादन में काम्यकर्म की भी सामर्थ्य है किन्तु वह शुद्धि मोक्ष या तत्वज्ञान की उपयोगिनी नहीं है। इसलिए बृहदारण्यक वार्त्तिक में सुरेश्वराचार्य ने कहा—'काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिध्यर्थमेव सा। विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम्' अर्थात् काम्य कर्म में भी शुद्धि है, किन्तु वह भोग की सिद्धि के लिए ही होती है क्योंकि—इन्द्ररूप से भोगे जाने वाले फल का सूकरादि शरीरों से भोग नहीं किया जा सकता। अतः फलकी कामना पूर्वक किये जाने पर यज्ञादि कर्म बन्धन के हेतु होने पर भी (मधुसूदन)] **एतानि कर्माणि**—जो पवित्र (चित्तशुद्धि) करने वाले बतलाये गये हैं ऐसे ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म **सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च**—तदविषयक संग (आसक्ति) ['मैं ऐसा करता हूँ' इस प्रकार के कर्तृत्वाभिनिवेष (मधुसूदन)] तथा उनके फल का त्याग करके ही **कर्त्तव्यानि इति मे उत्तमम् मतम् निश्चितम्**—किये जाने चाहिये अर्थात् मुझे अन्तःकरण की शुद्धि के लिए करना चाहिए इस विचार से फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से ही इनका अनुष्ठान करना उचित है क्योंकि इस प्रकार के यज्ञादि करने पर चित्तशुद्धि होती है जिससे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना सम्भव है। यह मेरा (सर्वज्ञ ईश्वर का) निश्चित (युक्तिद्वारा निर्धारित) उत्तम (उत्कृष्ट) मत है [इसलिये हे पार्थ, कर्माधिकारियों को कर्मों का त्याग करना चाहिए या नहीं—इन दोनों मतों में से मेरा निश्चित और श्रेष्ठ मत तो

यही है कि उन सब यज्ञादि कर्मों का कर्माधिकारी पुरुषों को त्याग नहीं करना चाहिए। (मधुसूदन)]

'इस विषय में मेरा निश्चय सुनो' इस प्रकार चतुर्थ श्लोक में प्रतिज्ञा करके पंचम श्लोक में यज्ञादि कर्मों का पावनत्वरूप हेतु अर्थात् चित्तशुद्धि करने की सामर्थ्य बतलाकर वर्तमान श्लोक में ऐसा कहना है कि 'ये कर्म किये जाने चाहिए—यह मेरा निश्चित उत्तम मत है' यह पूर्वप्रतिज्ञात अर्थात् (जिसके सम्बन्ध में प्रतिज्ञा की है उस) विषय का उपसंहार ही है—अन्य किसी अपूर्व (नूतन) विषय के सम्बन्ध में यह वचन नहीं है क्योंकि 'एतान्यपि' (ये कर्मसमूह) इस प्रकार निर्देश प्रकरण में अत्यन्त निकटवर्ती विषय को ही लक्ष्य करना होता है।

जिसकी कर्म में आसक्ति है एवं जिसे कर्मफल की आकांक्षा है, उसके लिए यद्यपि ये (यज्ञ, दान और तपरूप) कर्म बन्धन के कारण हैं, तो भी मुमुक्षु को फल तथा आसक्ति से रहित होकर उन्हें करना चाहिए, यही 'अपि' शब्द का अभिप्राय है। यहाँ यज्ञ, दान और तप से अतिरिक्त अन्य काम्यकर्म को लक्ष्य करके 'एतानि' के साथ 'अपि' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ अन्य टीकाकार कहते हैं कि नित्यकर्म के फल का अभाव होने के कारण अर्थात् नित्य कर्म के अनुष्ठान से स्वर्गादिरूप कोई फल नहीं प्राप्त होता है किन्तु न करने पर प्रत्यवाय अर्थात् पाप होता है अतः उनकी फल और आसक्ति को छोड़कर इनको करना ही चाहिए—ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं बन सकता। अतः 'एतान्यपि' इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जो यज्ञादिरूप नित्यकर्म से अतिरिक्त काम्यकर्म हैं, उन्हें भी करना चाहिए फिर यज्ञ, दान और तपरूप नित्यकर्म के विषय में तो कहना ही क्या है। इस प्रकार से श्लोक का अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि 'यज्ञदानं तपश्चैव पावनानि' इत्यादि वचन से नित्यकर्म का भी फल होता है, यह पहले ही भगवान् ने स्पष्ट किया है। जो लोग मुमुक्षु हैं वे सर्वकर्म ही (नित्यकर्म भी) बन्धन के हेतु हैं, इस प्रकार की आशंका से नित्यकर्मों का भी त्याग करने में प्रवृत्त हो सकते हैं। इसलिये जिससे वे चित्तशुद्धि के पहले नित्यकर्म का त्याग न करें इस उद्देश्य से भगवान् ने कहाकि इन सब नित्यनैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान आसक्ति एवं फलाकांक्षारहित होकर केवल चित्तशुद्धि के लिए अवश्य करना चाहिए।

अतः बन्धन के भय से जो मुमुक्षु नित्यकर्म का भी त्याग करने के इच्छुक हैं उनकी प्रवृत्ति काम्य कर्मों में कैसे हो सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त पूर्व अध्यायों में भगवान् ने स्वयं अनेक स्थानों पर काम्य कर्मों की निन्दा की यथा–(क) 'दूरेण ह्यवरं कर्म' (गीता २।४९) अर्थात् सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं (ख) 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' (गीता ३।९) अर्थात् यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनकारक हैं, 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (गीता २।४५) अर्थात् वेद त्रिगुणात्मक (संसार) को विषय करने वाले हैं, 'त्रैविद्या मां सोमपाः' (गीता ९।२०) अर्थात् तीनो वेदों को जानने वाले सोमरस पीने वाले, 'क्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१) अर्थात् पुण्यक्षीण होने पर मृत्युलोक में आ जाते हैं। ऐसा कहे जाने के कारण और साथ ही साथ 'दूरेण ह्यवरं कर्म' इत्यादि उपर्युक्त वचन से काम्यकर्म का विषय स्वर्गादि परमार्थ विषय से बहुत दूर व्यवधान होने के कारण भी यही स्पष्ट होता है कि 'एतान्यपि' यह कथन काम्य कर्मों के सम्बन्ध में नही है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—एतानि अपि तु कर्माणि कर्तव्यानि—जिन यज्ञादि कर्मों को मैंने पवित्र कारक बताया है उनको ही करना चाहिए, किस प्रकार ! **सङ्गं त्यक्त्वा**—कर्तृत्वाभिमानरूप संग का त्याग करके केवल ईश्वर की आराधना के भाव से तथा **फलम् च एव**—सब प्रकार के फलों का त्याग करके करना चाहिए, **इति मे निश्चितम् उत्तमं मतम्**—यह मेरा निश्चित मत है; इसीलिए यह उत्तम है।

(२) शंकरानन्द—यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मों का अनुष्ठान नियम से अवश्य करना चाहिए क्योंकि ये पवित्र (चित्तशुद्धि) करने वाले हैं ऐसा कहकर उनके अनुष्ठान का प्रकार कहते हैं—**एतानि इत्यादि से**—संग का त्याग करके इन कर्मों का भी तो अनुष्ठान करना चाहिए। [इसमें 'ल्यन्ताथादि न पूर्वभाक्' जिसके अन्तमें 'तु' है और जिसके आदि में अथ है' ऐसा पद पूर्वान्वयी नहीं होता) इस न्याय से 'तु' शब्द के योग से और 'अपि' शब्द से कहे गये कर्मों से भिन्न काम्य कर्मों का भी निष्काम पुरुष को अनुष्ठान करना ही चाहिए अन्यथा 'तु' और 'अपि' शब्द व्यर्थ हो जायेंगे, विद्वानों को ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से भगवान् के वचन में पूर्व (सांख्यवादियों के) मतों से वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा। 'सम्पूर्ण कर्मों के फल के

त्याग को विचक्षण त्याग कहते हैं' इसमें 'सर्व' पद से पूर्वोक्त काम्य कर्मों का ग्रहण करके काम्य और अकाम्य सब कर्मों के फलमात्र का परित्याग कहते हैं ऐसा उक्त मत-विशेष ही यहाँ भी कहा जायगा। भगवान् भी उस मत का अनुसरण करते हैं ऐसा मानने से तो उनकी स्वतन्त्रता का भंग हो जायगा तथा उसमें 'मेरा निश्चय सुनो' इस वचन के व्याघात का प्रसङ्ग होगा।] **मम मतम्**—'परमेश्वरार्थक कर्मों से अन्यत्र' (गीता ३।९) इससे अयज्ञार्थ काम्य कर्मों के बन्धकत्व का विधान है और 'फल के हेतु कर्म करने वाले कृपण हैं' (गीता २।४९) इसमें काम्य कर्म निन्दित हैं। अतः काम्य कर्मों का यहाँ प्रसंग ही नहीं है।

प्रश्न—तब 'अपि' शब्द की और 'तु' शब्द की व्यर्थता होगी?

उत्तर—यदि ऐसा कहो तो इस पर कहते हैं—**तु अपि**—'तु' शब्द नित्यों का काम्य से भिन्नत्व बोधन करने के लिए है। 'अपि' शब्द तो सम्भावना के लिये है **एतानि कर्माणि**—'एतत्' शब्द समीप के परामर्श के लिए है। इसीलिए यद्यपि 'एतानि' से पूर्वोक्त यज्ञ, दान आदि नित्य कर्म ही विवक्षित हैं, काम्य कर्म नहीं–तो भी काम्य के समान फल के संकल्प से युक्त हों तो बन्धन के ही हेतु होते हैं—मुक्ति के हेतु नहीं होते। **संगं फलं च त्यक्त्वा**—इसलिए यज्ञ, दान आदि नित्य कर्मों के संग का (जिससे पुरुष सक्त होता है वह संग है, यानी काम का) और उक्त एवं वक्ष्यमाण अनिष्टादि फलों का त्याग करके **कर्तव्यानि**—मुमुक्षुओं को ईश्वरार्पणबुद्धि से अनुष्ठान करना चाहिए **इति निश्चितं मेमं तम्**—ऐसा निश्चित–श्रुति और तदनुकूल युक्तियों से निर्धारित–मेरा (ईश्वर का) मत (सिद्धान्त) है **उत्तमं च**—और अन्य द्वारा कहे गये मतों से उत्तम–उत्कृष्टतम है प्रत्यवायरहित होने से, नरक आदि अनिष्ट की निवृत्ति का हेतु होने से, स्वर्ग में आने जाने के क्लेश का निवर्तक होने से, और चित्तशुद्धि के द्वारा अभीष्ट मुक्तिरूप फल का हेतु होने से, उनसे श्रेष्ठतम है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म फलाकांक्षा रहित पुरुष को पवित्र करनेवाले अर्थात् ज्ञान के प्रतिबन्धकरूप से पापरूप मलका क्षालनकर (चित्तशुद्धि का सम्पादन कर) चित्त में ज्ञानोत्पत्ति की

योग्यता का सम्पादन करनेवाले हैं। शास्त्रविहित यज्ञादि सभी कर्म चाहे वे काम्य हों या नित्यनैमित्तिक हों पवित्र करनेवाले हैं। काम्य कर्म के द्वारा यदि मनुष्य पवित्र न होते तो उच्चतर देवादि की देह को प्राप्त करके स्वर्गादि के फल का भोग करने की योग्यता को भी प्राप्त नहीं कर सकते थे किन्तु काम्य कर्म से जो शुद्धि (पवित्रता या पापक्षय) होती है उससे इस लोक या परलोक में उत्तम विषय के भोग ही मिलते हैं—ज्ञान या पारमार्थिक तत्त्व उससे बहुत दूर ही रहता है अर्थात् काम्य कर्मों का फल पुनः-पुनः जीव को जन्म-मरण की गति को ही प्राप्त कराता है—इससे संसार गति से मुक्ति कभी सम्भव नहीं है किन्तु जो यज्ञ, दान एवं तपकर्म मनीषियों से (विवेकी तथा चित्तशुद्धि के बिना अन्य फलाकांक्षा से रहित परमार्थतत्त्व के जिज्ञासु पुरुषों के द्वारा) अनुष्ठित होते हैं वे ही चित्तशुद्धि को उत्पन्नकर तत्त्वज्ञान के योग्य बना देने में समर्थ होते हैं। किन्तु फलाकांक्षी पुरुषों के द्वारा वे ही यज्ञादि कर्म शास्त्र के नियमानुसार अनुष्ठित होनेपर भी संसार-बन्धन के हेतु ही होते हैं—मोक्ष के हेतु नहीं। इसलिए यह स्पष्टरूप से सूचित करने के लिए भगवान् ने पूर्वश्लोक में 'पावनानि मनीषिणां' कहा है। भगवान् द्वारा कहे हुए उन यज्ञादि कर्मों को किस प्रकार से करने से चित्तशुद्धि प्राप्त होती है यह बतलाया जाता है-(१) **केवल कर्तव्य बुद्धि से** अर्थात् अभी तक मेरा अधिकार कर्म में है, अतः शास्त्रविहित यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म करना मेरा नित्य कर्तव्य ही है, (२) **कर्म में संग त्याग कर**—शास्त्र भगवान् की वाणी है एवं वह शास्त्ररूप वाणी ही जीव के लिए निर्धारित करती है कि किसको कैसा काम करना होगा। अतः शास्त्र की आज्ञा के अनुसार यंत्ररूप से मैं कर्म कर रहा हूँ एवं कर्म भी भगवान् का ही है, इस प्रकार की भावना से कर्म में संग का [ममत्वबुद्धि या आसक्ति का एवं कर्म करते हुए 'मैं ऐसा कर रहा हूँ' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान का] त्याग कर एवं (३) **फल की वासना का त्याग कर**—इस प्रकार कर्म से ऐसा फल भोग करूँगा, इस प्रकार की कामना का त्याग कर, केवल भगवान् की प्रीति द्वारा अन्तःकरण शुद्धि के लिए मुमुक्षु को कर्म करना चाहिए—यही मेरा (सर्वेश्वर परमात्मा का) **निश्चय**—है एवं यह **उत्तम**-(सर्वश्रेष्ठ) भी है क्योंकि इस प्रकार कर्म करने से ही उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ परमपद (मोक्ष) को प्राप्त होकर मनुष्य परमशान्ति लाभ कर सकता है।

यज्ञ, दान, तपरूप कर्म का त्याग करना उचित नहीं है. यह पूर्व दो श्लोकों में कहा गया है। आत्मज्ञान से रहित कर्माधिकारी मुमुक्षु को कर्म का त्याग क्यों नहीं करना चाहिए, यह कहा जाता है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

अन्वय—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ।

अनुवाद—वर्णाश्रम के अनुसार जिसके लिए जो कर्म शास्त्र द्वारा नियत (विहित) हुआ है उस नित्य कर्म का त्याग करना (अन्तःकरण की शुद्धि की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को) उचित नहीं है। मोहवश उसका परित्याग करना तामस कहा गया है।

भाष्यदीपिका—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः-किन्तु नियत (विहित) नित्य कर्म का संन्यास अर्थात् परित्याग करना **न उपपद्यते**—युक्तियुक्त नहीं होता है [काम्य कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि न होने से तथा वह बन्धन का हेतु होने के कारण दोषरूप ही है। अतः मुमुक्षु के लिए उसका त्याग करना उचित ही है। किन्तु जो मुमुक्षु होकर भी कर्म के ही अधिकारी है उसके लिए शास्त्र द्वारा वर्णाश्रम के अनुसार जो कर्म विहित है वह कर्म ईश्वर अर्पण बुद्धि से किये जाने पर अज्ञानी पुरुष को पावन (पवित्र) करनेवाला होता है अर्थात् यज्ञादि नित्य कर्म का नियमपूर्वक अनुष्ठान करने से चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है एवं चित्तशुद्धि तत्वज्ञान या मोक्षप्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः मुमुक्षु को शास्त्र एवं युक्ति के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उस कर्म का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए। इसलिए भगवान् ने पहले ही कहा है 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् कर्मकारणमुच्यते' अर्थात् योग पर आरुढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्म कारण (साधन) कहा जाता है। अतः उक्त मुमुक्षु को इन सब कर्मों का त्याग करना किसी प्रकार से उचित नहीं है] **मोहात्**-अतः मोह से (अज्ञान पूर्वक) **तस्य परित्यागः**—उन नित्यकर्मों का परित्याग **तामसः परिकीर्तितः—**

मनीषी पुरुषों के द्वारा तामस कहा गया है [क्या करना उचित है और नहीं उचित है इस सम्बन्ध में ज्ञान के अभाव को मोह अर्थात् अज्ञान या अविवेक कहा जाता है। नियत (नित्य) कर्म करना आवश्यक कर्तव्य है। जो आवश्यक कर्तव्य है उसका त्याग कैसे हो सकता है ? इसलिए यदि कोई नित्य कर्तव्य कर्म का संन्यास (त्याग) करे तो यह सिद्ध होता है कि वह नहीं जानता है कि नित्य कर्म की चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष के समीप पहुँचाने में सामर्थ्य है। इस प्रकार न जानने को ही मोह या अज्ञान कहा जाता है। जिस कारण से नित्य कर्म के परित्याग का कारण मोह है उसी कारण से इस प्रकार के त्याग को तामस कहा जाता है क्योंकि मोह (अज्ञान) और तमः (ज्ञान के अन्धकार रूप आवरण) एक ही वस्तु है। जो लोग अज्ञ एवं वैराग्यशून्य हैं उनको यज्ञ, दान, तपरूप नित्य कर्म का किसी प्रकार से त्याग करना उचित नहीं है, यही श्रीभगवान् स्पष्टरूप से कहते हैं।]

टिप्पणी-(१) मधुसूदन-नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते- इस वाक्य की मधुसूदन सरस्वती ने अति विस्तृत व्याख्या की। उस व्याख्या का सारांश यह है-सांख्यवादियों ने तो काम्य कर्म के समान दर्श, पूर्णमास और ज्योतिष्टोमादि नित्य कर्मों को भी पशु आदि की हिंसा से युक्त होने के कारण दोषयुक्त बताया है। वे कहते हैं कि इस प्रकार हिंसामिश्रित कर्म से चित्तशुद्धि कैसे हो सकती है ? अतः काम्य एवं नित्य उभय प्रकार के कर्मों का ही त्याग करना उचित है क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' (किसी प्राणी की हिंसा न करे), इस प्रकार के साधारण निषेध वाक्य शास्त्र में रहने के कारण हिंसा कर्मकर्ता के अनर्थ की ही हेतु होती है [विधि दो प्रकार की है (क) विशेषविधि एवं (ख) साधारण विधि। 'अग्नीष्टोमीयं पशुमालभेत' (अग्नीष्टोम देवता के लिए पशुवध करना है) इस विशेष विधि के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि पशुवध यज्ञ के अंगों को परिपूर्ण करने के लिए साधनरूप से विहित हुआ है अर्थात् शास्त्रविहित हिंसा न करने पर यज्ञ की अंगहानि (वैगुण्य) होगी किन्तु ऐसा होने पर भी 'न हिंस्यात्' **इस साधारण**—विधि के द्वारा यह स्पष्टरूप से कहा गया है कि हिंसामात्र ही पुरुष के अनर्थ का हेतु होती है। जिस यज्ञ में हिंसा की विधि है उसमें भी वह 'हिंसा अनर्थ का हेतु नहीं है' ऐसा नहीं कहा गया। इस प्रकार यज्ञ में

उपकारक होना तथा पुरुष का अनर्थकर होना—ये दोनों धर्म एक वस्तु में रहना असम्भव होने के कारण यज्ञ के लिए हिंसा भी निषिद्ध ही है। इसलिए हिंसायुक्त दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोमादि समस्त नित्य कर्म दूषित ही हैं। विहित का भी निषिद्ध होना और निषिद्ध का भी विहित होना—ये श्येनयागादि के समान सम्भव हैं ही। जिस प्रकार कि 'श्येनयागद्वारा अभिचार करता हुआ यजन करे' ऐसा अभिचार विधि से विहित होनेपर भी श्येनयागादि 'सभी जीवों की हिंसा न करे' इस निषेध का विषय होने के कारण अनर्थ का हेतु ही है और जो उस दोष को सहन कर सकता है उस रागद्वेषादि दोषों के अधीन पुरुष का ही उसमें अधिकार है उसी प्रकार ज्योतिष्टोमादि में भी समझना चाहिए। ऐसा ही महाभारत में भी कहा है—'सब धर्मों की अपेक्षा जप ही श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है, क्योंकि जपयज्ञ जीवों की अहिंसापूर्वक प्रवृत्त होता है'। मनुजी ने भी कहा—'इसमें सन्देह नहीं, ब्राह्मण जप के द्वारा ही पूर्ण सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, (वह कोई दूसरा कर्म करे अथवा न करे) क्योंकि ब्राह्मण जगत् का मित्र कहा जाता है. इस प्रकार कहकर मैत्री और अहिंसा की प्रशंसा करते हुए हिंसा की दुष्टता ही प्रतिपादित की है। अन्तःकरण की शुद्धि तो इस प्रकार के गायत्रीजप आदि कर्मों से बहुत अच्छी तरह हो सकती है, अतः जो किसी दोष को सहन नहीं कर सकता उस कर्माधिकारी को भी श्येनयागादि के समान हिंसा दोष से दूषित ज्योतिष्टोमादि नित्य कर्म का त्याग कर देना चाहिए।

सिद्धान्त—उक्त सांख्य मत का खण्डन करने के लिए सिद्धान्ती का उत्तर इस प्रकार है—

(१) क्रतु या यज्ञ में जो हिंसा शास्त्र की विधि के अनुसार अनुष्ठित होती है वह अनर्थका हेतु नहीं है क्योंकि शास्त्रविहित हिंसा को हिंसा नहीं माना जाता है यदि उससे यज्ञकर्ता को किसी प्रकार के अनर्थ की सम्भावना होती तो कोई भी उस प्रकार के यज्ञादि में जानबूझ कर प्रवृत्त न होता क्योंकि अपना अनिष्ट कोई नहीं चाहता है।

(२) शास्त्रविहित यज्ञादि से यदि अनिष्ट होता तो उसके सम्बन्ध में समस्त शास्त्रविधि की भी व्यर्थता का प्रसंग उपस्थित हो जाता।

(३) शास्त्रविधि का उद्देश्य है कर्म में प्रवर्तना (प्रेरणा) देना अर्थात् विधिवाक्य के इष्ट साधन का (स्वर्गादि अभिलषित वस्तु प्राप्ति के साधन या उपाय का) ज्ञान होना। पुरुष उस विधि के अनुसार कर्म में प्रवृत्त या प्रेरित होता है। अलौकिक विषय में ही इस प्रकार प्रवर्तना की आवश्यकता होती है अतः शास्त्रविधि से अलौकिक (या बुद्धि से अगम्य विषय में) यदि कर्म को नियत किया जाता है तब उससे अनर्थ की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए ज्योतिष्टोम यज्ञ में अग्नीष्टोम देवता के उद्देश्य से जो हिंसा (पशुवध) विधिवाक्य के अनुसार अनुष्ठित होती है, वह उस क्रतु का अंगस्वरूप होने के कारण वैगुण्य दोष परिहार करने के लिए अवश्य ही कर्तव्य है। विधिपूर्वक अनुष्ठित सर्वाङ्गसम्पन्न उस ज्योतिष्टोम क्रतु (यज्ञ) का फल है स्वर्गादि की प्राप्ति। अतः उस यज्ञ का फल अनिष्टजनक है ऐसा कहना युक्त नहीं है। [जिस कार्य में (यथा-शत्रु का नाश करने के लिए श्येनयागादि में) मनुष्य का स्वाभाविक अनुराग रहता है, वह कार्य विधि की अपेक्षा नहीं रखता है क्योंकि शास्त्र के द्वारा प्रवृत्त न होकर भी मनुष्य स्वाभाविक प्रेरणा से हिंसात्मक कर्म कर लेता है। अतः श्येनयागादि विधि के विषय न होने के कारण वह अनर्थ का हेतु हो सकता है।]

(४) 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' यह सामान्य निषेध वाक्य 'अग्नीष्टोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष विधि द्वारा बाधित होने के कारण यह सिद्ध होता है कि यज्ञादि से व्यतिरिक्त (भिन्न) जो लौकिक हिंसारूप कर्म है (जिसके मूल में राग या द्वेष है) उसका निषेध करने के लिए 'किसी प्राणी की हिंसा करना उचित नहीं है' इस प्रकार शास्त्रविधि उक्त हुई है। अतः यज्ञादि के लिए हिंसाविधि एवं स्वाभाविक हिंसा का निषेध इन दोनों में कोई असामंजस्य (विरोध) नहीं है क्योंकि उनके विषय भिन्न हैं। फिर विधिनिषेध एक साथ रहने से ही यदि अनर्थहेतुता का प्रसंग हो तो षोडशीग्रहण की भी अनर्थ हेतुता प्राप्त होगी क्योंकि अतिरात्र यज्ञ में षोड़शी के ग्रहण की विधि तथा षोडशी के ग्रहण करने का निषेध भी किया गया है परन्तु कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति षोडशी ग्रहण से अनर्थरूप फल होता है, यह स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए षोडशीग्रहण एवं अग्रहण के विषय में विधि का विकल्प—ही मानना पड़ेगा।

[इस प्रकार युक्ति से मीमांसक गण सांख्य मत का खंडन करते हैं।]

तार्किक (नैयायिक) के मत में विधिवाक्य की सार्थकता इसप्रकार से सिद्ध होती है—

(क) **कृति साध्यत्व**—विधिविहित कर्म अवश्य कृति (प्रयत्न) द्वारा साध्य (निष्पाद्य–करने के योग्य) होगा, (ख) **अर्थ हेतुत्व**—अर्थात् विधिविहित कर्म कर्ता के अर्थ (प्रयोजन अर्थात् अभिलषित स्वर्गादि फल) का हेतु (कारण या उपाय) होगा, (ग) अनर्थाहेतुत्व-अर्थात् वह परिणाम में अनर्थ का हेतु (कारण) नहीं होना चाहिए। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में हिंसा के सम्बन्ध में साक्षात् कोई निषेध वाक्य नहीं है एवं हिंसा के किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। अधिकन्तु इसप्रकार यज्ञ का फल स्वर्गादि की प्राप्ति होने के कारण कृतिसाध्यत्व, अर्थहेतुत्व एवं अनर्थाहेतुत्व ये तीनों विधिवाक्य में बोधित किये गये हैं। पक्षान्तर में अहिंसारूप अभिचारक श्येनादि यज्ञ साक्षात् रूप से निषेध का विषय एवं अभिचारकारी का भी प्रायश्चित का विधान रहने के कारण वह अनर्थ का हेतु है, ऐसा शास्त्रों में बोधित किया गया है। अतः श्येनयाग और अग्नीष्टोमीय यज्ञ इन दोनों में विलक्षणता (भेद) स्पष्ट है अर्थात् दोनों याग हिंसायुक्त होने पर भी उनके फल में बहुत अन्तर (पार्थक्य) है। वेदान्ति पण्डितगण इसविषय में भाट्टदर्शनों का मत-मानते हैं क्योंकि वेदान्त सूत्र में कहा गया है—

'अशुद्धिमिति चेन्न शब्दात्' (वेदान्त द० ३।२५) अर्थात् यदि यज्ञादि कर्म हिंसायुक्त हैं इसलिए वह अशुद्ध है, ऐसा कहो तो वह युक्त (संगत) नहीं होगा क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति ने ही इसका विधान किया है। हिंसादिसंयुक्त यज्ञादि कर्म साक्षात् श्रुति द्वारा विहित होने के कारण वह अशुद्ध या अनिष्ट फल का हेतु नहीं हो सकता फिर सांख्य-वादी जो कहते हैं कि महाभारत तथा मनुस्मृति में कहा है कि सर्व कर्म का परित्याग कर 'जप्येनैवतु संसिध्येत्' अर्थात् जप द्वारा ही सिद्धिलाभ होता है, इसके उत्तर में कहा जायगा कि इसप्रकार का वाक्य जप की प्रशंसा करने वाला है–यज्ञ के लिए हिंसा के अधर्मत्व का बोधक नहीं है, क्योंकि उसमें उसका तात्पर्य ही नहीं है अर्थात् वह जप का प्रशंसाज्ञापक होने पर भी वेद-विहित ज्योतिष्टोमादि यज्ञादि का निषेध-ज्ञापक नहीं है। इसप्रकार

सांख्यवादियों का जो विहित में निषिद्धत्व ज्ञान, अर्थ के हेतु में अनर्थ हेतुत्व का ज्ञान, धर्म में अधर्मत्व का ज्ञान और अनुष्ठान योग्य में अनुष्ठान की अयोग्यता का ज्ञान है वह उनका विपरीत ज्ञानरूप मोह ही है। उस मोह के कारण जो नित्य कर्म का त्याग है, वह तामस कहा गया है कारण कि मोह ही तम है।

टिप्पणी (२) श्रीधर—काम्य कर्म बन्धन के हेतु होने के कारण उनका सम्यक् न्यास (त्याग) उचित है—**नियतस्य तु कर्मणः संन्यासः नोपपद्यते**—परन्तु नियत (नित्य) कर्म का संन्यास (त्याग) करना उपपन्न (युक्तियुक्त) नहीं है क्योंकि वह अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्ष का हेतु है। इसलिए **मोहात् तस्य परित्यागः तामसः**—उसका परित्याग अर्थात् 'उपादेय' में (ग्रहण योग्य अर्थात् शास्त्रविधि से सिद्ध विषय में) त्याज्यत्व-बुद्धि मोह से ही हो सकती है। मोह तामस होने के कारण वह त्याग तामस **परिकीर्तितः**—कहा गया है।

(३) शंकरानन्द—'उसमें मेरा निश्चय सुनो' इससे उपक्रान्त अपने सिद्धान्त को कहकर अब अविरक्त मुमुक्षु के कर्मसंन्यास का निषेध करते हुए 'त्याग तीन प्रकार का कहा गया है' (गीता १७।४) इससे उक्त त्याग के त्रैविध्य का प्रतिपादन करते हैं—**नियतस्य**—नियत का (श्रुति और स्मृति से विहित संध्योपासना, अग्निहोत्र आदि कर्म का) **संन्यासः**—संन्यास यानी काम्य कर्मों के समान परित्याग अशुद्धचित्त वाले मुमुक्षु के लिए **नोपपद्यते**—योग्य नहीं है। क्योंकि नित्यकर्म सत्त्व के (मन के) शोधक हैं और उनको न करने में प्रत्यवाय होता है। इसलिए अज्ञानी को कर्मसंन्यास (त्याग) नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। कर्म का तत्त्व न जानकर स्थूल दृष्टि से [इसके अनुष्ठान में] दोष है ऐसा समझकर अविवेक से यदि उनका त्याग किया तो क्या होता है? इस पर कहते हैं—**मोहात्**—कृत्य (कर्तव्य) और अकृत्य (अकर्तव्य) के ज्ञान का न होना मोह (यानी अविवेक) है, मोह से **तस्य परित्यागः**—उस नियत का (अपने अनुष्ठान से उत्पन्न हुई चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष का हेतु होने से उपादेय नित्यकर्म का) परित्याग **तामसः**—तामस है अर्थात् तमोगुण का कार्य होने से तम है **परिकीर्तितः**—ऐसा सत्पुरुषों के द्वारा कहा गया है। तमोगुण से ही मोह

अर्थात् चित्त की विकलता उत्पन्न होती है एवं उस विकलता से किस कर्म का फल अनिष्ट है, किस कर्म का फल इष्ट है इत्यादि विषय में विपरीत ज्ञान (अज्ञान) होता है। उसी से तमोगुणी पुरुष उपादेय नित्य कर्म का भी त्याग कर देता है और त्याग करने पर न करने के दोष से उत्पन्न हुए नरकरूप फल को प्राप्त होता है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि अज्ञानी और अविरक्त पुरुष को कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए।

(४) **नारायणी टीका**—भगवान् ने पूर्ववर्ती चौथे श्लोक में उनका निश्चय बताने के लिए जो प्रतिज्ञा की उसको स्पष्ट करने के लिए अब त्याग के तामसी, राजसी, एवं सात्त्विक, ये तीन प्रकार के भेद दिखाते हैं—भगवान् पूर्ववर्ती श्लोक में कह चुके हैं कि शास्त्रविहित नित्य (नियत) यज्ञ, दान तथा तपरूप कर्म का संन्यास अर्थात् त्याग करना उचित नहीं है क्योंकि कर्तृत्वाभिमान, फलाकांक्षा तथा कर्म में संग (आसक्ति) का त्यागकरके यदि भगवदर्पणबुद्धि से शास्त्रविधि के अनुसार कर्म किये जाँय तो वे चित्तशुद्धि उत्पन्न कर मोक्ष के हेतु होते हैं। किन्तु गीता में पुनः पुनः यह बात सिद्ध की गई है कि निष्काभाव से नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती है. चित्तशुद्धि के बिना तत्त्वज्ञान कभी संभव नहीं है। काम्य कर्म से बन्धन होता है अतः मुमुक्षु के लिए काम्य कर्म सदा परित्याज्य है परन्तु नियत (नित्य) कर्म बन्धन का हेतु नहीं है बल्कि मोक्ष का प्रधान सहायक है क्योंकि चित्तशुद्धि होने पर रजोगुण की क्रिया विक्षेप एवं तमोगुण की क्रिया लय दूरीभूत हो जाती है एवं चित्त परमार्थ तत्त्व में एकाग्र होने की योग्यता को प्राप्त होता है। एकाग्रता ही ध्यान में परिणत होती है एवं ध्यान समाधि में परिणत होकर पारमार्थिक सत्यवस्तु के स्वरूप का बोध करा देता है। सर्व वस्तु का यथार्थ स्वरूप ब्रह्म ही है, अतः नित्यकर्म का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान यथाक्रम से ब्रह्म साक्षात्कार में पर्यवसित (समाप्त) हो जाता है। इसलिए जो कोई भी आत्म-कल्याण की कामना करता है उसके लिए नित्यकर्म का त्याग किसी प्रकार से उपपन्न (युक्तियुक्त) नहीं होता है। यदि कोई इसका त्याग करे तो वह मोह से ही (अर्थात् हित एवं अहित की विवेचन शक्ति से रहित होकर ही) करेगा एवं इस कारण से उस प्रकार के त्यागको विवेकी पुरुषों ने **तामस**—कहा है। निष्काम भाव से इन सब

यज्ञादि रूप नित्य कर्मों के करने से क्या लाभ है ? नित्य कर्म से तो स्वर्गादि फल प्राप्त नहीं होता है, फिर यदि कामना का ही त्याग करके उन सब कर्मों को करने की विधि है तो साधारण मनुष्य की प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है क्योंकि जहाँ काम (फल की वासना) नहीं है वहाँ कर्मों का क्या प्रयोजन है ? फिर यदि माना जाय कि नित्यकर्म न करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है तो यज्ञादि कर्म कभी-कभी हिंसायुक्त होने के कारण उनके करने से पाप का ही संचय होगा, अतः पाप से पाप की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार शास्त्र वाक्य में अश्रद्धापूर्वक विपरीत बुद्धि का आश्रय करके मोह से (अविवेक से) मूढ़ व्यक्ति नित्य अनुष्ठेय यज्ञ, दान-तथा तपरूप कर्म का त्यागकर देता है। मोह तमोगुण का लक्षण है, इसलिए इस प्रकार के त्याग को विचक्षण व्यक्तियों के द्वारा तामस कहा जाता है। सभी मुमुक्षुको इस प्रकार के तामस त्याग से अपनी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि जबतक मोक्ष के साधनरूप अध्यात्मज्ञान के प्रति रुचि न उत्पन्न हो तबतक शास्त्रविधि के अनुसार निष्काम भाव से केवल **चित्तशुद्धि के लिए**—नियत (नित्य) कर्मादि को ईश्वर-अर्पण बुद्धि से करना ही एकमात्र परमार्थसिद्धि का उपाय है—अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसलिए योग वासिष्ठ में कहा है—

यस्मै न रोचते ज्ञानमध्यात्मं मोक्षसाधनम् ।
ईश्वरार्पितेन मनसा यजेन्निष्कामकर्मणा ॥

भागवत में भी कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(१०।२०।९) किन्तु जब चित्तशुद्धि होने के पश्चात् अध्यात्म ज्ञान में रुचि होती है तब कर्म स्वतः ही छूट जाता है।

पूर्व श्लोक में कहा है कि शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म में अकर्तव्य बुद्धि ही मोह है एवं मोह से जो नियत (नित्य) कर्म का त्याग होता है वह तामस त्याग है। अब राजस त्याग किस प्रकार का है, वह कहा जाता है—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

अन्वय—दुःखम् इति एवं कायक्लेशभयात् यत् कर्म त्यजेत् स राजसं त्यागम् कृत्वा त्यागफलम् न एव लभेत् ।

अनुवाद—जो पुरुष 'यह दुःखरूप है' इस विचार से शारीरिक क्लेश के भय से कर्म छोड़ बैठता है वह राजस त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता ।

भाष्यदीपिका—दुःखम् इति एव—'ये समस्त नित्य नैमित्तिक कर्म दुःखरूप हैं' इस प्रकार के विचार से [शीतकाल में प्रातः स्नानादि अथवा व्रतदिवस में उपवासादि अथवा अग्निहोत्रादि के लिए उपकरण का संग्रहादि दुःखदायक है, ऐसा निश्चय करके] **कायक्लेशभयात् यत्कर्म त्यजेत्**—शारीरिक अर्थात् (शरीर तथा इन्द्रियों के) क्लेश (दुःख) के भय से जो कोई कर्मको-नित्यकर्म को छोड़ बैठता है **सः राजसम् त्यागम् कृत्वा**—वह राजस त्याग करके **न एव त्यागफलम् लभेत्**—त्याग का फल अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये हुए सर्वकर्मसंन्यासरूप वास्तविक सात्त्विक त्याग का जो मोक्षरूप फल है उस फल को नहीं प्राप्त होता है । अथवा इस प्रकार के राजस त्याग के द्वारा मोक्षरूप फलप्राप्ति तो दूर की बात है बल्कि इस प्रकार के त्याग के कर्ता को राजस कर्म के अनुरूप नरक ही प्राप्त होता है (आनन्दगिरि) । [शारीरिक क्लेश के भय से जो कर्म का त्याग किया जाता है उसमें मोह अर्थात् कर्तव्य कर्म में अकर्तव्यबुद्धि (इस कर्म को करना मुझे आवश्यक नहीं है इस प्रकार की विपरीत बुद्धि) न रहने के कारण इसे मोहजनित तामस त्याग नहीं कहा जाता है परन्तु दुःखबुद्धि से त्याग कियेजाने के कारण वह राजस त्याग है क्योंकि दुःख रजोगुण से उत्पन्न होता है (गीता १४।१६) । इस प्रकार का त्याग रजोगुण से दूषितबुद्धि के द्वारा किये जाने के कारण सात्त्विक त्याग का फल जो मोक्ष या ज्ञाननिष्ठा है उसे प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि असुरराज विरोचन आदि के समान देह में आत्मबुद्धि दृढ़भाव से रहने के कारण ही शारीरिक क्लेश के भय से मनुष्य कर्तव्यकर्मको त्याग देता है । देहात्मबुद्धि मूलअज्ञान है एवं इस प्रकार के अज्ञानद्वारा प्रेरित होकर

जब तक मनुष्य कर्म करता रहता है तब तक चित्तशुद्धि एवं चित्तशुद्धि से तत्त्वज्ञान या मोक्ष को प्राप्त करना कैसे सम्भव है अर्थात् यह निश्चय है कि किसी प्रकार से यथार्थ त्याग का फल (मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकता है यही श्लोक के द्वितीय पाद में 'न एव' पद का तात्पर्य है। यहाँ 'एव' शब्द निश्चयार्थक है। इस प्रकार के त्यागको राजस त्याग कहा गया है क्योंकि दुःख मानकर जो कुछ क्रिया की जाती है वह राजस है, ऐसा भगवान् ने पहले ही स्पष्ट किया है (गीता १४।१६)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—दुःखम्…… …त्यज्येत्—जिस कर्ता को आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ वह यदि 'कर्म केवल दुःखरूप है' ऐसा समझकर शारीरिक परिश्रम के भय से नित्य कर्म का त्याग करता है तो **स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्**—उसका जो वैसा त्याग है वह राजस त्याग है, इसलिए उस राजस त्यागको करके रजोगुणी मनुष्य ज्ञाननिष्ठा रूप फल को नहीं प्राप्त करता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**—राजस त्याग का लक्षण और फल कहते हैं—**तत् दुःखं इति एव यः कायक्लेशभयात् त्यजेत्**—पूर्वोक्त नियम के अनुसार जो नित्य कर्तव्य कर्म है वह श्रमसाध्य होने के कारण दुःखरूप है, यानी दुःखात्मक आयास से (श्रम से) साध्य है, ऐसा निश्चय करके आलस्य दोष से कर्म की कर्तव्यता को जानकर भी जो कायक्लेश के भय से (इसको करने से देह इन्द्रिय आदि को क्लेश होता है इस भय से) उसका त्याग करता है, **स कृत्वा राजसम् त्यागम् नैव त्यागफलम् लभेत्**—वह पुरुष देह में प्रेम करने के कारण राजस (रजोगुण से दूषित बुद्धि के दोष से प्राप्त) त्याग का (कर्मसंन्यास का) ग्रहण करके भी त्याग के फल को (त्याग के यानी कर्मसंन्यास के फल चित्तशुद्धि को, उससे जन्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को और उसके फल मोक्ष को) प्राप्त नहीं करता, किन्तु विहित कर्म का अनुष्ठान न करने से अपनी वंचना करने वाले तथा राजस त्याग के अनुरूप प्रत्यवाय से (पाप से) प्राप्त होनेवाले नरकरूप फल को प्राप्त करता है। इससे यह सूचित होता है कि सुख से सुख प्राप्त नहीं किया जाता, इस न्याय से जो स्वधर्म के अनुष्ठान के क्लेश को सहन करता है, उसी का पुरुषार्थ (मोक्ष) सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि जो लोग शास्त्रविधि का उल्लंघन करके स्वेच्छानुसार कर्म करते हुए विहित (कर्तव्य) नित्य कर्मादि को भी मोह से (अकर्तव्य बुद्धि से) त्याग देते हैं, वह त्याग तामस त्याग है किन्तु देहात्मबुद्धि अत्यन्त दृढ़ रहने के कारण स्नान, वन्दना, पूजा अतिथि सेवा तथा अग्निहोत्रादि कर्म से शरीर तथा इन्द्रियों को क्लेश होगा, इस प्रकार के भय से उन सब नित्य कर्म का अज्ञानी कर्माधिकारी जो त्यागकर देता है उस त्याग को राजस त्याग कहा जाता है क्योंकि दुःख बोधमात्र ही रजोगुण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार के राजस त्याग से चित्तशुद्धि नहीं हो सकती है, अतः कर्म या कर्मफल के त्याग का उद्देश्य जो तत्त्वज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति है वह कभी प्राप्त नहीं हो सकता जो स्वधर्मपालन में सर्व प्रकार के क्लेश सहन करने में समर्थ है वही परमपुरुषार्थको (मोक्ष को) प्राप्त हो सकता है—दूसरा नहीं; यही कहने का अभिप्राय है।

राजस और तामस कर्मत्याग हेय (मुमुक्षु को परित्याज्य) है, ऐसा बताकर फिर सात्त्विक अर्थात् उपादेय (ग्रहण के योग्य) श्रेष्ठ त्याग कैसा होता है सो बतलाया जाता है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अन्वय—हे अर्जुन! सङ्गं फलम् च त्यक्त्वा कार्यम् इति एव यत् नियतम् कर्म क्रियते सः त्यागः सात्त्विकः मतः।

अनुवाद—'मुझे इसको करना चाहिए', ऐसी बुद्धि से कर्म में संग (आसक्ति) एवं कर्मफल का त्याग करके जो नित्य कर्म का अनुष्ठान किया जाता है वह त्याग (नित्यकर्म में आसक्ति और फल का त्याग) सात्त्विक (सत्त्वगुण से किया हुआ) त्याग माना जाता है।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन—हे शुद्धबुद्धे! [शुद्धबुद्धि द्वारा ही सात्त्विक त्याग सम्भव है, यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'अर्जुन' शब्द द्वारा सम्बोधन किया]

सङ्गम्—संग (आसक्ति अर्थात् कर्तृत्वाभिनिवेश (मैं करता हूँ ऐसा अभिमान) **फलं च**—एवं फल को अर्थात् इस कर्म से इस प्रकार के फल को प्राप्त करूँगा ऐसी आकांक्षा को **त्यक्त्वा**—परित्याग कर **कार्यम् इति एव**—'यह कर्तव्य ही है' ऐसा समझकर **यत् नियतं कर्म**—जो नियत (शास्त्रविहित नित्य) कर्म **क्रियते**—अन्तःकरण की शुद्धि होने तक ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है **सः त्यागः**—वह त्याग अर्थात् नित्य कर्म में आसक्ति तथा फल का त्याग **सात्त्विकः मतः**—सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण से किया हुआ त्याग शिष्ट पुरुषों के द्वारा सात्त्विक माना गया है अर्थात् शिष्ट पुरुष इस प्रकार के सात्त्विक त्याग को उपादेय (ग्रहण योग्य) मानते हैं।

नित्य कर्म का क्या फल होता है, इस विषय में भगवान् के वचनों का प्रमाण पहले ही दिया गया है (१८। भाष्यदीपिका द्रष्टव्य) अथवा यद्यपि नित्य कर्म का फल शास्त्रों से स्पष्ट रूप से नहीं सुना जाता है तो भी साधारण मनुष्य ऐसी कल्पना कर ही लेता है कि नित्य कर्म विधिपूर्वक किये जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि या प्रत्यवाय का (पाप का) परिहार (निवृत्ति) रूप फल देता है किन्तु यहाँ 'फलं त्यक्त्वा' इस कथन से अज्ञ लोगों की ऐसी कल्पना का भी निषेध करते हैं। अतः 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' यह कहना बहुत ही युक्तियुक्त है [भगवान् के ऐसे वाक्य से यह ज्ञात होता है कि नित्य कर्मों का भी फल होता है क्योंकि फलहीन कर्म का तो अनुष्ठान ही सम्भव नहीं है। आपस्तम्बजी भी 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चार्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' अर्थात् जिस प्रकार फल के लिए लगाये हुए आम के वृक्ष के साथ-साथ छाया और गन्ध भी पैदा हो जाते हैं उसी प्रकार धर्म का आचरण करने के साथ ही साथ अर्थ (शुभफल) उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार से नित्य कर्मों का आनुषङ्गिक फल दिखाते हैं। इन्हें न करने पर प्रत्यवाय होता है ऐसा बताने वाली स्मृति भी नित्य कर्मों का प्रत्यवाय निवृत्तिरूप फल दिखाती है। 'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् धर्म से पाप दूर होता है 'तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' (इसलिए धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं) 'येन केन च यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति' अर्थात् किसी भी वस्तु से यजन करे, स्रुवासे होम करने वाला पुरुष उपघातहीन मतवाला

हो जाता है। 'तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजीत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गꣳ सꣳस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' इत्यादि अर्थात् यदि कोई कहे कि देवयाजी श्रेष्ठ है या आत्मयाजी, तो 'आत्मयाजी श्रेष्ठ हैं, ऐसा ही कहे और आत्मयाजी वही है जो ऐसा जानता है कि इस कर्म से मेरे अंग का संस्कार होता है और इससे (पाप का) उपघात (ह्रास) होता है, इत्यादि श्रुतियाँ भी नित्य कर्मों का फल है (१) ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप का क्षय, (२) ज्ञान की योग्यतारूप पुण्य की उत्पत्ति और (३) आत्मसंस्कार (चित्तशुद्धि) ऐसा प्रदर्शित करती है। इसलिए तात्पर्य यह है कि इस फल की आशा को छोड़कर उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

पूर्वपक्ष—संन्यास या कर्म-त्याग तीन प्रकार का है ऐसा कहकर प्रकरण का आरम्भ किया गया है (गीता १८।४)। सात, आठ श्लोक में कर्मों के त्याग को तामस और राजस कहा है, परन्तु सात्त्विक त्याग के स्थान में कर्म का त्याग न कहकर आसक्ति (संग) और फल का त्याग कैसे कहते हैं? [उपक्रम में (आरम्भ में) जो विषय के सम्बन्ध में कहा जाता है उसके सम्बन्ध में ही उपसंहार करना उचित है किन्तु पहले कर्मों के त्याग के विषय में प्रकरण का आरम्भ करके अब संग एवं फल का त्याग कहने से इस नियम का व्यतिक्रम देखा जाता है किस कारण से ऐसा हुआ? (आनन्दगिरि)] जैसे कोई कहे कि उनमें दो तो वेद के छहों अंगों को जानने वाले हैं और तीसरा क्षत्रिय है, इसप्रकार से कहने पर जैसे 'तीन ब्राह्मण हैं' इसप्रकार पूर्व वाक्य के साथ पीछे जो कहा गया वह विरुद्ध होता है, उसी प्रकार से यह कथन भी प्रकरणविरुद्ध है।

उत्तरपक्ष—यह दोष नहीं है क्योंकि कर्मत्याग और कर्म फल का त्याग इन दोनों में त्यागस्वरूप धर्म की समानता विद्यमान है। उनमें राजस और तामस भाव से किये हुए कर्म की निन्दा करके 'स त्यागः सात्त्विको मतः' इस कथन से कर्मों का त्याग न कर कर्मफल और आसक्ति के त्याग की स्तुति की गई है क्योंकि शिष्टलोग इसप्रकार के त्याग को सात्त्विक (सात्त्विक गुण से निष्पन्न) कहते हैं [इसलिए यह प्रकरण विरुद्ध नहीं है।]

अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अनुष्ठान करते रहने पर भी उनको गीता में संन्यासी कहा गया है (गीता ६।१)। काम्य कर्म का त्याग तथा कर्तव्य कर्म के फल का त्याग करने से उनका उस त्याग के साथ मुख्य संन्यास का सादृश्य रहने के कारण उनको भी गौण—रूप से संन्यासी माना जाता है। यह गौण संन्यास ही तीन गुणों के अन्तर्गत है। अतः इसका सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद सम्भव है। वस्तुतः गौणसंन्यास और कर्म फलत्याग एक ही है किन्तु यथार्थ संन्यास एवं त्याग के अर्थ में भेद है। अर्जुन का प्रश्न गीता में कहे हुए गौण संन्यास के सम्बन्ध में है क्योंकि विद्वत् एवं विविदिषा संन्यास गुणातीत होने के कारण उनके सम्बन्ध में इस प्रकार प्रश्न हो नहीं सकता। अतः अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य इस प्रकार है—गौणसंन्यासी अर्थात् कर्म में अधिकारी पुरुष चित्तशुद्धि के लिए जो काम्यकर्म का संन्यास (त्याग) अथवा अन्य करणीय कर्मों के फल का त्याग अर्थात् कर्मों का केवल फलत्याग करते हैं। अब प्रश्न होगा कि संन्यास व त्याग इन दोनों शब्दों के अर्थ घट पट शब्दों के अर्थ के समान परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं अथवा ब्राह्मण तथा परिव्राजक शब्दों के समान इनका अर्थ एक ही (अभिन्न) है? यदि घट पट के समान संन्यास एवं त्याग के अर्थ अत्यन्त भिन्न हों तो उस त्याग के स्वरूप का तत्त्व संन्यास के तत्त्व से कैसा पृथक् है (भिन्न है), उसे मैं तुमसे जानना चाहता हूँ। और यदि संन्यास एवं त्याग ब्राह्मण-परिव्राजक के समान एक (अभिन्न) हो तो इन दोनों में अवान्तर उपाधिरूप भेद क्या है? उसे भी मैं जानना चाहता हूँ।

समस्त गीताशास्त्र का एकमात्र विषय है तत्त्वज्ञानलाभ जिससे सर्वदुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति कर जीव अपना परमपुरुषार्थ सिद्धकर कृत्यकृत्य हो सकता है। तत्त्वज्ञानलाभ करने के साधन हैं संन्यास एवं त्याग-त्याग एवं संन्यास के यथार्थस्वरूप को जानने से मोक्षमार्ग में अग्रसर होना सम्भव है। त्याग (शास्त्रविहित सब कर्म करते हुए भी उसके फल का त्याग) अर्थात् केवल चित्तशुद्धि के लिए निष्कामभाव से अनुष्ठित हुए सब कर्मों का फल भगवान् में अर्पण करना मोक्षमार्ग का पहला साधन है और संन्यास (सभी कर्मों का त्याग) मोक्षमार्ग का श्रेष्ठ साधन है किन्तु गौणसंन्यास एवं त्याग दोनों को ही अज्ञ कर्माधिकारी पुरुष के लिए कर्तव्यरूप से

करने के लिये भगवान् ने उपदेश दिया है। अतः आपातदृष्टि में ये दोनों एकार्थबोधक प्रतीत होनेपर भी भगवान् के द्वारा पृथक्-पृथक् स्थान में इन दोनों शब्दों का प्रयोग सुनकर इनके अर्थ में अवश्य ही कुछ विशेषता (पार्थक्य) है, ऐसा समझकर अर्जुन की उस विशेषता को जानने के लिए इच्छा प्रकट करना युक्तियुक्त ही है।

गीता के पहले अध्याय में जिनका स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है उन संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्टतया नहीं कहा गया। इसलिए उनका, स्पष्ट अर्थ जानने की इच्छा से अर्जुन के प्रश्न करने पर उन दोनों शब्दों का निर्णय (तात्पर्य) सुनाने के लिए श्रीभगवान् बोले—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—कवयः काम्यानाम् कर्मणाम् न्यासम् संन्यासम् विदुः; विचक्षणाः सर्वकर्मफलत्यागम् त्यागम् प्राहुः।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—कविलोग (सूक्ष्मदर्शीपुरुष) काम्यकर्मों के त्यागको संन्यास मानते हैं तथा विचारशील पुरुषों ने समस्त कर्म के फलत्याग को त्याग कहा है।

भाष्यदीपिका—**श्रीभगवान् उवाच**—श्रीभगवान् (श्रीकृष्ण) बोले **कवयः**—कितने ही सूक्ष्मदर्शी पण्डितलोग **काम्यानाम् कर्मणाम्**—अश्वमेधादि सकाम कर्म के [जो जो कर्म विशेष-विशेष कामना की सिद्धि के लिए विहित हैं एवं जिन कर्मों के अनुष्ठान में कर्त्ता को फलकी कामना रहती है, यथा अश्वमेध, इष्टियज्ञ, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ इत्यादि फलप्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं तथा जिन दान, तपस्या आदि में फल की कामना रहती है उन्हें काम्यकर्म कहा जाता है। इनसे इसलोक के सुख एवं पारलौकिक स्वर्गादिरूप भोग प्राप्त हो सकते हैं किन्तु किसी काम्यकर्म से चित्तशुद्धि नहीं हो सकती] अतः **न्यासम्**—इन काम्य कर्मों के परित्याग को **संन्यासं विदुः**—संन्यास मानते हैं अर्थात् कर्त्तव्यरूप से प्राप्त शास्त्रविहित सकामकर्मों के न करने को संन्यास शब्द का अर्थ समझते हैं (जानते हैं) **विचक्षणाः**—कुछ विचक्षण (दूरदर्शी-

विचार कुशल) पंडितजन **सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः**—अनुष्ठान किये जाने वाले नित्य-नैमित्तिक सम्पूर्ण कर्मों के फल का (अर्थात् उन कर्मों के अपने से सम्बन्ध रखनेवाले फल का) परित्याग करने को त्याग कहते हैं अर्थात् 'त्याग' शब्द का वे ऐसा अर्थ बतलाते हैं [शास्त्र में जो-जो नित्य या नैमित्तिक कर्म विहित हैं एवं जिनके अनुष्ठान से कर्मकर्ताको जागतिक फलप्राप्ति की सम्भावना रहने पर भी यदि कर्मकर्ता उन नित्य नैमित्तिक कर्मों का स्वरूप से त्याग न कर (अर्थात् कर्मसंन्यास न कर) केवल चित्तशुद्धि के लिए ईश्वर-अर्पण बुद्धि से फलाकांक्षा रहित होकर उन सब कर्मों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करता है, तो उन कर्मों के फल का परित्याग करने को ही पण्डितलोग त्याग कहते हैं।] कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे काम्य कर्मों का स्वरूप से त्याग करना हो और चाहे समस्तकर्म के फल का त्याग करना हो, सभी प्रकार से संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दों का अर्थ तो एकमात्र **त्याग ही है**—ये दोनों शब्द घट (घड़ा) और पट (वस्त्र) आदि शब्दों के समान भिन्न जातीय अर्थ के बोधक नहीं हैं।

पूर्वपक्ष—शास्त्रों में नित्य और नैमित्तिक कर्म का फल है हां नहीं ऐसा कहा गया है, अतः बन्ध्याको जिसप्रकार पुत्रत्याग हो नहीं सकता उसी प्रकार इन सब कर्मों का कोई फल नहीं रहने के कारण उनके फल का त्याग करने के लिए कैसे कहा जाता है।

उत्तरपक्ष—नित्यकर्म का भी फल होता है—ऐसा भगवान् का कहने का अभिप्राय है। अतः यह दोष नहीं है। क्योंकि भगवान् आगे कहेंगे कि 'अनिष्टमिष्टम्' इति 'न तु संन्यासिनाम्' इति अर्थात् कर्मों का इष्ट (अच्छा) अनिष्ट (बुरा) मिश्र (मिला हुआ) फल असंन्यासी को होता है किन्तु संन्यासी को नहीं अर्थात् जो किसी प्रकार फल की आकांक्षा न रखकर नित्य नैमित्तिक अथवा अन्य कोई कर्म करता है, इस प्रकार फलत्यागी संन्यासी को कर्मफल भोगना नहीं पड़ता 'भवत्यत्यागिनाम् प्रेत्य' (गीता १८।१२) ऐसा कहकर कर्मफल का त्याग करने में असमर्थ असंन्यासियों के लिए कर्मफल की प्राप्ति अवश्य होने वाली है, यह भी भगवान् आगे दिखलायेंगे।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—काम्यानां कर्मणाम्……विचक्षणाः— अर्जुन के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभगवान् बोले—'पुत्रकामो यजेत' 'स्वर्गकामो यजेत' (पुत्रकी कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि रूप से कामनापूर्वक विहित काम्य

कर्मों के न्यास (परित्याग)को विद्वान लोग संन्यास समझते हैं। भाव यह है कि पण्डित लोग सम्पूर्ण फलों के सहित समस्त कर्मों के भी त्यागको संन्यास समझते हैं। परन्तु विचक्षण (निपुण) लोग काम्य और नित्य-नैमित्तिक सम्पूर्ण कर्मों के फलत्यागमात्रको ही त्याग बताते हैं, स्वरूप से कर्मों के त्यागको नहीं। यदि कहो कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों का तो फल ही नहीं सुना गया है, फिर अविद्यमान फल का त्याग कैसे होगा? क्योंकि वन्ध्या के पुत्रका त्याग कदापि सम्भव नहीं है तो इसके उत्तर में कहा जाता है– यद्यपि 'स्वर्गकामः' 'पशुकामः' (स्वर्ग की कामनावाला, पशु की कामनावाला) यज्ञ करे इत्यादि वाक्यों में जैसे फल का श्रवण होता है उस तरह–'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'–('प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे' जबतक जीवन है तबतक अग्निहोत्र करे')–इत्यादि में फलविशेष नहीं सुना जाता है तो भी प्रयोजनरहित–फलशून्य व्यापार में प्रयोजन की आवश्यकता समझने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को प्रवृत्त करने में असमर्थ हुआ विधिवाक्य जैसे 'विश्वजिता यजेत्' (विश्वजित् यज्ञद्वारा यजन करे) इत्यादि में स्वर्ग प्रदानरूप फल का आक्षेप कर लेता है' उसी तरह संध्योपासना आदि नित्यकर्मविधायक वाक्यों में भी सामान्यतः किसी फल का आक्षेप करता ही है। यहाँ ऐसा भी नहीं मानना चाहिए कि अत्यन्त गुरुतर अश्वमेध आदि कर्म के विधायक वचन का अपनी श्रद्धा उत्पन्न कराकर उसके द्वारा अपना (विधि का) सम्पादन करा लेना ही प्रयोजन है; क्योंकि ऐसा मानने से बिना प्रयोजन के पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी–इस दोषका निवारण होना कठिन है। (अतः किसी फल विशेषको स्वीकार करना ही पड़ेगा)। 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' (छा० उ० २।२३।१) अर्थात् ये सब नित्य नैमित्तिक कर्म करने वाले लोग स्वर्गादि पुण्यलोगों को पानेवाले होते हैं–'कर्मणा पितृलोकः' (कर्म से पितृलोक मिलता है। बृह० उ० १।५।१६) 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म से पाप का नाश होता है। तै० आर०१०।६३) इत्यादि नित्य-नैमित्तिक कर्मविधायक वाक्यों में भी फल विशेष का श्रवण होता है। इसलिए भगवान् ने यह ठीक ही कहा कि समस्त कर्मों के फलत्याग को बुद्धिमान् लोग त्याग कहते हैं—

यदि कहो कि फलका त्याग कर देने से फलरहित कर्मों में फिर भी प्रवृत्ति न होने का दोष बना ही रहेगा तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी कर्मों का 'संयोगपृथक्त्व'

न्याय के अनुसार ['एकस्य उभयत्वे संयोगपृथत्वम्' अर्थात् एक ही वस्तु का दो प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने से संयोग से फलकी पृथक्ता हो जाती है। जैसे खदिरका यूप यज्ञ में साधारणतया होता है, किन्तु 'खदिरो वीर्यकामस्य' अर्थात् वीर्य की कामनावाले पुरुषको खदिरका यूप करना चाहिए—यहाँ खदिरका यूप यज्ञार्थ होने पर भी वीर्य-कामना की पूर्ति करनेवाला हो जाता है] विविदिषाको (विवेक प्राप्ति की इच्छा को) ही प्रयोजन माना गया है; अतः उसके लिए उसमें विनियोग (प्रवृत्ति) सम्भव है। (१) जैसा कि श्रुति कहती है—'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (ब्राह्मणलोग वेदों के बारम्बार स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा उस इस आत्माको जाननेकी इच्छा करते हैं। बृह०उ०४।४।२२) इसलिए कर्मप्रतिपादक श्रुति के द्वारा बताये हुए सम्पूर्ण फलों को बन्धन कारक समझते हुए त्यागकर विविदिषा के प्रयोजन से सब कर्मों का अनुष्ठान करना बन ही सकता है। नित्यानित्य वस्तु के विवेक पूर्वक देहाभिमान की निवृत्ति होने से बुद्धि का अन्तरात्मा की ओर झुक जाना 'विविदिषा है' वह स्थिति उत्पन्न होने तक अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ज्ञान के अविरोधि यथोचित आवश्यक कर्म करते हुए उसके फल का त्याग करने का ही नाम कर्मत्याग है, स्वरूप से कर्मों के त्याग का नहीं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (इस जगत् में शास्त्रनियत कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। ईशा०उ०२)। उसके बाद (परमात्मा में स्थिति होने के पश्चात्) तो सभी कर्मों की निवृत्ति स्वतः ही होती है। यह बात नैष्कर्म्य-सिद्धि नामक ग्रन्थ में इस प्रकार कही गई है–'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव' (अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा बुद्धि को अन्तरात्मा के प्रति उन्मुख करके जो अपना प्रयोजन पूराकर चुके हैं, वे वैसे ही निवृत्त हो जाते हैं। जैसे वर्षा के अन्त में मेघ। नैष्कर्म्यसिद्धि–१।४९)। भगवान् ने भी कहा है–'यस्त्वात्म-रतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता३।१७)। वशिष्ठजी ने भी कहा है—'न कर्माणि त्यजेद्योगी, कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ। कर्मणो मूल-भूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः (योगी कर्मका त्याग न करे क्योंकि कर्मों के मूलस्वरूप संकल्पमात्रका नाश कर देने से कर्म स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। अमनस्क उ० २।१०३)।

अथवा ज्ञाननिष्ठा में विक्षेप करने वाले हैं यह देखकर कर्मों को त्याग दे। यह श्रीभगवान् ने भागवत में कहा है—'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते' (तबतक कर्मों को करते रहना चाहिए, जबतक कि वैराग्य न हो जाय अथवा मेरी कथा के श्रवण आदि में श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय। श्रीमद्भा०११।२०।६) 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः। सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः' (विरक्त, ज्ञाननिष्ठ अथवा मेरा भक्त या अपेक्षारहित पुरुष चिन्हों के सहित आश्रमों का त्याग करके विधिविधान से परे हुआ विचरण करे श्रीमद्भाग० ११।१८।२८) इत्यादि। इस प्रसंगका अधिक विस्तार व्यर्थ है। अब हम प्रकरण का अनुसरण करते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार के अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य जानकर 'संन्यास योग से यति' तथा 'केवल त्याग से ही अमृतत्व' इत्यादि श्रुति से, 'मैंने इसका संन्यास किया अर्थात् त्याग किया' इस प्रकार संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का अर्थ यद्यपि लोक और वेद में त्याग की दृष्टि से एक ही है, दूसरा नहीं है, तो भी गृहस्थो के विषय में दोनों के अर्थ का कोई अन्य प्रकार से वर्णन करते है उनका मत तुमसे कहूँगा, इसे सुनो, श्रीभगवान् कहते हैं—

काम्यानाम् कर्मणाम् इत्यादि—'पुत्र की कामना वाला यज्ञ करे', स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे', 'पशु की कामना वाला यज्ञ करे' इस प्रकार काम के सम्बन्ध से विहित काम्य ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का न्यास (परित्याग) ही गृहस्थ का संन्यास है, ऐसा कोई कवि (विद्वान्) जानते हैं अर्थात् काम्य कर्मों का परित्याग ही मुमुक्षु गृहस्थ का संन्यास है ऐसा कहते हैं। 'केचित्' पद सर्वत्र सम्बन्ध रखता है। कोई विचक्षण पण्डित सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को (सब काम्य, अकाम्य, नित्य और नैमित्तिक कर्मों के फल के त्याग को) अर्थात् केवल फल के ही परित्याग को त्याग (संन्यास) कहते हैं। काम, अकाम या विधि द्वारा कर्तव्यरूप से प्राप्त वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करके ईश्वरार्पण बुद्धि से उनके फल का परित्याग ही अधिकारी गृहस्थ का संन्यास है, कर्मों का त्याग संन्यास नहीं है ऐसा कोई कहते हैं। 'ननु यः पशुकामः स्यात्स एतं प्राजापत्यमजं तूवरमालभेत स वा एतस्मै प्रजां पशून् प्रजनयति' [जो पशु की कामना वाला हो वह इस प्रजापति देवता के लिए तूवर (अजातशृङ्ग) बकरे का

और प्रातःकाल की सन्ध्या का समाहित पुरुष उल्लंघन न करे, जो मोह से उल्लंघन करता है वह निश्चय नरक में जाता है"। इसमें सन्ध्यापद उपासनापूर्वक अग्निहोत्र आदि का भी उपलक्षण है। 'जो अग्नि का त्याग करता है वह देवताओं का वीरहा है' इत्यादि श्रुति और स्मृतियों से भी अग्निहोत्र आदि कर्मों के परित्याग में अत्यन्त प्रत्यवाय सुनने में आता है इसलिए ब्राह्मण आदि को यज्ञ, दान आदि कर्म हिंसायुक्त होने के कारण दोषवान् हैं अतः दोषवान् कर्मों का अनुष्ठान कैसे हो सकता है? ऐसा यदि कहो तो इस पर कहते हैं—'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए' यह वचन क्रोध से प्राप्त ब्राह्मणवध के दोष को अधिकता कहकर निषेध करता है, बुद्धिपूर्वक किए गये सर्वत्र हिंसामात्र में अधिक दोष है, ऐसा नहीं बतलाता, क्योंकि विशेषविधि का अपना केवल विधेय ही विषय होता है, कारण कि 'सब ब्राह्मणों को भोजन करावे' देवदत्त को भोजन न करावे' यहाँ पर निषेध केवल अपने ही विधेय को विषय करता है, ऐसा देखने में आता है। इसलिए अग्नीषोमीय पशुहिंसा आदि में अधिक दोष है, ऐसा वह नहीं बतला सकता, क्योंकि विशेषविधि केवल अपने ही विधेय में उपक्षीण हो जाती है। 'सब भूतों की हिंसा न करे' यह सामान्य निषेध यागीय (यज्ञ के लिये) पशुहिंसा में तनिक भी दोष लगाने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सामान्य से विशेष बलवान् होता है; 'प्राणों के कण्ठ में आने पर भी अन्न का प्रतिग्रह न करे' इस निषेध की अपेक्षा 'श्रोत्रिय के अन्न की याचना करे' यह विधि बलवान् समझी जाती है और 'सब ब्राह्मणों को रोककर देवदत्त को भोजन कराओ' इसमें विशेष विधान बलवान् देखने में आता है सामान्य निषेध वचन तृण और गुल्म के छेदन आदि में सावकाश है 'सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीयः' अर्थात् सावकाश और निरवकाश दोनों में निरवकाश बलवान् होता है' इत्यर्थक स्मृति निरवकाश के बलवान् होने में प्रमाण है। इसलिए यागीय पशुहिंसा में सामान्य या विशेष शास्त्र से दोष का लेशमात्र भी सम्पादन नहीं किया जा सकता किंच—'मधुपर्के च यज्ञे च पित्र्ये दैवे च कर्मणि अत्रैव पशवो हिंस्या नाऽन्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः' अर्थात् मधुपर्क में, यज्ञ में, पितृकर्म में, दैवकर्म में ही पशुओं की हिंसा करे, अन्यत्र नहीं ऐसा मनुने कहा है। और अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' (तीर्थों से यानी यज्ञादि से अन्यत्र भूतों की हिंसा न करे) इत्यादि भूतहिंसा के निषेध का यागीय

हिंसा को छोड़कर अन्य हिंसा विषय है, ऐसा श्रवण होने से शास्त्रीय पशुबलि आदिरूप हिंसा में निषेध की व्याप्ति भी नहीं है। अतः श्रोत्रिय के अन्न की याचना करे, उसके अभाव में जल पी ले, इस विधि वचन से उक्त श्रोत्रियान्न भोजन रूप क्रिया जैसे निर्दुष्ट और पवित्र करने वाली है, वैसे ही विधि से उक्त यागीय पशुहिंसा भी निर्दुष्ट और पवित्र करने वाली है, ऐसा जानने में आता है। श्रुति भी है— धर्मेण पापमपनुदति तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति', 'तपसा कल्मषं हन्ति' अर्थात् 'धर्म से पाप को नष्ट करता है', 'इसलिए धर्म को परम कहते हैं' 'तपसे पाप को नष्ट करता है' तथा ब्राह्मण यज्ञ से, दान से और निरन्तर तप से तत्त्व को जानने की इच्छा करते हैं, इसलिए ब्राह्मण आदि को यज्ञ, दान आदि रूप नित्य वैदिक कर्मों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए त्याग नहीं करना चाहिए किन्तु काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करे, विषयुक्त बाणविद्ध मृग का मांस न खावे, इत्यादि वचनों से काम्य और निषिद्ध ये दो ही त्याज्य हैं। काम्य और निषिद्ध का त्याग करना ही त्याग है कर्म फल का त्याग करना त्याग नहीं है, ऐसा दूसरे कोई मनीषी वैदिकशिरोमणि मीमांसक कहते हैं, यह अर्थ है। 'हे महाबाहो, मैं संन्यास का तत्त्व जानना चाहता हूँ इस प्रकार अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न का विषय मुख्य संन्यास है या गौणसंन्यास है ? यदि पहला पक्ष है, तो वह विद्वत् संन्यास है या विविदिषा संन्यास है ? पहला पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि विद्वत्संन्यास में ऊपर कहे हुए विकल्प नहीं हो सकते, अतः उसमें 'तामसः परिकीर्तितः' इत्यादि से उक्त तामस आदि भेद उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि विद्वान् का कर्तव्य कर्म हो तो उसके संन्यास में विकल्प हो सकते हैं, न होने पर नहीं हो सकते। उसके लिए कार्य नहीं रहता, 'कुछ कर्त्तव्य ही नहीं है' (गीता ३।१७) इत्यर्थक वचनों से विद्वान् के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव सुनने में आता है। 'ज्ञानयोग से सांख्यों की' इत्यर्थक वचन से ब्रह्मवित् यतियों की ज्ञाननिष्ठापरायणता का विधान है, इसलिए विकल्प का अवकाश नहीं है। यदि कहो कि 'जब तक जीयें अग्निहोत्र करे' इत्यादि विधि के बल से विद्वान् के लिए कर्तव्य कर्म हैं तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि उसके प्रति विधि मिथ्या है। 'मायामात्र यह द्वैत है' इससे सम्पूर्ण द्वैत के मायामात्र होने के कारण (मिथ्या सिद्ध होने पर) उसके अन्तर्गत कर्म विधि भी शुक्तिरजत के समान मिथ्या होने से उसमें सामर्थ्य

नहीं हो सकती। इसलिए स्वमिथ्यात्वदर्शी के (यज्ञादि कर्म सहित समस्त जगत् के तथा अपने देहादि के मिथ्यात्व निश्चय करने वाले के) प्रति विधि में नियोक्तृत्व युक्त नहीं है अर्थात् वे विधि के अधीन नहीं हैं जैसे मिथ्याभूत रजत उसके तत्त्व के जाननेवाले पुरुष को लेने आदि में प्रवृत्त नहीं कर सकता, वैसे ही मिथ्याभूत कर्मविधि भी विद्वान को प्रवृत्त नहीं कर सकती, यह अभिप्राय है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों से विरक्त पुरुष कर्मों से साध्य (किसी प्रयोजन की सिद्धि करने वाले) पदार्थ को न देखने वाले विद्वान् का काम्यकर्म के त्याग से या कर्म फल के त्याग से कर्मों का अनुष्ठान हो नहीं सकता। यदि कहो कि चित्त की शुद्धि के लिये कर्मानुष्ठान करना चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सब पदार्थों से विरक्ति के सिवा दूसरी चित्त की शुद्धि है ही नहीं। विधिबल से ईश्वर की प्रीति के लिये कर्मानुष्ठान करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है. क्योंकि 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण करे) यह त्यागविधि उससे भी प्रबल है। और जब तक वैराग्य न हो, अथवा तब तक मेरी कथा के श्रवण आदि में श्रद्धा न हो, जब तक कर्म करे, फिर 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्' अर्थात् जिज्ञासा में प्रवृत्त पुरुष कर्मविधि का आदर न करे' ऐसा ईश्वर ने ही जिज्ञासु के प्रति विधि की उपेक्षा का विधान किया है। निकृष्ट कर्म मोक्षहेतु ज्ञान का उपकारक नहीं है, यों विरक्त मुमुक्षु के लिये कर्म की निन्दा करके श्रवणपरत्व का विधान है। 'आत्मा में अग्नियों का आरोपण (आहित) करके ब्राह्मण घर से चल देवे', इस प्रकार विविदिषु के सर्वकर्म-संन्यास का विधान स्मृति में किया गया है, इसलिये विविदिषुको भी कर्म का सम्बन्ध न होने से उपर्युक्त विकल्पों का अवकाश नहीं हो सकता। इसलिये गृहस्थधर्म में निष्ठ गौण संन्यास ही प्रश्न का विषय है, मुख्य नहीं, यह सिद्ध हुआ अर्थात् जिस संन्यास के सम्बन्ध में जिज्ञासा हुई, वह गौण संन्यास ही है, इसमें पूर्वोक्त गीता के वचन ही प्रमाण हैं ऐसा समझना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—विद्वत्संन्यास एवं विविदिषा संन्यास, ये दो मुख्य संन्यास हैं। इससे भिन्न तृतीय प्रकार का जो संन्यास है उसे गौणसंन्यास कहा जाता है। अज्ञानी कर्माधिकारी पुरुष यदि ईश्वरार्पण बुद्धि से सभी कर्मों के फल का

त्याग करके (अर्थात् किसी प्रकार की फलाकांक्षा न रखकर) केवल चित्तशुद्धि के लिए अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्म करे तो उसे **गौण संन्यासी**—कहा जाता है। विहित कर्मादि के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि तथा विचार शक्ति प्रबल होने के कारण अपने यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है क्योंकि जागतिक विषय का अनित्यत्व (मिथ्यात्व) एवं दुःखत्व उनकी बुद्धि में स्पष्ट रूप से निश्चित होता है। अतः विवेक तथा वैराग्य के कारण इस प्रकार जिज्ञासु का स्वतः ही सर्व कर्म का त्याग कर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास गमन तथा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में तीव्र आग्रह उत्पन्न होता है। इस प्रकार विवेकी पुरुष का जो कर्म त्याग होता है वह विविदिषा संन्यास कहलाता है। विविदिषा संन्यास के द्वारा निर्विकल्प समाधि में आत्मसाक्षात्कार होने पर (तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर) श्रवण मननादि तथा अन्य कर्म भी त्यक्त हो जाता है। इस अवस्था को विद्वत् संन्यास कहा जाता है विद्वत् संन्यास में निरन्तर तत्त्वज्ञान का प्रवाह (ब्राह्मीस्थिति) रहने के कारण जब संपूर्ण रूप से मनोनाश एवं वासनाक्षय होता है तब उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को जीवनमुक्त कहा जाता है। पूर्वश्लोक में कहा गया है कि विद्वत्संन्यास तथा विविदिषा संन्यास में कर्म का त्याग स्वतः ही हो जाता है परन्तु जिसमें तत्त्वज्ञान की इच्छा भी उत्पन्न नहीं हुई इस प्रकार अशुद्धचित्त अज्ञानी विषयासक्त कर्माधिकारी पुरुष के लिए (जिसको कोई न कोई कर्म न करके स्थिर रहना असम्भव है उसके लिए) नित्यनैमित्तिक कर्म का त्याग न करके कर्म करना ही उचित है, ऐसा गीता में स्थान-स्थान पर पुनः-पुनः कहा गया है क्योंकि विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा जब तक चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषा संन्यास न हो तब तक वह कर्मत्याग तामस माना जाता है एवं उससे न तो इस काल में और न ही परकाल में सुख प्राप्ति की सम्भावना है। शास्त्र का इस प्रकार कथन स्पष्ट होने पर भी साधारण लोगों के मन में यह शंका उपस्थित होती है कि यदि सर्वकर्म का त्याग न करके पूर्ण तत्त्वज्ञान का प्राप्त होना असम्भव है तो पहले से ही उसका त्याग क्यों न किया जाय, इस पर श्रीभगवान् कहते हैं कि केवल साधारण व्यक्ति नहीं परन्तु जो लोग मनीषी अर्थात् मन का निग्रह करने वाले विद्वान् पुरुष हैं वे भी कहते हैं कि जीवन में परमतत्त्व की प्राप्ति करके कृतकृत्य होने का एकमात्र उपाय है—सर्व कर्म का त्याग करना। यह सांख्यवादी का

मत है। वे कहते हैं कि (१) सर्व कर्म दोषवत् (दोषयुक्त) हैं अर्थात् जो कुछ यज्ञादि अथवा अन्य कोई शास्त्रीय कर्म किया जाय तो उसमें किसी न किसी प्रकार की हिंसा का होना अनिवार्य है किन्तु शास्त्रों में 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' अर्थात् किसी प्राणी की हिंसा न करना ही परमधर्म माना गया है (२) किसी कर्म के अनुष्ठान मात्र से ही शुभ या अशुभ फल उत्पन्न होगा एवं वही पुनः जन्म मृत्यु का बीज होता है (३) जिस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न हुए रागद्वेषादि दोष सर्व प्रकार से परित्याज्य हैं उसी प्रकार सर्व प्रकार से अनर्थ के हेतु होने के कारण कर्ममात्र ही त्यागने के योग्य हैं। यह एक पक्ष का (सांख्यवादी का) मत है।

दूसरापक्ष मीमांसक लोगों का है। वे कहते हैं कि शास्त्रविरुद्ध एवं लौकिक कर्म त्याज्य होने के योग्य होने पर भी शास्त्रविहित यज्ञ, दान एवं तप रूप कर्म का त्याग करना कभी उचित नहीं है क्योंकि (क) यज्ञादि के लिए शास्त्र में जो पशुबलि इत्यादि हिंसा का विधान है, उस विधान के अनुसार यज्ञादि कर्म करते हुए लोकदृष्टि से हिंसा प्रतीत होने पर भी उस हिंसा से कोई प्रत्यवाय नहीं होता है क्योंकि यज्ञादि के लोभ से जो हिंसा की जाती है वही दोषयुक्त होने के कारण पापयुक्त होती है। (ख) जिस प्रकार जाते हुए, भोजन करते समय, जलपान करने के समय अज्ञान से (अनजान से) अथवा असावधानता से जो प्राणीहिंसा होती है उससे दोष या पाप नहीं माना जाता है, उसी प्रकार वेदादि शास्त्रविहित हिंसा से कोई पाप नहीं होता हैं। (ग) अज्ञव्यक्ति देह-इन्द्रियों में ही आत्मबुद्धि करके स्थित रहता है परन्तु देहादि पूर्व संस्कार के वशीभूत होकर कोई न कोई कर्म अवश्य ही करेंगे अर्थात् एक क्षण भी कर्म के बिना रह नहीं सकता है (गीता ३।५)। इस अवस्था में यदि उसको शास्त्रविहित नित्य नैमित्तिक कर्म में प्रवृत्त न किया जाय अर्थात् वह यदि कर्म में तथा कर्मफल में आसक्त रहते हुए भी विहित कर्मादि के अनुष्ठान छोड़ दें तो वह भ्रष्टाचारी, मिथ्याचारी तथा जीवन के लक्ष्य से च्युत हो जायगा, उस त्याग के मूल में मोह (अविवेक या अज्ञान) रहने के कारण वह त्याग तामस कहा जायगा एवं इसलिए न इस काल में और न परकाल में ही सुफल की प्राप्ति होगी (घ) 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' (किसी भी प्राणी की हिंसा न करे) यह निषेधवाक्य केवल यही सूचित करता है कि मनुष्य के लिए हिंसा अनर्थ की हेतु है किन्तु

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विधिवाक्य हिंसाको यज्ञ के लिए उपकारक बताते हैं। अतः उक्त दोनों वाक्य भिन्न विषयक हैं अर्थात् इनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं है अर्थात् 'अग्नीषोमीयं' इत्यादि विशेष—वाक्य 'न हिंस्यात्,' इत्यादि सामान्य-वाक्य से बलवान् है। (४) गीता में भी कहा गया है कि सर्व कर्म ही दोषयुक्त हैं किन्तु जब तक कर्म में कर्तृत्वाभिमान एवं कर्म में फलाकांक्षा रहती है तब तक कर्म के त्यागका अधिकार कर्माधिकारियों को नहीं है।

उक्त उभयमत (अर्थात् सांख्यवादी का मत एवं मीमांसकों का मत) अधिकार भेद से युक्तियुक्त है। जब तक जीव अज्ञान के कारण देहादि में आत्मबुद्धि रखता है तब तक देहादि के द्वारा किए हुए कर्म में अहंकार से विमूढ़ होकर अपने को कर्ता मानता है एवं जिस-जिस कर्म में प्रवृत्त होता है उससे कोई न कोई फल प्राप्ति की आशा रखता है। यदि पूर्वजन्म के सुकृत फल में 'सांसारिक सब विषय अनित्य हैं एवं दुःखमय हैं' इस प्रकार बोध का उदय हो तब वह शास्त्र एवं गुरु की कृपा से अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति से कर्म करते हुए भी उन सब कर्मों को फल रहित करने का उपाय जान लेता है एवं सभी कर्म निष्काम भाव से (फलाकांक्षा रहित होकर) ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है। कामना रहित होकर कर्म करना तभी सम्भव होता है जब उस कर्म के साथ ज्ञान का अभ्यास भी साथ-साथ चलता रहता है अर्थात् भगवान् की प्रेरणा से बुद्धि तथा देहादि काम कर रहे हैं, इस लिए सर्व कर्म उनके पास पहुँचना ही देहादि में अभिमानी जीव का एकमात्र कर्तव्य है। कर्म करने में ही देहादि का अधिकार है, फल में नहीं क्योंकि कर्म का फल ईश्वर की इच्छा के अधीन है। इस प्रकार के अभ्यास को ज्ञानाभ्यास कहा जाता है इसलिए मनुजी कहते हैं—'इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानं पूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते।' अर्थात् काम्य में प्रवृत्त होने पर इस लोक में नहीं तो परलोक में उसका फल भोग करना ही पड़ेगा अर्थात् फल भोगने के लिए जन्म-मरण के चक्र में भटकना पड़ेगा किन्तु कामनारहित होकर कर्म करने में चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर विविदिषा संन्यास द्वारा तत्वज्ञान का साक्षात् अनुभव करने पर संसार से निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति होती है। मीमांसक लोगों ने इस प्रकार कर्माधिकारी को ही लक्ष्य करके विधान किया कि यज्ञ, दान, तप

टिप्पणी (१) श्रीधर—कार्यम् इति एव इत्यादि—(हे अर्जुन !) यह मेरा कर्तव्य है–ऐसा समझकर अवश्यकर्तव्यरूप से विहित जो नियत कर्म आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है वह त्याग सात्त्विक माना गया है।

(२) **शंकरानन्द**—आगे फल को कहने की इच्छा से पहले सात्त्विक त्याग कहते हैं—विधि के उल्लंघन के भय से और मोक्ष की इच्छा से **कार्यम् इति एव**—यह कार्य है अर्थात् इसका मुझे अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए—इसप्रकार की बुद्धि से ही कर्तव्यताबुद्धि में दूसरे विकल्प के निषेध करने के लिये 'एव'कार है। मुझे यह कर्म ईश्वर की प्राप्ति के लिए करना चाहिए, ऐसे दृढ़निश्चय वाले मुमुक्षु के द्वारा **नियतं यत् कर्म संगं फलं च त्यक्त्वा**—नियत विधि से उक्त जो नित्य कर्म है उसके संग को यानी कर्तापन के अध्याय को (कर्तृत्वाभिमान को) अथवा और फल को (च समुच्चय के लिए है) त्याग कर। यद्यपि 'स्वर्गकामः', 'पशुकामः' इसके समान नित्यकर्म का फल सुनने में नहीं आता तथापि यदि नित्यकर्म का फल न माना जाय तो 'प्रतिदिन सन्ध्या करे' इत्यादि कर्मविधि उन्मत्त के वचन के समान व्यर्थ हो जायगी, इसलिए कुछ कुछ फल (अर्थात् किए गये पाप का क्षयरूप फल) मानना चाहिए। उस प्रकार के फल का और फल की कामनाओं का त्याग करके फल की अपेक्षा न होने पर तो पुरुष की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, ऐसा यदि कहो तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि साधु की विधि उल्लंघन के भय से ही प्रवृत्ति हो सकती है। 'श्रुतिस्मृतिभ्यां सुजनो नियम्यते' अर्थात् श्रुति और स्मृति से सुजन को नियम में रखा जाता है, ऐसी स्मृति है। विधि से विहित कर्म का (जैसे दन्तधावन करने से मुख की शुद्धि होती है वैसे ही कामना के बिना कर्म का) अनुष्ठान करने से कर्ता को 'जल मेरे पापों को शुद्ध करे', 'पापों से रक्षा करे' इत्यादि मंत्र और क्रियाशक्ति के बल से चित्तशुद्धिरूप फल स्वयं सिद्ध हो जाता है और उसका फल मोक्ष भी प्राप्त होता है। इसलिए उसमें काम, संकल्प आदि नहीं करना चाहिए। किन्तु संग और फल का त्याग करके ही **क्रियते**—जो नित्य कर्म किया जाता है **स त्यागः सात्त्विकः मतः**—वह त्याग सात्त्विक है अर्थात् सत्त्वगुण से निष्पन्न होने के कारण सात्त्विक है, ऐसा सत्पुरुषों का मन है यानि सत्पुरुषों का इष्टरूप से (उपादेय रूप से) अभिमत है। कर्म के फल का

भ्रंश न होने से (अर्थात् सात्त्विक कर्म का फल जो चित्तशुद्धि है उसके स्वतः ही उत्पन्न होने से) और प्रत्यवाय द्वारा किये गये अनर्थ का अभाव होने से पूर्वोक्त दोनों त्यागों की अपेक्षा सात्त्विक कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती दो श्लोकों में तामस एवं राजस त्याग में कर्मों का मोह से या दुःख बुद्धि से त्याग किया जाता है ऐसा कहा किन्तु सात्त्विक त्याग में कर्म का त्याग नहीं होता है। शास्त्रों की आज्ञानुसार यह कर्म मुझे करना है ऐसा निश्चय कर कर्तव्यबुद्धि से कर्म में संग अर्थात् आसक्ति या कर्तृत्वाभिमान न रखकर तथा कर्मों के फल की आकांक्षा न कर विहित कर्मों को करते हुए (१) शास्त्र का अनुशासन मानने पर जो बुद्धि की स्वतंत्रता का त्याग होता है (२) फलाकांक्षा का त्याग होता है (३) संग त्याग (आसक्ति या मैं इसकाम को करता हूँ इसप्रकार अज्ञानजनित कर्तृत्वाभिमान का त्याग) होता है वह त्याग विद्वानों के मत में सात्त्विक कहा जाता है क्योंकि सात्त्विकगुण प्रबल होने पर इस प्रकार से कर्मों का अनुष्ठान सम्भव होता है।

पूर्वपक्ष—'स्वर्गकामो यजेत' 'पुत्रकामो यजेत' इसप्रकार के श्रुति वचन से यह स्पष्ट होता है कि किस-किस कर्म से किस किस प्रकार का फल प्राप्त होता है उसका पहले ही निर्देशकर कर्माधिकारी पुरुष को काम्य कर्म में प्रवृत्त कराता है किन्तु संध्या वन्दनादि तथा अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों से किसी विशेष फल की प्राप्ति का उल्लेख शास्त्रों में नहीं है। अतः नित्य कर्मों से यदि कोई फल उत्पन्न नहीं होता है तो उसका फलत्याग वन्ध्या के पुत्र त्याग के समान ही होगा।

उत्तरपक्ष—इस प्रकार से कहना ठीक नहीं है क्योंकि नित्य कर्म का भी फल है—

(१) जैसे किसी फल के वृक्ष का रोपण करने पर उसके फल के अतिरिक्त छाया एवं गन्ध भी साथ-साथ मिल जाते हैं उसी प्रकार नित्य कर्मरूप धर्माचरण फलाकांक्षा रहित होकर करने पर नित्यकर्म रूप धर्माचरण के साथ-साथ धर्मों का फल अवश्य ही उत्पन्न होता है।

(२) नित्य कर्म के न करने पर प्रत्यवाय (पाप) होता है, इसलिए उस प्रत्यवाय का परिहार भी नित्यकर्म का फल ही है।

(३) शास्त्र में कहा है 'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् धर्मकर्म से पाप का क्षय होता है अतः पाप की निवृत्ति भी नित्य कर्म का फल है।

(४) शास्त्र में यह भी कहा है कि नियमपूर्वक संन्ध्या उपासना करने पर पाप से मुक्त होकर स्वधर्मनिष्ठ पुरुष ब्रह्मलोक में गमन करता है। इस प्रकार नित्य कर्म के फलों की प्राप्ति की सम्भावना रहने पर भी जो उनसे कोई फलकी आकांक्षा न कर उन कर्मों में संग (आसक्ति) या कर्तृत्वाभिमान का त्याग करके केवल कर्तव्य बुद्धि से ईश्वर में सर्वकर्म तथा उनके फल को समर्पित करते हुए विधिपूर्वक सन्ध्या-वन्दन, अग्नि होत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करता है वह चित्तशुद्धि रूप महाफल को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का त्याग सात्त्विक होने के कारण इससे चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि सत्त्वगुण से ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है (गीता १४।१७)। तामस एवं राजस त्याग में कर्मत्याग होने के कारण चित्तशुद्धि का कोई उपाय नहीं रहता है। अतः वे दोनों प्रकार के त्याग मुमुक्षु के लिए हेय (परित्याज्य) हैं और सात्त्विक त्याग से मोक्ष का द्वार उन्मुक्त होता है, इसलिए वह उपादेय (ग्राह्य) है। चित्तशुद्धि न होने तक ही इस प्रकार के सात्त्विक त्याग से कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करने की विधि है। चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषा या विद्वत्संन्यास उपस्थित होने पर सभी कर्म अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। [हेय, तामस एवं राजस त्याग में कर्म का त्याग होता है किन्तु उपादेय सात्त्विक त्याग में कर्म में संग (आसक्ति) एवं कर्म फल का त्याग होता है। अतः दोनों में त्याग की समानता (सादृश्य) रहने के कारण त्याग के विषय में भगवान् ने जो उपक्रम किया था एवं अब जो उपसंहार कर रहे हैं उसमें कोई विरोध नहीं है]। श्लोक का सारांश यह है कि जब तक किसी को कर्म में अधिकार है तबतक (अर्थात् चित्तशुद्धि उत्पन्न होने तक) उसको कर्तव्य कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। शास्त्रविहित सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हुए कर्मफल एवं कर्म में आसक्ति का त्याग ही यथार्थ त्याग है।

कर्म में अधिकारी जो पुरुष आसक्ति और फलवासना को छोड़कर नित्यकर्म करता है उसमें फलासक्ति आदि दोषों से दूषित न किया हुआ अन्तःकरण नित्यकर्मों के अनुष्ठानद्वारा संस्कृत होकर विशुद्ध हो जाता है। विशुद्ध और प्रसन्न अन्तःकरण ही आत्मा के सम्बन्धी (आध्यात्मिक) विषय की आलोचना में समर्थ होता है। अतः जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हो गया है एवं जो आत्मज्ञान के अभिमुख है उसकी उस आत्मज्ञान में जिस प्रकार क्रम से निष्ठा (स्थिति) होती है वह बताना चाहिए इसलिये कहते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

अन्वय—त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः अकुशलम् कर्म न द्वेष्टि तथा कुशले (कर्मणि च) न अनुषज्जते।

अनुवाद—सात्त्विक त्याग करने वाला पुरुष जब सत्त्वगुण से सम्यक् प्रकार से व्याप्त हुई मेधा से युक्त एवं संशय विपर्यय से रहित हो जाता है तो वह अकुशल (निषिद्ध या अशोभनीय) कर्म से द्वेष नहीं करता है एवं कुशल कर्म में (शास्त्रविहित शोभनीय नित्य कर्म में) आसक्त नहीं होता है।

भाष्यदीपिका—**त्यागी**—सात्त्विक त्याग से युक्त जो कि पूर्वोक्त आसक्ति या कर्तृत्वाभिमान एवं कर्मों के फल की आकांक्षा छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करने वाला है **सत्त्वसमाविष्टः**—वह जबकि सात्त्विक भाव से युक्त होता है अर्थात् आत्म-अनात्म विषय के विवेकज्ञान के हेतुस्वरूप सत्त्वगुण से सम्यक् प्रकार [भरपूर-भली प्रकार] व्याप्त होकर रजोगुण तमोगुण रूप फल से रहित होता है। [तात्पर्य यह है कि भगवदर्पणबुद्धि से नित्य कर्म का अनुष्ठान करते हुए जब पापरूप मल के ह्रास एवं ज्ञानोत्पत्ति की योग्यतारूप पुण्य (पवित्र गुणों के आश्रयरूप संस्कार से संस्कृत अन्तःकरण वाला होता है (मधुसूदन)] तब वह **मेधावी**—मेधावी होता है अर्थात् आत्मज्ञानरूप बुद्धि से युक्त होता है ['मेधा' शब्द का अर्थ है आत्मज्ञानरूप प्रज्ञा, वह प्रज्ञा जिसमें है वह मेधावी कहा जाता है, शम, दम, उपरति (सर्व कर्मों से

उपराम), गुरूपसदन (गुरुकी शरण) ये सब श्रवण में समवेत या अनुगत रहने के कारण श्रवण के ये समवायिक (सहायक) अंग हैं। श्रवण के फल में (तत्त्वज्ञान प्राप्ति में) उपकारी अंग हैं—मनन निदिध्यासनादि। इन सब अंगों से युक्त श्रवण नामक वेदान्त के विचार से जो ज्ञानोत्पत्ति होती है एवं वेदान्त महावाक्य जो ज्ञान का करण है तथा जो ज्ञान सब प्रकार के अप्रामाण्य की आशंका से रहित है तथा एकमात्र शुद्ध चैतन्य की सत्ता के सिवा किसी और को विषय नहीं करता है, वही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्म और आत्मा की एकता का जो ज्ञान है—वही मेधा है, उससे जो नित्ययुक्त रहता है वही मेधावी यानी स्थितप्रज्ञ हो जाता है (मधुसूदन)।] **छिन्नसंशयः**—मेधावी होने के कारण ही वह छिन्नसंशय है अर्थात् अविद्याजनित संशय से रहित है अर्थात् 'आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना ही परमकल्याण का साधन है और कुछ नहीं, इस निश्चय के कारण संशयरहित हो चुका है। ['मैं ब्रह्म हूँ', ऐसी ज्ञानरूपा मेधा से अज्ञान का उच्छेद हो जाने पर वह अविद्या के कार्य संशय और विपर्यय से शून्य हो जाता है (मधुसूदन)]। जो सात्त्विक त्यागी है वह सत्त्वसमाविष्ट होता है सत्त्वसमाविष्ट होने के कारण वह मेधावी व छिन्नसंशय होता है। इस प्रकार त्यागी के सभी कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं एवं उसके लिए कुशल तथा अकुशल कर्म में कोई भेद-बुद्धि नहीं रहती। 'अतः' वह **अकुशलम् कर्म न द्वेष्टि**—काम्य कर्म ही अकुशल अर्थात् अशुभ कर्म है क्योंकि वह कर्म पुनर्जन्म को देने वाला होने के कारण संसार का कारण होता है, अतः इसका परिणाम दुःख ही है। सात्त्विक भाव से युक्त मेधावी, छिन्नसंशय, त्यागी इस प्रकार अकुशल कर्मों से 'मुझे क्या प्रयोजन है' ऐसी भावना से द्वेष नहीं करता है अर्थात् उन्हें प्रतिकूलरूप से नहीं मानता, तथा **कुशले कर्मणि न अनुषज्जते**—कुशल अर्थात् शुभ नित्य कर्म में आसक्त नहीं होता। नित्य कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि लाभकर ज्ञान एवं ज्ञाननिष्ठा के द्वारा मैं मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा, अतः 'यह मेरे अनुकूल है' इस प्रकार की बुद्धि से उनमें आसक्त नहीं होता है अर्थात् कुशल नित्य कर्म में भी कोई प्रयोजन न देखकर प्रीति नहीं करता क्योंकि कर्तृत्वाभिमान शून्य हो जाने से वह कृतकृत्य हो जाता है। [श्रुति भी ऐसा ही कहती है—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थात् उस कार्य-कारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इसके हृदयग्रन्थि छूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं। क्योंकि सात्त्विक त्याग का ऐसा फल है इसलिए अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसीको स्वीकार करना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)।]

जो अधिकारी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से कर्मयोग के अनुष्ठान द्वारा क्रम से विशुद्धान्तःकरण होकर, जन्मादि विकारों से रहित और क्रियारहित आत्माको सम्यक् प्रकार से अपना स्वरूप समझ गया है, वह 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (गीता ५।१३) अर्थात् समस्त कर्मों को मन से त्यागकर न कुछ करता और न कराता हुआ रहने वाला (आत्मज्ञानी) निष्कर्मता रूप ज्ञाननिष्ठा को भोगता है यह पूर्व नवें श्लोक में उक्त योग का फल बतलाया गया है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इस प्रकार के सात्त्विक त्याग में सम्यक् रूप से स्थित हुए साधक के लक्षण बताते हैं—**सत्त्वसमाविष्टः**—सत्त्वगुण में भलीभाँति स्थित (सत्त्वगुण से परिपूर्ण) **त्यागी**—सात्त्विक त्यागी **अकुशलम्**—अकुशल से (दुःखदायक अर्थात् शीत काल में प्रातः स्नान करना आदि कर्म से) **न द्वेष्टि**—द्वेष नहीं करता और **कुशले**—कुशल में (सुखप्रद अर्थात् ग्रीष्मकाल में दोपहर के समय स्नान करना आदि कर्म में) **नानुषज्जते**—आसक्त नहीं होता उनमें प्रीति नहीं करता। उसमें कारण है कि वह **मेधावी**—मेधावी (स्थिर बुद्धि से युक्त) है। भाव यह है कि जहाँ दूसरे द्वारा किये गये अपमान आदि महान् दुःख भी सहे जाते हैं और स्वर्गादि सुख का भी त्याग किया जाता है, वहाँ ये तात्कालिक सुख दुःख किस गिनती में हैं? इस प्रकार की स्थिर बुद्धि में वह स्थित होता है। इसीलिए उसका **छिन्नसंशयः**—सभी संशय (मिथ्याज्ञान) नष्ट हो जाता है अर्थात् शरीरादि सुख की लिप्सा और दुःख के त्याग की इच्छा रूप मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार तामस आदि तीन त्यागों के स्वरूप का प्रतिपादन करके अनेक जन्मों में ईश्वरार्पणबुद्धि से फल के संकल्प से रहित होकर

सात्त्विकी निष्ठा से भलीभाँति अनुष्ठित यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों से सम्यक् संस्कृत होने के कारण विशुद्ध अन्तःकरण के परिपाक की सिद्धि का फल कहते हैं—

सात्त्विक त्याग निष्ठारूप भक्ति से अनेक जन्मों में भलीभाँति आराधित परमेश्वर के प्रसाद से सम्पन्न **त्यागी**—त्यागी (सात्त्विक त्याग में निष्ठावाला) **सत्त्वसमाविष्टम्**—अर्थात् सत्त्व से (रज, तम और उनके कार्य से रहित होकर) आत्मा और अनात्मा के स्वरूप का निर्धारण करने में समर्थ अन्तःकरण के परिपाक-विशेष से समाविष्ट यानी भलीभाँति युक्त **मेधावी**—मेधावी अर्थात् ब्रह्मविद् गुरु के एक बार के केवल उपदेश से 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मतत्त्वविज्ञान को प्राप्त करनेवाला, इसीलिए **छिन्नसंशयः**—छिन्न-अपने कूटस्थ असङ्ग आत्मतत्त्व के विज्ञान से विच्छिन्न हुए हैं संशय जिसके वह छिन्नसंशय है। संचित आगामी और वर्तमान कर्मों से मेरा संसर्ग है या नहीं; कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिरूप संसार आत्मा में है या अनात्मा में; मोक्ष का कारण क्या योग है या उपासना है, या कर्म है या ज्ञाननिष्ठा है; क्या मोक्ष सालोक्य आदिरूप है या निर्विशेष आत्मरूप से अवस्थानरूप है या अन्य प्रकार का है ? इस प्रकार का संशय जिसके तत्त्वज्ञान से नष्ट हो चुका है वह छिन्न-संशय है। अतः वह पुरुष **अकुशलम् कर्म न द्वेष्टि**—अकुशल अर्थात् जिससे कुशल (निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष) नहीं प्राप्त होता वह अकुशल है। जो कर्म शरीरारंभक होने से संसाररूप बन्धन तथा नरकादि का हेतु होकर अत्यन्त दुःख का कारण होता है ऐसा निषिद्ध कर्म अकुशल है। तो क्या उक्त मेधावी पुरुष इससे द्वेष नहीं करता ? अर्थात् उनमें द्वेष (अप्रीति) नहीं करता यानी तमोगुणजनित मोह का अभाव होने से इस दुष्ट तथा बन्धक कर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, ऐसी बुद्धि नहीं करता, यह अर्थ है। **कुशले**—कुशल में मोक्ष के साधन यज्ञ, दान आदि नित्य कर्म में 'वह मोक्ष का कारण है' इस बुद्धि से अनुषङ्ग (प्रीति) नहीं करता। 'मुक्त पुरुष को मोक्ष की इच्छा न होने के कारण साधन की अपेक्षा न होने से उनमें वह कर्तव्यत्वबुद्धि नहीं करता, किन्तु दोनों से अतीत ब्रह्मवित् यति बालक की नाईं दोष समझकर निषेध से निवृत्त नहीं होता और गुण समझकर विहित का अनुष्ठान नहीं करता' इस न्याय से वह कुशल और अकुशल सब कर्मों को त्यागकर ब्रह्मरूप से स्थित होता है,

यह फल का अभिप्राय है। इससे यह बोधित होता है कि सम्पूर्ण कर्मों के फल की कामना के त्यागपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धि से भलीभाँति अनुष्ठित यज्ञ, दान आदि से त्यागी की चित्तशुद्धि होती है, तथा शुद्ध चित्तवाले को ही भली-भाँति ब्रह्मात्मैकत्वविषयक अप्रतिबद्ध ज्ञान होता है; सम्यक् ज्ञानवाले को ही संशय आदि की विच्छिति, सर्वकर्म संन्यास और सत् की निष्ठा प्राप्त होती है। इसलिये ज्ञान और कर्म का परस्पर साध्य-साधन भाव है, यह सिद्ध हुआ। यहाँ जो सम्पूर्ण गीताशास्त्र का और सम्पूर्ण वेद का भी तात्पर्य है उसको भी प्रकट किया है, ऐसा जानना चाहिये।

(३) **नारायणी टीका**—जो सात्त्विक त्यागी है अर्थात् 'शास्त्रविहित नित्य कर्मादि मेरा कर्तव्य है', इस प्रकार की बुद्धि से कर्म में आसक्ति एवं कर्मफल का त्याग करके ईश्वरार्पणबुद्धि से जो पुरुष कर्म करता है उसका इस प्रकार का त्याग सात्त्विक वृत्ति की प्रबलता होने से ही सम्भव होता है। अतः रजोगुणजनित विक्षेप से एवं तमोगुण के प्रमाद मोह, एवं अज्ञान से उनका चित्त मुक्त होने के कारण अत्यन्त निर्मल हो जाता है क्योंकि वह चित्त प्रकाशस्वरूप सत्त्वगुण से सम्यक् प्रकार आविष्ट (व्याप्त अर्थात् भरपूर) हो जाता है एवं इसके फलरूप से शुद्धविचारशक्ति द्वारा आत्मा को अनात्म वस्तु से विवेक कर (पृथककर) तत्त्वज्ञान की योग्यता को प्राप्त होता है। रजो एवं तमोगुण से रहित सत्त्वगुण से जब चित्त पूर्णरूप से व्याप्त होता है तब परमानन्दस्वरूप आत्मा का यथार्थ तत्त्व जानने के लिए स्वतः ही तीव्र पिपासा जाग्रत होती है। इसे ही विविदिषा कहते हैं। इस अवस्था में नित्यानित्य वस्तु का विवेक, इहामुत्र फलभोग, वैराग्य (इस काल एवं परकाल के विषयभोग के प्रति विरक्ति), शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये षट्संपत्ति एवं मुमुक्षुत्व-इन साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के मुख से 'तत्त्वमस्यादि' वेदान्त महावाक्य का श्रवण कर ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व अनुभव करने के लिए मनन तथा निदिध्यासन करने मे तत्पर हो जाता है एवं दृढ़ अभ्यास के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार से तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार करता है। ब्रह्म तथा आत्मा के ऐक्य (एकत्व) ज्ञान को ही मेधा (प्रज्ञा) कहा जाता है। अतः सात्त्विक त्यागी सत्त्वसमाविष्ट होने के पश्चात् मेधावी होता है। इस प्रकार से मेधा या प्रज्ञा प्राप्त होने पर समस्त संशय एवं विपर्यय (विपरीत ज्ञान)

रूप अविद्या के सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं। अतः वह ब्राह्मीस्थिति (तत्त्वज्ञान में निष्ठा) को प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप आत्मा का ही सत्यत्व एवं उसके अतिरिक्त सब वस्तु का मिथ्यात्व साक्षात् अनुभव करने पर उसकी अज्ञानजनित हृदयग्रन्थि कट जाती है एवं अपने स्वरूप का निष्क्रियत्व, अविकारित्व, अद्वितीयत्व अनुभव कर कृतकृत्य हो जाने के पश्चात् उस महात्मा के सर्वकर्मों का स्वतः ही त्याग हो जाता है। उनका पंचभूतात्मक मायिक शरीर कर्म करते रहते हुए भी स्वयं वे न तो कोई कर्म करते हैं और न तो कर्मफल में लिप्त होते हैं। अतः कर्तृत्वाभिमानरहित होने के कारण उनके शरीर प्रारब्धवश किसी अकुशल (अर्थात् पुनर्जन्म प्रदान करनेवाले) काम्यकर्मादि को करते हुए भी 'इस कर्म से मुझे दुःखमय संसारगति की प्राप्ति होगी' इस भावना से अकुशल (काम्य) कर्मादि से द्वेष नहीं करते हैं अर्थात् उन्हें प्रतिकूल नहीं मानते हैं। फिर यदि उनके शरीरादि कुशल (सुखप्रद यज्ञ दानादिरूप) नित्य कर्मों में लिप्त हों तो 'इस प्रकार कर्मों से चित्तशुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त करके दुःखमय संसार से मुक्त हो जाऊँगा अतः यह कर्म मेरे अनुकूल है', इस प्रकार की बुद्धि से उन कर्मों में आसक्त नहीं होते हैं अर्थात् प्रीति प्रकट नहीं करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि नवें श्लोक में उक्त सात्त्विक त्याग से नैष्कर्म्यसिद्धिरूप ज्ञाननिष्ठा (सच्चिदानन्दस्वरूप परम-शान्ति के आधार आत्मा में निरन्तर स्थिति) प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः उस श्लोक में जिस प्रकार से कर्मों का अनुष्ठान करने का उपदेश दिया गया है उसका फल या प्रयोजन जीवन मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति है, यह वर्तमान श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि आत्मज्ञानवान् पुरुष के द्वारा ही कर्मों में प्रवृत्ति के हेतुभूत राग द्वेष का अभाव हो जाने से समस्त कर्मों का त्याग होना सम्भव है। परन्तु जिसको शरीर में आत्माभिमान रहने के कारण देहधारी (अज्ञानी) कहा जाता है एवं जिसका आत्मा में कर्तापन नष्ट न होने के कारण 'मैं करता हूँ' ऐसी बुद्धि निश्चित होती है, उससे समस्त कर्मों का त्याग होना असम्भव है। अतः उसका कर्मफल त्याग के सहित विहित कर्म के अनुष्ठान में ही अधिकार है—कर्मों के त्याग में नहीं। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अन्वय—हि देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुम् न शक्यम् (तस्मात्) यः तु कर्मफलत्यागी स त्यागी इति अभिधीयते ।

अनुवाद—देहाभिमानी ('देह ही मैं हूँ' इस प्रकार से अभिमान करनेवाले) पुरुष के द्वारा कर्मों का निःशेषतया (पूर्णरूप से) त्याग नहीं किया जा सकता । अतः जो कर्मों के फल का त्याग करनेवाला है वही 'त्यागी' कहा जाता है ।

भाष्यदीपिका—**हि**—जिस कारण **देहभृता**—देहधारी अर्थात् देह में आत्माभिमान रखने वाले पुरुष के द्वारा । देह को जो धारण करता है वह देहधारी है 'देह ही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान ही देह को धारण करके रखने वाला है, इसलिए शरीर में आत्माभिमान रखने वाला 'देहभृत' कहा जाता है—विवेकी नहीं, क्योंकि 'वेदाविनाशिनम्' (गीता २।२१) इत्यादि श्लोकों से उस विवेकी को कर्तापन के अधिकार के पृथक् करके दिखाया गया है ['यह देह ही मैं हूँ, अतः मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, गृहस्थ हूँ' इत्यादि अभिमान जिसका नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् जिसका कर्माधिकार हेतुभूत देहाभिमान बाधित नहीं हुआ है अर्थात् जो अनादि अविद्या की वासना के कारण व्यवहार के योग्य कल्पित देह को (कर्माधिकार के हेतुभूत वर्णाश्रमादिरूप एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि के आश्रय स्थूल, सूक्ष्म देह और इन्द्रियों के संघात को) असत्य होने पर भी सत्यरूप से तथा अपने से भिन्न होने पर भी अभिन्नरूप से देखता हुआ धारण पोषण करता है वह देहभृत् इस प्रकार का देहाभिमान जब तक रहता है तब तक कर्मों में प्रवृत्ति भी अवश्यम्भावी है । अतः कर्म करने वाले स्थूल सूक्ष्म देह में रहते हुए भी आत्मबुद्धि नहीं करते हैं, अतः उनको देहभृत् नहीं कहा जाता है । इसलिए उनका कर्म में अधिकार भी नहीं माना जाता है । अतः 'देहभृत्' शब्द का अर्थ है देह में आत्माभिमानी ज्ञान से विहीन जीव उससे **अशेषतः त्यक्तुम् न शक्यम्**—निःशेष (पूर्णतया) समस्त कर्मों का त्याग किया जाना सम्भव नहीं है [क्योंकि विवेकशून्य अज्ञ व्यक्ति का राग-द्वेषादि प्रबल रहता है एवं उस रागद्वेषादि के द्वारा ही प्रेरित होकर

वे सर्वदा कर्म में प्रवृत्त होते हैं ।] **तस्मात्**—इसीलिए **यः तु कर्मफलत्यागी**—जो तत्त्वज्ञान से रहित कर्म में अधिकारी पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी उन कर्मों के फल का (कर्मफल की वासना मात्र का) त्याग कर देने वाला है वह कर्म करता हुआ भी (मुख्य कर्मत्यागी न होने पर भी) गौणी वृत्ति से (स्तुति के अभिप्राय से) त्यागी कहा जाता है । [यहाँ 'तु' शब्द इस प्रकार के त्यागी की दुर्लभता प्रकट करने के लिए है अर्थात् अन्य साधारण अज्ञ पुरुष से इस प्रकार से फल की वासना को त्याग करने वाला कर्मों में रहता हुआ पुरुष दुर्लभ एवं विलक्षण है. यह निर्देश करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है (मधुसूदन) ।] अतः सिद्ध हुआ कि देहात्माभिमान से रहित परमार्थज्ञान के द्वारा ही (जो परमार्थदर्शी है) अतः जो देहभृत् नहीं है अर्थात् देह में जिसका आत्माभिमान ('मैं देह हूँ' इस प्रकार बुद्धि) नष्ट हो चुका है, उस ब्रह्मज्ञ पुरुष द्वारा ही निःशेष तथा समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) किया जा सकता है । [अतः मुख्य वृत्ति से 'त्यागी' शब्द से परमार्थदर्शी सर्वकर्म संन्यासी को ही समझा जाता है और गौण वृत्ति से कर्म करते हुए कर्मफल त्यागी को त्यागी कहा जाता है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यदि कहो कि इस प्रकार के कर्मफलत्याग की अपेक्षा तो सर्वकर्मों का त्याग ही श्रेष्ठ है क्योंकि उसके होने पर कर्मजनित विक्षेप का अभाव हो जाने से ज्ञाननिष्ठा सुखपूर्वक सम्पन्न हो जाती है तो उस पर कहते हैं—देह में आत्माभिमान युक्त (मैं देह हूँ इस प्रकार की बुद्धि से युक्त अज्ञानी) मनुष्य द्वारा निःशेषतया सब कर्मों का त्याग कर देना शक्य नहीं है यह पहले भी 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा जा चुका है इसलिए जो पुरुष कर्म करता हुआ ही कर्मफल का त्यागी है, वही मुख्य त्यागी कहा जाता है ।

(२) **शंकरानन्द**—अत्र नित्य और नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान में अधिकारी देहात्मबुद्धि वाला जो पुरुष है उसका अशेष कर्मों का परित्याग अशक्य होने के कारण कर्म-फल के त्याग द्वारा कर्म के अनुष्ठान में ही अधिकार है, कर्म के त्याग में नहीं, ऐसा कहते हैं।

जिस कारण से देहभृत् (देह 'मैं' हूँ, इसप्रकार बुद्धि से अपने स्वरूप से जो देह को धारण करता है) वह देहभृत् यानी देहात्मबुद्धि वाला है । अज्ञानी ही कर्म का अधिकारी

है आत्मज्ञ नहीं क्योंकि सर्वदृश्य से विलक्षण कूटस्थ आत्मा को देखने वाले उस विद्वान् की देहात्मबुद्धि न होने से, कर्म में अधिकार ही नहीं हो सकता, क्योंकि 'मैं करता हूँ' यों कर्तृत्व के अभिमानी और देहादि में अहंबुद्धि वाले पुरुष का कर्म में अधिकार है। इसलिए **न देहभृता**—देहभृत् द्वारा (अनात्मज्ञ द्वारा) **अशेषतः**—अशेष नित्य नैमित्तिक काम्य **कर्माणि त्यक्तुम् न शक्यम्**—प्रतिषिद्ध एवं अन्य भी कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि उसे अकर्ता आत्मा का ज्ञान नहीं है। जो अकर्ता आत्मा के ज्ञान से युक्त है, वही अशेष कर्मों का परित्याग कर सकता है–दूसरा नहीं इसलिए **यः तु कर्मफलत्यागी**–जो अनात्मज्ञ कर्म में अधिकारी होकर कर्म के फल का त्याग करता है **स त्यागी**–वही त्यागी (सर्वकर्म फल संन्यासी) अर्थात् निष्कामी है, ऐसा कहा जाता है। कर्मों को और उनके फलों को ईश्वरार्पण करने पर अकर्मी के साथ समानता हो जाने से यह स्वयं नित्यकर्मी भी अकर्मी हो जाता है, ऐसी स्तुति की जाती है जिससे कि मुमुक्षुओं की इसी सात्त्विक त्याग में प्रवृत्ति की सिद्धि हो। अथवा सात्विक त्याग के स्वरूप का (सात्त्विक त्यागनिष्ठ पुरुष की उस निष्ठा से उत्पन्न हुई सत्त्व शुद्धि का) उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान और उसके फल नैष्कर्मसिद्धि का प्रतिपादन करके अब सत्यासत्य के (आत्म तथा अनात्म विषय के) विवेक से शून्य पूर्वोक्त राजस और तामस त्याग से युक्त पुरुष आभासतः त्यागी है, वस्तुतः वे कर्मी हैं और अनिष्ट आदि फल से युक्त हैं, ऐसा बोधन करने के लिए यज्ञ, अध्ययन और दान इत्यादि श्रुति में कहे गये नित्य नैमित्तिक कर्मों का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने वाला सात्त्विक त्यागी ही स्वधर्मानुष्ठान से उत्पन्न हुई चित्तशुद्धि से प्राप्त हुए आत्मयाथात्म्य-विज्ञान से युक्त (आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर) कुशल आदि सम्पूर्ण कर्मों का संन्यासी अकर्मी और अनिष्टादि फल से रहित होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं–**न हि देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुम् शक्यम्**—कितने बौद्धस्वभाववाले (बौद्ध मत का अनुसरण करने वाले) पंडितों द्वारा मोहात्मक तमोदूषित (मोहरूप अज्ञान से दुष्ट) बुद्धि से 'इस कर्म के अनुष्ठान से क्या होगा,' इस प्रकार की बुद्धि से सम्पूर्ण कर्मों का जो श्रुतिविरुद्ध त्याग किया जाता है वह तामस त्याग है। इसी प्रकार कितने ही आलसी, देह के सुख की इच्छावाले पंडितों के द्वारा 'देह के आयास से साध्य सम्पूर्ण

कर्म दुःख ही हैं' इस प्रकार रजोगुण के दोष से दूषित हुई बुद्धि से सम्पूर्ण कर्मों का राजस त्याग किया जाता है। राजस और तामस त्यागियों का कर्मत्याग केवल देखने का ही होता है–क्रिया से नहीं है क्योंकि देहभृत् के द्वारा (स्वभाव से ही क्रियावाले प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि करणसंघात विशिष्ट देह को 'यही मैं हूँ' इस प्रकार स्वरूप से जो धारणा करता है, वह देहभृत् है, ऐसे देहात्मबुद्धिवाले पुरुष के द्वारा) कर्मों का (समय-समय पर प्रयत्न के बिना कर्तव्यरूप से प्राप्त हुए पुण्य, अपुण्य और अन्य कर्मों का) अशेषरूप से त्याग नहीं किया जा सकता। 'मैंने कर्म का त्याग किया' यह कर्म का केवल आभासरूप त्याग है, वास्तव में वह त्याग नहीं है क्योंकि कर्म, कर्ता और कारक से भिन्न (विलक्षण) आत्मा का उसे ज्ञान नहीं है। वह स्वतः ही चेष्टायुक्त देह में आत्मबुद्धि वाला है, इसलिए बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक देहादि से पुण्य या अपुण्य का आचरण होता रहता है उसमें कर्तृत्वाभिमान रहने के कारण वह त्यागी यानी सर्वकर्मसंन्यासी नहीं है। तब कौन संन्यासी है? इस पर कहते हैं **यः तु कर्मफल-त्यागी**—'तु' शब्द तामस आदि से वैलक्षण्य बताने के लिए है। जो कर्मफलत्यागी है यानी यज्ञ, दान, आदि कर्मों के अनुष्ठान करके पूर्वोक्त रीति से जो सम्पूर्ण कर्मफल का त्यागी है **सः त्यागी इति अभिधीयते**—वही त्यागी (संन्यासी) है, ऐसा कहा जाता है। निष्कर्मत्वकी सिद्धि के प्रकार को जानने वाले पंडितों द्वारा वही सर्वकर्म-संन्यासी है, ऐसा कहा जाता है दूसरे तामस त्याग करने वाले त्यागी को नहीं। स्थूल दृष्टि से वे (तामस व राजस त्यागी) यद्यपि कर्मसंन्यासी से प्रतीत होते हैं तथापि भली-भाँति विचार करने पर तो वे कर्मी ही हैं। विहित का अनुष्ठान न करने से प्रत्यवाय होने के और भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से युक्त होने के कारण पुण्य और अपुण्य कर्मवान् होने के कारण उनका अशेष कर्मसंन्यास हो नहीं सकता। जिसके कारण से ऐसा है इसलिए सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान करके उनका और उनके फलों का ईश्वर में परित्याग कर काम संकल्प आदि दोनों से रहित होकर विशुद्ध चित्त से कूटस्थ आत्मस्वभाव (आत्मा के यथार्थ स्वरूप) को जानकर ('सम्पूर्ण कर्म को मन से त्यागकर' इत्यादि उक्त प्रकार से गीता ५।१३) कुशल और अकुशल सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके जो निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप से स्थित रहता है, उसी का सर्वकर्मसंन्यास सिद्ध होता है, क्योंकि

कूटस्थ असंग चिदात्मा को जो जानता है उसीका सर्वकर्म संन्यास हो सकता है।' इसलिये सात्त्विक कर्म के अनुष्ठान से सत्त्वसमाविष्ट, मेधावी छिन्नसंशय वाले विद्वान् का कुशल-अकुशल आदि सम्पूर्ण कर्मों के संन्यास का प्रतिपादन किया गया है। अतः जिसका उपक्रम किया गया है उस कर्म फल त्यागी की स्वधर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई चित्तशुद्धिद्वारा प्राप्त हुए विज्ञान से सम्पन्न पुरुष में सम्पूर्ण कर्म के संन्यासित्व का प्रतिपादन युक्त ही है। यह स्पष्ट है कि ऐसा प्रतिपादन होने पर अश्रद्धा और दुर्भाग्य से जो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म नहीं करते हैं उनको करोड़ों कल्पों में भी चित्तशुद्धि ज्ञान और मोक्ष नहीं प्राप्त होते और जो अकामना से श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक ईश्वर की प्रीति के लिए वैदिक कर्म करते हैं, उनको सत्व शुद्धि, ज्ञान, नैष्कर्म्य और मोक्ष प्राप्त होते हैं।' इसलिए केवल मोक्ष की ही कामनावाले विचक्षण पुरुषों को सात्त्विक त्याग निष्ठा से स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश सिद्ध होगा, अन्य कोई उपाय नहीं है यही ज्ञात होता है।

(३) **नारायणी टीका**—आत्मा का स्वरूप न जानने के कारण ही अर्थात् अज्ञान निमित्त ही अपने आत्मा से पृथक् अज्ञान के कार्यरूप देहइन्द्रियादि के संघात में जीव आत्मबुद्धि करता है। इस अज्ञान से असत् जगत् में सद्बुद्धि होती है तथा नाम, रूप तथा क्रिया में सत्यत्व बुद्धि रहने के कारण भेदबुद्धि से 'मैं मेरा', 'तू तेरा' इत्यादि भाव के वशीभूत होकर उससे उत्पन्न हुए रागद्वेषादि द्वारा जीव नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अतः जब तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है तबतक नित्य शुद्धबुद्ध आनन्दघन शुद्ध चैतन्यस्वरूप होते हुए भी देहादि में आत्मबुद्धि कर अपने में देहादि का धर्म आरोप कर 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ तथा मैं ब्राह्मण हूँ, चाण्डाल हूँ मुझे शारीरिक एवं मानसिक सुख की प्राप्ति के लिए तथा दुःख की निवृत्ति के लिए इस प्रकार के कर्म करने हैं' इस प्रकार की भावना से सदा ही किसी न किसी जागतिक कर्म में जीव प्रवृत्त रहता है अर्थात् जब तक अविद्या एवं उसके कार्य ज्ञान से बाधित (नष्ट) नहीं होते हैं तब तक देहादि में आत्मबुद्धि के दृढ़ रहने के कारण कर्तृत्वाभिमान एवं कर्म में प्रवृत्ति अवश्य ही रहेगी इसलिए भगवान् ने पहले भी कहा 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता ३।५)। देहात्मबुद्धि से ही कर्तृत्वाभिमान होता है एवं कर्तृत्वाभिमान से कर्म का अनुष्ठान

एवं तत्पश्चात् कर्मफल भोगने के लिए पुनः पुनः देह को धारण या पोषण करना पड़ता है एवं इसप्रकार क्रम से ही जीव का संसारचक्र में भ्रमण चलता रहता है अतः आत्मा का यथार्थ स्वरूप न जानने वाले अज्ञ, देहात्माभिमान करने वाले पुरुष को ही 'देहभृत्' कहा जाता है। तत्त्वज्ञ (ज्ञानी) पुरुष ने भी पूर्व जन्मों के संस्कार के अनुसार देहधारण किया एवं इस जन्म में भी प्रारब्ध के क्षय पर्यन्त उसको देह में रहना ही पड़ेगा परन्तु विवेक वैराग्य तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने पर शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म को ही अपना आत्मा मानता है–देहादि को नहीं। अतः देहादि से सम्पूर्ण रूप से पृथक् होने के कारण एवं स्वभाव द्वारा (पूर्वजन्मार्जित संस्कार या प्रकृति के द्वारा) प्रेरित हुए देहादि के द्वारा किये हुए कर्म में कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण उन कर्मों का फलभोग करने के लिए उसको पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। फिर ज्ञानाग्नि से सर्वकर्म भस्मसात् होने के कारण (गीता ४।३७) उसको किसी प्रकार के कर्मफल का भोग नहीं करना पड़ता है। अतः तत्त्वज्ञाननिष्ठ (परमार्थदर्शी) पुरुष को 'देहभृत्' नहीं कहा जाता है। वह आत्मा को अविनाशी, जन्ममरण रहित, निष्क्रिय, नित्य शुद्ध, अविकारी एवं केवल आनन्द रूप से साक्षात् अनुभव कर लेता है। अतः आत्मातिरिक्त सर्ववस्तु का मिथ्यात्व अपने अनुभव से निश्चित होने के कारण उसको आत्मातिरिक्त किसी वस्तु का प्रयोजन नहीं रहता है। इसलिए सर्वकर्म स्वतः ही निवृत्त (परित्यक्त) हो जाते हैं। इसको ही यथार्थ संन्यास या मुख्य त्याग-कहा जाता है। किन्तु जो देहभृत् है अर्थात् जिसके देह में आत्माभिमान है, अतः देहादि के कर्मों में कर्तृत्वाभिमान है, वह निःशेषतया (पूर्णरूप से) कभी सर्वकर्म का त्याग करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि (क) देहादि का आश्रय करके 'मैं, मेरा' इत्यादि बुद्धि से राग-द्वेष के विद्यमान रहने के कारण अनुकूल (प्रिय) वस्तु की प्राप्ति के लिए या प्रतिकूल (अप्रियवस्तु के) परिहार के लिए कर्म में उसकी प्रवृत्ति अवश्य ही निरन्तर रहेगी।

(ख) जीविका निर्वाह करने के लिए (देह का भरण पोषण करने के लिए) यथोचित प्रयत्न भी अवश्य रहेगा। अतः इस प्रकार से अज्ञ पुरुष का सर्व कर्म के त्याग में अधिकार नहीं है। यदि हठपूर्वक वह कर्मों का त्याग करे तो बाहर से त्यागी बनने पर भी अन्तः करण में नानाप्रकार की वासना रहने के कारण उस प्रकार का

कर्मत्याग वकवृत्ति या मिथ्याचार ही होगा (गीता ३।६)। इसलिए भगवान् कहते हैं कि जब तक पुरुष देहभृत् है अर्थात् देह में आत्माभिमान युक्त है जब तक चित्त-शुद्धि के लिए अपने अपने आश्रमविहित कर्तव्य कर्मों का फलत्याग कर (फल की कामना से रहित होकर) ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करता है, वह भी तत्त्वज्ञ लोगों के द्वारा त्यागी कहा जाता है। सर्व कर्म त्याग एवं फलत्याग में त्याग की समानता रहने के कारण कर्मफल त्याग करने वाले को भी गौण भाव से त्यागी कहा जाता है क्योंकि इस प्रकार का फलत्याग जीव में रजः एवं तमोगुण अभिभूत होकर सात्त्विक गुण की वृद्धि से ही सम्भव होता है। इसप्रकार सात्त्विक त्याग के फलरूप से ही यथाक्रम से चित्तशुद्धि, विविदिषा सर्वकर्म संन्यास गुरूपसदन, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति होती है। अतः कर्म करते हुए भी इसप्रकार का फलत्याग (सात्त्विक त्याग) यथाकाल में यथार्थ संन्यास या मुख्य त्याग में अधिकारी कर देता है। इसलिए इसप्रकार का त्याग करने वाले को 'त्यागी' कहना युक्तियुक्त ही है।

जो व्यक्ति देहभृत् अर्थात् देह में आत्मबुद्धि करने वाला है वह कर्म में ही अधिकारी है क्योंकि सर्वकर्म का त्याग करना उसके लिए असम्भव है। अतः वह यदि कर्मफल की वासना को त्याग कर अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करता रहे तो भी उसको गौण भाव से त्यागी कहा जाता है, यही पूर्व श्लोक का तात्पर्य है। परन्तु जो आत्मतत्त्व को जानने के कारण देहात्मबुद्धि से रहित हो गया है उसके साथ देह से किए हुए कर्म का कोई सम्बन्ध न रहने के कारण वह मन से सर्वकर्म का त्याग करने में समर्थ होता है। इसप्रकार से सर्वकर्मत्यागी ही मुख्य संन्यासी है। अब प्रश्न होगा कि जो कर्म में अधिकारी हैं वे फलत्याग करके कौन सी गति को प्राप्त होंगे और जो मुख्य संन्यास के अधिकारी हैं उनका भी सर्वकर्म के त्याग से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा अर्थात् सर्वकर्म का त्याग करने से उनको क्या फल प्राप्त होगा? इसपर कहते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अन्वय—कर्मणः अनिष्टम्, इष्टं, मिश्रम् च त्रिविधम् फलम् अत्यागिनाम् प्रेत्य भवति, संन्यासिनाम् क्वचित् न भवति।

अनुवाद—अत्यागियों को मरने के पश्चात् अनिष्ट, इष्ट एवं मिश्र तीन प्रकार का फल प्राप्त होता है किन्तु संन्यासी को (सर्वकर्म फलत्यागी को) कभी ऐसा फल नहीं मिलता।

भाष्यदीपिका—कर्मणः–धर्म-अधर्म (पुण्यपाप) रूप कर्मों का ['कर्मणः' यह एक वचन जाति के अभिप्राय से है, क्योंकि एक ही तीन प्रकार के फल वाला नहीं हो सकता (मधुसूदन)।] **अनिष्टम्**—नरक और तिर्यक् (पशु पक्षी आदि) निकृष्ट योनिरूप **इष्टम्**—देवादि उत्तम योनिरूप तथा **मिश्रं च**—इष्ट और अनिष्टमिश्रित मनुष्य योनिरूप **त्रिविधम् फलम् भवति**—तीन प्रकार का फल होता है। जो पदार्थ बाह्य कर्ता, कर्म करण इत्यादि अनेक कारकों के द्वारा निष्पन्न होता है और इन्द्रजाल की माया के समान (बाजीगर के खेल के समान है अर्थात् जो प्रत्यक्ष दृष्ट या प्रतीत होने पर भी स्वरूप से मिथ्या) है, जो संसाररूप महामोह का हेतु (कारण) है, आत्मा का कोई सम्बन्ध न रहने पर भी जो जीवात्मा के आश्रित-सा प्रतीत होता है, जो फल्गु (तुच्छ) अर्थात् सार रहित होने के कारण तत्काल ही लय (नष्ट) हो जाता है। ['फल्गुतया लयम् गच्छतीति फलम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'फल' शब्द निष्पन्न हुआ है] इस प्रकार के लक्षण से युक्त फल किनको प्राप्त होते हैं? इस पर कहते हैं, **अत्यागिनाम्**—अर्थात् परमार्थ संन्यास (सर्वकर्म का त्यागरूप मुख्य-संन्यास) न करने वाले कर्मनिष्ठ अज्ञानियों को ही **प्रेत्य**—मरने के पश्चात् **भवति**—मिलता है [देहाभिमान अज्ञकर्मी जो फल की कामना से ही प्रेरित होकर कर्म करता है, उसको तथा जो कर्मफल की आकांक्षारहित होकर चित्तशुद्धि के लिए कर्म करता है परन्तु चित्तशुद्धि उत्पन्न होने के पहले ही जिसकी मृत्यु होती है, इन दोनों प्रकार के कर्मियों को अपने अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार इष्ट, अनिष्ट या मिश्र योनि प्राप्त होती है। अनिष्ट, इष्ट, तथा मिश्र इन तीन प्रकार की योनियों का पृथक् निर्देश कर पुनः 'त्रिविध' शब्द का प्रयोग करने से पुनरुक्ति हुई है किन्तु इस प्रकार की पुनरुक्ति का अभिप्राय यह है कि ये त्रिविध फल ही मुमुक्षु के लिए हेय (परित्याज्य) हैं।]

संन्यासिनाम—परन्तु जो परमार्थ संन्यासी हैं अर्थात् जो केवल ज्ञाननिष्ठा में स्थित परमहंस परिव्राजक वास्तविक संन्यासी हैं उनको **क्वचित् न तु भवति**—कभी

अर्थात् किसी देश, काल में उक्त तीन प्रकार के कर्मफलो में से किसी फल का भोग नहीं करना पड़ता। यहाँ 'तु' शब्द निश्चय के अर्थ में है। प्रश्न होगा कि यदि परमार्थ संन्यास निष्फल (फलशून्य) हो तो उसका क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है क्योंकि परमार्थ संन्यास का (सर्व कर्म त्याग का) अन्तिम फल है मोक्षप्राप्ति जो केवल सम्यक् दर्शननिष्ठ हैं अर्थात् शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म में ही स्थित हैं वे अविद्यादि संसार बीज का मूलच्छेद नहीं किये हैं ऐसा कभी नहीं हो सकता अर्थात् उनसे तत्वज्ञान के द्वारा संसार का मूल जो अज्ञान है वह पूर्णतया नष्ट होने के कारण अज्ञान के कार्यरूप कर्म समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिए भगवान् ने पहले ही कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरुतेऽर्जुन' (गीता ४।३७) अतः उनके लिए सर्वकर्म नष्ट हो जाने के कारण कर्मों के अनिष्ट, इष्ट एवं मिश्ररूप भावी फल भी उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः इसप्रकार परमार्थ दर्शन-निष्ठ के पुनर्जन्म का बीज न रहने के कारण उन तीन प्रकार के फलों में से किसी का भोग उनको नहीं करना पड़ता है क्योंकि कारण न रहने से कार्य कैसे उत्पन्न होगा।

टिप्पणी (१) **मधुसूदन**—'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस पर मधुसूदन सरस्वती ने विस्तृत टीका की है वह इस प्रकार की है—यह बताया गया है कि गौण संन्यासियों को देहपात के पश्चात् शरीरान्तर ग्रहण करना आवश्यक है। अब 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इससे यह बताते हैं कि मुख्य संन्यासियों का तो परमात्मा के साक्षात्कार से अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने के कारण विदेह कैवल्य ही हो जाता है। परमात्मज्ञानवान् मुख्य संन्यासी परमहंस परिव्राजकों को किसी भी देश या काल में इष्ट, अनिष्ट मिश्रित शरीर का ग्रहण नहीं होता–इसप्रकार निश्चय अर्थ में यहाँ 'तु' शब्द है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अज्ञान का उच्छेद हो जाने पर उसके कार्यभूत कर्मों का भी उच्छेद हो जाता है। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—

> 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थात् उस कार्यकारणरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर इसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। महर्षि

व्यास का 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेशविनाशौ तद्व्यपदेशात्' अर्थात् उसका ज्ञान हो जाने पर आगामी पाप-पुण्य का लेप नहीं होता और पूर्वकृत पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है। यह सूत्र भी परमात्मज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय प्रदर्शित करता है। अतः गौण संन्यासियों को ही पुनः संसार की प्राप्ति होती है और 'मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्षः' अर्थात् मुख्य संन्यासीयों का मोक्ष हो जाता है। दोनों फल में यही अन्तर बताया गया।

यहाँ कोई वादी कहा है कि—'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी च' इत्यादि—वाक्यों में कर्मफल का त्याग करने वालों के लिए ही 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः फलत्याग में समानता होने के कारण यहाँ कर्मी ही 'संन्यासी' शब्द से ग्रहण किए गये हैं। उन्हें नित्य कर्मों का अनुष्ठान और निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान न करने से पाप न हो सकने के कारण अनिष्ट फल होना सम्भव नहीं है तथा काम्य कर्मों का अनुष्ठान न करने से एवं ईश्वरार्पण करके फल का त्याग कर देने से इष्ट फल भी नहीं हो सकता। इसी से उन्हें मिश्र फल भी नहीं होता। इस प्रकार उन्हें तीनों प्रकार का फल मिलना सम्भव नहीं है इसी से कहा है—

"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥"

अर्थात् मोक्ष की इच्छावाला पुरुष काम्य और निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त न हो तथा प्रत्यवायनिवृत्ति की इच्छा से केवल नित्य और नैमित्तिक कर्म करे।

[इस प्रकार जो वादी कहता है] उससे कहना चाहिए कि उसने अपने शब्द और अर्थ की मर्यादा का निश्चय नहीं किया। शब्द की मर्यादा तो यह है कि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' अर्थात् यदि गौण और मुख्य दोनों से कार्य की प्राप्ति हो तो मुख्य से ही कार्य का ज्ञान किया जाय। जिस प्रकार 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' अर्थात् अमावास्या के दिन दोपहर के पश्चात् पिण्डपितृयज्ञ करता है, इस वाक्य में 'अमावास्या' शब्द काल के अर्थ में तो मुख्य है किन्तु उस काल में होने योग्य कर्म में गौण—है। किन्तु 'य एवं विद्वानमवास्यायां यजते' अर्थात्

'इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष अमावास्याकर्म का यजन करता है' इत्यादि वाक्य में 'अमावास्या में' इस शब्द से कर्म का ग्रहण करने पर पितृयज्ञ उसी का अंग होने के कारण उसके किसी फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए–इस प्रकार यह विधि का लाघव कात्यायन ने 'अङ्गं वा समभिव्याहारात्' अर्थात् साथ कहा गया है, इसलिए पितृयज्ञ अमावास्याकर्म का अंग है ऐसा कहकर पूर्वपक्ष बनाया है। तथा जैमिनि ने 'पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं' अर्थात् पितृयज्ञ अपने समय में होता है, इसलिए वह अंग नहीं है' ऐसा कहकर यह सिद्धान्त किया है कि गौण अर्थ मुख्य अर्थ की उपस्थितिपूर्वक होने से तथा मुख्य अर्थ का उसमें बाध न होने से 'अमावास्या' शब्द से काल का ही ग्रहण किया जाता है एवं उसके पीछे होनेवाला जो फलकल्पनारूप गौरव है वह भी प्रमाणयुक्त होने के कारण ग्रहण करने के योग्य है। ऐसा निश्चय होनेपर 'संन्यासी' शब्द सर्वकर्म त्यागी में मुख्य और फलत्यागरूप समानता के कारण कर्मी में गौण होने के कारण तथा यहाँ मुख्य अर्थ का बाध न होने से 'संन्यासी' शब्द से उसी का (मुख्य अर्थ का ही) ग्रहण करना चाहिए–यह बात शब्द की मर्यादा से सिद्ध होती है। कारण की सामग्री रहनेपर कार्य की उत्पत्ति होती है' यह अर्थमर्यादा है। इसलिए ईश्वरार्पणबुद्धि से जिसने कर्मफल का त्याग भी कर दिया है किन्तु जो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान कर रहा है वह यदि बीच ही में मर जाय तो अपने पूर्वार्जित कर्मों के द्वारा उसके तीन प्रकार के शरीरग्रहण को कौन रोक सकता है ? जैसा कि 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' अर्थात् हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर को बिना जाने ही इस लोक से चला जाता है वह कृपण (दीन) है, इस श्रुति से सिद्ध होता है। अन्त में अन्तःकरणशुद्धि के फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति के लिए भी उसे ज्ञानाधिकारी शरीर का ग्रहण करना आवश्यक ही है। इसी से छठे अध्याय में 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादि श्लोक से यह निर्णय किया गया है कि 'योगभ्रष्ट' शब्द के वाच्य श्रवणादि करते करते बीच में ही मरजानेवाले विविदिषा संन्यासी को ज्ञानाधिकारी शरीर की प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है। जहाँ अज्ञानी रहने पर समस्त **कर्मों का त्याग करनेवाले के**—लिए भी देह को धारण करना आवश्यक है वहाँ **कर्म करनेवाले अज्ञानी के**–विषय में तो कहना ही क्या ? अतः अर्थ की मर्यादा से

यह सिद्ध होता है कि अज्ञानी का देह धारण करना अनिवार्य है। विद्वानों ने कर्म के विषय में एकभविकपक्ष का निराकरण करने में विजय प्राप्त की है। अतः पूर्वोक्त भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजी के भाष्य की व्याख्या ही श्रेष्ठ है।

[एक कर्म एक जन्म का कारण होता है–इस पक्ष का (इस मत का) भगवान् श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते हुए 'कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' (३।१।८), इस सूत्र के भाष्य में खण्डन किया है।]

इसलिए यहाँ इसका निष्कर्ष यह है—वेदान्तवाक्य से उत्पन्न हुए और विचार–जनित प्रमाण से निश्चित तथा सब प्रकार के अप्रामाण्य की शंका से शून्य अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, अद्वितीय, सत्य एवं स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूप से आत्मा का निर्विकल्प साक्षात्कार हो जाने से ब्रह्मात्मज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अज्ञान के कार्यभूत कर्तृत्वादि के अभिमान से रहित जो वास्तविक संन्यासी है, वह समस्त कर्मों का उच्छेद हो जाने से शुद्ध और केवल हो जाने के कारण अविद्या और कर्मादि से होनेवाले पुनः शरीरग्रहण का अनुभव नहीं करता, क्योंकि अज्ञानरूप कारण का उच्छेद हो जाने से उसके सभी भ्रमों का उच्छेद हो जाता है। किन्तु जो कर्तृत्वादि का अभिमान रखनेवाला अविद्यावान् देहधारी है वह तीन प्रकार का है (१) रागादि दोषों की प्रबलता के कारण काम्य और निषिद्ध इत्यादि यथेष्ट कर्मों का आचरण करनेवाला, जो मोक्षशास्त्र का अनधिकारी है। (२) जो पहले किए हुए शुभ कर्मों के कारण रागादि दोषों के कुछ क्षीण हो जाने से समस्त कर्मों का त्याग करने में समर्थ न होनेपर भी; निषिद्ध और काम्य कर्मों को छोड़कर फलाशा के त्यागपूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करने के कारण गौण संन्यासी है और मोक्षशास्त्र का अधिकारी है। (३) फिर वही नित्य और नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा जिज्ञासा उत्पन्न होने पर श्रवणादि के द्वारा मोक्ष के साधनभूत ज्ञान का सम्पादन करने की इच्छा से समस्त कर्मों का विधिवत् त्याग करके ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाता है और उसकी 'विविदिषा संन्यासी' संज्ञा होती है। इनमें पहले का संसारी होना तो सब लोगों में प्रसिद्ध ही है, दूसरे की व्याख्या 'अनिष्टमिष्टं' इत्यादि श्लोक से की गई है तथा तीसरे का निर्णय छठे अध्याय में प्रश्न

उठाकर 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' इत्यादि श्लोक से किया है। कारणसामग्री रहने के कारण अज्ञानी का संसारी होना तो निश्चित है। अन्तर इतना ही है कि उसमें से किसी का संसारित्व तो ज्ञानप्राप्ति के अनुकूल नहीं होता और किसी का ज्ञानप्राप्ति के अनुकूल होता है। जो ज्ञानी है उसके तो संसार का कारण न रहने से वह स्वयं ही कैवल्य हो जाता है—इस प्रकार संसारित्व और मोक्ष इन दो पदार्थों को इस श्लोक में सूत्ररूप से कहा है (स्वामी सनातनदेवकृत अनुवाद)।

टिप्पणी (२) श्रीधर—इस प्रकार के कर्मफल त्याग का फल बताते हैं—**अनिष्टम्**—अनिष्ट की (नरककी) प्राप्ति **इष्टं**—इष्ट (देवत्व) की प्राप्ति **मिश्रं च**—मिश्र (मनुष्यता की) प्राप्ति **त्रिविधं**—यह तीन प्रकार का पाप, पुण्य और दोनों पाप-पुण्य के मिले हुए **कर्मणां यत्फलम्**—कर्मों का जो फल प्रसिद्ध है वह कर्म का फल **अत्यागिनां**—त्याग न करनेवाले सकाम मनुष्यों को ही मरने के बाद परलोक में **भवति**—मिलता है क्योंकि उनके द्वारा तीनों प्रकार के कर्म सम्भव हैं। **न तु संन्यासिनां क्वचित्**—परन्तु संन्यासियों के कर्मों का कहीं भी इस प्रकार का फल नहीं होता। यहाँ 'संन्यासी' शब्द से कर्मत्याग तथा कर्मफल के त्याग में त्यागकी समानता के कारण प्रकरणस्थित कर्मफल के त्यागी लोग भी गृहीत होते हैं क्योंकि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च' (गीता ६।१) इत्यादि श्लोक में कर्मफल त्यागियों के लिए भी 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। उन सात्त्विक ज्ञानी पुरुषों के द्वारा पापों का होना सम्भव नहीं है और उन्होंने भगवान् को अर्पित करके पुण्य के फल को भी त्याग दिया है, इस कारण से उन्हें तीनों ही प्रकार के कर्मों का फल नहीं होता यही कहने का अभिप्राय है।

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार तामस तथा राजस त्याग करने वाले ऊपर से अकर्मी (प्रतीत होनेवाले) पुरुषों में कर्मित्व का और सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषों में अकर्मित्व का प्रतिपादन करके कर्मियों को कर्मफल मिलता है और अकर्मियों को वह नहीं मिलता ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**अनिष्टम्**—अनिष्ट यानी पाप कर्म का फल नरक अथवा तिर्यग्भाव **इष्टम्**—इष्ट यानी पुण्य कर्म का फल देवभाव और **मिश्रम्**—मिश्र यानी दोनों का (पाप पुण्य का) सम्मिलित फल मनुष्यभाव 'पुण्य से पुण्यलोक को

ले जाता है' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध **त्रिविधम्**—त्रिविध यानी तीनों प्रकार के कर्मफल **अत्यागिनाम्**—अत्यागियों को (कर्म और उनके फल का त्याग न करनेवाले तामस और राजस त्यागियों को) **प्रेत्य भवति**—मरने के बाद प्राप्त होते ही हैं। वाणी से कर्मत्याग करने पर भी क्रिया से कर्मों का त्याग न होने के कारण और किये गये कर्मों का फल अवश्यंभावी होने के कारण तीन प्रकार का कर्मफल अत्यागियों को प्राप्त होता है—**न तु संन्यासिनाम्**—संन्यासियों को प्राप्त नहीं होता यानी कर्मफल के त्याग से उत्पन्न हुई अन्तःकरण शुद्धि से संभावित आत्मज्ञान से अकुशल आदि सब कर्मों का त्याग करनेवाले यतियों को कहीं कुछ भी संचित, आगामी अथवा अन्य पुण्य और अपुण्यरूप कर्म का (जिसका कि स्वरूप ज्ञानरूप अग्नि से निर्दग्ध हो गया है) फल प्राप्त नहीं होता। 'दीवार रहने पर चित्रविलेखन होता है' इस न्याय से अपना ही अस्तित्व न होने पर फल प्रदायक नहीं हो सकता, अतः अकर्मी विद्वानों की विदेहमुक्ति ही होती है, यह सिद्ध हुआ।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में जो अज्ञ देहाभिमानी पुरुष कर्तव्य कर्म करते हुए उसके फल की वासना का त्याग करता है उसे त्यागी कहा गया है। अब इस प्रकार के कर्मफल त्याग का फल बताते हैं—जो लोग फल की आकांक्षा करके कोई भी कर्म करते हैं चाहे वह शुभ हो या अशुभ हो, विहित हो या निषिद्ध हो, तो वह अत्यागी (फलाकांक्षारहित) न होने के कारण अपने अपने कर्म के अनुसार मरण के पश्चात् अनिष्ट (नरक तक नीच योनि) या इष्ट (देवयोनि) या मिश्र (मनुष्य योनि) की प्राप्ति करता है अर्थात् कर्मफल का त्याग न करनेवाले मनुष्य के द्वारा पाप, पुण्य और पाप-पुण्य मिश्रित तीनों प्रकार के कर्म सम्भव हैं अतः उनके अनुसार कर्मकर्ता को उक्त तीन प्रकार की गति प्राप्त होती है। किन्तु जो मुख्य संन्यासी है अर्थात् आत्मा के स्वरूप तथा जगत के मिथ्यात्व का साक्षात् अनुभव होने के पश्चात् जिसको सर्वकर्म स्वतः ही परित्यक्त हुए हैं एवं जो देहादि से विलक्षण (पृथक्) शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिति (ब्राह्मीस्थिति) को प्राप्त हो चुका है, इस प्रकार के आत्मनिष्ठ (ब्रह्मनिष्ठ) पुरुषको ये तीन प्रकार के फल प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनसे प्राप्त हुए तत्त्व ज्ञान से अज्ञान के सभी कार्य (कर्मफल, जन्म-मृत्यु इत्यादि) पूर्णतया नष्ट हो

जाते हैं। इसलिये गीता में भी कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गीता ४।३७)। जबतक इस प्रकार से आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित होकर यथार्थ (मुख्य) संन्यासी नहीं होता है तबतक मूल अज्ञान रहने के कारण देह से आत्मबुद्धि रखनेवाले कर्मियों का तीन प्रकार का भेद सिद्ध होता है एवं उसी के अनुसार पृथक-पृथक् कर्मफल का भी भोग करना भी पड़ता है ! इसलिए श्रुति में कहा है—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः (बृह० उ० ३।८।१०) अर्थात् हे गार्गि ! जो इस अक्षर पुरुषको (परमात्माको) न जानकर इसलोक से (इस शरीर का त्यागकर) चला जाता है वह कृपण अर्थात् कृतदास के समान कर्म के अधीन है अर्थात् अपने अपने किये हुए कर्मों का फल उसे भोगना ही पड़ता है। अज्ञ कर्मियों का तीन प्रकार का भेद इस प्रकार शास्त्र में वर्णित किया गया है।

(क) जो राग-द्वेषादि के वशीभूत होकर किसी विशेष फल की कामना करके निषिद्धकर्म (मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि कर्म) करता है अथवा शास्त्रविधि का उल्लंघन करके स्वेच्छानुसार कर्म करता है। इस प्रकार के कर्म को करने वाला मोक्ष शास्त्र का अनधिकारी होने के कारण संसार चक्र में पुनः-पुनः भ्रमण करता है। केवल यही नहीं परन्तु शास्त्र के विधिनिषेध का उल्लंघन करने के कारण इस काल में न सुख और न परलोक में उत्तम गति को ही प्राप्त करता है अर्थात् वह पापकर्मों की प्रबलता के अनुसार अनिष्टफल अर्थात् नीच से नीच योनि (पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि योनि) को प्राप्त होता है।

(ख) जो पुरुष शुभकर्म को फलाकांक्षापूर्वक शास्त्रविधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक करता है वह पुण्यकर्मों के इष्टफल रूप से उच्चयोनि (अर्थात् देवादि योनि) को प्राप्त होता है।

(ग) जो कामनावश पुण्य तथा पापरूप मिश्रित कर्म करता है, वह पुण्य पाप के तारतम्य के अनुसार मिश्रफल (मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चाण्डाल अंत्यज इत्यादि विभिन्न योनि) को प्राप्त होता है।

(घ) जो पूर्वजन्मों की सुकृति के फल से राग, द्वेषादि से रहित होकर शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करता है परन्तु चित्त-

शुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के पहले ही प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने के कारण देह का त्याग कर देता है उसको मनुष्य योनि में ही मोक्ष के साधन के अनुकूल शुभगति (उत्तम शास्त्रज्ञ ब्राह्मण कुल में जन्म) की प्राप्ति होती है जिससे वह पुनः चित्तशुद्धि एवं तत्त्वज्ञान के लिए बिना बाधा के प्रयत्न कर सके। इसलिए गीता में भी कहा है—'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' अर्थात् शुभकर्म करनेवाला पुरुष कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।

(ङ) जो फलाकांक्षा रहित होकर शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर तथा विविदिषा संन्यास का अधिकारी होकर सर्वकर्म का त्यागकर चुका है एवं गुरुमुख से वेदान्त वाक्य आदि श्रवणकर उसके अनुसार मनन एवं निदिध्यासन में तत्पर रहता है परन्तु तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति के पहले ही देह का त्यागकर दिया है, वह योगभ्रष्ट कहलाता है। वह योगनिष्ठ ज्ञानियों के कुल में ही जन्म लेता है एवं इस प्रकार जन्म मोक्ष का हेतु होने के कारण अत्यन्त दुर्लभ है—ऐसा भगवान् पहले ही कह चुके हैं (गीता ६।४२)।

कहने का अभिप्राय यह है कि काम्य कर्म करनेवाले पुरुष को मृत्यु के पश्चात् पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार अनिष्ट, इष्ट या मिश्र, यह तीन प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। चित्तशुद्धि के लिए फलाकांक्षात्याग करके कर्म करने वाले पुरुष की चित्तशुद्धि तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के पहले यदि मृत्यु हो जाय तो उस प्रकार के 'गौण संन्यासी' का अथवा चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर यदि तत्त्वसाक्षात्कार के लिये निदिध्यासन का अभ्यास करते हुए मृत्यु उपस्थित हो तो उस प्रकार के विविदिषा संन्यासी का इष्टफल भोग करने के लिए उत्तम मनुष्य कुल में जन्म होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जबतक आत्मनिष्ठा या ब्राह्मीस्थिति पूर्णतया प्राप्त नहीं होती तबतक इष्ट, अनिष्ट या मिश्र इन तीन प्रकार के फलों में से कोई न कोई फल भोग करने के लिए पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है क्योंकि अज्ञानरूप कारणसामग्री जबतक रहेगी तबतक अज्ञानका कार्यरूप संसारित्व भी रहेगा। परन्तु सम्यग्दर्शी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के संचित, क्रियमाणादि सभी कर्म नष्ट हो जाने के कारण उसे कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है अर्थात् उसका संसार में प्रत्यावर्तन नहीं होता है क्योंकि श्रुति भी कहती है 'इहैव समग्रं प्रविलीयते' अर्थात् मृत्यु के साथ-साथ

ही सब कुछ आत्मा में पूर्णरूप से लय हो जाता है। इस प्रकार मुख्य संन्यासी को लक्ष्य करके ही भगवान्‌ने कहा 'न तु संन्यासिनां क्वचित्'।

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि परमार्थदर्शी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के लिए ही पूर्णरूप से समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) सम्भव है क्योंकि जो अविद्या से क्रिया, कारण और फलादि आत्मा में आरोपित होते हैं वह अविद्या (अज्ञान) तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाती है अर्थात् यह मेरी क्रिया, कर्म करनेवाला अधिष्ठान (शरीर) मैं हूँ तथा इस प्रकार के कर्मों से इस प्रकार के फल को प्राप्त होऊँगा, इस प्रकार की बुद्धि (देहात्माभिमान) न रहने के कारण तत्त्वज्ञानी को कर्मफल भोगने के लिए जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है किन्तु कर्म करनेवाले अधिष्ठान (शरीर) कर्ता आदि कारकों को आत्मभाव से देखनेवाला अज्ञानी सम्पूर्ण कर्मों का निःशेषतया त्याग नहीं कर सकता क्योंकि उस देहात्माभिमानी पुरुष के लिए उस प्रकार का सर्वकर्म त्याग असम्भव है वह अगले श्लोकों से दिखलाते हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अन्वय—हे महाबाहो ! कृतान्ते सांख्ये सर्वकर्मणाम् सिद्धये प्रोक्तानि इमानि पंचकर्माणि मे निबोध।

अनुवाद—हे महाबाहो ! मेरे कथन से तुम कृतान्त सांख्य में (कर्म का अन्त कर देनेवाला अर्थात् जो आत्मज्ञान से कर्मों की परिसमाप्ति होती है उस वेदान्त-शास्त्र में) प्रकृष्टरूप से (सम्यक् प्रकार से) कहे हुए इन पाँचों पदार्थों को समस्त कर्म की सिद्धि के लिए हेतु (कारण) समझो।

भाष्यदीपिका—**हे महाबाहो**—हे अर्जुन ! [दीर्घबाहु सत्पुरुष का लक्षण है। सत्पुरुष ही आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, यह कहने के उद्देश्य से श्रीभगवान् ने अर्जुन को 'महाबाहो' शब्द से सम्बोधित किया।] **कृतान्ते सांख्ये**—जिस शास्त्र में ज्ञातव्य (जानने योग्य) सत्पदार्थ संख्यात (सम्यक् प्रकार से ख्यात अर्थात् वर्णित) हुआ है उसका नाम सांख्य अर्थात् वेदान्त है। [ज्ञातव्य (जानने

योग्य) पदार्थ क्या है ? श्रुति में कहा है—'आत्मनि अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (बृह० उ०) अर्थात् आत्मा को जानने पर ही सब पदार्थों का स्वरूप विशेष रूप से जाना जाता है। जिस आत्मतत्त्व को जानने पर निरतिशय पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है एवं सकल प्रकार के अनर्थ की निवृत्ति होती है वही यथार्थ ज्ञातव्य है। अतः 'त्वम्' पदार्थ की लक्ष्यवस्तु प्रत्यगात्मा एवं 'तत्' पदार्थ की लक्ष्य वस्तु अखण्ड अद्वय शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म इन दोनों की एकत्वबुद्धि (जिसको सम्यग्दर्शन या आत्मज्ञान कहा जाता है वह) एवं उस एकत्वबुद्धि के अनुकूल श्रवण मननादि साधन जो शास्त्र में संख्यात (सम्यक् प्रकार वर्णित) हुआ है, उस वेदान्त शास्त्र को 'सांख्य' कहा जाता जाता है (आनन्दगिरि)।] 'कृतान्त' शब्द 'सांख्य' शब्द का ही विशेषण है। 'कृत' शब्द का अर्थ है कर्म। जहाँ सर्वकर्म का अन्त (समाप्ति) हो जाता है, वह कृतान्त है अर्थात् कर्म का अन्त है। [वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन निदिध्यासन से जिस तत्त्वज्ञान का उदय होता है उससे अज्ञान एवं अज्ञानजनित कर्मसमूह का अन्त या परिसमाप्ति होती है। 'यावानर्थ उदपाने' (गीता २।४६) 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता ४।३३) इत्यादि वचन भी आत्मज्ञान से समस्त कर्मों की निवृत्ति दिखलाता है। 'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि' इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् अब जो कह रहे हैं वह शास्त्रप्रमाण से शून्य नहीं है परन्तु वह पूर्णरूप से वेदान्तशास्त्र के द्वारा सम्मत है।] अतः उस आत्मज्ञानप्रद कृतान्त सांख्य में (वेदान्त-शास्त्र में) **सर्वकर्मणां सिद्धये**—समस्त कर्मों की सिद्धि (पूर्ति) के लिए **प्रोक्तानि**—कहे हुए **इमानि पंचकारणानि**—उन पाँच कारणों को [जो कर्मसमूह के निवर्तक अर्थात् जिनके बिना किसी कर्म का सम्पादन असम्भव है उन पाँच कारणों को] **मे**—मैं ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्त पुरुष हूँ, इसलिए मुझसे (मेरे वचन से) **निबोध**—भलीभाँति समझो अर्थात् समझने के लिए सावधान हो जाओ [इन कारणों को आत्मा से पृथक् करके जानना बहुत कठिन है, अतः असमाहितचित्त द्वारा इन्हें समझा नहीं जा सकता। जिससे अर्जुन चित्तको समाहित करके भगवान् का वचन सुने इसलिए कहा—'निबोध'।] अब शंका हो सकती है कि वेदान्तशास्त्र केवल आत्मवस्तु के ही सत्यत्व का प्रतिपादन करता है—उसमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब वस्तु का तो मिथ्यात्व निर्णय किया गया

है। अतः वेदान्तशास्त्र में लोकप्रसिद्ध, अनात्मभूत, अवस्तु (मिथ्या) पाँचों कारणों का भी प्रतिपादन क्यों किया ? उसके उत्तर में कहा जाता है कि ये सब कारण लोकप्रसिद्ध एवं अनात्मस्वरूप होने पर भी अध्यास से (अज्ञान से अपने में आरोप करके) इन सब कारणों में अज्ञजीव आत्मबुद्धि करते हैं। कर्म अनात्मा (देहादि) का धर्म है। शुद्ध आत्मा के स्वरूप के ज्ञान द्वारा अज्ञान बाधित होने पर अनात्म कर्मसमूह का उनके कारण के साथ अन्त (परिसमाप्ति) हो जाता है। अतः कर्म से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है—समस्त कर्म अनात्मस्वरूप (माया से कल्पित) हैं, अतः वे सब त्याज्य हैं—यह बोधन कराने के लिए वेदान्तशास्त्र में पाँच अनात्मभूत कारणों की (अधिष्ठान, कर्ता इत्यादि की) कल्पना करके वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि आत्मतत्त्वका स्पष्टरूप से प्रतिपादन करने के लिए आत्मा को अनात्मवस्तु से पृथक् करना आवश्यक है। इसलिए वेदान्तशास्त्र में केवल आत्मतत्त्व का निर्णय करना मुख्य उद्देश्य होने पर भी ज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण सर्व प्रकार से जो हेय (परित्याज्य) हैं उन अनात्मविषयों का (आत्मा से पृथक् करके कहे जाने वाले पाँच कारणों का) वर्णन करना युक्तियुक्त है क्योंकि इनके विशेष स्वरूपका ज्ञान न होने पर आत्मा के स्वरूपका ज्ञान स्पष्ट रूप से प्राप्त होना दुष्कर है। तथापि इस विषय पर किसी भी विचारवान् पुरुष का संशय नहीं हो सकता कि एकमात्र अद्वैत आत्मतत्त्व ही वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इस आत्मतत्त्व को जानने पर सभी कृत्यों (कर्मों) का ज्ञान में अन्त (परिसमाप्ति) हो जाता है। इसलिए वेदान्तशास्त्र को 'कृतान्तसांख्य' कहा गया है। (मधुसूदन सरस्वती की टीका का तात्पर्य भी ऐसा ही है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—कर्म करते हुए कर्मफल कैसे नहीं होता ? ऐसी शंका करके आसक्ति के त्यागियों में अहंकार का अभाव होने से उनका कर्मफल से लेप नहीं होता—इसका प्रतिपादन करने के लिए 'पञ्चैतानि' इत्यादि पाँच श्लोकों द्वारा कहते हैं—**पञ्च एतानि इत्यादि**—सब कर्मों की सिद्धि अर्थात् निष्पत्ति (सम्यक् पूर्ति) के लिए ये कहे जाने वाले पाँच कारण हैं उन्हें मेरे कथानानुसार तुम जानो। आत्मा के कर्तापन के अभिमान की निवृत्ति के लिए इनको अवश्य जानना चाहिए,

इस प्रकार से उनकी स्तुति के लिए कहते हैं—'सांख्ये' इत्यादि—जिसके द्वारा परमात्मा की सम्यक् ख्याति अर्थात् प्रकाश या ज्ञान होता है, वह सांख्य यानी तत्वज्ञान है उसमें। तथा जिसमें कृत (किए हुए) कर्म का अन्त (समाप्ति) हो जाय, वह कृतान्त अर्थात् वेदान्त सिद्धान्त है। उस वेदान्तसिद्धान्त में वे कारण कहे गये हैं अथवा जिसमें तत्त्वों की संख्या की गणना की जाय वह सांख्य है और जिसमें समस्त कर्मों के अन्त निर्णय किया गया हो वह कृतान्त है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सांख्य और कृतान्त इन दोनों शब्दों से सांख्य शास्त्र ही प्रतिपादित हुआ है। उस सांख्यशास्त्र में ही वे पाँचों कारण कहे गये हैं, अतः उनको तुम अच्छी तरह से मुझसे जान लो।

(२) **शंकरानन्द**—विद्वान् संन्यासी भी अकर्मी नहीं हो सकते क्योंकि शिष्य आदि को तत्त्व का उपदेश अथवा हित का उपदेश देने से पुण्यक्रिया हो सकती है, तथा आहार आदि में कहीं पर दुष्ट अन्न का भक्षण करने से अथवा गमन आदि में प्राणियों को पीड़ा हो जाने से अथवा अन्य कारणवश पापक्रिया हो जाने से तत्-तत् क्रिया का इष्ट-अनिष्ट-आदिरूप फल हो ही जायगा, ऐसा यदि कहो तो ठीक है, यद्यपि बड़े बड़े ब्रह्मवित् जीवन्मुक्त भी शिष्यों के लिए अथवा अन्य साधुओं के लिए ब्रह्म-तत्त्व का और हित का उपदेश करते हैं और उनके द्वारा कहीं पर आहार आदि में दुष्ट अन्न का सेवन और कहीं-भ्रम, प्रमाद आदि से प्राणियों को पीड़ा भी हो सकती है, तथापि निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा से प्राप्त हुए यथार्थ ज्ञान से निष्कल, निष्क्रिय, नित्यकूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप ही परमब्रह्म है और 'यही मैं हूँ' इस प्रकार से अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने वाले, सदा उसी स्वरूप से स्थित रहने वाले तथा अधिष्ठान, क्रिया, कर्ता, कारक आदि से भिन्न अकर्ता, अभोक्ता आकाश के समान अक्रिय परिपूर्ण आत्मा को ही सदा देखने वाले परमहंस परिव्राजकों का अपने से भिन्न अधिष्ठान आदि द्वारा की जा रही पुण्य, पाप आदि क्रियाओं के साथ तनिक भी सम्बन्ध न होने से इष्ट एवं अनिष्ट फल की कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसा बोधन करने के लिए पहले कर्म की उत्पत्ति में कारण कहते हैं—'पञ्चैतानि' इत्यादि दो श्लोकों से। **सांख्ये**—(जिससे सम्यक् प्रकार से आत्मा और अनात्मा के तत्त्व प्रकाश किया जाता है, वह सांख्य है, उसमें यानी वेदान्त शास्त्र में) **कृतान्ते**—('निष्कल, निष्क्रिय', 'उपशान्त

यह आत्मा', 'शिवशान्त', 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया', 'नव द्वारवाले पुर में देही (आत्मा) न करता हुआ, कराता हुआ' 'नित्य सर्वगत स्थाणु', 'प्रकृति से ही कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जा रहे हैं', 'स्वभाव ही प्रवृत्त होता है' इसप्रकार स्पष्टीकृत है आत्मा और अनात्मा का अन्त यानी तत्त्वनिश्चय जिसमें वह 'कृतान्त' है। अथवा जो किया जाता है वह कृत है, यानी विहित और प्रतिषिद्धरूप कर्म, उसका अन्त (समाप्ति) होता है जिससे अर्थात् 'उनके धर्म अधर्म नहीं,' 'धर्म को और अधर्म को त्याग दो' इत्यादि शास्त्र से वह कृतान्त है अथवा कृत (अनुष्ठित नित्य, नैमित्तिक आदि वैदिक कर्म का 'संन्यास करके श्रवण करे इस प्रकार जिसके श्रवण से) अन्त यानी समाप्ति होती है वह कृतान्त है, उसमें अर्थात् सम्पूर्ण कर्म की समाप्ति के कारण सांख्य में (वेदान्त में **सर्वकर्मणां सिद्धये**–सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए (जितने चलनात्मक कर्म हैं, उन सब कर्मों की निष्पत्ति के लिए अर्थात् क्रियामात्र की सिद्धि के लिए) **कारणानि प्रोक्तानि मे निबोध**—इन वक्ष्यमाण पाँच कारणों को, जो क्रिया की उत्पत्ति के प्रकार को जानने वाले ऋषियों के द्वारा कहे गये हैं, मैं कहूँगा, मेरे वचन से तुम सुनो। अधिष्ठान आदि के स्वरूपको, क्रिया की निष्पत्ति के प्रकारको, और आत्मा के अकर्तृत्व को, जिन्हें पंडित भी बड़ी कठिनाई से नहीं जान पाते और जिन्हें मैं कह रहा हूँ, उन्हें भली भाँति जानो। क्रिया की सिद्धि की कारण सामग्रीको जानकर 'कर्म उसीसे किये जाते हैं' इस प्रकार के निश्चय से आत्मा में कर्तृत्व के भ्रम को त्याग दो, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि तत्त्वज्ञाननिष्ठ होने के कारण जिनके कर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है; इस प्रकार के मुख्य संन्यासी को कर्मफल भोगने के लिए पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। किन्तु जो व्यक्ति ऐसी अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है उसको मरने के पश्चात् इष्ट, अनिष्ट एवं मिश्र योनि प्राप्त करके अवश्य ही अपने-अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल का भोग करना पड़ता है। इस प्रकार से अज्ञ व्यक्ति के लिए निःशेषतया सर्वकर्मों का त्याग करना असम्भव है। इसका कारण यह है कि कर्मों के जिन पाँच कारणों का वेदान्तशास्त्र में उल्लेख किया गया है तो अज्ञ व्यक्ति का उन कारणों में तादात्म्यभिमान (अर्थात्

एकत्वबुद्धि) करने के कारण उन पांचों कारणों से उत्पन्न हुए कर्म में 'मैं कर्ता हूँ और यह मेरा कर्म है,' इस प्रकार भाव रहता है एवं इसलिये ही समस्त कर्मों का पूर्णरूप से उसके लिए त्याग करना सम्भव नहीं होता है। जिन पांचों पदार्थों का वर्णन आगे दिया जा रहा है वे सभी कर्मों की निष्पत्ति (सम्पादन) के लिए नियत (नियम पूर्वक) पूर्ववर्ती रहने के कारण कर्मों के कारण कहे जाते हैं क्योंकि न्यायशास्त्र के अनुसार 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियतपूर्ववर्तिता कारणत्वम्' अर्थात् जिस पदार्थ के विद्यमान न रहने पर कर्मनिष्पन्न नहीं हो सकता एवं कर्मों का नियत पूर्ववर्ती है, उसे कारण कहा जाता है–जैसे मृत्पिण्ड न रहने पर घट का निर्माण नहीं हो सकता एवं मृत्पिण्ड घट का नियत पूर्ववर्ती है, इसलिए मृत्पिण्ड घट का कारण है। इसी प्रकार कहे जाने वाले अधिष्ठानादि पाँचों कारण भी सर्वकर्मों के कारण हैं। सर्वज्ञ भगवान् अर्जुन को इस विषय पर प्रमाण देने के लिए कह रहे हैं कि यह केवल मेरा ही वचन नहीं है परन्तु कर्मों के ये सब कारण कृतान्त सांख्य में अर्थात् सभी कृत (कर्म) जिस आत्मज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं उस तत्त्वज्ञान के प्रतिपादक सांख्य में (वेदान्त शास्त्र में) भी प्र + उक्त अर्थात् प्रकृष्ट रूप से (भली भाँति) उक्त (वर्णित) हुए हैं।

यहाँ 'सांख्य' शब्द से महर्षि कपिलप्रणीत प्रचलित सांख्य शास्त्र को (जिसमें कि गुणों की संख्या अर्थात् १ पुरुषतत्त्व एवं प्रकृति के २४ तत्त्वों का वर्णन किया गया है उसको) नहीं समझाया जा रहा है परन्तु 'कृतान्त' विशेषण द्वारा जिसमें केवल आत्मतत्व का ही सम् (सम्यक् प्रकार) ख्यात (प्रकाश) हुआ है एवं जो 'कृतान्त' है अर्थात् जिसमें प्रतिपादित आत्मतत्त्व को जानने पर आत्मा के अतिरिक्त मिथ्याभूत और सभी कारण या कार्य का अन्त (शेष) हो जाता है, उस वेदान्त शास्त्र को ही सूचित किया गया है।

अब प्रश्न होगा कि यदि वेदान्त शास्त्र कृतान्त है अर्थात् वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व को जानने पर सभी कर्म के मायिकत्व तथा मिथ्यात्त्व का निश्चय होने के कारण परिसमाप्ति (अन्त) हो जाती है तो वेदान्त में कर्मों के इन सब पाँचों कारणों का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि यद्यपि कृतान्त

सांख्य (वेदान्त) में आत्मा को ही एकमात्र सत्यवस्तु रूप से निर्णय किया एवं उसके अतिरिक्त दूसरी सभी वस्तुओं का रज्जु सर्पवत् या मरीचिका के जलवत् मिथ्यारूप से निश्चय किया गया है तथापि आत्मज्ञान का प्रधान प्रतिबन्धक है मिथ्याज्ञान (अर्थात् अनात्म जागतिक वस्तु में सत्यत्व बुद्धि) अतः मिथ्याज्ञान का निराकरण कर सर्वाधिष्ठान नित्य सत्य बुद्धमुक्त आत्मा का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने के लिए उससे विपरीत अनित्य गतिशील एवं विकारशील जगत् तथा उसके मूलभूत कर्मों के रहस्य का वर्णन करना आवश्यक है जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प का सत्यत्व ज्ञान जब तक रहता है तब तक उसका अधिष्ठानभूत रज्जु का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार अज्ञान से कल्पित जागतिक विषय में सत्यत्व बुद्धि रहने पर आत्मारूप अधिष्ठान का साक्षात्कार करना असम्भव है। जगत् या संसार कर्म की ही मूर्ति है एवं कल्पित जगत् में कल्पित कर्मों के अधिष्ठान (शरीर) आदि जो कारण कहे जायँगे वे भी कल्पित ही हैं। जीव अज्ञान वश अपने द्रष्टास्वरूप को भूल कर इन सब कल्पित दृश्य वस्तुओं में आत्मबुद्धि करके ही संसार चक्र में भटकता है अर्थात् द्रष्टा की दृश्य के साथ एकात्मता ही अज्ञान का प्रधान कार्य है एवं यही सर्व अनर्थ का मूल है। इस अनर्थ से मुक्ति प्राप्त करने के लिए एक ही मुख्य उपाय है—वह आत्मानात्मविवेक अर्थात् नित्य सत्य-शुद्धचैतन्य-स्वरूप द्रष्टा आत्मा को कल्पित (मिथ्या) दृश्य वस्तु से पृथक् करना। अतः कर्मों के जो पंच कारण के साथ तादात्म्याभिमान करके जीव कर्म एवं कर्मफल में लिप्त हो जाते हैं एवं उसके फलस्वरूप इष्ट, अनिष्ट, मिश्र फल भोगते हैं। उन कारणों से विद्वान् अपने को पृथक् कर अपने यथार्थ स्वरूप में (सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप में) निरन्तर स्थिति लाभ कर सर्वप्रकार के कर्म फल भोग से तथा संसार चक्र से मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। कर्म ही संसार का मूल है इसलिए ही उनके पंच कारणों की भी अधिष्ठानसत्ता जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसमें स्थिति लाभ करने के लिए उन कारणों का स्वरूप जानना आवश्यक है। शत्रु की सामर्थ्य पूर्णतया जानने पर ही उस पर विजय प्राप्त करने का उपाय यथार्थ रूप से निश्चित हो सकता है। इस उद्देश्य से ही भगवान् इस विषय पर विस्तृत रूप से कह रहे हैं एवं वेदान्तशास्त्र में भी इस अभिप्राय से ही इनका (कर्मों के कारणों का) विवरण दिया गया है। इन सब

कारणों के तत्त्व का अवधारण करना कर्माधिकारी पुरुष के लिए कठिन है। इसलिए भगवान् अर्जुन को सावधान करने के लिए कहते हैं–'निबोध मे' अर्थात् समाहितचित्त होकर यह ज्ञान लो। श्लोक में 'महाबाहो' सम्बोधन से अर्जुन को शक्तिशाली सत्पुरुष कहा गया है क्योंकि जिसमें मनोबल अधिक है एवं जो सद्गुण (दैवी सम्पत्) से सम्पन्न है वही तत्त्व को समझ सकता है—अन्य नहीं।

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि आत्मा के अकर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए अज्ञानजनित कर्म तथा कर्मों के पाँच कारण हेयरूप से जानने के योग्य हैं अर्थात् उनको इसप्रकार से भली भाँति जानना आवश्यक है जिससे कि मुमुक्षु उनका त्याग कर सके। वे पाँच कारण कौन से हैं सो बतलाते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

अन्वय—अधिष्ठानम् तथा कर्ता, पृथग्विधम् करणम् च, विविधः पृथक् चेष्टाः च, अत्र पंचमम् दैवम् एव च।

अनुवाद—अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (अहंकार), अलग-अलग प्रकार के करण (विषय ग्रहण के) साधन दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि), और अलग-अलग प्रकार की अनेकों चेष्टाएँ (प्राण, अपान आदि अलग-अलग वायुसंबन्धी क्रियाएँ), कर्मों के तो ये चार कारण हैं और पाँचवा कारण है दैव (अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देवता)

भाष्यदीपिका—अधिष्ठानम्—इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख ज्ञानादि की अभिव्यक्ति का आश्रय (अधिष्ठान) शरीर (देह) [यह अधिष्ठान (देह) अनात्मा है, भौतिक है एवं मायाकल्पित स्वप्न के गृह एवं रथादि के समान मिथ्या (मधुसूदन)] **तथा कर्ता**—उसी प्रकार उपाधिस्वरूप भोक्त जीव ('मैं कर्ता हूँ' ऐसे अभिमान वाले ज्ञानशक्ति प्रधान अपंचीकृत पंचभूत का कार्य अहंकार है। अहंकार अंतःकरण, बुद्धि और विज्ञानादि शब्दों का पर्यायवाची शब्द है तथा तादात्म्याध्यास के कारण आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म के आरोप का कारण है। वह कर्ता भी अनात्मा भौतिक

और मायाकल्पित ही है—यही 'तथा' शब्द का अर्थ है। (मधुसूदन)। तात्पर्य यह है कि देह एवं देह के धर्म में तादात्म्याभिमान करने वाला जो चिदाभास (चैतन्ययुक्त) अन्तःकरण है, वही कर्ता है आत्मा, अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि इत्यादि से उपाधियुक्त होकर उनमें तादात्म्याभिमान करके उनके धर्म, कर्तृत्वादि का अपने में आरोप करके जीव बन जाता है। यद्यपि स्वरूपतः वह सदा ब्रह्म ही है तथापि अज्ञान का आश्रय करके 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि मानकर संसार-नाटक का अभिनय करता है। अतः शरीरादि के समान यह कर्ता भी अनात्मा एवं अज्ञान-जनित (माया-कल्पित) है—यही 'तथा' शब्द का तात्पर्य है।] **पृथग्विधम् करणम् च**—भिन्न-भिन्न प्रकार के करण (शब्दादि विषय को ग्रहण करने वाले पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय एवं, मन, बुद्धि ये अलग-अलग बारहों प्रकार के करण [इनमें मन और बुद्धि वृत्ति-विशेष हैं, इन वृत्तियों वाला अहंकार तो कर्ता ही है एवं चिदाभास तो सर्वत्र ही समानरूप से रहता है (मधुसूदन) 'च' शब्द 'तथा' शब्द के अनुकर्ष (पुनःग्रहण) के लिए है अर्थात् ये सब बारह प्रकार के करण भी अनात्मा एवं मायाकल्पित हैं यह सूचित करने के लिए 'च' का प्रयोग किया गया है।] **विविधाः पृथक् चेष्टाः च**—विविध (नाना प्रकार की) पृथक् (बिना मिली हुई) चेष्टाएँ (श्वास प्रश्वास आदि अलग-अलग वायु सम्बन्धी क्रियाएँ [प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक प्राणों की क्रियाएँ। सुषुप्ति में अन्तः-करणरूप कर्ता का लय हो जाने पर भी प्राण का व्यापार देखा जाता है तथा अन्तः-करण से उसको बताया भी जाता है इसलिए कोई-कोई कहते हैं कि प्राण अन्तःकरण से अत्यन्त भिन्न ही है। किन्तु विद्वानों का तो मत है कि जीवत्व का उपाधिभूत तथा क्रियाशक्ति की—और ज्ञानशक्ति वाला एक ही अपंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य क्रियाशक्ति की प्रधानता से प्राण और ज्ञान शक्ति की प्रधानता से अन्तःकरण कहा जाता है। 'स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत्' अर्थात् उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित हो जाऊँगा, ऐसा सोचकर उसने प्राण को रचा' इत्यादि श्रुति में प्राण को उत्क्रान्ति इत्यादि की उपाधिता

बताया है। 'तथा सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम्' अर्थात् जीव बुद्धि सहित स्वप्न रूप होकर इस स्थूल शरीर से परे चला जाता है, उस समय वह मृत्यु के रूपों को ध्यान करता-सा और चेष्टा करता-सा जान पड़ता है इत्यादि श्रुति में बुद्धि को उत्क्रान्ति आदि की उपधिता कही है। यदि इस उपाधि भेद को स्वतंत्र माना जाय तो जीवों का भेद होने का प्रसंग होगा। अतः बुद्धि और प्राण की एकता होने पर ही उनकी उत्क्रान्ति आदि की उपाधि होना उचित होगा। इनके भेद का कथन तो शक्ति भेद के कारण होता है तथा सुषुप्ति में ज्ञान शक्ति रूप भाग का लय हो जाने पर भी क्रियाशक्ति भाग का दिखाई देना उपाधि की एकता होने पर भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि यह अनुभव से सिद्ध है तथा दृष्टिसृष्टि के लय से सबका लय हो जाने पर भी प्राण व्यापार के समान शरीर के विषय में दूसरो के द्वारा ऐसी कल्पना भी की जाती है कि 'यह सोया हुआ है' इसलिए प्राण और बुद्धि इनका भेद और अभेद दोनों ही प्रकार से उल्लेख होना सम्भव है (मधुसूदन)] अत्र च **पंचमम् दैवम् एव**—यहाँ अर्थात् पूर्वोक्त चारों के साथ पंचम को (पाँच की संख्या को) पूर्ण करने वाला कारण दैव है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देवता हैं। पूर्वश्लोक में सभी कर्मों की सिद्धि के पाँच कारण है, यह बताया गया है। इस श्लोक के चारों कारणों का उल्लेख करके दैवरूप कारण के उल्लेख द्वारा वक्तव्य पाँचों की संख्या को पूर्ण किया गया है। (१) यहाँ 'च' शब्द 'तथा' शब्द का अनुकर्षण (पुनः ग्रहण) करने के लिए है। (२) यहाँ कारण वर्ग में 'पंचमम्' शब्द पाँच शब्द की पूर्ति करने वाला है (३) 'एव' शब्द 'तथा' शब्द के साथ सम्बन्ध युक्त है एवं अवधारणार्थे (अर्थात् निश्चयार्थे) इसका प्रयोग किया गया है अर्थात् इन पाँचों कारणों के अनात्मत्व भौतिकत्त्व एवं कल्पितत्त्व का निश्चय करने के लिए है अर्थात् आत्मा उन पाँचो कारणों से निश्चय-रूप से विलक्षण (पृथक्) है, ऐसा सूचित करना ही 'तथा', 'च, एव' इन तीनों शब्दों का अभिप्राय है। (४) 'दैव' शब्द जीवकी देह के तथा अन्तरेन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय आदि के सभी अनुग्राहक (अधिष्ठित देवता) को सूचित कर रहा है। ये सब विभिन्न अंगों के अनुग्राहक देवता इस प्रकार के हैं—

ज्ञानेन्द्रिय—	कर्ण के देवता	दिक् (दिशा)
,,	त्वचा के ,,	वात (वायु)
,,	चक्षु के ,,	अर्क (सूर्य)
,,	रसना के ,,	प्रचेताः (वरुण)
,,	नासिका के ,,	अश्विनौ कुमार द्वय
कर्मेन्द्रिय—	वाणी के देवता	अग्नि (वह्नी)
,,	पानी के ,, हस्तके	इन्द्र
,,	पाद के ,,	उपेन्द्र (विष्णु)
,,	पायु (मलद्वार) के देवता	मित्र (यम)
,,	उपस्थ (जननेन्द्रिय) के ,,	प्रजापति
,,	शरीर के देवता	पृथ्वी
ज्ञानशक्ति—	मन के ,,	चन्द्र
,,	बुद्धि के ,,	बृहस्पति
क्रियाशक्ति—	प्राण के ,,	सद्योजात
,,	अपान के ,,	वामदेव
,,	समान के ,,	अघोर
,,	उदान के ,,	तत्पुरुष
,,	व्यान के ,,	ईशान

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अधिष्ठानम् इत्यादि से (१) अधिष्ठान (शरीर) (२) कर्ता (जड़चेतन की ग्रन्थिरूप अहंकार) (३) पृथग्विध यानी अनेक प्रकार के चक्षु, श्रोत्र आदि करण तथा (४) कार्य से और स्वरूप से भी अलग-अलग नाना प्रकार की चेष्टाएँ (प्राणापान आदि के विभिन्न व्यापार) और (५) इन्हीं में पाँचवा हेतु दैव (अर्थात् चक्षु आदि का अनुग्राहक सूर्यादि देवता या सबका प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा) है।

(२) शंकरानन्द—अधिष्ठानम्—अधिष्ठान सुख, दुःख के भोग का आयतन अथवा कारणों का आश्रय शरीर **तथा**—'तथा' शब्द 'च' के अर्थ में है

कर्ता—मैं कर्ता और भोक्ता हूँ, ऐसा सर्वत्र 'मैं' माननेवाला साभास अहंकाररूप विज्ञानात्मा **पृथग्विधम् करणम्**—पृथकविध (बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार से विभक्त) करण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये बारह प्रकार के करण **पृथक् विविधाः चेष्टाः**–पृथक् (दश प्रकार से विभक्त) ऊर्ध्व आदि गतिभेद से विविध अर्थात् नाना प्रकार की चेष्टा यानी वायुकी चेष्टाविशेष प्राण आदि और नाग आदि दस। **अत्र**—इन क्रिया की निष्पत्ति के कारणरूप से कहे गये अधिष्ठान आदि चारों में। 'च'कार का अर्थ 'तु' है। 'एव' शब्द अतिरिक्त के व्यवच्छेद के लिए है। **दैवम् पंचमम्**—पाँचवां तो दैव ही अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों के प्रवर्तक, दिशा, वायु, सूर्य आदि हैं। सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि में कारण दैव ही है–अन्य नहीं, यह अर्थ है। यद्यपि 'पञ्चैतानि' इस पंचत्वसंख्या से ही दूसरे कारण का अभाव सिद्ध होता है तथापि पुनः पठित 'एवकार' 'मेरे द्वारा यह किया जाता है' इस प्रकार दुष्ट कर्म में और अदुष्ट कर्म में भी पुरुष के कर्तृत्वभ्रम को दूर करने के लिए है। अदृष्ट, ईश्वर आदि भी क्रिया की सिद्धि में कारण हो सकते हैं फिर 'पञ्चैतानि' ये पाँच संख्या और उनका अवधारण से अधिक का व्यवच्छेद (पृथक् करण) नहीं हो सकता ? ऐसा यदि कहो, तो यह कहना ठीक है कि 'बलाद्दैवं नीयते', 'एष एव साधु कर्म कारयति' अर्थात् 'बलपूर्वक दैव ले जाता है', 'यही साधु कर्म कराता है', इत्यादि श्रुति से अदृष्ट और ईश्वर आदि मे कारणत्व है ही, तथापि 'जो दिशाओं में स्थित होकर दिशाओं के भीतर' इत्यादि श्रुति से ईश्वर दिशा आदि का अन्तर्यामी है ऐसा जानने में आता है। अतः उनके भीतर स्थित होने के कारण उन दिशा आदि के अधिदेवताओं में ही उनका अन्तर्भाव है, कर्ता के आश्रित होने के कारण अदृष्ट का कर्ता में अन्तर्भाव है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है। अतः अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मों की निष्पत्ति के कारण हैं, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—श्रीभगवान् अब कर्मों के पाचों कारणों को बताते हैं। ये पाचों कारण एकसाथ मिलकर ही सब कर्मों का सम्पादन करते हैं–एक का अभाव होने पर भी कोई कर्म निष्पन्न नहीं हो सकता है। ये पाचों कारण इस प्रकार के हैं—

(१) अधिष्ठान—इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख-ज्ञानादि की अभिव्यक्ति के आश्रय को शरीर या अधिष्ठान कहा जाता है। समष्टिरूप से इस अधिष्ठान को प्रकृति कहा जाता है और व्यष्टिरूप से यह पंचभौतिक देह ही कर्म का अधिष्ठान (आश्रय) है। आत्मा स्वयं निष्क्रिय है किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से समष्टि प्रकृति में या व्यष्टि देह में कर्मों की अभिव्यक्ति (प्रकाश) दिखाई नहीं पड़ती है। अतः शरीर ही भगवान् की मायाशक्ति या प्रकृति को अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में ले आने के योग्य यंत्र है अर्थात् शरीर यंत्ररूप अधिष्ठान के न रहने पर शक्ति के प्रकाशरूप कर्म सम्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसलिए गीता में भी कहा है 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (गीता ३।२७) अर्थात् सर्व प्रकार के कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा ही अनुष्ठित होते हैं।

(२) कर्ता—प्रकृति तथा देह जड़ है। चेतन का संयोग न होनेपर जड़ पदार्थ कर्म नहीं कर सकता अतः प्रकृति या देह के कर्म में जो अभिमान करता है कि 'मैं कर्म कर रहा हूँ' वही कर्ता है। वही प्रकृति तथा पुरुष का संयोगरूप अहंकार या अहंकर्ता—अर्थात् अभिमानी जीव—है। वस्तुतः शरीर जिस प्रकार अनात्मा, भौतिक तथा अज्ञान से कल्पित है उसी प्रकार जो शरीरादि में अभिमान करता है वह भी अनात्मा तथा कल्पित ही होगा क्योंकि अहंकार से विमूढ़ होकर ही कर्ता बन जाता है (गीता ३।२७)।

(३) करणसमूह—करण (इन्द्रियों) के बिना केवल अधिष्ठान (शरीर) एवं कर्ता रहने पर भी कर्म हो नहीं सकता अर्थात् जैसे यंत्र के किसी अंग प्रत्यंग का अभाव होने पर कर्म नहीं हो सकता उसी प्रकार पृथग्विध (नाना प्रकार) करण [अर्थात् पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, बुद्धि ये द्वादश इन्द्रिय] न रहने पर केवल देह एवं अहंकार (कर्तृत्व-अभिमान) से क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। आत्मा सर्वव्यापी है किन्तु अपने स्वभावस्वरूप माया या अज्ञान का आश्रयकर देहादि में आत्माभिमान कर नाम और रूप से खण्डित-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार देहादि में अभिमानी खण्डित (परिच्छिन्न) आत्मा (जीवात्मा) देह में अवस्थानकर उक्त द्वादश करणों (इन्द्रियों) की सहायता से कर्म में प्रवृत्त होता है। जैसे दर्शन एक कर्म है। इस कर्म का सम्पादन करने के लिए (क) चक्षुरादि अंग प्रत्यंगविशिष्ट देह

(अधिष्ठान) की आवश्यकता है-(चक्षु इस देह का अंग है) (ख) देह में अभिमानी जीव चैतन्य की भी आवश्यकता है क्योंकि जड़देह चिदाभासयुक्त अन्तःकरण (अहंकार) के बिना कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। (ग) चक्षु के अन्दर दर्शन करने की योग्यता अर्थात् शक्ति की भी आवश्यकता है। ये सब तथा आगे कहे जानेवाले दो कारण यदि विद्यमान रहें तो दर्शनरूप कर्म हो सकता है-अन्यथा नहीं।

(४) विविध (नाना प्रकार) पृथक् (अलग-अलग) **प्राण की चेष्टाएँ**—जैसे यंत्र (शरीर) है, चालक (अहंकार) है, यंत्र का अंग (चक्षु) ठीक है तथापि जैसे यंत्र वायु के बिना नहीं चल सकता उसी प्रकार चक्षु आदि सबकुछ वर्तमान (विद्यमान) रहने पर भी यदि विविध (नाना प्रकार के) प्राणादि की पृथक्-पृथक् चेष्टा न रहे तो कोई कर्म हो नहीं सकता। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि जब कोई साधक प्राणवायु को रोककर समाधिमग्न हो जाता है तब देह तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के विद्यमान रहते हुए भी उनसे दर्शनादि कर्म नहीं होता है।

(५) **दैव**—अर्थात् इन्द्रियादि के अनुग्राहक देवता। इन सब देवता की कृपा (अनुग्रह) बिना शरीर, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, ज्ञानशक्तिरूप मन तथा बुद्धि एवं क्रियाशक्तिरूप प्राणादि के कर्म सम्भव नहीं होते हैं। जैसे शरीर (अधिष्ठान) अहं अभिमानीजीव (कर्ता), चक्षुरूप इन्द्रिय (करण), प्राण अपान आदि वायुकी चेष्टा, ये सब विद्यमान रहते हुए भी यदि चक्षु के देवता सूर्य का अभाव हो तो दर्शनरूप कर्म हो नहीं सकता। इसलिए इन्द्रियादि के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न देवता भी कर्म के कारण होते हैं। [कौन-कौन देवता किसका अधिष्ठाता है वह भाष्यदीपिका में स्पष्ट किया गया है।]

इन पांचों कारणों में से 'अहं कर्ता' यह अभिमान ही प्रधान कारण है क्योंकि इस प्रकार का अभिमान न रहने पर तथा देह, इन्द्रियाँ, प्राणादि जड़मात्र होने के निमित्त कर्म करने में असमर्थ होते हैं। अहं अभिमान के द्वारा ही शरीरादि जड़ पदार्थ चेतन का आभास प्राप्त होकर कर्म करने की योग्यता प्राप्त होते हैं।

पूर्व श्लोक में पाँचों कारणों का स्वरूप बताकर अब वे किस प्रकार से कर्मों की सिद्धि का हेतु होते हैं उसे वर्णन करते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अन्वय—नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यं वा विपरीतम् वा यत्कर्म प्रारभते तस्य एते पञ्च हेतवः ।

अनुवाद—शरीर, वाणी और मनके द्वारा मनुष्य न्याय्य (शास्त्रीय) या अन्याय्य (अशास्त्रीय) जिस कर्म का प्रारम्भ करता है उसके ये पाँच कारण होते हैं ।

भाष्यदीपिका—**नरः**—मनुष्य ['नरः' शब्द से मनुष्य ही शास्त्रीयविधि निषेध के अनुसार कर्म करने में अधिकारी है, यह सूचित किया गया है ।] **शरीर वाङ्मनोभिः**–शरीर से, मनसे तथा वाणी से अर्थात् इन तीनों के द्वारा **न्याय्यम् वा विपरीतं वा यत्कर्म प्रारभते**—न्याय्य (शास्त्रीय या धर्मसंमत) अथवा उसके विपरीत अन्याय्य अर्थात् अशास्त्रीय या धर्मविरुद्ध जो कुछ कर्म करता है **तस्य एते पञ्च हेतवः**—उन सबके ये उपर्युक्त पाँच हेतु (कारण) हैं]

(१) अब प्रश्न होगा कि जीवन के लिए जो कुछ आँख खोलने, मूंदने आदि की भी अनिवार्य चेष्टाएँ की जाती हैं वे तो साधारण कर्म हैं, उनको न्याय्य या अन्याय्य की श्रेणी में किस प्रकार से विभक्त किया जा सकता है ?

उत्तर—वे भी पूर्व जन्म में किए हुए धर्म (पुण्य) तथा अधर्म (पाप) का ही परिणाम हैं । अतः न्याय्य और उसके विपरीत अन्याय्य ग्रहण से ऐसी समस्त चेष्टाओं का भी ग्रहण हो जाता है ।

(२) **प्रश्न**—जबकि समस्त कर्मों के पूर्वोक्त अधिष्ठान आदि ही पाँच कारण हैं तब यह कैसे कहा जाता है कि मन, वाणी और शरीर से मनुष्य कर्म करता है अर्थात् शरीर, वाणी और मनको फिर कर्म का हेतु (कारण) क्यों कहा गया है ?

उत्तर—ऐसा कहना दोष नहीं है । विहित और निषिद्धरूप समस्त इन्द्रियादि-रूप करण के (श्रवण दर्शनादि) कर्म, शरीर और मन इन्हीं तीनों की प्रधानता से सम्पन्न होते हैं । श्रवण, दर्शन इत्यादि कर्म एवं जीवन की रक्षा के उपयोगी प्राणादि की

पृथक्-पृथक् चेष्टायें भी उन्हीं शरीर, वाणी और मन से निष्पन्न होनेवाले कर्मों की अंगभूत हैं अर्थात् वे सब भी शरीर, वाणी तथा मनके अंग या कार्य हैं। इसलिये समस्त कर्मों को शरीर, वाणी तथा मन इनतीनों में अन्तर्भुक्त कर (तीनों भागों में बाँटकर) ऐसा कहते हैं कि 'जो कुछ भी शरीरादि द्वारा कर्म करता हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त पाँचों कारणों को शरीर, वाणी तथा मन इन तीन भागों में राशीकृत करके उन शरीरादि तीनों को भी **मुख्य कारण**—बताया है क्योंकि कर्मों के फलभोग के समय भी शरीरादि प्रधान कारणों के द्वारा ही फल भोगे जाते हैं। अतः पहले अधिष्ठानादि पाँच कर्मों के कारण बताकर अब जो शरीर, वाणी तथा मन इन तीनों को सभी कर्मों के आरम्भ का कारण कहा गया है, इसमें कोई विरोध नहीं है (क्योंकि पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पाँच कारण अब कहे गये शरीरादि तीन कारणों में अन्तर्भुक्त हैं।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—शरीर……नरः—पूर्वोक्त पाँच हेतुओं द्वारा प्रारम्भ किये हुए कर्मों का तीनों में ही अन्तर्भाव मानकर कहा गया है कि शरीर, वाणी और मन इन तीनों द्वारा किए हुए हैं, क्योंकि शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऐसे तीन प्रकार के कर्म प्रसिद्ध हैं। **न्याय्यम्………हेतवः**—शरीरादि के द्वारा जो धर्मयुक्त अथवा अधर्मयुक्त कर्म मनुष्य करता है उन सबके सब कर्म समुदाय के ऊपर कहे हुए ये पाँच कारण हैं।

(२) शंकरानन्द—उक्त अर्थ का ही विशेषरूप से स्पष्टीकरण करते हैं—**नरः**—बाह्यदृष्टि से कर्म का कर्ता पुरुष, **शरीरवाङ्मनोभिः**-शरीर पद से वागेन्द्रिय से भिन्न इन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है। शरीर से यानी इन्द्रियों से, वाणी से और मन से **न्याय्यं वा विपरीतम्**—शास्त्रीय या विपरीत (प्रतिषिद्ध) जिन कर्मों को बुद्धिपूर्वक करता है अर्थात् तीन करणों से होनेवाले विहित, निषिद्ध या अन्य प्रकार के उन सभी कर्मों के **एते पंच तस्य हेतवः**—ये अधिष्ठान आदि पांच हेतु (कारण) हैं। यदि कहो कि जब सब कर्म तीन करणों से उत्पन्न होते हैं, तब अधिष्ठान आदि में कारणत्व का कहना व्यर्थ ही है। तो यह कहना यद्यपि ठीक ही है कि विहित और प्रतिषिद्ध जो भी पुरुष द्वारा किया जाता है, वह सब तीन कारणों से ही सिद्ध होता है

तथापि 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' अर्थात् जिसको मन से ध्यान करता है, उसको वाणी से बोलता है, उसे कर्म से यानी इन्द्रियों से करता है,. इस न्याय से बुद्धिपूर्वक कर्म ही तीन करणों से उत्पन्न होते हैं-अबुद्धिपूर्वक छींक, जँभाई आदि नहीं। उनमें भी उच्छ्वास, निःश्वास, उन्मेष आदि स्वाभाविक क्रियायें होने से, तीन कारणों से साध्य नहीं हो सकते और केवल एकमात्र कर्ता से होनेवाली फलानुभूति-रूप क्रिया भी उनसे साध्य नहीं हो सकती। इसलिये तीन करण चेष्टामात्र के प्रति कारण नहीं हो सकते। अतः कहा जाता है–'शरीर' वाणी और मन से नर जिस कर्म को करता है, उसके भी ये पांच हेतु हैं। इससे शरीर आदि का पृथक् करण न होने से उनके द्वारा किये गये कर्म के भी ये ही कारण हैं, ऐसा सूचित होता है। इसलिए पुरुष के अदृष्ट के अनुसार सम्पूर्ण कर्मनिष्पादकत्व, पुण्य-अपुण्यरूप कर्म के फल, फल का अनुभावकत्व और अनुभवितृत्व अधिष्ठान आदि पांच कारणों का ही है, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकोक्त कारण के अधीन होकर यदि मनुष्य को शारीरिक, वाचिक या मानसिक सभी कर्मों को करना पड़ता है तो कर्म-त्याग करने का अधिकार न रहने के कारण मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में पहले कहा जा चुका है कि पूर्ववर्ती श्लोक में वर्णित पाँचों कारण आत्मा से पृथक्, भौतिक तथा स्वप्न में देखे हुए गृह, रथ आदि के समान माया या अज्ञान से कल्पित हैं। सभी कर्म प्रकृति के द्वारा ही अनुष्ठित होते हैं (गीता ३।२७)। आत्मा निष्क्रिय है अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा पूर्ण होने के कारण उसकी कर्म से कोई आवश्यकता नहीं है अतः उसमें कर्तृत्व भी नहीं है। सभी कर्म प्रकृति के कार्य हैं। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि की चेष्टायें तथा आदित्य आदि एवं उनके अनुग्रह (कर्मों के ये पांचों कारण)—ये सभी प्रकृति के ही कार्य हैं। इनमें से 'मैं कर्ता हूँ' इसप्रकार का अभिमान ही प्रधान है। जीव देहादि में तादात्म्याभिमान करके उनके कार्य तथा धर्म में (सुख दुःखादि में) लिप्त होता है। अतः जबतक इस प्रकार प्रकृति से उत्पन्न हुए देहादि में आत्मबुद्धि रहती है तबतक देह, वाणी या मनसे जो कुछ कर्म (विहित अर्थात् शुभ तथा निषिद्ध अर्थात् अशुभ कर्म) जीव करता है, वह उसे उक्त पांचों कारणों के

अधीन होकर ही करना पड़ता है। वस्तुतः सभी कर्म शरीर, वाणी एवं मनसे ही होता है किन्तु इनमें उक्त पांच कारण अन्तर्भुक्त होने के कारण उनको कर्मों का कारण कहा जाता है। ये पांचों कारण एकत्र होकर जीव से कर्म कराते हैं एवं जीवको कर्म फल में आबद्धकर निरन्तर दुःख में डाल देते हैं। किन्तु जीव जब गुरु एवं शास्त्र कृपा से यह जान जाता है कि मैं देहादि से सम्पूर्ण विलक्षण शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ—कर्तृत्व, भोक्तृत्व तो प्रकृति से उत्पन्न हुए देहादि का है, मेरा नहीं, इस प्रकार बुद्धि से अपने को प्रकृति से पृथक्कर स्वरूप में स्थित हो जाता है तो प्रकृति के धर्म या कार्य उसको स्पर्श नहीं कर सकते हैं। इसको ही मोक्ष कहा जाता है।

उक्त पांच कारणों से आत्मा विलक्षण (पृथक्) है। सर्व कर्मों का कारण वे अधिष्ठानादि पाँच हैं, जिनका निरूपण पूर्ववर्ती श्लोकों में किया गया है। अतः आत्मा का कोई कर्तृत्व न रहने पर भी जो अपने को कर्ता मानता है उसकी बुद्धि अशुद्ध होने के कारण यथार्थ तत्त्व को नहीं जान सकता यही अब भगवान् कहते हैं—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

अन्वय—तत्र एवं सति केवलम् आत्मानम् यः तु कर्तारम् पश्यति सः अकृतबुद्धित्वात् दुर्मतिः न पश्यति।

अनुवाद—कर्मों के व्यापार में इस प्रकार अधिष्ठानादि पाँच ही कारण होनेपर भी जो केवल अर्थात् निरुपाधिक असङ्ग अद्वितीय आत्मा को कर्ता समझता है वह दुर्मति है अर्थात् उसमें विवेकबुद्धि नहीं उत्पन्न हुई है। अतः उसकी बुद्धि अकृत अर्थात् असंस्कृत होने के कारण (शास्त्र या गुरु के उपदेश से शुद्ध न होने के कारण) वह यथार्थ तत्त्व को ठीक ठीक नहीं देखता है (नहीं समझता है)।

भाष्यदीपिका—**तत्र**—(पूर्वकथित समस्त कर्मों के सम्बन्ध में) ['तत्र' शब्द का प्रतीत (प्रस्तावित) कर्मों से सम्बन्ध है] **एवं सति**—इस प्रकार होनेपर अर्थात् पहले कहे हुए पाँच कारणों द्वारा ही समस्त कर्म सिद्ध होते हैं, ऐसा होने से **केवलम् आत्मानं कर्तारम्**—समस्त जड़प्रपंच के प्रकाशक सत्त्वात्स्फूर्तिरूप, स्वयं-

प्रकाश, परमानंद, केवल (अर्थात् असङ्ग, उदासीन, तथा अकर्ता, अविकारी एवं अद्वितीय) आत्मा को ही कर्ता मानता है अर्थात् जो वास्तव में जल में सूर्य के समान अविद्यावश शरीरादि अधिष्ठानादि में प्रतिबिम्बित होकर अधिष्ठानादि पाँचों कारणों के साथ एकत्व मानकर उन अधिष्ठान आदि के द्वारा किए हुए कर्मों को 'मैं ही करता हूँ' इस प्रकार केवल शुद्ध आत्मा को उन कर्मों का कर्ता समझता है। सः न पश्यति— वह वास्तव में कुछ भी नहीं देखता (समझता) है [जल के हिलने से उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य हिलता है ऐसी कल्पना के समान अधिष्ठान आदि के कर्मों को 'करनेवाला मैं ही हूँ', इस प्रकार स्वयं साक्षी होनेपर भी अधिष्ठान आदि के साथ तादात्म्याभिमानकर (अधिष्ठानादि अर्थात् देहादि में अविद्यावश आत्मबुद्धि करके) रस्सी में सर्प को देखने के समान अपने को कर्ता अर्थात् क्रिया का आश्रय जो देखता है अर्थात् कल्पना करता है, वह इस प्रकार देखता हुआ भी वास्तव में नहीं देखता क्योंकि अध्यास (अधिष्ठानादि में आत्माभिमानरूप भ्रान्तिज्ञान) आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से ही किया हुआ होता है। अतः वह भ्रान्तिवश विपरीत ही देखता है—यथार्थ आत्मतत्त्व या कर्म-तत्त्व नहीं जानता है। प्रश्न होगा कि इसमें कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—**अकृतबुद्धित्वात्**—अकृतबुद्धि के कारण अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश तथा युक्ति से विवेकबुद्धि उत्पन्न न होने के कारण [जो केवल अधिष्ठानादि (देहादि) के साथ आत्मा की एकता मानता है वही केवल अकृत (असंस्कृत) बुद्धिवाला नहीं है परन्तु आत्मा को शरीरादि से पृथक् माननेवाला भी यदि शरीरादि से पृथक् केवल (असङ्ग, अद्वितीय) आत्मा को ही कर्मों का कर्ता समझता है वह भी 'अकृतबुद्धि' है। क्योंकि रज्जु के साक्षात्कार के बिना जैसे कोई सर्पभ्रम का बोध नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के बिना कर्तृत्व भ्रम का बाध नहीं हो सकता। अतः वह भी असंस्कृत (अशुद्ध) बुद्धिवाला होने के कारण वास्तव में आत्मा का या कर्मों का तत्त्व नहीं समझता है। इसलिए वह **दुर्मतिः**— जिसकी बुद्धि कुत्सित, दुष्ट, विपरीत, और बारम्बार जन्म मरण देने वाली हो उसे दुर्मति (दुर्बुद्धि) कहते हैं। ऐसा मनुष्य देखता हुआ भी वास्तव में नहीं देखता है जैसे तिमिररोगवाला (अर्थात् मोतियाबिन्दरोग से आक्रान्त व्यक्ति) अनेक चन्द्र देखता है,

या जैसे बालक दौड़ते हुए बादलों में चन्द्रमा को दौड़ता हुआ देखता है, अथवा जैसे (पालकी आदि) किसी सवारीपर चढ़ा हुआ दूसरों के चलने में अपने को चलता हुआ समझता है (वैसे ही उसका समझना है।)

[शास्त्र और आचार्य के उपदेश तथा विचार द्वारा होनेवाले 'मैं सत्य, ज्ञान, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्द, त्रिगुणातीत अद्वय ब्रह्म हूँ' ऐसे साक्षात्कार के उत्पन्न न होने पर मिथ्या अज्ञान और उसके कार्य का बाध कैसे हो सकता है ? फिर गुरुकी शरण में जाकर वेदान्तवाक्यों का विचार करने पर (किन्हीं-किन्हीं को) ऐसा साक्षात्कार भी क्यों उत्पन्न नहीं होता ? इस पर कहते हैं—दुर्मतिः—जिसकी दुष्ट अर्थात् विवेक के प्रतिबन्धक पाप के कारण मलिन मति है; अतः अशुद्धबुद्धि होने से नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से शून्य होने के कारण तत्त्वज्ञान के अयोग्य होने से अविद्यावश आत्मा को अकर्ता होने पर भी कर्ता और केवल (असंग-अद्वितीय) होने पर भी अकेवल (क्रियावान्) कल्पना करनेवाला संसारी और कर्म का अधिकारी देहाभिमानी पुरुष 'अकृतबुद्धि' होता है। वह कर्म करनेवालों में तादात्म्याभिमान होने के कारण कर्म त्याग में असमर्थ तथा सर्वदा जन्म-मरण की परंपरा से अनिष्ट, इष्ट और मिश्र कर्म फल का अनुभव करता है। इसके द्वारा जो नैयायिक देहादि से व्यतिरिक्त केवल आत्मा को ही कर्ता समझता है उसे भी अकृतबुद्धिरूप से कह दिया है।

एक दूसरा वादी तो कहता है कि 'केवल आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानादि से मिलकर तो वह वास्तव में कर्ता ही है; अतः जो केवल आत्मा को कर्ता समझता है वही दुर्मति है एवं इसलिये ही 'केवल' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि जो परमार्थतः सम्पूर्ण क्रियाओं से शून्य और असंग है उस आत्मा का जल और मरुमरीचिकादि के समान अधिष्ठानादि के साथ मिलना सम्भव नहीं है। उनका अविद्याजनित मेल होने पर तो कर्तृत्व भी वैसा ही होगा। इसके सिवा अधिष्ठानादि भी अविद्याजनित ही हैं (इसलिए भी उसका कर्तृत्व आविद्यक) अज्ञानजनित ही है। आत्मा का कर्तृत्व समझनेवाला पुरुष दुर्मति है— इस कारण से 'केवल' शब्द तो उसकी स्वभावसिद्ध असंगाद्वितीयता का अनुवाद करता है, इसलिये हमारे मत में कोई दोष नहीं है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—उससे क्या होता है यह बताते हैं—**तत्र एवं सति**—उन सभी कर्मों के होने में ये पाँच हेतु हैं, ऐसा होते हुए भी **केवलम् आत्मानम् तु यः कर्तारम् पश्यति**—केवल (उपाधिरहित, असङ्ग) आत्मा को जो कर्ता देखता है—**न सः पश्यति दुर्मतिः**—वह शास्त्र और आचार्य के उपदेश का त्याग कर देने से असंस्कृत (अशुद्ध) बुद्धिवाला होने के कारण दुर्बुद्धि है, इसलिये यथार्थ तत्त्वको नहीं देखता है।

(२) **शंकरानन्द**—'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इस न्यास से प्रकृति से उत्पन्न हुए अधिष्ठान आदि पाँच कर्ममात्र के ही कारण हैं ऐसा सिद्ध होने पर फलित कहते हैं-'तत्रैवम्' इत्यादि से। **एवं**—इस प्रकार अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भक हैं **सति**—ऐसा निष्कर्ष होने पर **यः**—जो अकृतात्मा यानी आत्मा और अनात्मा के तत्त्व के विचार से शून्य पुरुष **तत्र**—उन प्राकृत अधिष्ठान आदि के द्वारा किये गये या प्रतिषिद्ध कर्मों में **केवलम् आत्मानम् कर्तारम् पश्यति**—'मैं इस कर्म का कर्ता हूँ' इस प्रकार से अकर्ता, केवल, एकरस, निष्क्रिय तथा निर्विशेष आत्मा को कर्ता देखता है। मैंने स्नान किया, भोजन किया मैं आया गया, यह दुष्ट और अदुष्ट कर्म किया, इस प्रकार जो (वेदान्तवाक्यादि के) श्रवण, मनन, आदि का अनुष्ठान (अभ्यास) न करने के कारण आत्मा को उन कर्मों का कर्ता ही देखता है (मानता है), वह इस प्रकार निष्क्रिय अपने अकर्ता, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप आत्मा में कर्तृत्व आदि अन्य धर्मों का आरोप करनेवाला पुरुष **सः अकृतबुद्धित्वात् दुर्मतिः न पश्यति**—अकृतबुद्धि होने के कारण [नित्य निरन्तर श्रवण, मनन आदि के संस्कारों से भली भांति संस्कृत बुद्धि जिसकी है अर्थात् निष्क्रिय, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव यह आत्मा अहंपद का अर्थ है, इस प्रकार के आकार से ठीक-ठीक आत्मतत्त्व को अवलम्बन करनेवाली बुद्धि जिसकी है वह कृतबुद्धि है यानी भली-भांति आत्मतत्त्व को जाननेवाला कृतबुद्धि है। उससे विपरीत अकृतबुद्धि है। तथा श्रवण करने पर भी जिसने आत्मा के यथार्थस्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं किया है वह भी अकृतबुद्धि है। उसका भाव अकृतबुद्धित्व है इसीसे दुर्मति (अविद्या के कार्य होने से दुष्ट देह, इन्द्रिय आदि में ही जिसकी अहंबुद्धि है वह दुर्मति) पशु के समान देह में ही आत्मबुद्धिवाला होता है,

क्योंकि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ जाता हूँ, आता हूँ, रहता हूँ और भोगता हूँ इस प्रकार से (देह) आदि अनात्मा को ही आत्मा देखता है. जैसे बादलों के दौड़ने पर न दौड़ते हुये चन्द्रमा को दौड़ता हुआ देखता है, जैसे नाव के चलने पर नहीं चलनेवाले वृक्ष को चलता हुआ देखता है अर्थात् जड़ वृक्ष को निष्क्रिय जानकर भी सक्रिय (चलनेवाला) ही देखता है, वैसे ही अपनी आत्मा का भले ही श्रवण करे फिर भी उसे कर्ता एवं भोक्ता ही देखता है इसलिये वह आत्मतत्त्व को निष्फल, निष्क्रिय. शान्त नित्य, शुद्ध. बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वैत, सदानन्द, चिन्मात्र, नित्य, सर्वगत स्थाणु, अचल, सनातन, इस प्रकार से श्रुति, स्मृति और आचार्य के द्वारा बोधित आत्मतत्व को नहीं देखता (नहीं जानता)।

प्रश्न—यह पुरुष अकर्ता आत्माको ही कर्ता देखता है, ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है क्योंकि इसका सम्पूर्ण प्रमाणों के साथ विरोध है और 'मैं करता हूँ, यों कर्ता के धर्मभूत अहंभाव का प्रत्यक्ष है। यह देह का धर्म है, ऐसा भी नहीं कह सकते हो कारण कि मृत देह में अहंभाव का और गमन आदि क्रिया का अभाव है, और देह की सम्पूर्ण क्रियायें आत्मा द्वारा ही की जाती है [आत्मा के होने पर ही उनका उपलम्भ होने से, वायु के होने पर वृक्षचेष्टा के समान।] इस प्रकार सब कर्म में आत्मकर्तृत्व का ही अनुमान होता है और 'स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्' इति श्रूयते च अर्थात् वही माया से परिमोहित हुआ आत्मा शरीर में स्थित होकर सब करता है, इसप्रकार श्रुतिवाक्य से सुनने में आता है। इसलिए कर्तृत्व-धर्म आत्मा का ही धर्म है।

उत्तर—यह कहना यद्यपि ठीक है कि आत्मा में कर्तृत्व सुनने में आता है और मृत देह में वह देखने में नहीं आता, तथापि श्रुति और तदनुकूल युक्ति से विचार करने पर आकाश के समान अविक्रिय, निरवयव आत्मा में चलनात्मक क्रिया का संभव न होने से कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि सुषुप्ति में आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, यह सबको प्रत्यक्ष है। यदि कहो कि सुषुप्ति में आत्मा का उपलम्भ न होने के कारण आत्मा ही नहीं है, ऐसी अवस्था में उस समय उसके कर्तृत्व का अभाव युक्त ही है तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि 'सुख से सोया, 'कुछ भी मैंने नहीं जाना' ऐसा

सुषुप्ति में आत्मा के अस्तित्व का प्रत्यभिज्ञान होने से आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता, 'मैंने स्वप्न देखा' यों स्वप्न-दर्शन के समान सुषुप्ति के सुख का अपने को अनुभव होने से स्वप्न के समान सुषुप्ति में अहंपद का अर्थ आत्मा विद्यमान ही है। यदि वह न हो तो, सुषुप्ति और उसके सुख के ज्ञान के अभाव का प्रसंग आयेगा, इसलिए सुषुप्ति और सुषुप्ति में अनुभूत सुख के ज्ञाता आत्मा का सद्भाव मानना चाहिए। वहां आत्मा के सद्भाव के न होने पर भी आत्मा का कर्तृत्व देखने में नहीं आता। यदि कहो कि सुषुप्ति में आत्मा का 'सुख से सोया' इस प्रकार सुषुप्ति क्रिया के प्रति कर्तृत्व है ही, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयव में क्रिया हो नहीं सकती, अतः 'तिष्ठति', आस्ते, इत्यादि की तरह 'पुरुष सोता है' यह भी केवल वाङ्मात्र ही है। सुषुप्ति में पुरुष का व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि [उस समय] कारण नहीं है और आत्मा निरवयव है। किञ्च, 'स्वमपीतो भवति' (सुषुप्ति में जीव आत्मा को प्राप्त हो जाता है) इस श्रुति से सुषुप्ति में आत्मा 'अस्वाप्सम्' इससे अपने निरुपाधिक स्वरूप की प्राप्ति को प्रकाशित करता है, न कि बुद्धि आदि के समान सोता है, क्योंकि 'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' अर्थात् न सोया हुआ सोये हुए को देखता है' और 'यह सोया हुआ जागता है' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। जिस कारण से ऐसा है इसलिए कर्तृत्व दूसरे का ही धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है। 'निष्कलम् निष्क्रियम् इति' अर्थात् निष्कल, निष्क्रिय, 'नाऽयं हन्ति न हन्यते' अर्थात् न यह हनन करता है और न इसका हनन किया जाता है, 'अनन्तश्चाऽऽत्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' इति' अर्थात् आत्मा अनन्त विश्वरूप, अकर्ता ही है, 'वृक्ष इव स्तब्धः' अर्थात् वृक्ष के समान निश्चल है, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादि 'श्रुति-स्मृतिशतमात्मनः कर्तृत्वाभावमेव बोधयति'। अर्थात् नित्य, सर्वगत, स्थाणु, इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ आत्मा कर्ता नहीं है, ऐसा बोधन करती हैं। आत्मा कुछ चेष्टा नहीं करता, निरवयव होने से' परिपूर्ण होने से' इत्यादि युक्तियाँ भी आत्मा में अक्रियत्व की ही सिद्धि करती हैं। तब कर्तृत्व-धर्म किसका है? ऐसा यदि प्रश्न करो तो उस पर फिर भी कहते हैं (जिससे कि सत् मुमुक्षुओं की आत्मा में कर्तृत्व-भ्रम की विच्छित्ति हो)–जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में देह और अन्य में 'मैं मेरा' इस प्रकार अभिमान करनेवाला विज्ञानात्मा ही सम्पूर्ण कर्म का कर्ता है दोनों ही अवस्थाओं

में वही कर्ता है ऐसा विद्वानों को प्रत्यक्ष है। सुषुप्ति में विज्ञानात्माका अभाव होने से कर्तृत्वधर्म की प्रतीति नहीं होती इसलिए अन्वयव्यतिरेक से विज्ञानात्मा में ही कर्तृत्व है, क्योंकि वही 'यह मैं करता हूँ' इस प्रकार के अभिमान से सामान्य और विशेष कर्म करता है। श्रुति भी है 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' अर्थात् विज्ञान यज्ञ करता है और कर्म भी करता है। 'मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः' अर्थात् मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुष ही है इत्यादि सम्पूर्ण प्रमाणों से विज्ञानात्मा ही कर्ता है, ऐसा निश्चय होने से, आत्मा कर्ता और भोक्ता नहीं है यह सिद्ध हुआ। 'शरीरमास्थाय करोति सर्वे' अर्थात् शरीर में मैं मनुष्य हूँ इत्यादि अभिमान करके सब कर्म करता है, इस वाक्य में अर्थात् माया से परिमोहित आत्मा का ही लिङ्ग (लक्षण) कहा गया है तथा 'मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा इति' माया से अन्य के समान वह यह आत्मा, 'ध्यायतीव लेलायतीव' अर्थात् ध्यान करता हुआ-सा, चलता हुआ-सा इत्यादि श्रुति होने से जैसे गजपर चढ़े हुए राजा में, यह राजा जाता है, यों गमन क्रिया का कर्तृत्व आरोपित है, वैसे ही माया से अविद्यावश मूढ़ोंद्वारा आत्मा में कर्म को आरोपित करके आत्मा कर्ता-सा प्रतीत होता है, ऐसा सूचित करने के लिए 'करोति सर्वम्' सब कर्म को करता है, इस प्रकार से श्रुति अनुवाद करती है। वस्तुतः वह करता है, ऐसा नहीं कहती, उसकी क्रियाशीलता सत्य होने पर संसारी होने से आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकेगा और अपने वचन का व्याघात हो जायगा क्योंकि श्रुति स्वयं ही आत्मा का स्वरूपगत मोक्ष कहती है 'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् विमुक्त ही विमुक्त हो जाता है इसलिये आत्मा में कर्तृत्व नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' (ऐसा होने पर केवल आत्मा को जो कर्ता देखता है) इसमें 'तु' शब्द के योग से और केवल शब्द के स्वारस्य से यद्यपि केवल आत्मा में कर्तृत्व नहीं है तथापि उपाधिविशिष्ट आत्मा में तो कर्तृत्व है, ऐसा यदि कहो तो इस विषय में प्रश्न होगा कि आत्मा की उपाधि की विशिष्टता की सिद्धि के लिये क्या संयोग सम्बन्ध कहा जाता है या समवाय ? पहले पक्ष में सार्वदेशिक संयोग कहते हैं या एकदेशिक ? दूसरा पक्ष तो युक्त नहीं है क्योंकि निरवयव वस्तु के देश या काल की कल्पना करना युक्त नहीं है। पहला पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक तो परिच्छिन्न उपाधिका पूर्ण के

साथ सार्वदेशिक संयोग हो नहीं सकता और दूसरा निरवयव एवं सावयव का संयोग भी दुर्घट है। यदि कथञ्चित् आत्मा का संयोग सम्बन्ध सर्वत्र विद्यमान है ऐसा मान भी लिया जाय तो, आत्मा का जड़त्व और जगत् के आन्ध्य का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि समवाय एवं समवायी दोनों के सम्बन्ध की सिद्धि में दूसरे समवायकी अपेक्षा होने पर अनवस्था हो जायगी और दोनों का अयुतसिद्धत्व न होने के कारण समवाय भी सिद्ध नहीं है। 'कर्मानुगत्यनुक्रमेण देही' कर्मों के अनुसार स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि शरीरों के परिपाक के अनुकूल देवादियों में जन्म को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति से आत्मा देही है, ऐसा ज्ञात होता है। अतः दोनों देह और देह का अवयवावयवीभाव होने से अयुतसिद्धत्व है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है क्योंकि जहाँ अवयवी रहता है, वहाँ अवयव रहता है, इस नियम के समान जहाँ आत्मा है वहाँ देह है, इसप्रकार की व्याप्ति के न होने से अयुतसिद्ध की सिद्धि नहीं है। तब 'देही' ऐसा क्यों कहा, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यादशा में अध्यास सम्बन्ध से आत्मा देही (देहवान्) हो सकता है, अतः देहीकथन आध्यासिक है वास्तविक नहीं है। संयोग और समवाय दोनों में से किसी भी एक सम्बन्ध का अङ्गीकार करने पर विशेषण के नाश से विशिष्ट का नाश होता है, इस न्याय से उपाधि के नाश से आत्मा का भी नाश मानना होगा। ऐसी अवस्था में आत्मा में नित्यत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति से विरोध हो जायगा एवं संसारित्व और मोक्षरहितत्व आदि अनर्थों का प्रसंग हो जायगा। 'न तदश्नाति किञ्चन' अर्थात् 'वह कुछ नहीं खाता, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' अर्थात् असङ्ग ही यह पुरुष है इत्यादि श्रुति से असङ्ग निरवयव एवं निर्विशेष आत्मा का उपाधि, उपाधि के धर्म अथवा उसके कर्मों के साथ सम्बन्ध है, ऐसी कोई भी कल्पना नहीं कर सकता। इसलिये अविद्या और उसके कार्य को छुड़ाकर भक्तों की रक्षा करने की इच्छा कर रहे सर्वज्ञ श्रीभगवान्ने 'आत्मानं केवलं तु' ऐसा कहा है। 'तु' शब्द आत्मा सर्वप्रकार की उपाधि से भिन्न है, इसको दृढ़ करने के लिए। सावयव, सक्रिय उपाधि को ही कर्ता और भोक्ता देखो, परन्तु केवल निष्कल (अद्वितीय) निष्क्रिय आत्माको प्रमाद से भी कर्ता न देखो, क्योंकि निरवयव, असङ्ग आत्मा में क्रियाश्रयत्व आदि नहीं है। जो इस प्रकार के लक्षणवाले आत्मतत्त्व को सद्गुरु से बार

बार सुनकर और मनन करके भी उसको (आत्मा को) पुण्य और पापरूप क्रिया का कर्त्ता अथवा भोक्ता देखता है, वही दुर्मति अर्थात् अविवेकी है—बकरी-भेड़ पालनेवाला अविवेकी नहीं है, यह अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती दो श्लोकों में कहा गया है कि अधिष्ठान (देह) तथा करण (इन्द्रियाँ) आदि पांचों शरीर, वाणी तथा मन का आश्रय करके मनुष्य द्वारा अनुष्ठित सभी न्याय्य (शास्त्रविहित) अथवा अन्याय्य (शास्त्रविरुद्ध) कर्म का कारण होते हैं। इस प्रकार होने पर भी जो केवल अर्थात् सर्व-उपाधि रहित असंग उदासीन, अविक्रिय, निष्क्रिय, शुद्ध, अद्वितीय, आत्मा को (जो अधिष्ठानादि पंच कारण का प्रकाशक है एवं जिसकी सत्ता से यह सब विश्वप्रपंच सत्तावान् सा प्रतीत होता है उस स्वयंप्रकाश परमानन्द स्वरूप आत्मा को) इन सब कारणों से विलक्षण (पृथक्) न समझकर ये सब अधिष्ठान (देह) करण (इन्द्रियाँ) आदि कारणों के साथ तादात्म्याभिमानकर एकत्वबुद्धि कर अर्थात् 'मैं ही यह सब हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् द्रष्टा तथा दृश्य एक है इस प्रकार भ्रान्ति कर) उक्त लक्षण विशिष्ट शुद्ध आत्मा को कर्मों के कर्तारूप से देखता है अर्थात् रज्जु में सर्प भ्रान्ति के समान कर्ता को अज्ञान से कर्म का आश्रय मानता है वह आत्मतत्त्व या कर्मतत्त्व को यथार्थ रूप से नहीं देख सकता है (जान सकता है)। इसका कारण यह है कि वह अज्ञव्यक्ति अकृत-बुद्धि (अशुद्ध अन्तःकरण वाला) है। स्वधर्म के अनुकूल कर्तव्य कर्म को निष्काम भाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से श्रद्धायुक्त होकर करने पर ही सात्त्विक गुण का उदय होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि होने पर विचारशक्ति प्रबल होती है और उससे मिथ्याविषय के भोग की वासना क्षीण होने के कारण यथार्थ नित्यसत्य वस्तु जो आत्मा है उसका स्वरूप जानने की तीव्र इच्छा होती है, जिसे विविदिषा कहा जाता है। तत्पश्चात् तत्त्वज्ञ गुरु की शरण लेकर गुरु के मुख से वेदान्तमहावाक्य आदि का श्रवण कर विवेक बुद्धि से अनात्म प्रपंच से अखण्ड अद्वय आत्मा को पृथक् करने की सामर्थ्य उत्पन्न होने पर उसे कृतबुद्धि (निश्चयात्मकबुद्धि) कहा जाता है। उक्त क्रम से जिसकी बुद्धि अभोक्ता, अकर्ता, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में परिनिष्ठित (सर्व ओर से स्थिति प्राप्त) नहीं हुई है वह अकृतबुद्धि है।

एवं यह अकृतबुद्धित्व जब तक रहता है तब तक अज्ञान रहने के कारण वह 'दुर्मति' (विपरीतमति) रहती है क्योंकि अनात्म वस्तु में आत्मबोध, मिथ्यावस्तु में सत्यत्वबोध दुःख में सुखबोध एवं अशुचि (अपवित्र देहादि) में शुचिबोध (पवित्र बोध) अज्ञान का स्वरूप है। अतः अज्ञान का आश्रय करके जो मति होती है वह सदा ही दुष्ट (विपरीत अर्थात् कुत्सित) है क्योंकि वह पुनः पुनः जन्म मरण का हेतु होती है। अतः अकृतबुद्धित्व से ही जो लोग दुर्मति हैं वे ही देहादि के साथ आत्मा का तादाम्याभिमान करके आत्मा को ही सब कर्म का कर्ता रूप से जानते हैं एवं इसलिए मोक्ष मार्ग से सदा ही दूर रहते हैं क्योंकि कर्मों का यथार्थ स्वरूप अथवा आत्मतत्व का यथार्थ स्वरूप वे कभी नहीं देख सकते हैं (जान सकते हैं)।

कहने का अभिप्राय यह है कि कर्तृत्व कर्म एवं कर्मफल निष्काम, निष्क्रिय पूर्णस्वरूप आत्मा के द्वारा सृष्ट (उत्पन्न) नहीं हुआ है। स्वभाव से (प्रकृति अर्थात् पूर्वजन्मार्जित संस्कार से) ही प्रवृत्त होकर सभी अज्ञव्यक्ति (देहाभिमानी पुरुष) अपने को कर्ता मानकर अर्थात् अहंकार से कर्म में प्रवृत्त होते हैं एवं अपने अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं। इसलिए गीता में भगवान् ने भी कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३।२७)

अर्थात् प्रकृति के तीन गुणों के (सत्वादि के) द्वारा ही सभी कर्म अनुष्ठित होते हैं। जिसका आत्मा (अन्तःकरण) अहंकार से विमूढ़ हो गया है वही अपने आत्मा को कर्ता मानता है। अतः भ्रान्ति से ही अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण ही जीव अपने में कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। कृतबुद्धि (शुद्ध-बुद्धि एवं विवेकसम्पन्न) होने पर वह जानता है कि सभी कर्मों के पूर्वोक्त अधिष्ठानादि पंच कारण ही हैं—केवल (निःसंग) आत्मा कर्ता नहीं है नित्य सत्य आत्मा को अधिष्ठान (आश्रय) कर कर्मों के पंच कारण, कर्म तथा कर्मों के फलरूप जन्म मृत्यु के प्रवाह, ये सभी मिथ्या होने पर भी स्वप्न दृश्यवत् प्रतीत हो रहे हैं। अतः इस प्रकार के ज्ञान से विवेकी पुरुष मिथ्या प्रपंच की भावना को त्याग कर अर्थात् कृतबुद्धि एवं सुमति (स्थिरमति) होकर सच्चिदानन्दस्वरूप केवल (निःसंग) आत्मा में ही स्थित होकर

संसार प्रवाह से अपने को मुक्त कर लेते हैं। और जो अकृतबुद्धि होने से दुर्मति है वह अधिष्ठान आदि (देहादि) में आत्माभिमान कर के आत्मा को सभी कर्मों का कर्ता मानता है एवं उसके कारण संसार चक्र में पुनः पुनः भटकता रहता है, यही कहने का अभिप्राय है।

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो अकृत (असंस्कृत) बुद्धि वाला दुर्मति पुरुष है वह आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जान नहीं सकता। अब प्रश्न होगा कि ऐसा सुमति (सुबुद्धि) वाला पुरुष कौन है जो सम्यक् प्रकार से आत्मतत्त्व को जानकर कर्म करते हुए भी उसके इष्ट, अनिष्ट अथवा मिश्र फल से संसार में बद्ध नहीं होता है? इस पर कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

अन्वय—यस्य भावः न अहंकृतः, यस्य बुद्धिः न लिप्यते, स इमान् लोकान् हत्वापि न हन्ति, न (च) निबध्यते।

अनुवाद—जिसे अहंकृत भाव अर्थात् मैं करता हूँ ऐसा भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि 'मैं इस कर्म के फल को भोगूँगा' इस भाव से लिप्त नहीं होती, वह इन समस्त प्राणियों को मारकर भी नहीं मारता और न कर्मबन्धन से बँधता ही है अर्थात् हननरूप क्रिया के (मारने के) फलरूप से इष्ट, अनिष्ट अथवा मिश्र भोग को प्राप्त नहीं होता है।

भाष्यदीपिका—यस्य—शास्त्र और आचार्य के उपदेश से तथा न्याय से (युक्ति पूर्ण विचार से) जिसका अन्तःकरण सम्यक् प्रकार से संस्कृत (शुद्ध) हो गया है, ऐसे जिस पुरुष के अन्तः करण में **न अहंकृतः भावः**—'मैं करता हूँ' इस प्रकार की अहंकारयुक्त भावना (चित्तवृत्ति) नहीं होती अर्थात् जो ऐसा समझता है कि अविद्या से आत्मा में अध्यारोपित ये अधिष्ठानादि पाँच हेतु ही समस्त कर्मों के कर्ता हैं, मैं कर्ता नहीं हूँ क्योंकि मैं तो केवल उनके व्यापारों का साक्षीमात्र हूँ अर्थात् मैं तो 'प्राणों से रहित, मन से रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ अक्षर से भी पर तथा

केवल (असंग) अविकारी आत्मस्वरूप हूँ' [श्रुति में कहा है आत्मा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः'—यहाँ 'अप्राणः' शब्द से आत्मा में स्वतः क्रिया-शक्ति का अभाव, 'अमनाः' शब्द से आत्मा में स्वतः ज्ञानशक्ति का अभाव, 'शुभ्रः' शब्द से ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति के अभाव के कारण आत्मा निष्क्रिय है, तथा 'अक्षरात्परतः परः' पद से आत्मा प्रकृति से पर है अर्थात् कारणातीत है एवं 'केवल' शब्द से कार्य-कारण द्वारा असंस्पृष्ट रहने के कारण आत्मा अद्वितीय, असंग, शुद्ध एवं जन्मादि सर्वविकार से रहित कूटस्थ है—यह सूचित किया गया है। (आनन्दगिरि) ।] तथा **यस्य बुद्धिः न लिप्यते**—जिसकी बुद्धि (अर्थात् आत्मा का उपाधिस्वरूप अन्तःकरण) लिप्त नहीं होती है (अनुताप नहीं करती) अर्थात् मैंने अमुक कार्य किया है, उससे मुझे नरक में जाना होगा अथवा इस कर्म से मैं स्वर्गरूप फल को प्राप्त कर लूँगा, इसप्रकार जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती' वह (सुमति) सुबुद्धि है एवं वही वास्तव में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता (जानता) है **स इमान् लोकान् हत्वा अपि**—ऐसा ज्ञानी इन समस्त लोकों को अर्थात् सब प्राणियों को मारकर भी **न हन्ति**—वास्तव में नहीं मारता अर्थात् हनन क्रिया नहीं करता **न निबध्यते**—और उसके परिणाम से (अर्थात् फल से) भी नहीं बद्ध होता है अर्थात् उस हनन क्रिया का फल रूप पाप उसे स्पर्श नहीं करता है।

पूर्वपक्ष—यद्यपि यह ज्ञान की स्तुति है तो भी यह कहना अत्यन्त विपरीत है कि मारकर भी नहीं मारता इसप्रकार परस्पर विरुद्ध वाक्य के द्वारा स्तुति करना कैसे सम्भव होता है ?

उत्तरपक्ष—यह दोष नहीं है, क्योंकि लौकिक और पारमार्थिक इन दो दृष्टियों की अपेक्षा से ऐसा कहना युक्ति विरुद्ध नहीं है साधारण (लौकिक) मनुष्य देहादि में आत्मबुद्धि करके हननरूप क्रिया में 'मारने वाला मैं ही हूँ' ऐसा मानता है। इसलिए उस लौकिक अज्ञानी की दृष्टि का आश्रय लेकर 'हत्वा अपि' (मारकर भी) यह कहा है। फिर आत्मा अकर्ता है अतः पूर्वोक्त पारमार्थिक दृष्टि का आश्रय लेकर 'न मारता है, न बद्ध होता है' इस प्रकार कहा गया है। अतः दृष्टि के भेद से इन दोनों प्रकार की उक्ति में कोई विरोध नहीं है। [तत्त्वज्ञ पुरुष शरीरादि के द्वारा कर्म करते

हुए भी उनकी दृष्टि में 'मैं कर्ता नहीं हूँ' परन्तु अहंकाररूपी कर्ता तथा अन्य अधिष्ठानादि कारणों का मैं साक्षी हूँ—क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिरूप दोनों उपाधि से विलक्षण मैं तो मुक्त, शुद्ध कार्यकारणरहित 'अद्वितीय, अविक्रिय, केवल (असंग), सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ इस प्रकार पारमार्थिक दर्शन होने पर अज्ञानी पुरुष के 'ब्रह्मज्ञ पुरुष की शरीर से हननरूप क्रिया हो रही है', ऐसा देखने पर भी तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित ब्रह्मस्वरूप पुरुष की दृष्टि में किसी क्रिया का भान नहीं रहता है। अतः 'हत्वा अपि न हन्यते' इस प्रकार कहना विरुद्ध बात नहीं है बल्कि युक्ति से सिद्ध ही है।]

पूर्वपक्ष—'कर्तारम् आत्मानम् केवलं तु' इस प्रकार से पूर्ववर्ती श्लोक में 'केवल' शब्द का प्रयोग होने से यह प्रतीत होता है कि आत्मा अकेले कर्म नहीं करता परन्तु अधिष्ठानादि अन्य हेतुओं के साथ सम्मिलित होकर अवश्य ही कर्म करता है—

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अविक्रिय स्वभाव होने के कारण आत्मा का अधिष्ठानादि से संयुक्त होना सम्भव नहीं है क्योंकि विकारवान् वस्तु का ही अन्य पदार्थों के साथ सम्मेलन हो सकता है तथा विकारी पदार्थ ही संहत होकर कर्मों का कर्ता बन सकती है, निर्विकार आत्मा का किसी के साथ संयोग नहीं हो सकता और न तो संयुक्त होकर उसका किसी व्यापार में कर्तृत्वाभिमान हो सकता है। अतः आत्मा का 'केवलत्व' स्वाभाविक (स्वतः) सिद्ध है—इसी दृष्टि से यहाँ 'केवल' शब्द का अनुवाद मात्र किया गया है अर्थात् 'केवल' शब्द द्वारा आत्मा के स्वतः सिद्धत्व, असंगत्व अविकारित्व एवं अक्रियत्व का अनुवाद किया गया है।

आत्मा का अविक्रियत्व श्रुति, स्मृति और न्याय से प्रसिद्ध है। गीता में भी 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता २।२५) 'गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते' (गीता ३।५) 'शरीरस्थोऽपि न करोति' (गीता १३।३१) अर्थात् 'यह विकाररहित कहलाता है' 'सब कर्म गुणों से ही किए जाते हैं' 'आत्मा शरीर में' स्थित हुआ भी नहीं करता', इत्यादि वाक्यों द्वारा अनेकबार आत्मा का अकर्तृत्व प्रतिपादित हुआ है और 'ध्यायतीव लेलायतीव' (छा० उ० ७।६।१) अर्थात् 'मानो ध्यान करता है', 'मानो चेष्टा करता है' इस प्रकार की श्रुतियों में भी प्रतिपादित है। तथा न्याय से भी सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मतत्त्व अवयवरहित, स्वतन्त्र और विकाररहित है। ऐसा मानना ही राजमार्ग है।

यदि स्वीकार किया जाय कि आत्मा विकारवान् है तो यह भी मानना पड़ेगा कि आत्मा का स्वकीय विकार अपने द्वारा ही किया जा सकता है परन्तु यह युक्ति विरुद्ध है और यदि कहा जाय कि आत्मा अधिष्ठान आदि के द्वारा विकारी होता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि अधिष्ठानादि के द्वारा किए हुए कर्म का कर्ता आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि अन्य के कर्मों के बिना किए ही अन्य कर्ता नहीं हो सकता (अतः अधिष्ठानादि का प्रभाव आत्मा में होना असम्भव है) । और यदि कहो कि अविद्या से अधिष्ठानादि के कर्म आत्मा में आरोपित होते हैं तो इस पर कहा जायगा कि ऐसी मिथ्या कल्पित विकारशीलता आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती है जैसे शुक्ति में (सीपी में) आरोपित चाँदीपन (रजतत्व) नहीं होता है एवं जैसे मूर्ख द्वारा आकाश में आरोपित की हुई तलमलिनता आकाश की नहीं हो सकती वैसे ही अधिष्ठान आदि पाँच हेतुओं के विकार भी आत्मा के नहीं है । अतः यह ठीक ही कहा है कि 'मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार अहंकारयुक्त भावना तथा कर्मों में बुद्धि के लेप का (आसक्ति का) अभाव होने के कारण विद्वान् (आत्मनिष्ठज्ञानी) न किसी को मारता है और न तो शरीरादि से किए हुए हननादि के फलरूप से बद्ध ही होता है ।

दूसरे अध्याय में 'नायं हन्ति न हन्यते' (गीता २।१९) अर्थात् 'यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है' इस प्रकार से प्रतिज्ञा करके 'न जायते' (गीता २।२०) इत्यादि हेतुयुक्त वचनों से आत्मा का अविक्रियत्व बतलाकर, फिर 'वेदाविनाशिनम्' इस श्लोक से उपदेश के आदि में विद्वान् के लिए संक्षेप में कर्माधिकार की निवृत्ति का प्रतिपादन कर स्थान-स्थान पर प्रसंग उपस्थित करके बीच-बीच में जिसका विस्तार किया गया है ऐसी कर्माधिकार की निवृत्ति का [अब उन सब शास्त्रों के (उपदेशों के) अर्थ का संग्रह करने के लिए 'विद्वान् न मारता है और न बँधता है, इस कथन से] उपसंहार करते हैं अर्थात् जो विद्वान् आत्मतत्त्व को जानकर उसमें स्थिति प्राप्त हुए हैं उनके किसी कर्म का प्रयोजन न रहने के कारण उनका कर्माधिकार नष्ट हो जाता है, अतः शरीरादि से किए गये कर्म तथा कर्मफल से वे लिप्त नहीं होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है । अतः यह सिद्ध होता है कि विद्वान में देहभृत् का (मैं देहधारी हूँ इस प्रकार का) अभिमान न रहने के कारण उसके अविद्या द्वारा किए

हुए समस्त कर्म का संन्यास हो सकता है क्योंकि आत्मस्वरूप के जान लेने पर अविद्या तथा उसके सभी कार्य का स्वतः ही नाश हो जाता है।' कर्म न रहने पर कर्मफल का भोग भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए सर्वकर्म संन्यासियों को इष्ट, अनिष्ट तथा मिश्र ये तीन प्रकार के कर्मफल नहीं मिलते हैं किन्तु दूसरे (अर्थात् कर्माधिकारी) इससे विपरीत होते हैं। इसलिए उनको उक्त तीन प्रकार के कर्मफलों को अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार यह गीताशास्त्र के अर्थ का उपसंहार किया गया। यह ही समस्त वेदों के अर्थ का सार निपुणबुद्धिवाले पण्डितों द्वारा विचारपूर्वक धारण किये जाने के योग्य है। [क्योंकि यही सर्व दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्ति का एकमात्र उपाय है। जिससे कि बुद्धिमान् व्यक्ति अनायास ही इसे समझ सके इस उद्देश्य से गीताभाष्य में प्रकरणों का विभाग करके शास्त्र तथा न्याय के अनुसार इस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।]

टिप्पणी—(१) मधुसूदन—इस प्रकार चार श्लोकों द्वारा 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनाम् प्रेत्य' इन तीनों चरणों की व्याख्या की गई। अब एक श्लोक द्वारा 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इस चौथे चरण की व्याख्या करते हैं—[जिसे 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता और जिसकी बुद्धि 'मैं इस कर्म के फल को भोगूँगा' इस भाव से लिप्त नहीं होती वह इन समस्त प्राणियों को मारकर भी नहीं मारता है और न कर्मबन्धन से बँधता ही है।]

यस्य अहंकृतः भावः न—पुण्य कर्मों द्वारा विवेक ज्ञान के विरोधी पापों का क्षय हो जानेपर नित्यानित्यवस्तु-विवेक इत्यादि साधनचतुष्टय को प्राप्त करनेवाले तथा शास्त्र और आचार्य के उपदेश एवं युक्ति द्वारा उत्पन्न अकर्ता, अभोक्ता, स्वयंप्रकाश, परमानन्द, अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कारवाले जिस पूर्वोक्त कर्माधिकारी से विपरीत गुणोंवाले पुरुष को कार्यसहित अज्ञान का बाध हो जानेपर 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव अर्थात् प्रत्यय (चित्तवृत्ति) नहीं होता। अथवा जिसका भाव (सत्ता) अहंकृत अर्थात् 'अहम् (मैं)' ऐसे व्यपदेश के (कहने के) योग्य नहीं होता' क्योंकि अहंकार का बाध होने पर केवल शुद्ध स्वरूप ही रह जाता है। अथवा अहंकृत अर्थात् अहंकार का भाव यानी देहादि के साथ तादात्म्याभिमान जिसे नहीं है क्योंकि विवेक से उसका बाध हो

चुका है। तथा मिथ्या पदार्थों की प्रतीति में बाधितानुवृत्ति स्वीकार करने पर भी समस्त कर्मों के कर्ता ये अधिष्ठानादि पाँच कारण 'मुझ सर्वात्मा में माया से कल्पित हैं और मुझ स्वयंप्रकाश असंग चेतन द्वारा कल्पित सम्बन्ध से प्रकाशित हैं, मैं तो कर्ता नहीं हूँ किन्तु कर्ता और उसके व्यापारों का साक्षी हूँ, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिवाली उपाधियों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध हूँ, समस्त कार्य और कारणों से असम्बद्ध हूँ, कूटस्थ, नित्य, अद्वितीय और सम्पूर्ण विकारों से शून्य हूँ ऐसा जो जान लेता है वह अहंकृत-भाव से शून्य है। 'यह पुरुष असंग ही है', 'आत्मा साक्षी, चेतन केवल और निर्गुण है', 'आत्मा प्राण और मन से रहित शुद्ध और अक्षर (प्रकृति) से परे जो पुरुष है उससे भी परे है'. 'आत्मा अजन्मा, महान् और नित्य है' 'संसाररूप सलिल में एक और अद्वितीय साक्षी है', 'यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है' तथा 'यह कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, निर्मल और निर्लेप है' इत्यादि श्रुतियों से भी यह सिद्ध होता है। इसी तरह 'यह अविकार्य कहा जाता है' 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जा रहे हैं', जिसका चित्त अहंकार से अत्यन्त मूढ़ है वह 'मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानता है', 'हे महाबाहो ! गुण और कर्मों के विभाग का रहस्य जाननेवाला तो 'गुण गुणों मे वर्तते हैं ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता', 'हे कौन्तेय ! वह शरीर में स्थित होनेपर भी न तो कर्म करता है और न उसके फल से लिप्त ही होता है' इत्यादि स्मृतियों से (गीता से) भी किस प्रकार अहंकृतभाव से शून्य होता है वह जाना जाता है। अतः आत्मा को इस प्रकार से जाननेवाले पुरुष का अहंकृतभाव नहीं होता है। **बुद्धिः यस्य न लिप्यते**—अतः 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी वास्तविक दृष्टि के कारण जिसकी बुद्धि (अन्तःकरण) लिप्त नहीं होती अर्थात् अनुशय से युक्त नहीं होती। 'यह कर्म मैंने किया है, इसका यह फल मैं भोगूँगा' इस प्रकार का अनुसन्धान [कर्तृत्ववासना-जनित लेप (आसक्ति)] अनुशय कहलाता है। पुण्यकर्म करनेपर हर्ष और पाप करनेपर पश्चात्ताप, ऐसे दोनों ही प्रकार के लेप से जिसकी बुद्धि (कर्तृत्वाभिमान का बाध हो जाने के कारण) लिप्त नहीं होती। ऐसी ही ज्ञानी के विषय में श्रुति भी है—'एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः'। अर्थात् इस प्रकार मैंने पाप किया और इस प्रकार मैंने

पुण्य किया—ये दोनों बातें ही इसे कोई प्रतिबन्ध नहीं करती, क्योंकि यह इन दोनों से पार हो जाता है। इसे किए हुए अथवा बिना किए हुए कर्म ताप नहीं पहुँचाते।' यह बात मन्त्र द्वारा भी कही गई है-एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।' अर्थात् ब्राह्मण की यह नित्य महिमा है कि वह कर्म से न तो बढ़ता है और न घटता है। उसे ही यह ब्रह्मपदरूप धन प्राप्त होता है। इसका ज्ञान हो जानेपर वह पापकर्म से लिप्त नहीं होता। 'पापकेन' यह पुण्य-पाप दोनों ही का उपलक्षण है। 'वर्धते' (बढ़ता है) और 'कनीयान्' (घटता है) ये पुण्य द्वारा परितोष और पापद्वारा पश्चात्ताप के अभिव्यञ्जक हैं। इस प्रकार जिसमें अहंकार का भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती' वह पूर्वोक्त (गीता १८।१६) दुर्मति से विलक्षण अच्छी बुद्धिवाला परमार्थदर्शी पुरुष केवल (अर्थात् असंग अद्वितीय) आत्मा को अकर्ता ही देखता है। वह कर्तृत्वाभिमान से रहित होने के कारण अनिष्टादि तीन प्रकार का भागी नहीं होता—इतना ही शास्त्र का तात्पर्य है। इसपर अहंकार के अभाव और बुद्धिलेप के अभाव की स्तुति करने के लिए कहते हैं—

हत्वा अपि सः इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते—इन समस्त लोकों को (प्राणियों को) मारकर भी (इनकी हिंसा करके भी) वह नहीं मारता अर्थात् अकर्तृस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेने के कारण हननक्रिया का कर्ता नहीं होता, अतः वह न तो बन्धन में पड़ता है और न उसका कार्य अधर्म से ही सम्बद्ध होता है।

यहाँ 'नाहंकृतो भावः' इसका फल तो 'न हन्ति' है और 'बुद्धिर्न लिप्यते' इसका फल 'न निबध्यते' है। इस कर्म के असंसर्ग प्रदर्शन के द्वारा उसकी (ज्ञानी की) केवल विशेषता दिखाई है, उसके द्वारा समस्त प्राणियों का हनन तो सम्भव ही नहीं है। 'हत्वापि' यह कर्तृत्व की विधि लौकिकी कर्तृत्वदृष्टि से है तथा 'न हन्ति' यह कर्तृत्व का निषेध शास्त्रीय परमार्थदृष्टि से है। इसलिए इनमें कोई विरोध नहीं है। गीताशास्त्र के आरम्भ में 'यह न तो मारता है और न मारा जाता है' (गीता २।१९) इस प्रकार से आत्मा में सर्वकर्मों के संस्पर्शित्व का निषेध कर 'न जायते' (गीता २।२०) इत्यादि हेतुवाक्यों से इसे सिद्ध करके 'वेदाविनाशिनम्' (गीता २।२१) इत्यादि वाक्यों से

संक्षेप में विद्वान् के सम्पूर्ण कर्माधिकार की निवृत्ति कही है। बीच में भिन्न-भिन्न प्रसंग द्वारा इसका विस्तार किया है तथा यहाँ शास्त्र का तात्पर्य इतना ही है यह दिखाने के लिए 'न हन्ति न निबध्यते' ऐसा कहकर उपसंहार किया है। इस प्रकार से अविद्या-कल्पित अधिष्ठानादि अनात्माओं के द्वारा किए हुए सम्पूर्ण कर्मों का आत्मज्ञान द्वारा सर्वथा उच्छेद होना सम्भव होने से वास्तविक (मुख्य) संन्यासियों को अनिष्टादि तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त नहीं होता, यह ठीक ही है। वास्तविक संन्यास तो अकर्ता आत्मा का साक्षात्कार करना ही है। इस प्रकार के परमहंसों के जैसे भिक्षाटनादि कर्म दिखाई देते हैं उसी प्रकार जनकादि के भी ऐसे ही संन्यासी होनेपर भी जो प्रबल प्रारब्धकर्म के कारण दूसरों की कल्पना द्वारा बाधितानुवृत्ति से कर्म देखे जाते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं है। इसी से ज्ञान का फलभूत विद्वत्संन्यास है, ऐसा कहा जाता है। साधनभूत विविदिषा संन्यास पहले तो ऐसा नहीं होता किन्तु पीछे ज्ञान उत्पन्न होने पर ऐसा हो जाता है, यह कहा जायगा।

टिप्पणी–(१) **श्रीधर—यस्य नाहंकृतः भावः**–जिसका अहंकृत यानी 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का भाव (अभिप्राय) नहीं है, अथवा जिसको अहंकार का भाव (स्वभाव) यानी कर्तापन का अभिमान नहीं है उसका भाव (स्वभाव) नाहंकृत है क्योंकि वह शरीर आदि का ही कर्मों में कर्तापन समझता है। **यस्य बुद्धिः न लिप्यते**—इसलिए जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती अर्थात् जो इष्ट-अनिष्ट भाव से कर्मों में आसक्त नहीं होता **सः**—वह ऐसा देहादि से पृथक् आत्मा को देखने वाला पुरुष **इमान् लोकान् हत्वा**—इन सब लोकों को (प्राणियों को) लोगों के देखने में मारकर भी **न हन्ति**—अपनी विवेकयुक्त दृष्टि से नहीं मारता है और **न निबध्यते** उनके फल से भी नहीं बँधता है यानी बन्धन को नहीं प्राप्त होता है। फिर अन्तः-करण की शुद्धि द्वारा परोक्ष ज्ञान की उपपत्ति को हेतुरूप कर्मों से उसके बन्धन की शंका तो हो ही कैसे सकती है? यह भाव है। पहले भी इसी प्रकार से कहा गया है कि 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन' (गीता ५।१०)

(३) **शंकरानन्द—**इस प्रकार से जिसका कर्ता अनात्मा ही है, ऐसे कर्म के विषय में अकर्ता जो आत्मा है उस आत्मा को ही 'मैंने यह किया' यों जो कर्ता

देखता है, वह पुरुष भले ही सैकड़ों बार वेदान्त को सुन चुका हो या सुना चुका हो, तथापि आत्मा के स्वरूप का परिज्ञाता न होने से दुर्मति ही है, ऐसा प्रतिपादन करके अब श्रुति, आचार्य और ईश्वर के प्रसाद से सम्पन्न सर्वदा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से उत्पन्न हुए ज्ञान से आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखने वाला जो विद्वान् अनात्मा (देहादि) द्वारा किये जाने वाले दुष्ट या शिष्ट (निषिद्ध और विहित) कर्म में आत्मा को अकर्ता ही देखता है, वही सुमति पण्डितोत्तम—है। वह शरीर निर्वाह आदि के लिए भोजन आदिरूप अथवा अन्य दुष्ट या अदुष्ट कर्म करके भी स्वयं अकर्ता ही रहता है, अर्थात् उपाधि द्वारा किए गये कर्म से किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'यस्य' इत्यादि से। **यस्य नाहंकृतः भावः**—ब्रह्मवित् आचार्य के प्रसाद से (प्रसन्नता से) सम्पन्न, सात्त्विक वेदविहित कर्मों से अनेक जन्मों तक आराधित परमेश्वर के अनुग्रह से युक्त, शुद्धात्मा, श्रवण आदि से जनित ज्ञान से क्षीर एवं नीर के समान आत्मा और अनात्मा के ज्ञातृज्ञेयरूप स्वरूप को भली-भाँति विवेक (पृथक्) कर उनमें से आत्मा में ही आत्मभाव को प्राप्त करके सदा आत्म स्वरूप से ही स्थित रहने वाले जिस महात्मा ब्रह्मवित्तम का अपने ज्ञेय (दृश्य) अविद्या के कार्य अधिष्ठान (शरीर) आदि के ही द्वारा विहित, प्रतिषिद्ध अथवा अन्य कर्मों के किए जाने पर भाव (जिससे भावना की जाती है यानी 'मैं' इस प्रकार ज्ञान होता है, वह भाव है अर्थात् अन्तःकरण) यानी 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इसप्रकार आत्मस्वरूप ब्रह्म में अहंभाव प्राप्त करके सर्वदा उसी के स्वरूप से वर्तमान एक प्रकार की अहमात्मक बुद्धि नाहंकृत भाव है। कर्म करने वाली उपाधि में अहंकरण अहंकृत भाव है। अतः ब्रह्माकारता को छोड़कर कर्ता के आकार से 'मैं हूँ', ऐसा अभिमान जिस भाव का नहीं है, वह नाहंकृत भाव है अर्थात् अधिष्ठान आदिरूप उपाधि ही अपनी वासना के अनुसार इस कर्म को करती है, मैं तो उपाधि और उसके कर्म दोनों का ही साक्षी हूँ तथा तटस्थ, निष्क्रिय ही हूँ, इस प्रकार ब्रह्मात्मस्वरूप से स्थित होकर चिरकालीन नित्य निरन्तर समाधि के अभ्यास के बल से आहार आदि कर्म करने के समय में भी कर्ता में अहंभाव के न होने को 'नाहंकृतः भावः' कहते हैं। **बुद्धिः यस्य न लिप्यते**—तथा जिस उक्त लक्षण वाले ब्रह्मवित् की बुद्धि लिप्त नहीं होती—'मैंने यह शुभ और अशुभ

कर्म किया', यों भावना युक्त नहीं होती। सारांश यह है कि जैसे धर्मशील की बुद्धि, 'मैंने यह धर्म किया और यह अधर्म किया', इस प्रकार से उस-उस कर्म से लिप्त होती है (धर्माधर्म के संस्कार से युक्त होती है) वैसे ब्रह्मवित् की 'मैंने यह दुष्ट या अदुष्ट कर्म किया', यों सामान्य या विशेष रूप से उनके संस्कारों से युक्त नहीं होती अर्थात् प्रतिछाया के समान अपने से भिन्न उपाधि द्वारा किए गये कर्म में 'मैं करता हूँ' 'मैंने यह किया' इस प्रकार की प्रतीति उसकी बुद्धि में उदित नहीं होती, क्योंकि उसके कर्म का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। 'मैं यह कर्म करता हूँ', इस बुद्धि से जिसके द्वारा जो कर्म किया जाता है, उसी की बुद्धि में 'मैंने यह किया', इस प्रकार की कर्तृत्व भावना और कर्मलेप होता है—अन्य की बुद्धि में नहीं, जैसे 'मैं स्नान करता हूँ' इस बुद्धि से स्नान करने वाले देवदत्त की बुद्धि में ही 'मैंने स्नान किया' यों कर्तृत्व भावना और उक्त कर्म से लेप होता है, तटस्थ यज्ञदत्त की बुद्धि में नहीं, वैसे ही प्रकृति में (ब्रह्मवित् की स्थिति के सम्बन्ध में) भी समझना चाहिए। यदि शंका हो विषम दृष्टान्त के द्वारा आप यह विपरीत ही कहते हैं कि ब्रह्मवित् को अपनी देह में (मैं) और उसके द्वारा किए गये कर्म में 'मैंने किया' ऐसी प्रतीति होती ही है क्योंकि विद्वान् का और विद्वान् के शरीर का परस्पर विभाग नहीं है तो यह शंका युक्त नहीं है. क्योंकि वे दोनों ज्ञातृत्व और ज्ञेयस्वरूप लक्षण से परस्पर भिन्न स्वभाव वाले होने के कारण, एक नहीं हो सकते। उन दोनों के एक होने पर ही उस प्रकार के व्यवहार का प्रसंग आवेगा, न तो देह विद्वान् है और न विद्वान् ही देह है। वे दोनों ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वरूप धर्म से घट और घट के ज्ञाता के समान भिन्न स्वभाव होने के कारण पृथक् ही हैं, एक नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध है। इसलिए अधिष्ठानादि रूप उपाधि से युक्त होकर वासना के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होने पर 'मैं करता हूँ' ऐसा जो अज्ञान का अहंप्रत्यय होता है, वह विद्वान् को नहीं होता है क्योंकि कर्ता से तादात्म्य का अभाव है। अतः 'मैंने यह किया', इस प्रकार से विद्वान् की बुद्धि में कर्तृत्वभावना और उसकी क्रिया का लेप नहीं होता। इसीलिए भगवान् कहते हैं—'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'। 'अननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेन' (विषम दृष्टान्त को देखकर) यह जो कहा था वह भी युक्त नहीं है क्योंकि विद्वान् और शरीर

दोनो ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप धर्म से विलक्षण होने के कारण परस्पर भिन्न हैं। ऐसी अवस्था में शरीर और उसके द्वारा किए गये कर्म में उससे भिन्न विद्वान् को 'मैंने यह किया', ऐसा प्रत्यय न होने के कारण दृष्टान्त युक्त ही है। इस प्रकार उपाधि, उसके धर्म और उसके कर्म से आत्मा का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार से ब्रह्मवित् का अप्रतिबद्ध ज्ञान ही नैष्कर्मसिद्धि का परम कारण है, यह सूचन करके अब उस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि का फल कहते हैं—**हत्वा अपि सः इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते**—इस प्रकार पाँच अनात्म दृश्यभूत अधिष्ठान आदि द्वारा किये जा रहे या चेष्टामात्र में अहंकार और ममकार से शून्य जो पुरुष है, वह विद्वान् इन तीनों लोकों को (लोक में स्थित देव, ऋषि, ब्राह्मण आदि सब प्राणियों को) मारकर भी (अपने हाथों से सबका हनन करके भी) किसी का हनन नहीं करता यानी स्वयं उस हनन क्रिया का कर्ता नहीं होता यह अर्थ है।

प्रश्न—यह तो अत्यन्त विरुद्ध कहते हैं कि ब्रह्मवित् स्वयं तीनों लोकों को मारकर भी नहीं मारता, क्योंकि जिसके द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह उस कर्म का कर्ता (कुमहार) आदि के समान होता ही है. ऐसा देखा जाता है फिर कैसे ब्रह्मवित् स्वयं सम्पूर्ण प्रपंच का संहार करके भी अकर्ता रहेगा? क्या वह [उक्त हननादि कर्मों में] अन्य पुरुष का नियोग करता है [इसलिए अकर्ता रहता है?] या स्वयं ही हननादि कर्म नहीं, क्योंकि हननादि में अन्य की नियुक्ति करने पर भी, राजा के समान, इनमें भी हननक्रिया हो सकती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'हत्वापि' इत्यादि कथन से विरोध होगा इसलिए हननक्रिया का कर्ता विद्वान् ही है, ऐसा यदि कहा जाय तो—

उत्तर—यह ठीक है कि जो जिसको करता या कराता है, वह उस कर्म का साक्षात् या क्रम से कर्ता ही होता है। परन्तु यह विद्वान् अपने से भिन्न करणों को न तो प्रयुक्त करता है और न तो आप ही करता है. किन्तु जैसे मेघस्थ चन्द्रमा मेघ में कर्म होने से कर्ता सा दीखता है किन्तु यथार्थ बुद्धि से विचार करने पर मेघ ही दौड़ने की क्रिया का जैसे कर्ता है, चन्द्रमा नहीं वैसे ही देह, इन्द्रिय आदि का अभिमानी विज्ञानात्मा ही हनन-क्रिया का कर्ता है, विद्वान् नहीं। कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप से स्थित विद्वान् का तो

अधिष्ठान आदि के साथ संयोग या समवाय हो नहीं सकता और उसके न होने से उनके (अधिष्ठान आदि के) द्वारा किए गये कर्म के प्रति वह कर्ता हो नहीं सकता इसलिए परमेश्वर ने कहा है—'हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति' (इन लोकों को मारकर भी वह नहीं मारता) । मूढ़ पुरुषों की दृष्टि से चंद्र के समान बाहर क्रियावान् सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में ब्रह्मवित् ब्रह्मभावापन्न होने से किसी क्रिया का भी कर्ता नहीं होता, इसलिए अकर्ता ब्रह्मवित् के उस कर्म के फल के साथ के सम्बन्ध का निषेध करते हैं—'न निबध्यति' इति । जिस कारण से निष्क्रिय ब्रह्म भावापन्न होने के कारण ब्रह्मवित्तम उपाधि के सम्बन्ध से रहित होने से स्वयं उपाधि द्वारा किये गये पुण्य, पाप या अन्य कर्म का कर्ता नहीं होता, इसीलिए वह बाँधा नहीं जाता—उसके कार्य द्वारा दृष्ट एवं अदृष्ट फल से संयुक्त नहीं होता क्योंकि कर्म दूसरे के द्वारा किए गये हैं—दूसरे के द्वारा किए गये कर्म दूसरे को लिप्त करने में और फल देने में समर्थ नहीं होते जैसे देवदत्त द्वारा किए गये कर्म से यज्ञदत्त लिप्त नहीं होता या बाँधा नहीं जाता, वैसे ही पहले या इस समय आत्मा में (मेरे द्वारा यह किया गया है इस प्रकार) अविद्या से अध्यस्त कर्म आकाश के समान अविक्रिय, आत्मा को लिप्त करने में और फल देने में समर्थ होते नहीं जैसे आकाश नील है, इस प्रकार अज्ञानियों द्वारा आरोपित नीलिमा से आकाश लिप्त नहीं होता और वह नीला भी नहीं होता है एवं जैसे मरुमरीचिका को भ्रान्ति में यह जल है यों अध्यस्त जल से मरुभूमि जलयुक्त नहीं होती है और न गीली ही होती है, वैसे ही आरोपित दृष्ट या अदृष्ट कर्म से निरवयव, कूटस्थ आत्मा क्रियावान् नहीं होता और उसके फल से युक्त भी नहीं होता । जिस कारण से ऐसा है, इसलिए आत्मा में ही आत्मभाव को प्राप्त करने वाला आत्मवित् यति अपनी अविक्रिय आत्मदृष्टि से कूटस्थ 'मैंने न पहले और न अब कुछ किया है' इसप्रकार बारम्बार अपने याथात्म्य का (यथार्थ स्वरूप का) अवलम्बन करने पर उससे उत्पन्न हुए विज्ञान के बल से संचित आदि सब कर्मों से निर्मुक्त होने के कारण उन कर्मों के जन्मादि और दुःखादि फल उस विद्वान् को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, यही कहने का अभिप्राय है । इससे तीनों लोकों में स्थित सब प्राणियों का घात (हनन) करने पर भी ब्रह्मवित् में उक्त हनन-क्रिया और उसके द्वारा उत्पन्न हुए प्रत्यवाय का (पाप का) लेश भी नहीं हो सकता

हैं। यही ब्रह्मज्ञान की महा अद्भुततर महिमा है जो संसाररूपी बंध के उच्छेद में हेतु है। 'मारकर भी इन लोगों को वह न मारता है और न तज्जनित पाप से लिप्त होता है, इससे ज्ञान के स्वाभाविक माहात्म्य की स्तुति की जाती है। किन्तु ऐसा सूचन नहीं किया जाता है कि नित्य निरन्तर समाधि की निष्ठा (स्थिति) से जिसने सम्पूर्ण वासनारूपी ग्रन्थि जला दी है, ऐसे स्वात्माराम, स्वानन्दामृतरूप रस को पीने वाले, नित्यतृप्त सर्वात्मदर्शी महात्मा विद्वान् की हननादि क्रिया में प्रवृत्ति होती है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति के हेतुरूप अविद्या, काम आदि का समाधि से उच्छेद हो गया है। पर और अवर के (जीव और ब्रह्म के) एकत्व विज्ञान से जिसका द्वैतदर्शन दग्ध हो गया है, ऐसे ब्रह्मवित् यति का (जिसका केवल शरीरयात्रा ही प्रयोजन है) कहीं ऐसे आहार विहार आदि-रूप दुष्ट या अदुष्ट कर्म से सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सूचित होता है। श्रुति भी कहती है—'तं विदित्वा' न लिप्यते कर्मणा पापकेन' अर्थात् उसको जानकर पापरूप कर्म से लिप्त नहीं होता और 'यथा पुष्करपलाशं आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' अर्थात् जैसे कमल के पत्तों को जल स्पर्श नहीं करता वैसे ही इसप्रकार आत्मा के जानने वाले पुरुष को पापरूप कर्म कहीं स्पर्श नहीं करता।

(४) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती चार श्लोकों में अत्यागी की किस प्रकार की गति होती है वह कही गई है। अत्यागी अहंकार का त्याग नहीं कर सकता है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर उसमें जिसने स्थिति लाभ किया है वही अहंकार का त्याग कर सकता है। इसलिए सोलहवें श्लोक में कहा गया है कि आत्मज्ञानहीन (अकृत बुद्धि वाला) पुरुष दुर्मति होता है अर्थात् आत्मा से विलक्षण देहादि में ही आत्मबुद्धि करके निःसंग (केवल) आत्मा को कर्ता, भोक्ता इत्यादि रूप से अभिमान करता है एवं इस कारण से ही जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पुनः पुनः भ्रमण करता है। इससे विपरीत पुरुष 'शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ—तथा मैं देहादि के तथा उनके कर्म एवं कर्मजनित फल का द्रष्टा हूँ, अतः मेरा न तो कोई कर्म है और न तो किसी कर्म फल का मुझे प्रयोजन है' इस प्रकार निश्चय करके जो कृतबुद्धि (स्थिरबुद्धि वाला) हो चुका है वही अहंकार का त्याग करने में समर्थ होकर सुमति होता है एवं मोक्षरूप परमफल को प्राप्त करने के योग्य होता है क्योंकि उसको कर्म या कर्मफल स्पर्श नहीं कर सकता। यही अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—

शुद्धबुद्धि सम्पन्न ज्ञानी को सर्वकर्म का त्याग करके ब्राह्मी स्थिति (आत्मनिष्ठा) के प्राप्त होने पर अहंकार का (देहादि में आत्मबुद्धि का) स्वतः त्याग हो जाता है क्योंकि उसकी दृष्टि में आत्मातिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व न रहने के कारण 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का अहंकृत भाव (भावना अर्थात् चित्तवृत्ति) नहीं रहता है। प्रश्न होगा कि अहंकार का त्याग केवल ज्ञानी ही कर सकता है या भक्त के लिए भी सम्भव है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि ज्ञानी जिस प्रकार नाम-रूपात्मक प्रपंच के मिथ्यात्व का निर्णय करके आत्मस्थिति द्वारा अहंकार का त्याग कर देता है, भक्त अपने को भगवान् का दास मानकर ('दासोऽहम्' ऐसा अभिमान रखकर) पहले भगवान् की सेवा रूप से सभी कर्तव्य कर्म करते हुए अन्त में अपनी निरन्तर ध्येय वस्तु भगवान् में ही अपनी जीवसत्ता को लय करके अहंकार को त्याग देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे कर्मों की फलाकांक्षा त्याग करके कर्म करते हुए मुमुक्षु चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्तकर सर्व कर्म का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार भक्त भी 'दासोऽहम्' ऐसा अभिमान रखकर भगवान् के लिए ही कर्म करते हुए क्रमशः अहंअभिमान (अहंकार) तथा अहंकारजनित कर्मों का परित्याग करके शुद्धचैतन्य स्वरूप परमात्मा (भगवान्) को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए गीता में भी कहा है कि ज्ञानमार्ग से जो पद प्राप्त हो सकता है भक्तियोग द्वारा भी वही पद (स्थान) प्राप्त होता है। (गीता ५।५)

प्रश्न—सर्वकर्मत्यागी संन्यासी के अहंकार का (कर्तृत्वाभिमान) किस प्रकार से त्याग हो जाता है ?

उत्तर—प्रथम अवस्था में स्थित कल्याणकामी व्यक्ति के लिए निष्कामभाव से तथा ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान का विधान शास्त्र में किया गया है क्योंकि उसके (उस प्रकार के कर्मयोग के) बिना किसी की भी चित्तशुद्धि होनी असम्भव है एवं चित्तशुद्धि के बिना कोई भी ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग या अष्टाङ्गयोग मार्ग में यथार्थ अधिकारी नहीं हो सकता है। अतः कर्मयोग से चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर विवेक सम्पन्न पुरुष को यह बोध होता है कि—

(१) अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (अहंकार से विमूढ़ जीव), करण (इन्द्रियाँ), प्राणों की पृथक्-पृथक् चेष्टा एवं दैव (इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता) ये पाँचो मन, शरीर एवं वाणी से जो कुछ कर्म किया जाता है उसका कारण हैं।

(२) चैतन्यस्वरूप आत्मा उन पंच कारणों का तथा कर्म एवं कर्मफल का साक्षीमात्र है। अतः वह न तो कर्ता है, न तो कारयिता है।

(३) उक्त पंच कारण तथा प्रकृति से उत्पन्न हुए विश्वप्रपंच सभी जड़ हैं किन्तु निष्क्रिय, अविकारी एवं उदासीन के समान स्थित सर्वव्यापी आत्मा की सन्निधि-मात्र से ये सब जड़ पदार्थ चेतन से प्रतीत होकर कर्म करते हैं एवं उनके कर्म आत्मा में आरोपित कर आत्मा को अज्ञानी पुरुष कर्ता मानते हैं तथा कर्मफल में आसक्त होकर दुःखमय संसार प्रवाह में पतित होते हैं।

(४) नित्य, अविकारी, पूर्ण (असीम), आनन्दघन चैतन्यस्वरूप आत्मा की कोई इच्छा या प्रयोजन नहीं हो सकता और न तो उससे सम्पूर्ण विपरीत धर्मविशिष्ट [अनित्य, विकारी, परिच्छिन्न, सीमित दुःखमय] जड़ प्रपंच में किसी वस्तु के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो सकता है। अतः आत्मा में क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति की विद्यमानता भी अज्ञानकल्पित ही है क्योंकि श्रुति में कहा है—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परात्परतः परः केवलोऽविक्रियः' इति (मु० उ० २।१।२) क्रियाशक्ति प्राण की शक्ति है, जब उक्त श्रुति कहती है कि आत्मा अप्राण है तो आत्मा में क्रिया-शक्ति का होना सम्भव कैसे हो सकता है ? स्वाभाविक ज्ञानशक्ति (विशेष-विशेष वस्तु को विशिष्ट रूप से जानने की शक्ति) मन को शक्ति है, आत्मा जब अमना है तो आत्मा में विशेष ज्ञानशक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? फिर आत्मा जब स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है तो उसमें ज्ञानशक्ति की कल्पना भी भ्रममात्र ही है। अतः आत्मा में ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का अभाव रहने के कारण आत्मा शुद्ध है। इसलिए श्रुति ने कहा वह शुभ्र है। आत्मा में कारण का भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि कारण के साथ संबन्ध रहने पर भी अशुद्धि तथा अनित्यता की आशंका होती है। इसलिए आत्मा को 'अक्षरात्परतः परः' अर्थात् अक्षर प्रकृति से भी परे है, ऐसा कहा गया है। कार्य और कारण किसी के

साथ सम्बन्ध न रहने के कारण आत्मा केवल (असंग) है और जन्मादि कोई भी विक्रिया (परिणाम) उसमें न रहने के कारण वह अविक्रिय (विकाररहित) है। इसी कारण अन्य श्रुतियों में भी कहा है—'असंगो ह्ययं पुरुषः' 'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च' 'एको द्रष्टा अद्वैतः', 'निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि। श्रुति में इस प्रकार से आत्मा का निष्क्रियत्व निर्विकारित्व एवं केवलत्व सिद्ध किया गया है, तो भी आत्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सबका कारयिता (प्रेरयिता) है, ऐसा कहा गया है वह मायायुक्त (सगुण) आत्माको लक्ष्य करके ही कहा है। बाह्य (नामरूप आदि), आन्तरिक (इच्छा, द्वेष, राग क्रोध इत्यादि) सभी दृश्यपदार्थ माया से सृष्ट हुए हैं अर्थात् माया की **विक्षेपशक्ति द्वारा**—आत्मारूप अधिष्ठान में ये सब प्रतीत होते हैं। **माया की आवरणशक्ति द्वारा**—द्रष्टात्मा एवं माया व प्रकृति से उत्पन्न हुए मन, देह इत्यादि का भेदभाव लुप्त होकर दृग्दृश्य में एकात्मबुद्धि होने पर मनकी इच्छाशक्ति, प्राण की क्रियाशक्ति एवं बुद्धि की ज्ञानशक्ति आत्मा में आरोपित होने से आत्मा को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है इस प्रकार द्रष्टा व दृश्यका एकात्मज्ञान ही मूल अज्ञान है एवं वही अहंकार का हेतु है एवं वही संसार का कारण है। इसलिये श्रुति में कहा है—

> **शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपवृतिरूपकम्।**
> **विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥**
> **अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।**
> **आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥**

माया की शक्ति है विक्षेप और आवरण। विक्षेपशक्ति द्वारा आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त समस्त जगत की सृष्टि हुई है तथा आवरणशक्ति के द्वारा भीतर चैतन्यस्वरूप द्रष्टा एवं विश्व के भेद तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद आवृत्त होते हैं एवं इसी कारण रज्जू में सर्पभ्रान्ति के समान ब्रह्म में सृष्टिरूपभ्रम अथवा द्रष्टा दृश्यरूपभ्रम उत्पन्न होता है। यह भ्रम ही संसार का कारण है। अतः प्रकृति से पुरुष का (आत्मा का) भिन्नत्वज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। नामरूप विशिष्ट जगत् मायामय (मिथ्या) होने के कारण नामरूपात्मक विश्वप्रपंच ब्रह्म नहीं है किन्तु उस विश्वप्रपंच की जो 'अस्ति-भाति-प्रियरूप' अधिष्ठानसत्ता है वही ब्रह्म है। 'वासुदेवः सर्वमिति' इस वाक्य का

यही तात्पर्य है अर्थात् नित्यसत्यब्रह्मस्वरूप वासुदेवको अधिष्ठान करके ही मायाकल्पित (मिथ्या) विश्वप्रपंच प्रतीत हो रहा है, अतः वासुदेव के बिना किसी वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है यही कहने का अभिप्राय है।

जिसने इस प्रकार से आत्मा का यथार्थस्वरूप जान लिया वह माया व प्रकृति से आत्मा को पृथक् करने में समर्थ होता है। अतः अनात्म देहादि में आत्मा के अध्यास द्वारा अहंकार की उत्पत्ति हुई थी वह नष्ट हो जाने के कारण उस विद्वान् पुरुष के 'अहंकृत भाव' (मैं कर्ता हूँ इस प्रकार की वृत्ति) का भी समूल नाश हो जाता है। जो लोग अज्ञानी हैं वे ही देहभृत् हैं एवं उनको लक्ष्य करके ही भगवान् ने कहा—'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' (गीता १८।११) 'न हि कश्चित्-क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः (गीता ३।५)–ज्ञानी को (अर्थात् अनात्म देहादि से आत्मा का विवेक कर जो आत्मनिष्ठ हो गये हैं उनको) लक्ष्य करके ऐसा नहीं कहा गया है क्योंकि उनका कोई कार्य नहीं रहता है (गीता ३।१७)।

प्रश्न—तुम ही (भगवान् ही) परमात्मा हो फिर तुम्ही आत्ममाया से अवताररूप से युग-युग में धर्मों को प्रतिष्ठित तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए आविर्भूत होते हो फिर तुम्हीं मुझे युद्ध करने के लिए प्रोत्साहन दे रहे हो एवं भीतर के कामादि शत्रुपर विजय प्राप्त करने के लिए उपदेश दे रहे हो, अतः सर्वात्मा तुम कर्ता वा कारयिता नहीं होते हो यह कैसे सम्भव है अर्थात् आत्मा में अहंकृतभाव का अभाव कैसे हो सकता है?

उत्तर—भगवान्, ब्रह्म, ईश्वर, जीव ये सभी अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप में परम-शान्त, चलनरहित, निष्क्रिय तथा एक (अद्वितीय) हैं। त्रिगुणमयी माया से ही वह शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् विश्वनियन्ता ईश्वररूप से सबका कर्मफल विधाता हैं, ऐसा प्रतीत होता है एवं अविद्या के अधीन होकर ही वह चैतन्यस्वरूप भगवान् जीवरूप में बद्ध से प्रतीत होता है। ईश्वरत्व तथा जीवत्व दोनों ही मायिक या कल्पित हैं। अतः बद्धमोक्षभाव भी कल्पित अर्थात् मिथ्या है। माया के कार्य शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् में (ब्रह्म में) आरोप करके ही कहा जाता है कि ईश्वर जगत् का सर्जनादि कार्य कर रहे हैं एवं

जीव को कठपुतली के समान नचा रहे हैं (गीता १८।६१) अथवा जीव कर्मों के फलरूप से संसार में बद्ध होता है। जिस प्रकार रज्जू में सर्पभ्रान्ति होनेपर सर्प का फन, डंसन की प्रचेष्टा इत्यादि कर्म भी रज्जू में आरोपित होते हैं उसी प्रकार माया या अज्ञानजनित कर्म तथा जन्म-मृत्यु, बन्धन, मोक्ष इत्यादि आत्मा में आरोपित करके ये सब आत्मा का धर्म हैं ऐसा मानना भी भ्रान्तिमात्र ही है।

प्रश्न—इस प्रकार की भ्रान्ति को मिटाने के उपाय क्या हैं?

उत्तर—माया के तीन गुण हैं जो सदा ही एक साथ रहते हैं किन्तु जब अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में वे आ जाते हैं तो उनकी साम्य-अवस्था न रहने के कारण उनके कार्य में तारतम्य (कमी-बेसी) दिखाई पड़ता है। पूर्वजन्मार्जित शुभ कर्म के संस्कार के कारण एवं इस जन्म के प्रयत्न के फल से चित्तशुद्धि उत्पन्न होने के पश्चात् जब तमोगुण अभिभूत होकर सत्त्वगुण प्रकट होता है तो उस अवस्था को शुद्धसत्त्व कहा जाता है। शुद्धसत्त्व भी मायिक ही है अर्थात् जड़ है। असंग, स्थिर, शान्त, चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से वह भी माया से उत्पन्न हुई अन्यान्य पदार्थ के समान चेतनावान् होकर जब शुद्धचैतन्यस्वरूप अधिष्ठान में कार्य करता है तब उस चैतन्य को अर्थात् शुद्धसत्त्वयुक्त चैतन्य को 'ईश्वर' कहा जाता है। अतः मुमुक्षु साधन के फल से जब शुद्धसत्त्व अवस्था को प्राप्त करता है तो उसके अन्दर दो प्रकार की गति चलती है–(१) अन्तःकरण की निवृत्तिमार्ग के प्रति गति तथा देहादि की पूर्व संस्कारवश प्रवृत्तिमार्ग के प्रति गति। इसी अवस्था में ही इस देहरूप क्षेत्र में दो क्षेत्र प्रकट होते हैं एक धर्मक्षेत्र अर्थात् जो देह, मन, प्राण सबको धारण करके रखे हुए हैं उस शाश्वत धर्मस्वरूप परमात्मा के साथ मिलने के लिए तीव्रसंवेग एवं (२) कुरुक्षेत्र अर्थात् रजो एवं तमोगुण के वशीभूत होकर देह इन्द्रियादि की काम क्रोधादि के प्रति प्रवृत्ति। इस अवस्था में ही अन्तःकरण में कुरु और पांडवों में युद्ध का आरम्भ हो जाता है। चैतन्ययुक्त शुद्ध सत्त्व ही उसी अवस्था में जीवनरथ का सारथि होकर श्रीकृष्णरूप से उपदेश देता रहता है एवं देहाभिमानी रजो एवं तमो गुण के आश्रयीभूत अर्जुन उस उपदेश को सुनता रहता है एवं जैसा-जैसा सुनता है वैसा ही कामक्रोधादि का संस्कार भगवान् में अर्पित होकर क्रमशः शुद्धसत्त्व में लीन होता रहता है। सत्त्वगुण से

सम्पन्न होने पर ही देहाभिमानी जीव अर्जुन अर्थात् शुद्धबुद्धि होता है एवं सत्त्वमय मूर्तिधारी श्रीकृष्ण के उपदेश को ग्रहण करने में समर्थ होता है। सत्त्वगुण की स्वतः ही ऊर्ध्वगति है (इसलिए गीता में कहा है–'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः')। अतः शुद्धसत्त्वमय श्रीकृष्ण जब हृदय में अवतीर्ण होते हैं तो वे भी विश्वप्रपंच से ऊर्ध्व में स्थित अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप में जबतक जीवात्मा को पहुँचा नहीं देते हैं तबतक उनकी वाणी का विराम नहीं होता है। राग द्वेष, काम क्रोधादि रजो एवं तमोगुण का स्वाभाविक कार्य है एवं सत्त्वगुण का कार्य है उन काम क्रोधादि पर विजय की चेष्टा। अतः श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति काम-क्रोधादि पर जय करने के लिए, तथा राग-द्वेषादि के वशीभूत न होने के लिए जो-जो उपदेश दिये गये हैं वे सात्त्विक भाव को उद्दीपित करने के लिये ही हैं। अतः जितने भी उपदेश शास्त्रों में दिये गये हैं उनका उपदेष्टा है चैतन्ययुक्त शुद्धसत्त्व। यह चैतन्यदीप्त शुद्धसत्त्व ही सगुण ब्रह्म का 'वरण्यो भर्ग' है, वही निष्क्रिय आत्मा की क्रियाशील अवस्था है, एवं अमूर्त आत्मा की ईश्वरमूर्ति है, किन्तु यही श्रीकृष्ण, श्रीचण्डी, श्रीदुर्गा, श्रीराम है। इसके संयोग से ही शुद्धचैतन्य-स्वरूप आत्मा के कृष्ण, राम आदि मूर्ति की कल्पना की जाती है एवं इस 'श्री' अर्थात् शुद्धसत्त्वमयी माया से वियुक्त होनेपर ही सीता का वनवास या राधा के साथ विरह होकर आत्मस्वरूप राम या कृष्ण अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शुद्धसत्त्वगुण प्रबल होनेपर ही उर्ध्व से उर्ध्व गति का आरम्भ होता है एवं परमूर्ध्व नित्यशुद्ध परमात्मा में पहुँचकर तथा उसमें स्थिति लाभ कर के ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिए श्रुति में कहा है 'सा काष्ठा स परा गतिः'। अविद्या के वशीभूत जीव इस शुद्धसत्त्व के (ईश्वर के) आश्रय के बिना अपने स्वरूप का साक्षात्कार करके परमानन्द या परमशान्ति को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। पहले कहा जा चुका है कि सत्त्व, रजः तथा तमः, ये तीनों गुण सदा एकसाथ रहते हैं। अतः मुमुक्षु के लिए पहले रजो एवं तमोगुण का परित्याग करके सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए सर्व प्रकार से प्रयत्न करना आवश्यक होता है। आहारशुद्धि, यज्ञ (विशेषकर ज्ञानयज्ञ), दान, तप इत्यादि इस उद्देश्य के लिए (शुद्धसत्त्व अवस्था में पहुँचने के लिए) सहायक हैं। इसलिए साधन का क्रम भगवान् ने ऐसा कहा–'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम

आत्मवान्' (गीता २।४५) निष्काम कर्मयोग द्वारा चित्तशुद्धि होनेपर जीव निर्द्वन्द्व (राग-द्वेष रहित) हो जाता है एवं उसके पश्चात् राग-द्वेष के हेतुभूत रजो एवं तमोगुण के अभिभूत होने पर 'नित्यसत्त्वस्थ' होता है अर्थात् निरन्तर सत्त्वगुण में स्थिति लाभ करता है। उसी अवस्था में आत्मानन्द का आभास सत्त्वप्रधान अन्तःकरण में प्रतिफलित होने के कारण विषयसुख की वासना का नाश हो जाता है क्योंकि आत्मानन्द अतिशय एवं पूर्ण है और विषयानन्द क्षणिक, तुच्छ एवं परिच्छिन्न है। अतः आत्मानन्द का संस्पर्श प्राप्त होकर जीव निर्योगक्षेम होता है अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति एवं प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिए उसकी कोई वासना या प्रचेष्टा नहीं रहती है। अतः वह आत्मवान् होता है अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार से साधक देहादिक कार्यों में अहंकार के भाव से (वृत्ति से) रहित होते हैं।

प्रश्न—अहंकृतभाव नष्ट होने के पश्चात् बुद्धि कर्मों का फलभोग करने में लिप्त नहीं होती है ?

उत्तर—अहंकार या कर्तृत्वाभिमान रहने पर ही 'मैंने ऐसा किया', 'इसका फलभोग मैं करूँगा' इस प्रकार की भावना के द्वारा बुद्धि, कर्म तथा कर्मफल में लिप्त होती है अर्थात् 'मैंने पाप किया अतः मुझे नरक में जाना पड़ेगा, फिर इस प्रकार शुभ यज्ञादि का अनुष्ठान किया इसलिए मुझे उसके फल भोगने के लिए पुण्य स्वर्गादि लोक में जाना होगा', इस प्रकार सोचकर बुद्धि अनुशयवती (क्लेशशालिनी) होती है अर्थात् इस प्रकार से कर्मफल की वासना ही क्लेश की उत्पत्ति का हेतु बन जाती है। जिसका अहंकृतभाव (कर्तृत्वाभिमान) नष्ट नहीं हो गया है उसकी बुद्धि कर्म एवं कर्मफल में लिप्त होगी-क्योंकि कर्तृत्वाभिमान के साथ राग-द्वेष का भी रहना अवश्यंभावी है। अतः अहंकार रहते हुए यदि कोई केवल शास्त्रवाक्य सुनकर ही कहने लगे कि "आत्मा में स्वर्ग या नरक का भोग नहीं है–पाप अथवा पुण्य जो कुछ किया जाय वह आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता है क्योंकि श्रुति में आत्मा को अपापविद्ध कहा है" तो वह कपटाचारी, आत्मप्रतारक एवं लोकप्रतारक ही होगा। सुनने से तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्म का आत्मारूप से अपरोक्ष अनुभव नहीं होता है। गुरुमुख से वेदान्तादि शास्त्रवाक्य सुनने पर ही जो श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होता है उसे ही परोक्षज्ञान

कहा जाता है। उसके पश्चात् मनन तथा निदिध्यासन से (निर्विकल्पसमाधि से) आत्मसाक्षात्कार करने पर 'आत्मा अकर्ता है' यह प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) अनुभव होता है एवं इस प्रकार अनुभव के फलरूप से ही सर्वकर्म का त्यागरूप परमार्थ (मुख्यसंन्यास) सम्भव होता है अर्थात् देहादि में अहंकार के भाव का अभाव होनेपर देहादिकृत पाप पुण्य के साथ सर्वप्रकार से सम्बन्धशून्य होता है, यही 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इस वाक्य का तात्पर्य है।

प्रश्न—इस प्रकार के ज्ञान का फल क्या है ?

उत्तर—जिसका अहंकार नष्ट हो गया है एवं जिसकी बुद्धि कर्म या कर्मफल में लिप्त नहीं होती है वह यदि समस्त प्राणियों की देहादि से हत्या कर दे (मार दे) तो भी वह स्वयं हत्या नहीं करता है एवं उस हननरूप क्रिया के पाप से बद्ध नहीं होता है।

प्रश्न—यदि ज्ञानी के लिए सिद्धान्त इस प्रकार हो तो सभी व्यक्ति नाना प्रकार से पापाचरण करके भी 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस प्रकार कहकर अशेषभ्रष्टाचार फैला सकते हैं। अतः इस प्रकार की वाणी तो बहुत ही अनर्थकर हो जायगी।

उत्तर—अज्ञानी तो सभी शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त का अपनी इच्छा के अनुसार व्यभिचार कर सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जबतक निर्विकल्पसमाधि से ब्रह्म और आत्मा के एकत्व की अपरोक्षअनुभूति न हो तबतक अहंकार का मूलसहित नाश होना सम्भव नहीं है। शुभाशुभ कर्म तथा पाप पुण्य के संस्कार एवं उनके फल ये सभी माया व प्रकृति से उत्पन्न हुए अहंकार का आश्रय करके रहते हैं। जिसका अहंकार (मैं कर्ता हूँ इस प्रकार का अभिमान) आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है उसका किसी विषय के लिए प्रयोजन न रहने के कारण वह स्वयं किसी जीव की हत्या नहीं कर सकता क्योंकि वह सर्वभूतों में अपने आत्मा को ही देखता है। अतः इस श्लोक में परमतत्त्व के साक्षात्कार द्वारा अहंकार का त्याग ही सर्वदुःख की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, यह प्रतिपादित करने के लिए अहंकार के त्याग की स्तुति की गई है। श्रुति भी कहती है–'नैनं पुण्यपापे स्पृशतः' (अहंकार शून्य–आत्मनिष्ठ पुरुष को पुण्य या पाप स्पर्श नहीं कर सकता है), 'उभेत्वेष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः' [अर्थात् ज्ञानी पाप-पुण्य से मुक्त हो जाते हैं, कुछ करें या न करें वे किसी

प्रकार से ताप (दुःख) को प्राप्त नहीं होते हैं], 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।' अर्थात् ब्राह्मण की (ब्रह्मज्ञानी की) यह नित्य महिमा है कि वह कर्म से न तो बढ़ता है, न घटता है। उसे ही यह ब्रह्मपदरूप धन प्राप्त होता है। इसका ज्ञान हो जानेपर वह पापकर्म से (अर्थात् पाप या पुण्य कर्म से) लिप्त नहीं होता।

पूर्व श्लोक में शास्त्र के आशय का उपसंहार करके कर्मों का प्रवर्तक कौन है ? यह बताया जाता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

अन्वय—ज्ञानम् ज्ञेयम् परिज्ञाता इति कर्मचोदना त्रिविधा, करणम् कर्म कर्ता इति कर्मसंग्रहः त्रिविधः।

अनुवाद—ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता ये तीन प्रकार की कर्मचोदना हैं (कर्म की प्रेरणा के तीन प्रकार के भेद हैं) और करण, कर्म, एवं कर्ता ये तीन कर्मसंग्रह (क्रिया के आश्रय के प्रकार) हैं।

भाष्यदीपिका—ज्ञानम्—जिससे कोई पदार्थ जाना जाय वह ज्ञान है। [जिस क्रिया के द्वारा विषयसमूह प्रकाशित होता है वह ज्ञान है (मधुसूदन)।] यहाँ 'ज्ञान' शब्द से सामान्यभाव सर्वपदार्थविषयक (सर्वपदार्थ को प्रकाश करनेवाला) ज्ञान कहा है **ज्ञेयम्**—जो कुछ ज्ञातव्य (जानने में आनेवाला पदार्थ) है वह ज्ञेय है। यह भी सामान्यभाव से समस्त विषय को लक्ष्य करके कहा गया है तथा **परिज्ञाता**—उपाधियुक्त अविद्याकल्पितभोक्ता [ज्ञान और ज्ञेयका आश्रय अर्थात् अन्तःकरण रूप उपाधि से परिकल्पित भोक्ता को परिज्ञाता कहते हैं (मधुसूदन)।] भाष्य में परिज्ञाता को (भोक्ता को) अविद्याकल्पित कहने से यह अवस्तु (मिथ्या) है, यह निर्देश किया गया है **इति त्रिविधा कर्मचोदना**—इस प्रकार जो इन तीनों का समुदाय है वही सामान्यभाव से समस्त कर्मों का प्रवर्तक होने के कारण कर्मचोदना (कर्म की प्रवर्तक) तीन प्रकार की है [ज्ञान, ज्ञेय एवं परिज्ञाता (भोक्ता) इन तीनों के मिलने पर ही

ग्रहण एवं त्यागरूप समस्त कर्मों का आरम्भ होता है। अतः ये तीन ही समस्त कर्मों के प्रवर्तक हैं। इसीसे कहा है—तीन प्रकार की कर्मचोदना है। 'चोदना' प्रवर्तक को कहते हैं। यद्यपि शवर स्वामी के मत में चोदनादि क्रिया के प्रवर्तक वचन को कहते हैं किन्तु भट्ट के मतानुसार चोदना, उपदेश एवं विधि ये एक अर्थ के वाचक हैं। यहाँ शक्यार्थ (क्रियाप्रवर्तकवचनत्व) का त्यागकर प्रवर्तकमात्र में उसकी लक्षणा की जाती है क्योंकि ज्ञानादि में वचनत्व का अभाव होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेरणीयत्व और प्रेरकत्व अनात्मा के ही धर्म हैं—आत्मा के नहीं (मधुसूदन)।] अब अधिष्ठानादि पाँच हेतुओं से जिसकी उत्पत्ति है, तथा मन, वाणी और शरीररूप आश्रय के भेद से जिसके तीन वर्ग (राशि) किये गये हैं, ऐसे समस्तकर्म करण कर्म एवं कर्ता इन तीनों कारणों में संगृहीत हैं। यही अब कहा जाता है—**करणम्**—जिसके द्वारा कर्म किया जाय अर्थात् हस्तपादादि पंचकर्मेंद्रियाँ एवं श्रोत्र चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दश बाह्य करण एवं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरण, **कर्म**—जो कर्ता का अत्यन्त इष्ट (अभिलषित) है एवं जो क्रिया द्वारा सम्पादन किया जाता है वह कर्म है [यह कर्म चार प्रकार का होता है (क) **उत्पाद्य**—किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए जो कर्म किया जाता है; **आप्य**—किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए जो कर्म होता है; **विकार्य**—एक वस्तुको दूसरी वस्तु में परिवर्तित करने के लिए जो क्रिया की जाती है; **संस्कार्य**—किसी वस्तु का संस्कार (शोधन) करने के लिए जो कर्म किया जाता है।] **कर्ता**—श्रोत्रादि करणों को अपने-अपने व्यापार में नियुक्त करनेवाला (अन्तःकरणरूप) उपाधियुक्त जीव [अन्य कारकों से अप्रयोज्य होते हुए समस्त कारकों का प्रयोजक अर्थात् क्रिया की निष्पत्ति करनेवाले चित् और अचित् के ग्रन्थिरूप जीव को कर्ता कहा जाता है (मधुसूदन)] **इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः**—इस प्रकार यह त्रिविध कर्म संग्रह है [जिसमें कर्म संगृहीत (समवेत) है उसे कर्मसंग्रह (कर्म का आश्रय) कहते है यहाँ 'इति' शब्द 'च' अर्थ में है अर्थात् सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी इन तीन राशियों के (करण, कर्म एवं कर्ताओं के) ही अन्तर्गत हैं, यही 'इति' शब्द के द्वारा सूचित किया गया है। अतः इन तीनों रूपों में छहों कारक ही क्रिया के आश्रय हैं—कूटस्थ आत्मा नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म का प्रेरक और कर्म का आश्रय ये दोनों कारकरूप ही हैं एवं त्रिगुणात्मक हैं। अतः अकारकस्वरूप तथा गुणातीत-आत्मा समस्त कर्ममात्र के संस्पर्श से रहित है, यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—'मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है', इसी बात का उपादान करने के लिए आश्रय और कर्मफल आदि के त्रिगुणात्मक होने के कारण निर्गुण आत्मा का उनसे सम्बन्ध नहीं होता—इस अभिप्राय से कर्म-चोदना और कर्माश्रय का वर्णन करते हैं—**ज्ञानं ज्ञेयम् परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना**—ज्ञान अर्थात् यह अभीष्ट प्रयोजन का साधन है ऐसा बोध, ज्ञेय अर्थात् अभीष्ट प्रयोजन का साधनभूत कर्म, और परिज्ञाता अर्थात् इस प्रकार के ज्ञान का आश्रय। ऐसी तीन प्रकार की कर्मचोदना है। जिससे मनुष्य को कर्म में प्रेरित (प्रवृत्त) किया जाय वह चोदना है। भाव यह है कि ज्ञान आदि तीनों कर्म-प्रवृत्ति के हेतु हैं। अथवा 'चोदना' शब्द से विधि कही जाती है। यह बात भट्टजी ने कही है—'चोदना' उपदेश और विधि—ये तीनों एक अर्थ के वाचक हैं, उसके अनुसार यह अर्थ है कि उक्त लक्षणों वाले त्रिगुणात्मक ज्ञान आदि तीनों का अवलम्बन करके कर्म की विधि प्रवृत्त होती है। जैसे कि पहले भी कहा गया है—वेद त्रिगुणात्मक पदार्थों को विषय करने वाले हैं, वैसे ही **करणम् कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः**—करण अर्थात् क्रिया के श्रेष्ठ साधक, कर्म अर्थात् कर्ता को अत्यन्त अभीष्ट तथा कर्ता अर्थात् क्रिया को निष्पन्न करने वाला यह तीन प्रकार का कर्मसंग्रह है [जिसमें कर्म संगृहीत किए जाय वह कर्मसंग्रह है] भाव यह है कि कर्ता, कर्म करण ये तीन प्रकार के कारक क्रिया के आश्रय हैं। सम्प्रदान आदि (अर्थात् सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण) ये तीन कारक तो केवल परम्परा से क्रिया के साधकमात्र हैं—साक्षात् क्रिया के आश्रय नहीं हैं। इसलिए करण आदि तीन कारकों को ही क्रिया का आश्रय कहा गया है।

(२) **शंकरानन्द**—उक्त रीति से विहित और प्रतिषिद्ध आदि संपूर्ण कर्म अधिष्ठान आदि पाँच कारणों द्वारा ही किये जाते हैं। उनके द्वारा किये गये कर्म में कर्तृत्व का अभिमान करने वाला दुर्मति कर्मों से बद्ध होता है और कृतबुद्धि (आत्मतत्त्व बुद्धि से

युक्त) विद्वान् बद्ध नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करके अब निरुक्त लक्षण वाला अप्रतिबद्ध निष्कर्मत्व ज्ञान ही कैवल्यसिद्धि का परम कारण है, इसलिए केवल मोक्ष की इच्छा करने वाले आरुरुक्षु पुरुष को उस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति का कारण सत्त्वशुद्धि, है, सत्त्वशुद्धि का कारण तो सात्त्विक कर्म ही है, अतः उसी का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा बोधन करने के लिए कर्म की प्रवृत्ति के हेतु कर्म के आश्रय ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि आदि के सात्त्विकत्व, राजसत्व, आदि भेद का प्रतिपादन करने के लिए आगे के ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। यद्यपि सत्रहवें अध्याय में आहारादि के सात्त्विकादि भेद का प्रतिपादन किया गया है, तथापि वहाँ पर श्रद्धा आदि पाँच के ही सात्त्विक आदि भेद का प्रतिपादन किया गया है, ज्ञान आदि का नहीं। उनके सात्त्विक आदि भेद के जानने पर राजस-तामसरूप हेय अंश का त्यागकर सात्त्विक ज्ञान आदि में प्रवृत्त पुरुष का सत्त्व (अन्तः-करण) शुद्ध होता है, उससे ज्ञान और उसका फल (मोक्ष) सिद्ध होता है। इसलिए यहाँ विधि और कर्माश्रय स्वरूप ज्ञान आदि के गुणभेद के अनुसार भेद का बाईस श्लोकों से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि ज्ञान और कर्म का साध्यसाधनभाव ही सम्पूर्ण वेदों का और गीता का अर्थ है। **ज्ञानम्**—ज्ञान (जिससे इष्ट एवं अनिष्टरूप द्रव्य, गुण, कर्म आदि सब पदार्थ जाने जाते हैं वह ज्ञान है) यानी सम्पूर्ण पदार्थ विषयक साधारण बोध **ज्ञेयम्**—जानने योग्य द्रव्य, गुण आदि सब पदार्थ ज्ञेय कहे जाते हैं। **परिज्ञाता**—ज्ञेय और ज्ञान का ज्ञाता (प्रमाता) अर्थात् साभास विज्ञानात्मा **त्रिविधा कर्मचोदना**—जिससे सब कर्म प्रेरित होता है (प्रवृत्त होता है) अर्थात् जो सामान्य से सब पदार्थों के त्याग एवं ग्रहण आदि क्रिया का हेतु होती है वह कर्म-चोदना है। वह तीन प्रकार की है। प्रमाण (ज्ञान) प्रमेय (ज्ञेय) और प्रमाता (परिज्ञाता) की जिसकी केवल संनिधि से ही ज्ञान आदि क्रिया होती है, वह चोदना तीन प्रकार की है, यह अर्थ है। इस प्रकार प्रवृत्ति के कारण का त्रैविध्य कहकर कर्म के आश्रय का भी त्रैविध्य कहते हैं **करणम् कर्म कर्ता इति**—करण (जिससे किया जाता है वह करण है)। बाह्य और आन्तर श्रोत्र आदि तथा बुद्धि आदि के भेद से करण बारह प्रकार का है कर्ता का ईप्सिततम यानी कर्ता की प्राप्त क्रिया की विषयभूत जो वस्तु द्वितीयान्त है, वह कर्म है। कर्ता यानी करणों का प्रयोक्ता, स्वयं

उनसे प्रयोज्य नहीं, किन्तु स्वतंत्र कर्ता विज्ञानात्मा है। **कर्मसंग्रहः त्रिविधः**— जिसमें कर्मों का भली भाँति ग्रहण किया जाता है, वह कर्मसंग्रह है। इस प्रकार कर्म-संग्रह अर्थात् क्रिया के आश्रय करण आदि त्रिविध (तीन प्रकार) हैं। यदि कहो कि सम्प्रदान आदि भी क्रिया के आश्रय हो सकते हैं, फिर क्रिया का आश्रय तीन प्रकार का कैसे ? (उत्तर) क्योंकि सम्प्रदान आदि परम्परा के बिना साक्षात् क्रियाश्रय नहीं हो सकते, इसलिए क्रिया के आश्रय तीन प्रकार के हैं, ऐसा कहना युक्त है, यही अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व के कई श्लोकों में कहा गया है कि अधिष्ठान (देह) आदि कर्मों के पाँच हेतु हैं—आत्मा हेतु नहीं है। अतः कर्म व कर्म का फल आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता इसलिए आत्मनिष्ठ पुरुष को भी देहादि से किए हुए इष्ट, अनिष्ट या मिश्र कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ता। देहाभिमानी अज्ञानी पुरुष ही कर्म में अधिकारी है। अतः उसको ही अपने अपने कर्म के अनुसार उक्त प्रकार का फल भोगना पड़ता है। अब अज्ञानी के लिए कर्मसमूह का प्रवर्तक कौन है एवं आश्रय कौन है, यह कहा जा रहा है। सभी कर्म के दो विभाग हैं (अंश हैं)

(१) **प्रेरणांश**—अर्थात् किसी कर्म का आरम्भ करते समय उसमें प्रयोजनबोध (हेयत्व या उपादेयत्व बोध) अवश्य ही रहेगा क्योंकि इस प्रकार के कर्म से ऐसी मेरी प्रयोजनसिद्धि होगी, ऐसी कामना का उदय जब तक न हो तब तक किसी की कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए मनु जी ने कहा 'यद्यत्कुरुते कर्म तत्सर्वं कामस्य चेष्टितम्' यद्यपि सामान्यतः कर्म के लिए प्रयोजन बोध काम से ही होता है तथापि कर्म में प्रवृत्त होने के लिए ज्ञान, ज्ञेय तथा परिज्ञाता इन तीनों का एकत्र समावेश (मिलन) आवश्यक होता है अर्थात् ये तीनों मिलकर ही सर्वकर्म के प्रवर्तक होते हैं। जिससे विषय जाना जाता है वह ज्ञान है अर्थात् विषय को प्रकाशित करने की शक्ति को ज्ञान (प्रकाश) कहा जाता है। जो वस्तु जानी जाती है वह ज्ञेय है अविद्या से अन्तःकरणरूप उपाधियुक्त भोक्ता (अर्थात् चिदाभास सहित बुद्धियुक्त विषयी जिसको भोक्ता कहा जाता है वह) परिज्ञाता है। ज्ञेय है किन्तु यदि ज्ञाता में ज्ञान (बुद्धिजन्यज्ञान) न रहे (जैसे जड़पुरुष का होता है) तो ज्ञेय में (ज्ञातव्य विषय में ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं होगी।

द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा से कोई क्रिया नहीं होती है, अतः आत्मा क्रिया का आश्रय भी नहीं है क्योंकि सभी कारकों से निःसंग अविकारी आत्मा विलक्षण (पृथक्) है। इसप्रकार आत्मा को जो जानता है एवं उसमें ही निरन्तर स्थित रहता है उनके देहादि प्रारब्धवश कोई कर्म करते रहते भी वह स्वयं न तो कोई काम करता है और न तो कर्मफल से बद्ध हो होता है यही पूर्व श्लोक के साथ इस श्लोक की संगति है।

पूर्व श्लोक में कर्मों के प्रवर्तक एवं कर्मों के आश्रय का वर्णन किया गया है। क्रिया, कारक और फल सभी त्रिगुणात्मक हैं। अतः सत्त्व, रजः और तमः, इन तीनों गुणों के भेद से उन सबके तीन प्रकार के भेद बतलाना उचित है, इसलिए कहते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

अन्वय—गुणसंख्याने गुणभेदतः ज्ञानम् कर्म च कर्ता च त्रिधा एव प्रोच्यते, तानि अपि यथावत् श्रृणु।

अनुवाद—कपिलप्रणीत सांख्यशास्त्र में सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के भेद के हेतु ज्ञान, कर्म और कर्ता तीन-तीन प्रकार से ही कहे हैं। उनके सम्बन्ध में शास्त्र तथा युक्ति के अनुसार जैसा कहा गया है उसे मुझसे तुम सुनो।

भाष्यदीपिका-गुणसंख्याने—गुणों की संख्या करने वाले शास्त्रों में अर्थात् कपीलमुनिप्रणीतशास्त्र में [सत्त्व, रजः और तमः इन गुणों के कार्य का भेद जिसमें दिखाकर सम्यक् ख्यान (प्रतिपादन) किया जाता है वह कपिल ऋषि-प्रणीत गुणसंख्यान अर्थात् सांख्यशास्त्र (मधुसूदन) ।] वह गुणों की संख्या करने वाला कापिल शास्त्र यद्यपि परमार्थ ब्रह्म की एकता के विषय में भगवान् के सिद्धान्त से विरुद्ध है तो भी गुणों के भोक्ता (जीव) के विषय में तो प्रमाण है ही अर्थात् अपरमार्थ (जागतिक वस्तु विषय) में गुण और गुणों के व्यापार का निरूपण करने में कापिल सांख्य की व्यावहारिक उपयोगिता है। इसलिए उनका शास्त्र भी आगे कहे हुए अभिप्राय की स्तुति करने के लिए (अर्थात् आगे जो कहा जायगा वह केवल गीता में ही नहीं परन्तु कापिल सांख्यादि अन्य शास्त्रों में भी निरूपित हुआ है ऐसा कहकर वक्तव्य विषय की स्तुति के लिए) यह

[(क) युवती स्त्रीरूप देह सामने विद्यमान है, ज्ञाता बालक भी वहाँ उपस्थित है परन्तु स्त्री देह संबन्ध में भोग करने का ज्ञान उसको नहीं है, अतः ज्ञेय विषय के लिए (स्त्री देह के लिए) उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी (ख) फिर ज्ञान तथा ज्ञाता दोनों ही विद्यमान हैं किन्तु ज्ञेयविषय यदि देश और काल के द्वारा व्यवहित (दूरवर्ती) रहे तो भी ज्ञेयविषयक के लिए प्रवृत्ति नहीं होगी (ग) सुषुप्ति में संस्कारात्मक ज्ञान एवं ज्ञेय रहते हुए भी ज्ञाता अपनी सत्ता को भूल जाता है। तो भी ज्ञाता में किसी कर्म की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः जब तक ज्ञेय, ज्ञान एवं परिज्ञाता तीनों की एक साथ प्रेरणा नहीं मिलती है तब तक किसी की कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए ये तीनों कर्म के प्रवर्तक हैं।]

(२) **क्रियांश**—अर्थात् जिनके द्वारा कर्म निष्पन्न होता है। वे तीन हैं— कर्म, करण तथा कर्ता। पंच कर्मेन्द्रिय एवं पंचज्ञानेन्द्रिय ये दस बाह्य करण तथा मन, बुद्धि, अहंकार एवं अन्तःकरण ये सभी कर्म करने के लिए यंत्र होते हैं। अतः इनको करण कहा जाता है। जो कर्ता की इष्टवस्तु क्रिया द्वारा व्याप्त होती है अर्थात् क्रिया का विषय होता है वह कर्म है। और जो विषय की प्राप्ति की कामना से बाह्य तथा अन्तः-करण को कर्मों में प्रयुक्त करता है वह कर्ता है। इन तीनों के द्वारा कर्मसंग्रह अर्थात् कर्मों का सम्यक् प्रकार से ग्रहण या भोग होता है इसलिए इन तीनों को कर्मसंग्रह कहा जाता है। फिर साक्षात् कर्मों के कारक होने के कारण भी इनको कर्मसंग्रह अर्थात् कर्मों का आश्रय कहा जाता है। सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण से परम्परा सम्बन्ध से (साक्षात् रूप से नहीं) कर्मों के कारक हैं, अतः 'च' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुए 'इति' शब्द के द्वारा कर्ता कर्म, करण इन तीनों कारकों में सम्प्रदान, अपादान, तथा अधिकरण को भी अन्तर्भुक्त किया गया है। कर्त्ता है, करण है तथापि यदि कर्म न रहे तो भोग नहीं हो सकता फिर कर्ता यदि न रहे तो भोग कौन करेगा और यदि कर्ता और कर्म रहते हुए भी करण न रहे तो किसके द्वारा भोग निष्पन्न होगा? अतः इन तीनों के मिलने से ही कर्म के विषय का संग्रह हो सकता है, अन्यथा नहीं, यही कहने का अभिप्राय है।

श्लोक के प्रथम पाद से आत्मा से कर्मचोदना नहीं होती है अर्थात् आत्मा कर्मों का प्रवर्तक तथा कर्मों का भोक्ता नहीं है ऐसा कहा गया है। द्वितीय पाद के

प्रमाणरूप से ग्रहण किया है, अतः कोई विरोध नहीं है। **गुणभेदतः**—गुणों के भेद से अर्थात् सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेद से **ज्ञानम् कर्म च कर्ता च**—पूर्व श्लोक में ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता को कर्म का प्रवर्तक कहा गया है एवं करण, कर्म, कर्ता को कर्मसंग्रह (कर्म का आश्रय) कहा गया है। इन दो राशियों को संक्षिप्त कर ज्ञान, कर्म तथा कर्ता इन तीनों में अन्तर्भुक्त करके [प्रत्येक के सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद दिखा रहे हैं।] जिससे विषयसमूह जाना जाता है उसको अर्थात् विषय रूप में परिणत बुद्धि को **ज्ञान**—कहा जाता है। (इसकी व्याख्या पूर्व श्लोक में की गई है)। ज्ञेय भी इसी के अन्तर्भूत है क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता। 'कर्म' शब्द का अर्थ क्रिया है। कर्ता के इप्सिततम (इष्ट) कारक को पूर्व श्लोक में कहा गया है उस पारिभाषिक कारकरूप कर्म को यहाँ कर्मरूप से ग्रहण नहीं किया गया ['च' शब्द से यह सूचित होता है कि करण और कर्मरूप कारकों का भी यहाँ क्रिया में (कर्म में) ही अन्तर्भाव है क्योंकि क्रिया ही कारकता की उपाधि (परिच्छेदक) है अर्थात् क्रिया के सम्बन्ध के बिना कारक नहीं हो सकता।] क्रिया को करने वाला (तथा 'चकार' शब्द से ज्ञाता भी कर्ता है) अर्थात् कर्मों के निवर्तक (करने वाले) को कर्ता कहा जाता है। 'च' शब्द से पूर्व श्लोकोक्त ज्ञाता को भी यहाँ कर्ता के अन्तर्भूत किया गया है। [कुतार्किक पुरुष भ्रम से कल्पना करता है कि आत्मा में कर्तृत्व है इस प्रकार की कल्पना का निषेध करने के लिए कर्ता के सात्त्विक, राजसिक, तामसिक—ये तीन प्रकार के भेद दिखाये जायेंगे जिससे मुमुक्षु जान सके कि गुणातीत आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, इसलिये कहते हैं **त्रिधा एव प्रोच्यते**—ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के भेद तीन प्रकार के ही हैं। 'एव' शब्द अवधारणार्थ (निश्चयार्थ) है। अर्थात् उक्तभेद तीन से अधिक या न्यून नहीं है अर्थात् जागतिक सब वस्तु इन तीनों गुणों के अन्तर्गत हैं। अतः इन गुणों की जाति के बिना अन्य किसी जाति की सम्भावना नहीं है। यह निश्चय करके कहने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह तीन प्रकार का भेद **गुणसंख्याने**—(कापिल) सांख्यशास्त्र में भली भाँति कहा गया है **तानि अपि** उनको अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा कर्ता को तथा गुणों के अनुसार किए गये उनके सात्त्विक आदि समस्त भेद को तुम **यथावत् शृणु**—जैसा शास्त्रों में एवं न्याय से (युक्ति के

अनुसार) कहा है उसी प्रकार सुनो अर्थात् मैं शास्त्र तथा युक्ति के अनुसार आगे जो कुछ कहूँगा उन बातों में चित्त को समाहित करके सुनो।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—गुणसंख्याने—जिसमें गुण समूह कार्य भेद के सहित सम्यक् प्रकार से स्पष्ट बताए जाय (उनका प्रतिपादन किया जाय) वह गुणों की व्याख्या करने वाला सांख्यशास्त्र है उनमें **ज्ञानम् कर्म च कर्ता च**—ज्ञान, कर्म (क्रिया) और कर्ता **गुणभेदतः**—प्रत्येक सत्त्व आदि गुणों के भेद से **त्रिधा एव प्रोच्यते**—तीन प्रकार के ही कहे जाते हैं। **तानि अपि यथावत् शृणु**—उन आगे कहे जाने वाले ज्ञान आदि को भी यथार्थरूप से सुनो। 'त्रिधा एव' यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग तीनों गुणों की उपाधि से व्यतिरिक्त आत्मा में स्वतः कर्तापन आदि प्रतिषेध करने के लिए है। चौदहवें अध्याय में 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' इत्यादि श्लोकों द्वारा गुणों के बन्धन करने का प्रकार निरूपित किया गया है। सत्रहवें अध्याय में 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादि श्लोकों द्वारा गुणों से होने वाले तीन प्रकार के स्वभाव के निरूपण पूर्वक राजस-तामस स्वभाव को परित्याग करके सात्त्विक स्वभाव का सम्पादन करना चाहिए—यह कहा गया है। और यहाँ क्रिया, कारक और फल आदि का आत्मा से सम्बन्ध नहीं है, यह दिखाने के उद्देश्य से सबका त्रिगुणात्मक होना कहा जाता है। यह भेद समझना चाहिए।

(२) **शंकरानन्द**—सत्त्व आदि गुणों के भेद से ज्ञानादि का जो त्रैविध्य विवक्षित है, उसी को स्पष्ट करते हैं—**गुणसंख्याने**—गुणसंख्यान में (गुणों का अर्थात् सत्त्व आदि गुणों का और उनके कार्यों का जिसमें भली भाँति प्रतिपादन किया जाता है, वह गुणसंख्यान है) यानी महामुनि कपिलनिर्मित सांख्यशास्त्र में **ज्ञानम्**—ज्ञान यानी उक्त लक्षणवाला पदार्थों का बोध **कर्म च**—कर्म यानी श्रौतस्मार्त रूप कर्म और **कर्ता च**—कर्ता यानी कर्म का निर्वर्तक (सम्पादन करने वाला) **गुणभेदतः त्रिधा एव**—ये तीन सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार के हैं। ज्ञान आदि के सत्त्व आदि गुणों द्वारा किए गये त्रैविध्य के सिवा दूसरा प्रकार नहीं है, ऐसा निर्धारण करने के लिए 'एव'कार है। दो 'च'कार समुच्चय के लिए हैं। घट, पट इत्यादि ज्ञान का तामस ज्ञान में ही अन्तर्भाव है। जिससे जाना जाता है, वह साधारण

ज्ञान सत्त्व आदि गुणों के भेद से सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार कर्म और कर्ता भी तीन प्रकार के ही हैं **प्रोच्यते**—ऐसा कपिल आदि द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है। **यथावत् तानि अपि शृणु**—यथावत् यानी सांख्य शास्त्र में जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार गुणों के भेद से भिन्न ज्ञान आदि को भी (जिन्हें मैं आगे कहूँगा) तुम सुनो। तथा सुनकर उसके सारांश के ग्रहण में अत्यन्त तत्पर होओ, यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि ज्ञान, ज्ञेय एवं परिज्ञाता (अविद्याकल्पित भोक्ता) सभी कर्मों का प्रवर्तक है एवं करण, कर्म तथा कर्ता ये तीनों कर्मों के आश्रय हैं किन्तु ये सब माया से उत्पन्न होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं अतः प्रत्येक का सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेद भी है। ये तीन प्रकार के भेद बतलाने के लिए भगवान् कह रहे हैं कि यद्यपि शुद्धचैतन्यस्वरूप, अखण्ड, अद्वितीय आत्मा ही एकमात्र सत्त्ववस्तु है उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह त्रिगुणात्मिका माया का कार्य होने के कारण सभी मिथ्या है तथापि व्यावहारिक दृश्य वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानकर जबतक उसके मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय न हो तबतक इससे पृथक् करके आत्मा को जानना असम्भव है। कल्पितवस्तु के स्वरूप का निर्णय करने के लिए जिस न्याय या युक्ति का आश्रय करना पड़ता है वह भी कल्पित ही है तथापि जिस प्रकार कंटक से कंटक को निकालना पड़ता है उसी प्रकार कपिल ऋषि ने व्यावहारिक वस्तुओं के गुण के कार्यों के भेद को सम्यक् प्रकार से ख्यापन (वर्णन) करके वस्तु के सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदों का निरूपण किया है। इसलिए उनसे प्रणीत सांख्यशास्त्र को 'गुणसंख्यान' कहा जाता है। यद्यपि कापिल सांख्यशास्त्र पारमार्थिक विषय में (एक अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है इस तत्त्व के विषय में) प्रामाणिक नहीं है क्योंकि सांख्यशास्त्र में आत्मा 'बहु' है ऐसा कहा गया है तथापि गुण एवं गुणों के कार्यों के भेदरूप **अपारमार्थिक**—व्यावहारिक व्यापारों में इस शास्त्र को प्रमाणरूप से सर्वत्र ग्रहण किया गया है भगवान् भी उसी प्रकार कल्पित युक्ति द्वारा पूर्व श्लोकों में उक्त तीन कर्मप्रवर्तक एवं तीन कर्माश्रय को ज्ञान, कर्म तथा कर्ता में अन्तर्भुक्त करके उस कापिल सांख्यशास्त्र के अनुसार सत्त्वादि गुणभेद के द्वारा प्रत्येक का

सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक इन तीन प्रकार के लक्षणों का शास्त्र तथा युक्ति से वर्णन करते हुए अर्जुन को समाहित मन से सावधान होकर सुनने के लिए कहा।

प्रश्न—पहले ज्ञान, ज्ञेय एवं परिज्ञाता इन तीन प्रकार के कर्मप्रवर्तक को तथा करण, कर्म, कर्ता इन तीन प्रकार के कर्माश्रय को अब ज्ञान, कर्म, कर्ता इन तीनों में अन्तर्भुक्त कैसे किया गया है?

उत्तर—ज्ञेय को ज्ञान में अन्तर्भूत किया गया है क्योंकि ज्ञय (दृश्य) वस्तु की उपलब्धि ज्ञानद्वारा ही होती है अतः ज्ञेय ज्ञान की उपाधि होने के कारण उसे ज्ञान में अन्तर्भूत करना युक्त ही है देहाभिमानी पुरुष ही परिज्ञाता अर्थात् अविद्याकल्पित भोक्ता होता है एवं वही अहंकार से विमूढ़ होकर कर्तृत्व अभिमान करता है इसलिए वह कर्ता भी है। अतः परिज्ञाता को कर्ता में अन्तर्भूत किया गया है। इस श्लोक में जिसको कर्म कहा गया है उसका अर्थ है क्रिया—पूर्व श्लोक में उक्त कर्मरूप कारक नहीं है किन्तु कारकरूप कर्म [अर्थात् कर्ता के इष्ट (अभिलषित) विषय का ग्रहणरूप कर्म] क्रिया से ही व्याप्त रहने के कारण पूर्वोक्त कर्म इस श्लोक में उक्त कर्म में (क्रिया में) अन्तर्भूत किया गया है। करण के (इन्द्रियादि बाह्यकरण तथा बुद्धि आदि अन्तःकरण के) बिना क्रिया निष्पन्न नहीं होती, अतः करण भी क्रिया में अन्तर्भूत किया गया है।

प्रश्न—ज्ञान, कर्म एवं कर्ता के गुणानुसार भेद को जानने से क्या पारमार्थिक फल प्राप्त होता है?

उत्तर—कापिल सांख्यदर्शन में गुणभेद के अनुसार जो ज्ञानादि का सात्त्विक, राजस एवं तामस भेद कहा गया है वह व्यावहारिक ज्ञान है—ब्रह्मज्ञान (आत्मतत्व का ज्ञान) नहीं है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का जो ज्ञान है वह एक है अर्थात् **सर्वसाधारण**—है क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है। वह ज्ञान ही ज्ञाता है एवं वही ज्ञेय है तथा वही कर्म अर्थात् ज्ञानरूप कर्म (क्रिया) है। जो ज्ञान का भेद कहा जा रहा है वह विशेषज्ञान है एवं वह ब्रह्मज्ञान के समान स्वतंत्र या स्वतःसिद्ध नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अपेक्षा रखता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा के प्रकाश से ही मायारचित विश्वप्रपंच प्रकाशित हो रहा है किन्तु घट, पट इत्यादि विशेष-विशेष वस्तु का ज्ञान कूटस्थ चैतन्य से नहीं होता है परन्तु वह चैतन्य बुद्धि में प्रतिफलित होनेपर आभास-

चैतन्ययुक्त बुद्धिवृत्ति जब घट-पट आदि विशेष-विशेष पदार्थ को (विषय को) व्याप्त करती है तभी उस-उस वस्तु के सम्बन्ध में विशेषज्ञान उत्पन्न होता है। अतः जो ज्ञान का भेद दिखाया जा रहा है वह बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य (विशेषज्ञान) है। जबतक बुद्धिवृत्ति शान्त नहीं होती है तबतक अनन्त दृश्य के भेद प्रतीत होने के कारण इस विशेषज्ञान के अधिष्ठान शुद्धचैतन्यस्वरूप (ज्ञानस्वरूप), अद्वितीय, अखण्ड आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। ज्ञाता ज्ञेय से सदा ही भिन्न है परन्तु माया की आवरण शक्ति द्वारा यह भेद आवृत रहने के कारण दृश्य देहादि में ज्ञाता के (द्रष्टा के) तादात्म्य (एकत्व) अभिमान के कारण वह चैतन्यस्वरूप आत्मा संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। यह भ्रममात्र है क्योंकि आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कभी परिवर्तन नहीं हो सकता है। इस ज्ञाता को (द्रष्टा को) ज्ञेय (दृश्य) से पृथक् करके जानना ही यथार्थज्ञान (सम्यग्दर्शन) है। निष्काम भाव से कर्तव्यकर्म करके चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर गुरुमुख से वेदान्तवाक्यादि के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा चित्तवृत्ति के आत्मा में निरोध द्वारा (निर्विकल्प समाधि द्वारा) दृश्यप्रपंच से शुद्धचैतन्यस्वरूप द्रष्टा आत्मा को पृथक् करके उसके यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। अथवा अष्टांगयोगमार्ग में द्रष्टा से दृश्य को पृथक् करनेपर पहले विशेषज्ञान (अर्थात् दृश्य वस्तु का विशेष-विशेष ज्ञान) दृश्य प्रपंचसहित आत्मा में लय हो जाता है एवं तत्पश्चात् द्रष्टा भी अद्रष्टा होकर अपने कैवल्यस्वरूप में स्थित होता है। अथवा भक्तिमार्ग में शुद्ध आत्मा में सर्वरूपत्व, सर्वशक्तिमत्त्व सर्वेश्वरत्व आरोपित कर सगुण ईश्वर ही ज्ञान, कर्म तथा कर्तारूप में विराजमान है, इस प्रकार की भावना से अपनी सत्ता को एवं दृश्यप्रपंच की सत्ता को उनमें लय करके अनन्यभक्ति से निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करनेपर भी चित्तवृत्ति सर्वप्रकार के विक्षेप से रहित होकर परमेश्वर में निरुद्ध हो जाती है। अतः माया से (कल्पना से) उत्पन्न हुए विश्वप्रपंच के भी उनमें लीन होने के कारण एकमात्र शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। वही आत्मा या ब्रह्म है एवं कैवल्य अवस्था में ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने स्वतःसिद्ध ज्ञान द्वारा अपने को ही जानता है। यही कैवल्य-स्थिति है। व्यावहारिक विशेष ज्ञान का सात्त्विकभाव के प्राप्त होने पर ही पूर्णज्ञान में पहुँचना सम्भव है। अतः गुणभेद से

ज्ञान के तीन प्रकार के भेद जानना आवश्यक है क्योंकि मुमुक्षु ऐसा जानने पर ही अपने को राजस एवं तामस ज्ञान से मुक्तकर ज्ञान के सात्त्विकभाव को प्राप्त होकर पूर्णज्ञान का अधिकारी हो सकता है।

उसी प्रकार व्यावहारिक कर्ता (क्रिया का संपादक) यदि राजस एवं तामस भाव का त्याग करके सात्त्विकभाव से सम्पन्न हो तो वह स्वतः ही अहंकारशून्य होकर गुणातीत अपने अकर्ता स्वरूप का साक्षात्कार करने का अधिकारी होता है। अहंकार से विमूढ़ होकर ही जीव अपने को कर्ता मानता है। सात्त्विकगुणसम्पन्न होनेपर परमात्मा का प्रकाश सात्त्विकवृत्ति में प्रतिफलित होता है, अतः अहंकार का नाश होने के कारण सर्वगुण से अतीत होकर सुखस्वरूप परमात्मभाव में स्थितिलाभ करने में समर्थ होता है क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशमय है एवं सत्त्वगुण से यथार्थ ज्ञान तथा सुख स्वतः ही उत्पन्न होते हैं (गीता १४।६–१७) कर्म (क्रिया) कर्ता की उपाधिमात्र है अतः सात्त्विक कर्ता की क्रिया भी सात्त्विक होकर परमात्मदर्शन में सहायक होती है। इसलिए ही भगवान् ने विस्तारपूर्वक ज्ञान, कर्म तथा कर्ता के सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद बताये हैं। इन भेदों के वर्णन का रहस्य अतिगूढ़ है (क्योंकि मोक्षप्राप्ति के उपायरूप से ही इनका प्रतिपादन किया गया है)। इसलिए यथावत् (शास्त्र तथा युक्ति से जिस प्रकार भगवान् आगे कहेंगे उस) समाहित मन से सुनने के लिए अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं।

पूर्व श्लोक में ज्ञान, कर्म और कर्ता इन तीनों का गुणों के भेद से त्रिविध भेद भगवान् ने अपने मुख से अर्जुन को सुनने के लिये कहा है। अब तीनों श्लोकों द्वारा यथाक्रम से ज्ञान के सात्त्विक, राजस एवं तामस तीन भेद कहे जाते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

अन्वय—विभक्तेषु सर्वभूतेषु येन अविभक्तम् अव्ययम् एकम् भावम् ईक्षते तत् सात्त्विकं ज्ञानम् विद्धि।

अनुवाद—जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञानी अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त विभक्त (एक दूसरे से भिन्न) समस्तभूतों में एक अविनाशी तथा अविभक्त (विभागशून्य) भावको (आत्मवस्तुको) देखता है उस ज्ञानको सात्त्विक समझो।

भाष्यदीपिका—**विभक्तेषु**—जो प्रत्येक शरीर में परस्पर विभक्त (पृथक् पृथक्) प्रतीत होता है इसप्रकार **सर्वभूतेषु**—अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूतों में (सृष्ट-पदार्थ में) [अव्याकृत हिरण्यगर्भ और विराट नामवालों में तथा सूक्ष्म और स्थूलरूप समष्टि व्यष्टिरूप समस्त प्राणियों में (मधुसूदन)।] बाह्य रूप नाम दृष्टि से ये सब पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी **येन**—जिस ज्ञान के द्वारा (वेदान्तवाक्य के विचार से उत्पन्न हुए शुद्धान्तःकरण के परिणाम विशेष के द्वारा) **अविभक्तम्**—सर्वत्र अविभक्त (अपृथक्) अद्वितीय स्वरूप में स्थित **अव्ययम्**—जिसका अपने स्वरूप से या धर्म से कभी व्यय (क्षय) नहीं होता है ऐसा उत्पत्ति विनाशादि सर्व-विकारशून्य कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) नित्य **एकम् भावम्**—अधिष्ठानरूप से तथा बाधकी अवधि होने के कारण सर्वत्र व्याप्त एक अर्थात् अद्वितीय भावको (परमार्थ सत्तारूप स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको) [यहाँ 'भाव' शब्द वस्तुवाचक है अर्थात् 'भाव' शब्द का अर्थ आत्मवस्तु है।] **ईक्षते**—देखता है जिस ज्ञान के द्वारा उस आत्मतत्त्व को प्रत्येक शरीर के परस्पर विभक्त (पृथक् पृथक्) होने पर भी उन समस्त शरीरों में अविभक्त (विभागरहित) आकाश के समान समभाव से (निरन्तर) स्थित देखता है **तत् सात्त्विकं ज्ञानं विद्धि**—उस ज्ञान को अर्थात् उस अद्वैत आत्मदर्शन को तुम सात्त्विकज्ञान (सम्यक् दर्शन-पूर्णज्ञान) जानो।

जो द्वैत दर्शनरूप अयथार्थ (मिथ्या) ज्ञान है, वह राजस या तामस है। अतः वह संसार का उच्छेद करने में साक्षात् हेतु नहीं होता है किन्तु सम्यग्दर्शनरूप सात्त्विकज्ञान मिथ्याप्रपंच का नाशक (बाधक) होने के कारण संसार बन्धन से मुक्ति का साक्षात् कारण होता है।

टिप्पणी—(श्रीधर)—उनमें से ज्ञान का सात्त्विक आदि तीन प्रकार का भेद 'सर्वभूतेषु' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं—**सर्वभूतेषु विभक्तेषु**—ब्रह्मा से लेकर स्थावरतक विभक्त (अर्थात् परस्पर अलग-अलग व्यापार करते हुए) सब

प्राणियों में **अविभक्तम् इत्यादि**—अविभक्त (व्यापक) एक अव्यय निर्विकार भाव को (परमात्मतत्त्वको) जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञानी पुरुष देखता है (आलोचना करता है) उस ज्ञानको तुम सात्त्विक जानो।

(२) **शंकरानन्द**—उसमें ज्ञान तीन प्रकार का है, ऐसा प्रतिपादन करने के उद्देश्य से श्रीभगवान् पहले अनेक जन्मों से सात्त्विक भाव से सम्पूर्ण कर्मफल के परित्याग पूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धि से भलीभाँति अनुष्ठित कर्मों से उत्पन्न हुए शुद्धान्तःकरण से एकबार के श्रवणमात्र से तत्त्वको अवधारण करने में समर्थ होने पर जो आत्मैकत्वदर्शनरूप सात्त्विकज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का लक्षण कहते हैं—**विभक्तेषु**—विभक्त (अविद्या द्वारा जनित नाम, रूप, जाति, गुण, क्रिया विशेषों से परस्पर भिन्न) सम्पूर्ण भूतों में (अव्यक्त से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में स्थावर और जंगम शरीरों में) **अविभक्तम्**—सर्वत्र घट, मठ आदि में आकाश के समान अविभक्त निरवयव होने से, निर्विशेष होने से, विभाग से रहित यानी अखण्डस्वरूप से सर्वत्र परिपूर्ण, इसीलिए **एकम्**—एक यानी एकरूप, उनके (नाम रूप के) धर्म और कर्म आदि से अस्पृष्ट, अत्यन्तविशुद्ध, चिदेकरस **अव्ययम्**—अव्यय अर्थात् भूतों का नाश होने पर स्वयं अविनाशी (भूतों का आविर्भाव, तिरोभाव आना-जाना आदि होनेपर भी स्वयं आविर्भाव, तिरोभाव अर्थात् आना-जाना आदि धर्मों से निर्मुक्त) अर्थात् अविकारी होने के कारण एक रूप से स्थित नित्यशाश्वत यह अर्थ है। **भावम्**—इस प्रकार लक्षणवाले भावको (नामरूप आदि सब जिसमें अथवा जिससे उत्पन्न होता है वह भाव) यानी प्रत्यगात्माको (सच्चिदानन्दैकरस आत्मा को) **येन**—जिस शुद्धसत्त्व से सम्भावित ['दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' अर्थात् दिव्य ही अमूर्त पुरुष है, 'अशरीरं शरीरेषु' इत्यादि अर्थात् अशरीरको शरीर में इत्यादि श्रुति वाक्य के अर्थ के श्रवणमात्र से उत्पन्न हुए] ज्ञान से अखण्डाकारावृत्ति से **ईक्षते**—कृतबुद्धिवाला विद्वान् ईक्षण करता है-देखता है। यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ यों अपने को और सबको ब्रह्म स्वरूप ही देखता है, **तत् ज्ञानम्**—उस अद्वैतात्मविषयक द्वैतभ्रमनाशक ज्ञानको **सात्त्विकम्**—सात्त्विक ज्ञान अर्थात् अनेक जन्मों में अनुष्ठित पुण्यपुञ्ज के परिपाक से उदित शुद्धसत्त्व से सम्यक् प्रकार उत्पन्न होने के कारण उस ज्ञान को सात्त्विक जानो (वही विदेहमुक्ति का कारण है ऐसा जानो)।

(३) **नारायणी टीका**—अब सात्त्विक ज्ञान का लक्षण बताते हैं—नानाप्रकार के नाम तथा रूपों के भेद से भिन्न (विभक्त) इन भूतों में जो ज्ञानद्वारा एकमात्र सर्वप्रकाश, अखण्ड; सच्चिदानन्दस्वरूप भाव का (अर्थात् आत्मवस्तु का) दर्शन किया जाता है वह सात्त्विक ज्ञान है। कटक, कुण्डल, हार इत्यादि भिन्न भिन्न अलंकारों में जिस प्रकार एक कांचन (सोना) रूप पदार्थ ही दृष्ट होता है अथवा घटाकाश, मठाकाश में जिस प्रकार एक ही सर्वव्यापी आकाश को देखा जाता है, उसी प्रकार मायाकल्पित अनन्त प्रकार से विभक्त नामरूप विशिष्ट (अव्याकृत, हिरण्यगर्भ, विराट तथा सूक्ष्म एवं स्थूलरूप से विद्यमान समष्टिव्यष्ट्यात्मक) सर्वभूतों में जिस ज्ञान के द्वारा एक ही अद्वितीय परमात्मसत्ता का दर्शन होता है वह सात्त्विक ज्ञान है। अद्वैतात्मदर्शन ही इस ज्ञानका स्वरूप है, अतः मिथ्याप्रपंचका बाधक होकर वह सर्व संसार के (जन्ममृत्यु के प्रवाह के) विनाश का भी कारण है।

(क) समस्त भूतवर्ग (अर्थात् जो कुछ माया से या प्रकृति से सृष्ट हुए हैं वे) विभक्त हैं अर्थात् परस्पर भिन्न हैं। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती है जिसकी आकृति या प्रकृति एक दूसरे के समान है। इसप्रकार परस्पर विभक्त विश्वप्रपंच अव्यक्त, सूक्ष्म एवं स्थूल इन तीनों भागों में विभक्त है। माया या मूल अज्ञान को (अव्याकृत अव्यक्त, मूलप्रकृति) आदि नाम से अभिहित किया गया है। यही सब सृष्टि का बीजस्वरूप है।

(ख) माया से प्रथम जो विकार उत्पन्न हुआ है उसे महत्तत्त्व या हिरण्यगर्भ अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि की समष्टि अवस्था कहा जाता है। वही व्यष्टिरूप से प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धिरूप से (अन्तःकरणरूप से) विद्यमान है।

(ग) स्थूल देह की समष्टि अवस्थाको विराट् कहा जाता है। वही व्यष्टिरूप से सूक्ष्म भूत के साथ प्रत्येक भूत में स्थूल शरीररूप से परिणत होता है। मायाकल्पित इन सब स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप भूतों में एक अविभक्त भाव (अर्थात् सत्ता) है जिसका कि अस्तित्त्व कभी खण्डित नहीं होता है। अतः चिद्वस्तु ही (सर्व प्रपंच से विलक्षण) जो शुद्धचैतन्य सत्ता सर्वभूतों की आत्मा है वही एक (अद्वितीय) है, उत्पत्ति विनाशादि विकारशून्य है, वही यहाँ 'अव्यय भाव' पद से कहा गया है। अतः भगवान् के कहने

का अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञानद्वारा नाना प्रकार के नाम रूपादि विशिष्ट भूतों में एकही भावका (आत्मवस्तु का) दर्शन होता है, वही सात्त्विक ज्ञान है।

प्रश्न—सर्वभूतों में उस अविभक्त (अद्वितीय) एक भाव (आत्मवस्तु) के दर्शन का उपाय क्या है ?

उत्तर—इस आत्मवस्तु के दर्शन के लिये जीवकी प्रकृति के भेद से तीन प्रकार की साधना की जाती है।

(१) **ज्ञानी का साधन**—जो लोग सूक्ष्मबुद्धि से सम्पन्न होकर विचार करने में समर्थ होते हैं वे ही ज्ञानमार्ग के साधन में अधिकारी होते हैं। ज्ञानी पहले अपने में ही इस आत्मवस्तु का अनुसंधान करता है। वह देखता है कि जो हस्त-पादादि कर्मेन्द्रिय, चक्षुः कर्णादि ज्ञानेन्द्रिय, मन-बुद्धि अहंकाररूप अन्तरेन्द्रिय, एवं सत्त्वरजस्तमः आदि गुणयुक्त प्रकृति में तादात्म्याभिमान करके (उनमें मैं और मेरापन करके) ही आत्मा अपने को जीव मानता है किन्तु उन सबका एक-एक करके नाश या लय होने पर भी वह आत्मा इनके द्रष्टारूप से सदा ही अवस्थित रहता है। जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति अवस्था का विचार करके भी वह अनायास जान लेता है कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देहादि से उसकी यथार्थ सत्ता ज्ञानस्वरूप (चित्स्वरूप) ही है अर्थात् सदा ही जानने-वाला या देखनेवाला (ज्ञाता या द्रष्टा) ही है एवं उसके अतिरिक्त जो कुछ है सब दृश्य ही है। दृश्यवस्तुमात्र ही अनित्य अस्थायी एवं सदा ही विकारशील हैं एवं वे सब कल्पित ही हैं क्योंकि मनकी जबतक कल्पना रहती है तबतक ही विश्वप्रपंच की प्रतीति होती रहती है एवं मन कल्पनारहित होने पर (जैसे सुषुप्ति में) किसी दृश्यवस्तु की सत्ता प्रतीत नहीं होती है। इस प्रकार का विचार एवं अनात्म दृश्यवस्तु से द्रष्टा या विज्ञाता आत्मा को पृथक् करना एवं सर्ववस्तु के कल्पितत्त्व का (मिथ्यात्व का) निश्चय करके आत्मा में स्थित होना उसी ज्ञान से सम्भव होता है जो ज्ञान गुरुमुख से वेदान्त वाक्य के श्रवण से संस्कृत हुआ है एवं उस वाक्य का मनन (विचार) तथा उसके अनुसार निदिध्यासन से (निर्विकल्प समाधि से) परिपुष्ट हुआ है। इस प्रकार अद्वैत आत्म-दर्शनरूप ज्ञानको ही सात्त्विक कहा गया है।

(२) योगी का साधन—पहले कहा है कि जिसकी विचारशक्ति प्रबल है एवं जो निर्मल सूक्ष्मबुद्धि से सम्पन्न है वही ज्ञानमार्ग का अधिकारी है। किन्तु जिसका जगत् में सत्यत्वभ्रम विचारद्वारा निवृत्त नहीं हुआ है एवं जिसने यह जान लिया है कि चित्तवृत्ति के विक्षेप के कारण ही स्थिर, शान्त आत्मा (आवृत रहता है अर्थात् प्रकट नहीं हो पाता है) वह अपने साधन बल से (विचार से नहीं) चित्तवृत्ति का निरोधकर आत्मदर्शन करने के लिए प्रयत्न करता है (आत्मा के साथ योग प्राप्त होने के लिए अभ्यास करता है)। इसलिए इस प्रकार के साधक को योगी कहा जाता है। योग का यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहाररूप बहिरंग साधन एवं तत्पश्चात् धारणा, ध्यान समाधिरूप अन्तरंग साधन करने के बाद जब निर्विकल्पसमाधि होती है तब उसको आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान (आत्मदर्शन) होता है।

(३) भक्त का साधन—जिसकी विचारशक्ति कम है परन्तु श्रद्धावान् (श्रद्धा और विश्वास से सम्पन्न) है, जिसका विषय में वैराग्य अत्यन्त तीव्र नहीं है परन्तु भोग में भी अत्यन्त रुचि नहीं है एवं जिसका चित्त द्रवीभूत (भावप्रवण) होने के कारण पिघला) हुआ है वही भक्तिमार्ग का अधिकारी है। भगवान् की किसी मूर्ति का अवलम्बन कर वही सर्वशक्तिमान् तथा सर्वेश्वर (सर्वान्तर्यामी) है एवं वही बहुरूपिया के समान विभिन्न नाम और रूप का वेश धारण कर सर्वरूप में अपने साथ नाटक कर रहा है, ऐसा मानकर भक्त भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहने पर उसका मन भगवान् के आकार में आकारित होकर दृढ़ अभ्यास के फलरूप से अन्त में उसमें ही लय हो जाता है। यही समाधि अवस्था है एवं उसके द्वारा ज्ञानी के समान भक्त भी भगवान् के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लेता है अर्थात् उसका आत्मा (जिसको वह 'मैं' 'मैं' करता है वह) शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् ही है ऐसा साक्षात् अनुभव करता है। जैसे (प्रत्येक) गोपी भगवान् के साथ रास करती हुई 'कृष्ण एवाहं' (मैं कृष्ण ही हूँ) इस प्रकार से साक्षात् अनुभव करती थी उसी प्रकार भक्त भी भगवान् के साथ एकत्व अनुभव करके तत्त्वज्ञान को प्राप्त होता है। इस ज्ञान को ही सात्त्विक ज्ञान कहा जाता है एवं उससे भक्त भी संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। वस्तुतः भक्त जिस भगवान् की उपासना करता है वह उसके आत्मा से व्यतिरिक्त कोई

दूसरी वस्तु नहीं है। देहादि तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के साथ तादात्म्य अभिमानकर जीवबुद्धि से भक्त इन सबके चालक या प्रेरक चैतन्यस्वरूप आत्मा की ही उपासना करता है अर्थात् अज्ञानी "मैं", (क्षुद्र मैं) ज्ञानस्वरूप "मैं" की (महान अद्वितीय अखंडचैतन्यस्वरूप "मैं" की) उपासना करके घटाकाश जिस प्रकार क्षुद्रता (परिच्छिन्नता) को छोड़कर महाकाश हो जाता है, उसी प्रकार भक्त भी क्षुद्र 'मैं' को छोड़ कर भगवान् की स्वरूपता को प्राप्त होता है। जो भक्त भगवान् की प्रतिमादि से भी आसक्त रहता है एवं उस प्रतिमाको ही आत्मा से भिन्नतत्त्व मानकर पूजन करता है वह युक्तिशून्य, प्रमाणशून्य, नितान्ततुच्छ (क्षुद्र) वस्तु में लिप्त रहने के कारण उसका वह ज्ञान तामस ज्ञान है, ऐसा भगवान् आगे कहेंगे (गीता१८।२२, भागवत ११।···)

सारांश यह है कि जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञानी, योगी या भक्त अद्वैत आत्मदर्शन कर सकता है एवं जिस ज्ञान से सर्वसंसार के कारण मूलअज्ञान का नाश करके मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, वही सात्त्विक ज्ञान है एवं उस ज्ञानकी प्राप्ति के लिए ही सभी मुमुक्षुको प्रयत्न करना कर्तव्य है, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

अब राजस ज्ञान का वर्णन किया जा रहा है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् तु ज्ञानम् सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति तत् राजसम् ज्ञानम् विद्धि ।

अनुवाद—जिस ज्ञान के द्वारा समस्त भूतों में भिन्न-भिन्न लक्षण युक्त पृथक्-पृथक् आत्मा भिन्न-भिन्न शरीर में पृथक् रूप से (भेद से) स्थित है ऐसा जानता है, उसे तुम राजस ज्ञान समझो।

भाष्यदीपिका—यत् तु ज्ञानम्—जो ज्ञान [यहाँ 'तु' शब्द पहले कहे हुए सात्त्विक ज्ञान से राजस ज्ञान का व्यतिरेक (पार्थक्य) दिखाने के लिए है] **सर्वभूतेषु**—सर्वभूतों में **पृथग्विधान्**—आत्मा से पृथक् प्रकार के अर्थात्

भिन्न लक्षण युक्त **नानाभावान्**—भिन्न-भिन्न भावों को अर्थात् प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा को **पृथक्त्वेन**—भेद बुद्धि से अर्थात् एक देह में स्थित आत्मा दूसरे देह में स्थित आत्मा से अन्य प्रकार का है इस प्रकार की बुद्धि से **वेत्ति**—जानता है **तत् राजसम् ज्ञानम् विद्धि**—उस ज्ञान को तुम राजस ज्ञान जानो (समझो)। ['यज्ज्ञानम् वेत्ति' (जो ज्ञान जानता है) सो 'एधांसि पचति' (ईंधन पकाता है) इस वाक्य के समान करण में कर्तृत्व का उपचार करके है । अथवा कर्ता अहंकार का उसकी वृत्ति के साथ अभेद करके है । 'उस ज्ञान को राजस समझो' यहाँ पुनः प्रयोग किया हुआ 'ज्ञान' पद आत्मा के भेद ज्ञान का परामर्श करता है । अतः (क) आत्माओं का परस्पर भेद, (ख) उनका ईश्वर से भेद (ग) आत्मा का अचेतन वर्ग से भेद (घ) अचेतन वर्ग का ईश्वर से भेद (ङ) अचेतवर्ग में एक दूसरे से भेद, इस प्रकार का जो कुतार्किकों का पाँच प्रकार का भेदज्ञान है, वह राजस ही है, ऐसा इसका अभिप्राय है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—राजस ज्ञान बताते हैं—**पृथक्त्वेन इत्यादि**—समस्त श्लोकों में 'पृथक्त्वेन तु ज्ञानम्' इसी का विवरण है । भाव यह है कि जिस ज्ञान से मनुष्य समस्त भूतों में (शरीरों में) नाना भावों को (वास्तव में ही अनेक जीवों को) सुखी, दुःखी इत्यादि रूपों से अलग-अलग प्रकार से विलक्षण समझता है, उस ज्ञानको तुम राजस जानो ।

(२) **शंकरानन्द**—जिस ज्ञान से आत्मा अनेक है ऐसा देखता है, वह राजस ज्ञान है, ऐसा कहते हैं—तु—'तु' शब्द पूर्व ज्ञान से इस ज्ञान का वैलक्षण्य समझाने के लिये है **यत् ज्ञानम् सर्वेषुभूतेषु पृथक्त्वेन**—नाना प्रकार की मलिन वासना से विशिष्ट पुरुष सब भूतों में (देव ऋषि मनुष्य आदि शरीरों में) पृथक् रूप से यानी प्रतिशरीर में भिन्नरूप से देखता है अतः **नानाभावान्**—स्वभावतः ही नाना भाव को (अनेक क्षेत्रज्ञको) **पृथग्विधान् वेत्ति**—सुख दुःख आदि भेद से परस्पर विलक्षण क्षेत्रज्ञों को जानता (देखता) है । यहाँ ज्ञान करण ही है, कर्ता नहीं है । इसलिए जिस ज्ञान से जानता है—देखता है इसप्रकार से अर्थ करना पड़ेगा । जैसे घट, मठ आदि में स्थित हुए आकाशों का अनेकत्व, घटादि के वक्रत्व आदि धर्मों से

वक्रत्वादिमत्त्व जैसे देखता है, वैसे ही देव मनुष्य आदि शरीरों में स्वयं ही जीवात्माओं का अनेकत्व, जन्ममरण आदि विकारों से विशिष्ट और सुख आदि से युक्तत्व जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान अतत्त्व का (मिथ्यावस्तु का) ग्रहण करनेवाला होने से राजस है। यज्ञ, दान आदि कर्म से उत्पन्न होने पर भी वह ज्ञान रजोदोष से विशिष्ट अन्तःकरणवृत्तिरूप होने से राजस है, अतः बन्धन का ही कारण है—मुक्ति का नहीं है, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—राजस ज्ञान का लक्षण क्या है ? इस पर भगवान् कहते हैं कि भूतों में (प्राणियों में) कोई सुखी है—कोई दुःखी है। इस प्रकार **पृथग्विध**—अर्थात् परस्पर विलक्षण नाना प्रकार के भोग देखने से जो लोग यथार्थतत्त्व का अनुसंधान करने में असमर्थ होकर केवल बाह्य प्रतीति को ही यथार्थरूप से ग्रहण करते हैं वे निश्चय कर लेते हैं कि **नाना**-शरीर में (भिन्न-भिन्न देह में) **भाव**—(आत्मा की सत्ता) भी **पृथक्**—अवश्य ही होगी अर्थात् समस्त भूतों में नाना प्रकार के देह रहते हुए भी एकही आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, ऐसा ज्ञान उनको नहीं होता है, क्योंकि आत्मा यदि एक होता तो सभी जीव एकही प्रकार के सुख-दुःख क्यों नहीं अनुभव करते—यही उनकी युक्ति है। इस प्रकार के ज्ञान को राजस ज्ञान कहा जाता है। राजस ज्ञान में सर्वत्र ही भेद देखा जाता है क्योंकि विक्षेप या चंचलता ही रजोगुण का धर्म है एवं उस चंचलता के कारण उससे कर्म में प्रवृत्ति तथा भेदबुद्धि की प्रबलता रहती है। अतः राजस ज्ञान में भिन्न-भिन्न देह में नानाप्रकार के सुख दुःख भोगनेवाले पृथक्-पृथक् आत्मा की प्रतीति होती है। चित्त की चंचलता के कारण गुणों की चंचलता प्रकट होती है एवं उस चंचलता के कारण ही मनःकल्पित सृष्टि में नानाप्रकार की भिन्नता दिखाई पड़ती है यही राजस ज्ञान का कार्य है। चित्त सत्त्वगुण सम्पन्न होकर विक्षेपरहित (शान्त) होने पर तीनों गुण जब साम्य-अवस्था को प्राप्त होते हैं तब सृष्टि भी नहीं दिखाई पड़ती है अर्थात् चंचल राजस ज्ञान से वैषम्य उपस्थित होने पर सृष्टि होती है। सात्त्विक ज्ञान में अद्वैत दर्शन तथा राजस ज्ञान में द्वैत दर्शन होता रहता है, यही दोनों में विलक्षणता है। तार्किकलोग पाँच प्रकार के भेद स्वीकार करते हैं। यथा—

(१) प्रत्येक देह में आत्मा से आत्मा का भेद।

(२) ईश्वर से प्रत्येक आत्मा का भेद।

(३) ईश्वर से अचेतन (जड़) पदार्थों का भेद।

(४) आत्मा अचेतन (जड़) पदार्थों का भेद।

(५) अचेतन पदार्थों में परस्पर भेद, इस प्रकार का भेदज्ञान राजस ज्ञान से सम्पन्न होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

अब तामस ज्ञान का लक्षण बताते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—यत् तु एकस्मिन्कार्ये कृत्स्नवत् सक्तम् अहैतुकम् अतत्त्वार्थवत् अल्पम् च तत् (ज्ञानं) तामसम् उदाहृतम्।

अनुवाद—जो ज्ञान एक कार्य में (पदार्थ में) अर्थात् विशेष देह या प्रतिमा में यही सब है (अर्थात् यही ईश्वर या परमात्मा है इसके अतिरिक्त और परमार्थ वस्तु नहीं है) ऐसी भावना से आसक्त है एवं जो ज्ञान युक्तिहीन है तथा जिस ज्ञान के विषय में तत्त्व नहीं है अर्थात् जो तत्त्वार्थ से (यथार्थ विषय से) शून्य है यानी जिसका विषय मिथ्यावस्तु है, अत एव जो अल्प (तुच्छ) है, उस ज्ञान को शास्त्र में तामस कहा गया है।

भाष्यदीपिका—**यत् तु**—जो ज्ञान ['तु' शब्द द्वारा तामस ज्ञान को राजस ज्ञान से पृथक् किया गया है।] **एकस्मिन्कार्ये**—एक कार्य में अर्थात् एक शरीर में या शरीर से बाहर किसी प्रतिमादि में **कृत्स्नवत्**—परिपूर्ण के समान 'अर्थात् यह इतना ही आत्मा या ईश्वर है इससे परे नहीं' इस प्रकार के अभिनिवेश से अर्थात् दिगम्बर (जैन) आदि दार्शनिकों के मत के अनुसार जीवात्मा सावयव एवं देह के बराबर परिमाण वाला है एवं शरीर के साथ-साथ इस लोक या परलोक में चलता रहता है किंवा ईश्वर पाषाण या काष्ठादि की प्रतिमा मात्र है, इस प्रकार से किसी एक विशेष वस्तु में ईश्वर या आत्मा परिपूर्णरूप से स्थित है—उससे अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा या

ईश्वर नहीं है, ऐसा निश्चय कर जो उस एक ही कार्य में **सक्तम्**—आसक्त (संलग्न) है तथा जो ज्ञान **अहैतुकम्**—हेतुरहित (युक्तिहीन) है [अर्थात् भूतों के अन्यान्य रूप में यदि ईश्वर या आत्मा न रहे एवं जिस वस्तु में वह आसक्त रहता है उस विशेष नाम तथा रूप में ही यदि आत्मा या ईश्वर सीमाबद्ध रहे, तो वह परिच्छिन्न आत्मा या ईश्वर पूर्ण व अनन्त तथा अविनाशी किस प्रकार से हो सकता है, इस विषय पर अनुसंधान (विचार) करने की सामर्थ्य के न रहने के कारण, उसकी वह आसक्ति युक्तिहीन है—यही कहने का तात्पर्य है।] फिर **अतत्त्वार्थवत्**—'तत्त्वार्थ' शब्द का अर्थ है यथार्थ अर्थ (विषय) जो ज्ञान यथार्थ विषय को (सत्य वस्तु को) प्रकाश करता है वह 'तत्त्वार्थवत्' कहा जाता है। अतः जो ज्ञान इससे विपरीत है अर्थात् तत्त्वार्थ (सत्यवस्तु से) रहित है वह अतत्त्वार्थवत् है **अल्पम् च**—तथा अल्पविषयक होने से या अल्प फल वाला होने से अल्प है ['अल्प' शब्द का अर्थ है परिछिन्न या सीमित। आत्मा का विभुत्व, सर्वव्यापित्व तथा नित्यत्व जिस ज्ञान के द्वारा जाना नहीं जाता है, अतः जिस ज्ञान का विषय है परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) आत्मा या ईश्वर वह ज्ञान अल्प है। 'च' शब्द से यह भी सूचित किया गया है कि उस ज्ञान का फल अल्प या तुच्छ ही होता है **तत् (ज्ञानम्) तामसम् उदाहृतम्**—वह ज्ञान (शास्त्रों में) तामस कहा गया है क्योंकि विवेक ज्ञान शून्य तामसी प्राणियों में ही ऐसा ज्ञान देखा जाता है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब तामस ज्ञान बताते हैं-जो ज्ञान **एकस्मिन् कार्ये**—एक ही कार्य शरीर में अथवा प्रतिमा आदि में **कृत्स्नवत् सक्तम्**—पूर्ण की भाँति आसक्त अर्थात् इतना ही आत्मा या ईश्वर है इस प्रकार से निश्चयपूर्वक आसक्त है तथा **अहैतुकम्**-जो हेतु रहित युक्ति संगत नहीं हैं, **अतत्त्वार्थवत्**-तत्त्वार्थ रहित है-परमार्थावलम्बन से शून्य है, इसलिए **अल्पम् च**—जो अल्प (तुच्छ) है क्योंकि उसका विषय अल्प है **तत् तामसम् उदाहृतम्**—जो इस प्रकार का ज्ञान है वह तामस कहा गया है।

(२) **शंकरानन्द**—तामस ज्ञान का लक्षण कहते हैं, यत्तु इत्यादि से-'तु' शब्द इस ज्ञान का उक्त दोनों ज्ञानों से वैलक्षण्य बतलाने के लिए है **एकस्मिन् कार्ये**-

एक कार्य में (पञ्च भूत के कार्य देह या प्रतिमा आदि में) **कृत्स्नवत्**—परिपूर्ण के समान **सक्तम्**—आत्मा और परमेश्वर स्वयं अपने स्वरूप से इतने ही बड़े यानी देह के सदृश आकार वाला ही जीवात्मा है और प्रतिमा के सदृश आकार वाला ही ईश्वर है, इससे अधिक नहीं है, इस प्रकार के निश्चय से युक्त अथवा 'कृत्स्नवत्' यानी यह घट है, यह पट है इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का जैसे निश्चय है वैसे ही देह में या प्रतिमा आदिरूप कार्य में सक्त यानी यह देह ही आत्मा मैं हूँ, तथा यह पाषाण आदि ही ईश्वर है, इस प्रकार के निश्चय से युक्त **अहैतुकम्**—अहैतुक (अर्थात् देह ही आत्मा है तथा प्रतिमा आदि ही ईश्वर है इस प्रकार के निर्धारण में हेतु रहित)। [यदि कहो कि 'देह ही आत्मा है' अहंकार अर्थ होने से इत्यादि युक्ति उक्त निश्चय में हेतु है ही, तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि मैंने स्वप्न देखा", इत्यादि में व्यभिचार है और देह के जलने पर आत्मा के जलने का भी प्रसङ्ग होगा। अतः न तो देह में आत्मतत्त्व का साधक हेतु है तथा न तो प्रतिमा आदि में ईश्वरतत्व का साधक हेतु है।

यदि शङ्का हो कि प्रतिमा आदि के सदृश आकार वाला ईश्वर अभीष्ट वस्तुओं को देता है, इस लिए यह प्रतिमा आदि ही ईश्वर है, 'काम का देने वाला होने से,' इत्यादि युक्ति है ही, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अश्वत्थ (पीपल) भी आरोग्यप्रद देखने में आता है, अतः उसमें ईश्वर की अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिए यह मानना चाहिए कि भक्ति से आराधित सर्वगत परमेश्वर ही उसमें स्थित होकर कामनाओं को देता है, प्रतिमा आदि नहीं क्योंकि यदि यह न माना जायगा तो प्रतिमा आदि का नाश होने पर ईश्वर के भी नाश का प्रसंग आवेगा इसलिए देह तथा प्रतिमा आदि में आत्मत्व एवं ईश्वरत्व की साधक युक्ति नहीं है। अतः एव **अतत्त्वार्थवत्**—अबाधित अर्थ तत्त्वार्थ है। वह जिस ज्ञान का नहीं है वह अतत्त्वार्थवत् यानी अयथार्थ विषयक ज्ञान है, इसीलिए **अल्पम्**—अल्प विषय और अल्प फलवाला होने से अल्प (निकृष्ट) है। जो इस प्रकार के लक्षण से युक्त ज्ञान है **तत् तामसम् उदाहृतम्**—वह तामस है। अनेक जन्मों में तामस यज्ञ, दान आदि कर्मों के अनुष्ठान से सम्प्राप्त तमोगुण का कार्य होने से कपिल आदि मुनियों के द्वारा 'तामस' कहा गया है, यह अर्थ है। अनेक सैकड़ों जन्मों से अनुष्ठित सात्विक यज्ञ, दान आदि

सत्कर्मों के परिपाक से उत्पन्न हुआ सात्त्विक ज्ञान मोक्ष का ही कारण होता है। पूर्व श्लोक में उक्त लक्षण वाला राजस ज्ञान तो स्वर्ग आदि अभ्युदय का हेतु ही है। केवल मूढ़ों के व्यवहार को वषय करने वाला तामस ज्ञान तो जन्ममरणरूप दुःख के प्रवाह का ही हेतु है, स्वर्ग का या अपवर्ग का हेतु नहीं है, ऐसा सूचित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में ज्ञान के सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद बतलाए गये हैं। सभी वस्तु के बाह्य भेदों में भेद रहित (अभिन्न) सत्ता को (नाना में एक एवं अनित्य, विकारी सभी दृश्य वस्तुओं में एक, नित्य, अव्यय, कूटस्थ, अखण्ड सत्ता को अर्थात् आत्मा को) साक्षात् अनुभव करना ही सात्त्विक ज्ञान का लक्षण है। सात्त्विक ज्ञान में 'एक ही बहु तथा बहु ही एक' इस प्रकार का सम्यक् दर्शन होता है। अतः नाना एवं एक में कोई विरोध नहीं रहता है, जैसे स्वर्णरचित (सोना से बने हुए) हार, बलय, कंगन आदि में बुद्धिमान् व्यक्ति सदा ही एक स्वर्ण पदार्थ को ही (सोना को ही) देखता है।

राजस ज्ञान में सब भूतों में अर्थात् उनके देह तथा आत्मा में बहुत्व या भिन्नत्व का ज्ञान रहता है अर्थात् उनमें जो सर्वव्यापी चैतन्यस्वरूप एक आत्मतत्व स्थिर रूप से विद्यमान है उसका दर्शन (ज्ञान) नहीं होता है। जैसे अज्ञानी व्यक्ति हार, बलय कंगन का नाम रूप ही देखता है, उनके उपादान कारण जो सुवर्ण (सोना) उन सबके अणु परमाणु में समभाव से विद्यमान है उसको देखने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार राजस ज्ञान में भिन्नत्व की ही प्रतीति होती है, परन्तु सभी भिन्न-भिन्न नाम रूपात्मक पदार्थ एक ही आत्मारूप सूत्र में ग्रथित हैं यह देख नहीं पाता है। यही राजसिक ज्ञान की विलक्षणता है।

(३) **तामस ज्ञान**—जिस प्रकार से अत्यन्तमूढ़ व्यक्ति एक हार या बलय को ही परिपूर्ण सुवर्ण रूप से ग्रहण करता है एवं उससे अतिरिक्त कंगन, कुण्डल आदि में भी सुवर्ण सर्वत्र विद्यमान है यह अज्ञान के कारण देख नहीं पाता है, उसी प्रकार तामस ज्ञान युक्त पुरुष एक विशेष पत्थर या काष्ठ खण्ड की प्रतिमामात्र को ही किसी युक्ति के बिना ईश्वर या भगवान् रूप से स्वीकार कर लेता है एवं उसमें ही आसक्त (डटा) रहता है, अन्य किसी में ईश्वर या आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है अर्थात्

सर्वरूप में, सर्वनाम में, व्यक्त अव्यक्त सभी वस्तुओं में सर्वत्र, सर्वदा एक ही अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान् विद्यमान हैं, यह बुद्धि की मलिनता के कारण वह धारण करने में असमर्थ होता है इसलिए इस ज्ञान का विषय अल्प (तुच्छ-परिच्छिन्न तथा विनाशशील) एवं इसका फल भी अल्प होने के कारण इस ज्ञान को तामस ज्ञान कहा जाता है।

उक्त प्रकार से शास्त्रों में ज्ञान के तीन प्रकार के भेद कहे गये हैं। इनमें से अद्वैतात्मदर्शनरूप सात्त्विक ज्ञान ही उपादेय (ग्राह्य) है अर्थात् उस ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए ही मुमुक्षु को सर्व प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि आत्मा के विषय में भेद दर्शनरूप राजसिक ज्ञान तथा किसी विशेष देह या प्रतिमा में आत्मा या ईश्वर को अनित्य एवं परिच्छिन्न रूप से दर्शन करना रूप तामस ज्ञान मोक्ष का परिपन्थी (प्रतिकूल) होने के कारण हेय अर्थात् परित्याज्य है।

अब कर्मों के तीन भेद बताते हुए सात्त्विक कर्म का लक्षण कहते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

अन्वय—अफलप्रेप्सुना अरागद्वेषतः नियतम् सङ्गरहितम् च यत् कर्म कृतम् (भवति) तत् सात्त्विकम् उदाहृतम्।

अनुवाद—फल की इच्छा से शून्य पुरुष द्वारा जो नित्य कर्म राग-द्वेष के बिना अनासक्त भाव से किया जाता है वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—अफलप्रेप्सुना—जो कर्ता कर्म फल को चाहता है वह कर्मफलप्रेप्सु है अर्थात् कर्म फल की तृष्णा वाला है और जो उससे विपरीत है वह कर्म फल को न चाहने वाला है। इस प्रकार कर्ता के द्वारा **अरागद्वेषतः**—राग या द्वेष (अर्थात् इसके द्वारा राजसम्मानादि को प्राप्त करूँगा ऐसा रागभाव तथा इससे मैं शत्रु को पराजित करूँगा इस प्रकार का द्वेषभाव) इन दोनों के द्वारा जो कर्म न किया जाय वह अरागद्वेषतः कृत (बिना रागद्वेष के किया हुआ) होता है **नियतम्**—तथा जो कर्म नियत (नित्य) है [अर्थात् जिस कर्म के समस्त अंगों के उपसंहार में

असमर्थ (पूर्णतया अनुष्ठान की समाप्ति करने में असमर्थ) कर्मकर्ता को भी कर्मफल अर्थात् चित्तशुद्धि, पापक्षय आदिरूप फल अवश्य प्राप्त होता है, उसको नियत या नित्य कर्म कहा जाता है। (मधुसूदन)] **सङ्गरहितम च**—सङ्ग (आसक्ति) रहित होकर [मैं ही बड़ा भारी याज्ञिक हूँ, इस प्रकार के अभिमानरूप राजस गर्वविशेष को सङ्ग कहा जाता है, उस सङ्ग से वर्जित होकर अर्थात् उस प्रकार के गर्व से रहित होकर (मधुसूदन) ।] **यत् कर्म कृतम् भवति**—जो यज्ञ, दान, होमादि कर्म किया जाता है **तत्**—वह अर्थात् पूर्वोक्त विशेषण युक्त कर्म **सात्त्विकम् उदाहृतम्**—सात्त्विक कहा जाता है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब तीन प्रकार के कर्म तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं—**नियतम्**—जो नियत (नित्य रूप से विहित) **सङ्गरहितम्**—तथा सङ्गरहित अभिनिवेश से शून्य **अरागद्वेषतः कृतम्**—बिना रागद्वेष के जिसका अनुष्ठान किया गया है अर्थात् पुत्र आदि के प्रति राग (प्रीति) अथवा शत्रु के प्रति द्वेष जिस कर्म में नहीं किया गया है तथा **अफलप्रेप्सुना**—जो फल प्राप्त करना चाहता है वह फलप्रेप्सु है। उससे विलक्षण निष्काम कर्ता द्वारा किया हुआ जो कर्म है **तत्सात्त्विकम् उच्यते**—वह सात्त्विक कहा जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—सत्त्वादि गुणों के भेद से कर्म त्रिविध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए पहले मुमुक्षुओं के अनुष्ठेय सात्त्विक कर्म को कहते हैं—**नियतम्** श्रुति और स्मृति से अवश्य कर्तव्यरूप से विहित यज्ञ, तप और दानादि कर्म जो **सङ्ग-रहितम्**—सङ्ग से (कर्तृत्व का अभिनिवेश अर्थात् अहंकार—उससे) शून्य यानी अहङ्काररहित है तथा **अरागद्वेषतः**—सुख से साध्य अथवा सुखरूप फल के साधनरूप कर्म में राग और दुःख से साध्य अथवा दुःखरूप फल के साधनरूप कर्म में द्वेष होता है। राग और द्वेष रागद्वेष हैं। जिस समबुद्धि वाले पुरुष को इष्ट एवं अनिष्ट कर्मों में राग और द्वेष नहीं हैं, वह 'अरागद्वेष' है। तृतीया के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय है यानी रागद्वेष से रहित, और **अफलप्रेप्सुना**—फल को न चाहनेवाले निष्काम कर्ता द्वारा **कृतम् यत् कर्म**—किया गया जो कर्म है **तत् सात्त्विकम् उच्यते**—वह कर्म सात्त्विक है अर्थात् सत्त्वशुद्धि का कारण है, ऐसा महर्षियों के द्वारा कहा जाता है।

(३) नारायणी टीका—अब कर्मों के भेद बताते हुए सात्त्विक कर्म के लक्षण श्रीभगवान् वर्णन करते हैं—

सात्त्विक कर्म (१) जो कर्म नियत—है अर्थात् शास्त्रद्वारा नित्य अनुष्ठान करने के लिए विहित है। [नियत अग्निहोत्रादि कर्म में यदि कोई अंगहानि भी हो तो श्रद्धापूर्वक करने से चित्तशुद्धि अथवा पापक्षयरूप फल कर्ता को अवश्य प्राप्त होते हैं, अतः राजस काम्यकर्म से यह विलक्षण है।

(२) जो कर्म सङ्गरहित—अर्थात् (आसक्तिवर्जित है) [अर्थात् जिस कर्म में कर्ता की आसक्ति नहीं है। अथवा 'मैं महा याज्ञिक हूँ या बहुत बड़ा दानी हूँ' इस प्रकार से अहंकार भाव नहीं है।]

(३) जो कर्म रागद्वेष से वर्जित—है अर्थात् जिस कर्म में राग (किसी सम्मान आदि की प्राप्ति की कामना) अथवा द्वेष (अर्थात् शत्रु आदि को दमन करने की वासना) कर्मों के प्रवर्तक नहीं हैं अर्थात् अनुराग से प्रयुक्त होकर अथवा द्वेष से प्रयुक्त होकर जो कर्म नहीं किया जाता है।

(४) जिस कर्म का कर्ता 'अफलप्रेप्सु' अर्थात् फलप्राप्ति की आकांक्षा से जो शून्य है, वह कर्म विद्वानों के द्वारा सात्त्विक कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो नित्य नैमित्तिक आदि नियत (नित्य) कर्म शास्त्र के विधान के अनुसार 'शास्त्र की आज्ञा पालन करना ही मेरे कल्याण के (चित्तशुद्धि के) लिए कर्तव्य है, अतः मैं कर्ता नहीं हूँ, शास्त्र ही प्रेरक होकर मुझसे करा रहा है', इस प्रकार की भावना से कर्म करते हुए सङ्गरहित होकर अर्थात् कर्मों में आसक्ति या अहंकारभाव से शून्य होकर तथा रागद्वेष से एवं फलकांक्षा से रहित होकर कर्ता जो कर्म करता है, वह सात्त्विक कर्म कहा जाता है।

अब राजस कर्म का लक्षण बताते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अन्वय—यत् तु कर्म पुनः बहुलायासम् कामेप्सुना साहंकारेण वा क्रियते तत् राजसम् उदाहृतम् ।

अनुवाद—फल की इच्छावाले और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा जो अत्यन्त श्रमसाध्य कर्म किया जाता है, वह राजस कहा गया है।

भाष्यदीपिका—यत् तु कर्म—जो कर्म ['तु' शब्द सात्त्विक कर्म से राजस कर्म के भेद का निर्देश करने के लिए है।] **पुनः**—यहाँ 'पुनः' शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है यह केवल पाद को पूर्ण करने के लिए है [अथवा पूर्व श्लोक में सात्त्विक कर्म को नियत कहा गया है। इस श्लोक में 'पुनः' शब्द के द्वारा राजस कर्म उससे विपरीत अर्थात् अनियत (काम्य) कर्म होता है, यह निर्देश किया गया है। काम्य कर्म का एकबार अनुष्ठान करने पर उसका फल भी एकबार मात्र ही मिलता है। अतः जबतक कामना रहेगी तबतक काम्यकर्म की आवृत्ति (पुनः पुनः अनुष्ठान) करनी होगी इसलिये 'पुनः' शब्द अनियत के अर्थ में है (मधुसूदन)।] **बहुलायासम्**—जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है अर्थात् करनेवाला जिसको बहुत परिश्रम से कर पाता है वह कर्म 'बहुलायास' है [सात्त्विक नित्य कर्म के विपरीत होने के कारण काम्यकर्म की अंग हानि होने पर उस कर्म से काम्यफल की प्राप्ति नहीं होती है, सभी अंगों को समाहार (एकत्र) करके अनुष्ठान करना पड़ता है। इसलिए सभी काम्य कर्म बहुलायास अर्थात् अत्यन्त परिश्रमसाध्य हैं, अतः अति क्लेशकर भी हैं।] इस प्रकार जो कर्म **कामेप्सुना**—फलाभिलाषी व्यक्तिद्वारा **साहंकारेण वा**—अथवा अहंकार के सहित। इस श्लोक में 'साहंकारेण' पद तत्त्वज्ञानी की अपेक्षा करके उक्त नहीं हुआ है किन्तु वेद शास्त्र को जाननेवाले लौकिक निरहंकारीकी अपेक्षा से इस पद का प्रयोग किया गया है क्योंकि जो वास्तविक निरहंकारी आत्मवेत्ता है उसमें तो फल की कामना नहीं हो सकती एवं उसके द्वारा बहुत परिश्रमयुक्त (अति क्लेशदायक) कर्म अनुष्ठित नहीं हो सकता [क्योंकि कर्ता, कर्म, करण तथा कर्म फल सभी अज्ञान कल्पित (मिथ्या) हैं, ऐसा अनुभव होने के पश्चात् उनको किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रहती है।] अनात्मविद् (आत्मतत्त्वको न जाननेवाला पुरुष) भी यदि सात्त्विक कर्म का कर्ता हो तो भी वह अहंकारपूर्वक ही कर्म करता है फिर राजस एवं तामस कर्म का कर्ता अहंकारयुक्त होगा, इसमें तो बात ही क्या है ? संसार में आत्मतत्त्वज्ञ न होने पर भी वेद शास्त्र का ज्ञाता (श्रोत्रियपुरुष) निरहंकारी (जैसे अमुक ब्राह्मण निरहंकारी है

ऐसा) कहा जाता है अतः ऐसे पुरुष की अपेक्षा से ही इस श्लोक में 'साहंकारेण वा' यह वचन कहा गया है अर्थात् निरहंकारी श्रोत्रिय ब्राह्मण से विपरीत जो अहंकारयुक्त पुरुष है वही राजसिक कर्म का कर्ता होता है यही सूचित करने के लिये 'साहंकारेण वा' पद का प्रयोग हुआ है [पूर्व श्लोक की व्याख्या में 'मैं ही महा याज्ञिक हूँ' इस प्रकार के अभिमानरूप राजस गर्व विशेष को संग अर्थात् अहंकार कहा गया है। सात्त्विक कर्म के निरहंकार कर्ता के विपरीत राजस कर्म का कर्ता होता है यह निर्देश किया गया है। 'वा' शब्द समुच्चय के अर्थ में है अर्थात् कर्ता यदि कामेप्सु (फलाकांक्षी) एवं अहंकारयुक्त हो एवं कर्म यदि बहुलायास (अत्यन्त परिश्रमसाध्य हो) अर्थात् कर्ता एवं कर्म का उक्त लक्षण यदि एकत्र रहे तो वह कर्म राजस है, यह कहने के अभिप्राय से 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है।] **क्रियते**—[उक्त लक्षणयुक्त कर्ता के द्वारा यदि उक्त लक्षणयुक्त कर्म (मधुसूदन)] अनुष्ठित होता है तो **तत् राजसम् उदाहृतम्**—वह राजस कहा गया है [राजस कर्म के सभी विशेषण सात्त्विक कर्म के समस्त विशेषणों के व्यतिरेक (विपरीत) हैं।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब राजस कर्म बताते हैं **यत् तु**—जो कर्म **कामेप्सुना**—कामेप्सु अर्थात् फलप्राप्ति की इच्छावाले मनुष्य के द्वारा अथवा **साहंकारेण**—अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा—मेरे समान दूसरा कौन श्रुति का तत्त्वज्ञ है इस प्रकार से दृढ़ अहंकारयुक्त कर्ता द्वारा किया जाता है और जो **बहुलायासम्**—फिर बहुत परिश्रमसाध्य—अत्यन्त क्लेशयुक्त है **तत् राजसम् उदाहृतम्**—वह कर्म राजस कहा गया है।

(२) **शंकरानन्द**—अब राजस कर्म को कहते हैं **यत् तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः**—'तु' शब्द वैलक्षण्य के लिए है। 'वा' शब्द चकार के अर्थ में है। 'पुनः' शब्द का 'अपि' अर्थ है। कामेप्सु (जो चाहा जाता है, वह काम है यानी कर्मफल, उसकी प्राप्ति की इच्छा करनेवाले) और साहंकार (फल के लिए मैं यह कर्म करता हूँ ऐसा अभिनिवेश अहंकार है, उससे रहित कर्मकर्ता पूर्वोक्त सात्त्विक है। राजस कर्ता अहंकार से युक्त होने के कारण साहंकार है)। 'मैं यह करता हूँ' इस प्रकार के अभिमान से पूर्ण, आडम्बर से युक्त साहंकार कर्ता के द्वारा **बहुलायासम्**—बहुत

आयास जैसे भुजाओं से नदी के तरण में आयास पड़ता है, वैसा ही महान् आयास (श्रम) जिस आचमन आदि कर्म में होता है वह बहुलायास है। इस प्रकार अत्यन्त परिश्रम पूर्वक जो किया जाता है वह कर्म राजस है। **तत् राजसम् उदाहृतम्**—फल की कामना से और रजोगुण के कार्य अहंकार से युक्त अधिकारी द्वारा अनुष्ठित होने से वह राजस कर्म है, ऐसा मुनियों के द्वारा कहा गया है, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—राजस कर्म का लक्षण इस प्रकार बताते हैं—(१) राजस कर्म का कर्ता यज्ञ, दानादि जो कुछ कर्म करता है वह किसी न किसी फल की कामना कर अर्थात् पुत्र, धन, स्वर्ग मान शत्रुनाश इत्यादि रूप फल प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। (२) राजस कर्मों में कर्ता का अहंकार 'मैं इतना बड़ा यज्ञ कर रहा हूँ', 'इतना दान कर रहा हूँ', इस प्रकार का अहंकार (गर्व) रहता है (३) राजस काम्यकर्म विशेष-विशेष फलप्राप्ति के लिए किया जाता है। एक प्रकार के कर्मानुष्ठान से एक प्रकार का ही फल प्राप्त होता है किन्तु फलासक्त देहाभिमानी पुरुष की बहुत सी कामना रहने के कारण उसको पुनः पुनः कामना की सिद्धि के अनुकूल (उपयोगी) यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है। अतः इसके लिए पुनः पुनः आयास (परिश्रम) भी करना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि काम्य कर्म की किसी प्रकार से अंगहानि होनेपर वह कर्म फलदायक नहीं होता है। अतः अंगहानि का दोष निवारण करने के लिए यथोचित सामग्री का समाहार (एकत्र संग्रह) करने में बहुत आयास अर्थात् परिश्रम तथा क्लेश स्वीकार करना पड़ता है। अतः वे काम्यकर्म अति क्लेशयुक्त होते हैं।

उक्त प्रकार के लक्षणयुक्त जो कर्म हैं वे राजस कर्म हैं। राजस कर्म का फल दुःख ही है अर्थात् कर्म करने के समय दुःख, फल की आशा की पूर्ति होने के लिए अपेक्षा करने में दुःख तथा ऐहिक या पारलौकिक सब फल ही अस्थायी (अनित्य) होने के कारण उसके क्षय में (नाश में) भी दुःख होता है। राजसिक कर्म संसार प्राप्ति के ही हेतु होने के कारण मुमुक्षु के द्वारा सर्व प्रकार से हेय (परित्याज्य) है।

अब तामस कर्म का लक्षण बताते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अन्वय—अनुबन्धम् क्षयम् हिंसाम् पौरुषम् च अनवेक्ष्य मोहात् यत् कर्म आरभ्यते तत् तामसम् उच्यते ।

अनुवाद—पीछे होनेवाले अशुभ परिणाम, क्षय, हिंसा तथा अपनी सामर्थ्यकी अपेक्षा न करके (परवाह न करके) जो कर्म मोह से (केवल अविवेक से) आरम्भ किया जाता है वह तामस कहा जाता है ।

भाष्यदीपिका—अनुबन्धम्—[अनु=पश्चात् , बन्ध=परिणाम या फल] कर्म करने के पश्चात् जो अन्त में होने वाला संसारबन्धन का कारणरूप परिणाम या फल उत्पन्न होता है उसे अनुबंध कहते हैं, उसको **क्षयम्**—जिस कर्म को करने में शरीर की सामर्थ्य तथा धन आदि का क्षय होता है उसको **हिंसाम्**—प्राणियों की पीड़ा को **पौरुषं च**—तथा पौरुष को अर्थात् "अमुक कर्म मैं समाप्त कर सकता हूँ" इस प्रकार से अपनी सामर्थ्य को **अनवेक्ष्य**—'अनवेक्ष्य' शब्द सबके साथ युक्त है अर्थात् अनुबन्ध, क्षय, हिंसा एवं पौरुष इन सबकी अपेक्षा न करके अर्थात् इनका भविष्यत् परिणाम क्या होगा, इसका विचार (परवाह) न करके **मोहात्**—केवल मोह से (अज्ञान या अविवेक से) **यत् कर्म आरभ्यते**—जिस कर्म का आरम्भ किया जाता है (जैसे दुर्योधन ने पाण्डवों के साथ युद्ध आरम्भ किया था) **तत् तामसम् उदाहृतम्**—वह कर्म (तमोगुणपूर्वक अनुष्ठित होने के कारण) तामस कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अब तामस कर्म बताते हैं **अनुबन्धम्**—जो अनुबद्ध होता (पीछे बँधा रहता) है उसको अनुबन्धन कहते हैं । अतः भविष्य में होनेवाले शुभ और अशुभ कर्मफल का नाम है अनुबन्ध **क्षयम्**—धन का अधिक व्यय, **हिंसा**—दूसरों का पीड़न **पौरुषं च**—एवं पौरुष (अपनी सामर्थ्य) **अनवेक्ष्य**—इन सबको न देखकर—इनका विचार न करके **मोहात् एव यत् कर्म आरभ्यते तत्**

तामसम् उच्यते—केवल मोह से ही जिस कर्म का आरम्भ किया जाता है उसे तामस कहते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—अब तामस कर्म को कहते हैं-**अनुबन्धम्**—अनुबन्ध (यानी उत्तरभावी अनर्थ) जिस कर्म का फलभूत है **क्षयम्**—जिस कर्म के करनेपर धन का क्षय, बल का क्षय, पुण्य का क्षय, आयु का क्षय अथवा अन्य का क्षय होता है उसे क्षय कहते हैं **हिंसाम्**—प्राणियों की पीड़ारूपी हिंसा तथा कर्म के निर्वाह में अपनी सामर्थ्यरूप **पौरुष**—इन सबको न देखकर (बुद्धिबल से उनका विचार न कर) बालक की नाईं **मोहात्**—मोह से (अविवेक से) जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह सम्मोह से अर्थात् विवेक के अभावरूप तमोगुण से किया जाता है, इससे वह तामस कहा जाता है।

(३) **नारायणी टीका**—कर्म का सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेद तीन श्लोकों में कहा गया है। सात्त्विक कर्म का **विशेषत्व**—है-(क) फलकामना-रहितत्व—फल की कामना न रहने पर ही कर्मों में सङ्ग (आसक्ति) नहीं रहता है, अतः (ख) **न रागद्वेषत्व**—विद्यमान रहता है अर्थात् राग-द्वेष का कोई विषय भी नहीं रहता है। इसलिए सात्त्विक कर्म का प्रेरक अहंकार तथा काम नहीं है। (ग) नियत (शास्त्रविहित नित्य) कर्म में कर्तव्यताबुद्धि ही इस प्रकार के कर्म का **प्रेरक**—या प्रवर्तक है। इसलिए सात्त्विक कर्म से विक्षेप उत्पन्न न होने के कारण मन का प्रशान्तभाव नष्ट नहीं होता है। अतः यह मन शान्त स्थिर आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होता है। इसलिये मुमुक्षु के परमार्थदर्शन में वह प्रधान सहायक है। राजसिक कर्म का **विशेषत्व—है फल की कामना**—(फलाकांक्षा)। अतः कामनायुक्त पुरुष की कामना की तृप्ति के लिए पुनः-पुनः विशेष विशेष काम्यकर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है एवं उस-उस कर्म में कोई अंगहानि न हो इसलिए **बहुल आयास (परिश्रम)**—करके द्रव्यादि का संग्रह करना पड़ता है इसलिए राजस कर्म बहुलायास (अत्यन्त क्लेशकारक) है। राजस कर्म का **प्रेरक**—या प्रवर्तक है गर्वयुक्त **अहंकार**।

तामसिक कर्म का **विशेषत्व—है-मोह**—अर्थात् अविवेक (विचारशून्यता)। इसलिए अविवेकी देहाभिमानी पुरुष जो कुछ कर्म करता है उसका **अनुबंध**—(पश्चात्

शुभाशुभ परिणाम) क्या होगा एवं उस कर्म से अपनी शक्ति का तथा धनादि का **क्षय**—(नाश) कितना होगा एवं **हिंसा**—अर्थात् कितने प्राणियों का पीड़न तथा नाश होगा तथा उस कर्म के सम्पन्न करने में उसका **पौरुष**—अर्थात् सामर्थ्य है कि नहीं है, इन सब व्यापारों की **अपेक्षा (इन सब विषय पर विचार) न करके**—ही (अर्थात् किसी प्रकार परवाह न करके ही) सामयिक हठपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः तामसिक कर्म का **प्रेरक**—व प्रवर्तक है मोह (अत्यन्त विवेकहीन बुद्धि)। अतः सभी कल्याणकामी पुरुषों के लिए सात्त्विक कर्म उपादेय (ग्रहण के योग्य) हैं एवं राजस तथा तामस कर्म हेय (त्यागने के योग्य) हैं। यही २३ से २५ तक तीन श्लोकों में भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

अब तीन प्रकार का कर्ता कहा जाता है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—मुक्तसङ्गः, अनहंवादी, धृति-उत्साह-समन्वितः, सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते।

अनुवाद—जो फल की इच्छा से रहित, निरहंकार (अर्थात् मैं करनेवाला हूँ ऐसा न कहनेवाला), धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कर्म में सफलता होने और न होने में निर्विकार रहनेवाला है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—मुक्तसङ्गः—जो कर्ता मुक्तसङ्ग है अर्थात् जिसने फलासक्ति का त्याग कर दिया है **अनहंवादी**—जो अनहंवदनशील नहीं है अर्थात् मैं करनेवाला हूँ, ऐसा कहने का जिसका स्वभाव नहीं होता है [अथवा जो अपने गुणों की श्लाघा (बड़ाई) करनेवाला न हो (मधुसूदन)] **धृति उत्साह समन्वितः**—धृति (धारणाशक्ति) अर्थात् धैर्य [विघ्न आदि के उपस्थित होनेपर भी आरम्भ किये हुए कर्म को जो अन्तःकरण की वृत्तिविशेष के कारण न छोड़ने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसे धृति या धैर्य कहा जाता है (मधुसूदन)] तथा **उत्साहः**—उत्साह अर्थात् उद्यम ['मैं' इसे करूँगा ही ऐसी निश्चयात्मिकाबुद्धि जो धृति की

हेतुभूता है उसे उत्साह कहा जाता है (मधुसूदन)।] इस प्रकार जो धृति (धैर्य), उत्साह (उद्यम) इन दोनों से समन्वित (युक्त) है तथा **सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः**—जो किए हुए कर्म के फल की सिद्धि होने या न होने में निर्विकार है [अर्थात् कर्म की सिद्धि में (सफलता में) जो हर्ष से होनेवाला मुख का खिलना तथा असिद्धि में (असफलता में) शोक से होनेवाला मुख का मलिन होनारूप विकार है, उनसे जो रहित है वह सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार है। (मधुसूदन)।] कहने का अभिप्राय यह है कि जो केवल शास्त्रप्रमाण से ही कर्म में प्रवृत्त होता है अर्थात् शास्त्र में यह मेरे लिए कर्तव्यरूप से निर्दिष्ट हुआ है, इसलिए इस कार्य को मुझे करना ही चाहिए इस प्रकार की बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर ही जो अपने कर्तव्य कर्म का ठीक-ठीक अनुष्ठान करता है किन्तु फलेच्छा या आसक्ति आदि से प्रेरित होकर नहीं, वही कार्य की सिद्धि और असिद्धि में विकारभाव को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए वह निर्विकार कहा जाता है। **कर्ता सात्त्विकः उच्यते**—ऐसा (उक्त मुक्तसङ्गादि विशेषणयुक्त) जो कर्ता है, वह सात्त्विक कहा जाता है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—तीन प्रकार के कर्ताओं को 'मुक्तसङ्गः' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं—जो **मुक्तसङ्गः**—अभिनिवेश का त्यागी **अनहंवादी**—अहंकारपूर्वक न बोलनेवाला गर्वभरी उक्ति से रहित **धृति-उत्साह-समन्वितः**—धृति (धैर्य), उत्साह (उद्यम) इन दोनों से सम्पन्न—**सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः**—आरम्भ किए हुए कर्म की सिद्धि और असिद्धि में (उसके पूर्ण होने और न होने में) निर्विकार अर्थात् हर्ष और विषाद से शून्य है—**कर्ता सात्त्विक उच्यते**—ऐसा कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—गुणों के भेद के अनुसार सात्त्विक कर्ता को कहते हैं—**मुक्तसङ्गः**—जिसने सङ्ग का (फलाभिसन्धिरूप काम का) मन से त्यागकर दिया है, वह 'मुक्तसङ्ग' है अर्थात् निष्काम है **अनहंवादी**—संकल्प होने पर भी, मैं यह करता हूँ, ऐसा कहने का जिसका स्वभाव नहीं है, वह अनहंवादी है। अनहंमानित्व में भी यह उपलक्षण है **धृत्युत्साहसमन्वितः**—धृति [अर्थव्यय और देह के आयास (श्रम) आदि में धैर्य] और उत्साह यानी करने की इच्छा का वेग, इन दोनों से भलीभाँति

युक्त सिद्धिसिद्ध्योः निर्विकारः—सिद्धि और असिद्धि में (आरब्ध कर्म की सिद्धि और असिद्धि में) निर्विकार यानी जिसने भली भाँति ईश्वर में सर्व कर्मों को समर्पण कर दिया तथा फल देने और न देने में ईश्वर ही नियन्ता है, अतः ईश्वर की इच्छा से ही सबकुछ होता है ऐसा समझकर निर्विकार अर्थात् हर्ष और विषाद से शून्य है. कर्ता सात्त्विकः उच्यते—इस प्रकार सत्त्वगुण से सम्पन्न जो कर्मों का कर्ता है वह सात्त्विक कर्ता है ऐसा ऋषियों के द्वारा कहा जाता है। इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट होना सात्त्विक कर्ता का लक्षण है, यह सूचित होता है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में कर्मों के सात्त्विक आदि भेद बताकर अब कर्ता के तीन प्रकार के भेद बताते हैं—

सात्त्विक कर्ता का लक्षण—(१) सात्त्विक कर्ता मुक्तसङ्ग—होता है अर्थात् कर्म में या कर्म फल में उसका सङ्ग (आसक्ति) नहीं रहता है। शास्त्र के अनुशासन के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल 'मुझे यह करना चाहिए' इस प्रकार बुद्धि से प्रेरित होकर ही (फलकामना या आसक्ति से नहीं) भगवान् की प्रीति के लिए वह श्रद्धापूर्वक कर्म करता है।

(२) अनहंवादी—होता है। शास्त्र की आज्ञा से (अपनी बुद्धि से नहीं) सब कर्म करने के कारण 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा वह कहनेवाला नहीं होता है।

(३) धृतियुक्त तथा उत्साहयुक्त—होता है। भगवान् के आज्ञारूप शास्त्र का वाक्य-पालन करने के लिये दृढ़संकल्प होकर अपने शरीर, मन एवं प्राण को भगवान् के हाथ का यंत्र मान लेता है। इसलिए नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये हुए कर्म को नहीं छोड़ता है। इसे ही धृति या धैर्य कहा जाता है। इस धैर्य का हेतुभूत जो उत्साह है अर्थात् मैं इस कर्म को पूर्णरूप से सम्पन्न करूँगा ही, इस प्रकार के दृढ़संकल्प से वह सदा ही युक्त रहता है अर्थात् उसमें धृति और उत्साह का अभाव नहीं देखा जाता है।

(४) सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार—(समभाव सम्पन्न) रहता है अर्थात् कार्य की सिद्धि (सफलता) होने पर उसका मुख प्रफुल्लित नहीं होता है तथा

कार्य की असिद्धि (असफलता) होने पर भी उसका मुख म्लान (विषादग्रस्त) नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि सिद्धि और असिद्धि तो भगवान् की इच्छा ही है।

अब राजस कर्ता का लक्षण बताते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

अन्वय—रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः हिंसात्मकः अशुचिः, हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।

अनुवाद—जो रागी (कर्म में आसक्ति युक्त) कर्मफल की इच्छा वाला, लोभी, हिंसा परायण (दूसरे को कष्ट पहुँचाने के स्वभाव वाला), अशुचि (अपवित्र), हर्ष शोक युक्त कर्ता है वह राजस कहा गया है।

भाष्यदीपिका—रागी—जिसमें राग अर्थात् आसक्ति विद्यमान है अतः जो **कर्मफलप्रेप्सुः**—कर्मफल को चाहने वाला है [कर्म में जिसका राग (आसक्ति) है एवं कर्मफल में भी जिसका राग (कामना) है वह कर्मफलप्रेप्सु है, इसी अभिप्राय से दोनों को पृथक् कर यह कहा गया है (आनन्दगिरि)।] **लुब्धः**—जो लोभी अर्थात् दूसरे के द्रव्य में तृष्णा रखने वाला है और तीर्थादि उपयुक्त देश में अथवा पुण्यकाल में भी अपने द्रव्य को त्याग करने वाला नहीं है तथा जो **हिंसात्मकः**—पर पीड़ा स्वभाव वाला अर्थात् दूसरे को कष्ट पहुँचाने के स्वभाव वाला है [अपने अभिप्राय को प्रकट करके दूसरे की वृत्ति का छेदन करना हिंसा है। 'हिंसात्मक' शब्द का अर्थ है हिंसा के स्वभाव वाला। हिंसात्मक पुरुष अवश्य ही स्वार्थ पर होता है (आनन्दगिरि, मधुसूदन) जो पुरुष अपने अभिप्राय को बिना प्रकट किए ही दूसरे की वृत्ति का छेदन करता है वह नैष्कृतिक होता है—इतना हिंसात्मक एवं नैष्कृतिक पुरुष में अन्तर है।] **अशुचिः**—बाहरी एवं भीतरी दोनों प्रकार की शुद्धि से रहित [शास्त्रोक्त आचार से रहित (मधुसूदन)।] **हर्षशोकान्वितः**—इष्ट पदार्थ की प्राप्ति में हर्ष एवं अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट के वियोग में होने वाला शोक इन दोनों प्रकार के भाव से जो युक्त है। ऐसे पुरुष को ही कर्म की सम्पत्ति (सिद्धि) तथा विपत्ति (असिद्धि) में हर्ष-शोक

हुआ करते हैं। कर्ता—इस प्रकार का कर्ता अर्थात् उक्त रागी आदि विशेषणों से युक्त कर्ता राजसः परिकीर्तितः—राजस कहा जाता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—राजस कर्ता का वर्णन करते हैं—रागी—जो रागी-पुत्रादि में प्रीति वाला, कामेप्सुः—कर्म फल की कामना रखने वाला लुब्धः—लोभी अर्थात् दूसरे के धन की अभिलाषा करने वाला हिंसात्मकः— मारने के स्वभाव वाला अशुचिः—अशुद्ध (शास्त्रविहित शुद्धि से शून्य) तथा लाभ और हानि में हर्षशोकान्वितः—हर्ष और शोक से युक्त होने वाला है, कर्ता राजसः परिकीर्तितः—ऐसा कर्ता राजस कहा गया है।

(२) शंकरानन्द—राजस कर्ता के लक्षण कहते हैं—रागी—कर्म के फल की इच्छा होने से जिसका कर्म फल के साधन में राग है वह रागी है अथवा राग यानी विषय भोग की इच्छा, वह जिसकी हो वह रागी है. इसीलिए कर्मफलप्रेप्सुः—कर्म फल को (पुत्र, स्त्री, धनादि सम्पत्ति और स्वर्ग को) प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला, लुब्धः—अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करना ही उसका स्वभाव होने से लुब्ध यानी परधन का अभिलाषी अथवा देव एवं पितरों के यज्ञादि में धन के त्याग को न सह सकने वाला लुब्ध है हिंसात्मकः—परपीड़न करने के स्वभाव वाला अशुचिः—शास्त्रोक्त शौच से रहित तथा हर्षशोकान्वितः—कर्म की सिद्धि और असिद्धि में अथवा लाभ और अलाभ में जो हर्ष एवं शोक से युक्त है कर्ता राजसः परिकीर्तितः—उक्त लक्षणों से युक्त है जो कर्मों का कर्ता वह राजस है अर्थात् रजोगुण के लक्षणों से विशिष्ट होने के कारण राजस है. ऐसा मुनियों ने कहा है। इससे रागित्व आदि राजस के लक्षण हैं, यह सूचित होता है।

(३) नारायणी टीका—राजस कर्ता का लक्षण—राजस कर्ता इस प्रकार दोषयुक्त होता है (१) रागी—पुत्र कलत्रादि में अनुरक्त तथा विषय भोग की वासना से युक्त होता है। (२) कर्मफलप्रेप्सु—होता है अर्थात् जो कुछ कर्म करता है उसे वह किसी न किसी फल की प्राप्ति के लिए ही करता है। (३) लोभी—होता है अर्थात् सदा ही पर द्रव्य की प्राप्ति के लिए इच्छा करता है किन्तु धर्म कर्म के लिए भी अपने द्रव्य का किंचित्मात्र भी त्याग करने के लिए प्रस्तुत नहीं

होता है। (४) हिंसात्मक—होता है अर्थात् सदा ही दूसरे की वृत्ति (जीवन निर्वाह का उपाय) का उच्छेद (नाश) करने के लिए आग्रह युक्त रहता है एवं दूसरे को पीड़ा पहुँचाना ही उसका स्वभाव होता है (५) अशुचिः—(बाह्य एवं आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार के शौच से विवर्जित) होता है। देहात्मबुद्धि दृढ़ होने के कारण मिट्टी आदि द्वारा हस्तपादादि के प्रक्षालन के कष्ट को स्वीकार करने के लिये भी प्रस्तुत नहीं रहता है। फिर काम क्रोध राग द्वेषादि प्रबल रहने के कारण भी अत्यन्त अशुचि (अपवित्र) रहता है (६) हर्षशोकान्वित—होता है अर्थात् इष्ट (अभिलषित) वस्तु की प्राप्ति में उसको हर्ष होता है (अर्थात् मुख प्रसन्नता से खिल जाता है) एवं अनिष्ट (प्रतिकूल वस्तु) की प्राप्ति में अथवा इष्ट के वियोग में शोक युक्त होता है अर्थात् दुःख से मुख म्लान हो जाता है।

उक्त विशेषणों से युक्त कर्ता राजस कहा जाता है क्योंकि ये सब दोष रजोगुण से ही उत्पन्न होते हैं। राजस कर्ता सात्त्विक कर्ता के विपरीत है। अतः वह जब तक स्वभावगत संस्कार का नाश करके सात्त्विक गुण से सम्पन्न नहीं होता है तब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

अब तामस कर्ता किस प्रकार का है उसका वर्णन करते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अन्वय—अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठः नैष्कृतिकः अलसः विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते।

अनुवाद—जो अयुक्त (असावधान) अर्थात् जिसका चित्त समाहित (स्थिर) नहीं है, प्राकृत (जिसकी बुद्धि बालक के समान अत्यन्त संस्कारहीन) है, स्तब्ध (अनम्र अर्थात् उद्धतस्वभाव), शठ (कपटी), नैष्कृतिक (दूसरे की वृत्ति का छेदन करने वाला), अलस (आलसी) विषादी (सदा शोकयुक्त स्वभाव वाला) तथा दीर्घसूत्री (कर्तव्य में बहुत विलम्ब करने वाला) होता है, वह कर्ता तामस कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—**अयुक्त**—जिसका चित्त समाहित (स्थिर) नहीं है [सर्वदा नाना विषय में चित्त लगा रहने के कारण जो कर्तव्य कर्म में असावधान है उसे अयुक्त कहा जाता है (मधुसूदन) ।] **प्राकृतः**—जो बालक के समान प्राकृत अत्यन्त संस्कार-हीन (अर्थात् शास्त्रीय संस्कार से शून्य) बुद्धि वाला है **स्तब्धः**—अनम्र है अर्थात् उद्दण्ड के समान गुरु और देवतादि के सामने भी नहीं झुकता **शठः**—अपनी सामर्थ्य को गुप्त रखने वाला कपटी है [जो दूसरे को ठगने के लिए अन्य प्रकार से जानते हुए भी अन्य प्रकार से बोलने वाला है (मधुसूदन)] **नैष्कृतिकः**—दूसरे की वृत्ति का छेदन करने में तत्पर है [जो अपने अभिप्राय को गुप्त रखकर अपने में परोपकारी होने का भ्रम उत्पन्न करके दूसरे की वृत्ति का छेदन करके स्वार्थ में तत्पर रहने वाला है (मधुसूदन) ।] **अलसः**—जो आलसी है [अवश्य करने के योग्य कार्य में भी जिसके प्रवृत्त होने का स्वभाव नहीं है] **विषादी**—जो सर्वदा (असन्तुष्ट रहने के) शोक युक्त स्वभाव वाला [अतः पश्चात्ताप करता रहने वाला है (मधुसूदन) ।] **दीर्घसूत्री**—[दीर्घं सूत्रयितुं शीलमस्य इति दीर्घसूत्री अर्थात् कर्तव्य कर्म को प्रसारित करने का स्वभाव (बहुत विलम्ब करने का स्वभाव) जिसका है वह दीर्घसूत्री है [अर्थात् आज या कल कर लेने के योग्य कार्य को महीने भर में भी जो समाप्त नहीं करपाता है, वह दीर्घसूत्री है ।] **कर्ता च तामसः उच्यते**—यहाँ 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में है अर्थात् अयुक्त प्राकृत इत्यादि सभी विशेषणों से युक्त जो कर्ता है वह तामस कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब तामस कर्ता का वर्णन करते हैं **अयुक्तः**—जो अयुक्त (असावधान) **प्राकृतः**—विवेकशून्य **स्तब्धः**—नम्र रहित **शठः**—अपनी शक्ति को (अभिप्रायों को) छिपाने वाला **नैष्कृतिकः**—दूसरे का अपमान करने वाला **अलसः**—आलसी (उद्यम न करने के स्वभाव वाला), **विषादी**—शोक करने के स्वभाव वाला तथा **दीर्घसूत्री**—जो दीर्घसूत्री है अर्थात् जिस कार्य को आज या कल कर लेना चाहिए उसी को जो महीनों में भी समाप्त (पूरा) नहीं करता **कर्ता तामस उच्यते**—ऐसा ही (इस तरह का) कर्ता तामस कहा जाता है । [कर्ता की त्रिविधता से ही **ज्ञाता**—के भी तीन भेदों का प्रतिपादन हो गया है । तथा कर्म के तीन

भेदों से ज्ञेय के–भी तीनों प्रकार कह दिए गये, यह समझ लेना चाहिए। आगे बुद्धि के जो तीन प्रकार कहे जायँगे, उन्हीं से करण के–तीनों प्रकारों का वर्णन हो जायगा।]

(२) **शंकरानन्द**—तामस कर्ता के लक्षण कहते हैं—**अयुक्तः**—अस्थिर चित्त वाला (चंचल) **प्राकृतः**—पामर अर्थात् कार्य और अकार्य के ज्ञान से रहित **स्तब्धः**—अनम्र, महान् पुरुषों में विनय शून्य **शठः**—गूढ़विप्रियकारी (अपने अभिप्राय को गुप्त रखकर सब को ठगने वाला) **नैष्कृतिकः**—निष्कृति (मन, वाणी और शरीर से दूसरे का तिरस्कार करना) उसमें तत्पर नैष्कृतिक यानी दूसरों का अपमान करने वाला, **अलसः**—मन्द (अवश्य करने के योग्य कर्मों में प्रवृत्ति से रहित) अर्थात् श्रद्धाशून्य **विषादी**—चित्त को क्लेश देने वाला यानी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर भी तृप्ति न होने के कारण तनिक भी संतोष रहित और **दीर्घसूत्री**—शीघ्र करने योग्य कार्य को भी जो पक्ष में या मास में करता है, वह दीर्घसूत्री अर्थात् चिरकारी है। **कर्ता तामसः उच्यते**—जो इस प्रकार के लक्षणों से युक्त कर्म का कर्ता है, वह तामस है। तमोदोष वश जड़ बुद्धि वाला होने के कारण तामस है ऐसा कहा जाता है। इससे अयुक्तत्व आदि तामस का लक्षण है, ऐसा सूचित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—अब तामस कर्ता का लक्षण बताते हैं। तामस कर्ता इस प्रकार से दोष युक्त है–(क) **अयुक्त**—रहता है अर्थात् सर्वदा विषय में आकृष्ट रहने के कारण उसका चित्त कर्तव्य कर्म में समाहित अर्थात् सावधान नहीं रह सकता (२) **प्राकृत**—होता है–अर्थात् अपनी प्रकृति (पूर्वजन्मार्जित संस्कार) के वशीभूत होकर मन में जिस प्रकार का भाव उपस्थित होता है उसी के अनुसार ही परिणाम आदि का विचार न करके कर्म कर लेता है क्योंकि उसकी बुद्धि शास्त्रों के उपदेश आदि से संस्कृत नहीं हो सकी। अतः धर्म या अधर्म सम्बन्ध में उसका शास्त्र-जनित ज्ञान न रहने के कारण वह बालक के समान मूढ़ बुद्धि वाला ही होता है एवं इस कारण से वह 'प्राकृत' कहा जाता है। (३) **स्तब्ध**--(अनम्र) होता है अर्थात् गुरु, देवतादि के सामने उपस्थित होकर भी वृक्ष के समान सिर ऊँचा करके ही रहता है—किसी को सिर झुकाकर प्रणाम करने की प्रवृत्ति उसकी नहीं होती है। (४) **शठ**–(प्रवंचक) होता है अर्थात् अपने अन्तःकरण के भाव को गुप्त रखकर (छिपाकर)

दूसरों की प्रवंचना करने के लिए अन्यरूप कहता है एवं आचरण करता है (५) **नैष्कृतिक**—होता है अर्थात् 'दूसरों का उपकार करने के लिए ही मैं कर्म कर रहा हूँ', इस प्रकार का भाव प्रकट करके अन्यों के मन में भ्रान्ति उत्पन्न (धोखा देकर) दूसरे के जीविका निर्वाह की वृत्ति का उच्छेद (नाश) करता है (६) **अलस** होता है अर्थात् शरीर आदि को कष्ट होगा, इसप्रकार की बुद्धि से अपने अवश्य कर्तव्य कर्म में भी उसकी प्रवृत्ति का अभाव देखा जाता है (७) **विषादी**—होता है अर्थात् मन में विषय कामना के रहते हुए भी अलस (आलसी) होने के कारण उसकी वासना की तृप्ति नहीं हो सकती, अतः वह सदा ही असंतुष्ट एवं शोकयुक्त रहता है। (८) **दीर्घसूत्री**—आज करूँगा, कल करूँगा, इस प्रकार जो कर्म अभी समाप्त करना उचित है वह मासों में भी नहीं कर पाता है।

ये सब दोष तमोगुण से उत्पन्न होते हैं अतः उन दोषों से युक्त कर्ता को विद्वान् लोग तामस कहते हैं। जब राजस कर्ता ही मोक्ष का अधिकारी नहीं है तो तामस कर्ता की तो बात ही क्या है ? यही कहने का अभिप्राय है।

इस प्रकार 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' इसकी व्याख्या की गई। अब 'धृत्युत्साहसमन्वितः' इससे सूचित बुद्धि और धृति की त्रिविधता की प्रतिज्ञा करते हैं [धृति बुद्धि की ही एक वृत्तिविशेष है इसलिए बुद्धि का भी गुण भेद के अनुसार किस प्रकार से भेद होता है, वह कहना आवश्यक है। बुद्धि तथा धृति के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार (परमार्थदर्शन) सम्भव होता है। इसलिए बुद्धि और धृति के तीन प्रकार के भेद श्रीभगवान् विशेष करके बताते हैं—]

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

अन्वय—हे धनंजय ! बुद्धेः धृतेः च एव गुणतः त्रिविधम् भेदम् पृथक्त्वेन अशेषेण प्रोच्यमानम् शृणु।

अनुवाद—हे धनंजय (अर्जुन) ! अब सत्त्वादि गुणों की दृष्टि से मेरे द्वारा अशेषतया (पूर्णतया) और पृथक्त्व पूर्वक (हेय और उपादेय के विवेक पूर्वक) कहे जाते हुए बुद्धि और धृति के तीन प्रकार के भेद को सुनो।

भाष्यदीपिका—हे **धनंजय**!—हे अर्जुन [अर्जुन ने दिग्विजय करके मनुष्य लोक का बहुत धन प्राप्त कर लिया था तथा शंकर आदि देवताओं के साथ युद्ध करके बहुत दैवधन भी जय (प्राप्त) किया था। इसलिए अर्जुन को 'धनंजय' कहा जाता है। धनंजय कहकर सम्बोधन करके अर्जुन मोक्षरूप धन का भी जय करने में समर्थ है, यह सूचित करके भगवान् अर्जुन को उत्साह दे रहे थे।] **बुद्धेः**—बुद्धि का भेद [अन्तःकरण जब अध्यवसाय (निश्चयरूप) वृत्ति से युक्त होता है, तब उनका नाम होता है बुद्धि, इस प्रकार की बुद्धि का भेद] **धृतेः च एव**-[धृति भी बुद्धि का ही वृत्तिविशेष है] इस प्रकार धृति का (धैर्य का) भी **गुणतः**—सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के अनुसार **त्रिविधम् भेदम्**—तीन प्रकार का भेद [परवर्ती श्लोक में विस्तारपूर्वक इस विषय पर कहा जायगा। इसलिए यहाँ सूत्ररूप से (संक्षेप से) तीन प्रकार के भेद का निर्देश किया जा रहा है] **पृथक्त्वेन**—विभाग पूर्वक [अर्थात् हेय और उपादेय के विवेकपूर्वक मधुसूदन)] **अशेषेण**—अशेषतया अर्थात् पूर्णतया **प्रोच्यमानम्**—आलस्य को त्यागनेवाले परमाप्त पुरुष मेरे द्वारा तुम्हारे प्रति जो बात कही जाती है **शृणु**—वह सुनो (सुनने के लिए सावधान हो जाओ)।

(**प्रश्न**)—यहाँ 'बुद्धि' शब्द का किस प्रकार से अर्थ ग्रहण किया गया है ? यह विचार करना आवश्यक है कि यहाँ 'बुद्धि' शब्द से वृत्तिमात्र अभिप्रेत है या वृत्ति-युक्त अन्तःकरण। पहला पक्ष हो तो ज्ञान को बुद्धि से अलग नहीं करना चाहिए था और यदि दूसरा पक्ष हो तो कर्ता को उससे भिन्न नहीं करना चाहिए था, क्योंकि वृत्ति-युक्त अन्तःकरण ही कर्ता है तथा ज्ञान और धृति का भी उससे अलग उल्लेख करना व्यर्थ ही है। ज्ञान और धृति का पृथक् निरूपण इच्छादि की व्यावृत्ति के लिए भी नहीं हो सकता क्योंकि वृत्तियुक्त अन्तःकरण की त्रिविधिता का निरूपण करने से ही उसकी समस्त वृत्तियों की त्रिविधता कहनी अभीष्ट हो जाती है।

(**उत्तर**)—अन्तःकरणरूप उपाधि से युक्त चिदाभास ही कर्ता है। यहाँ तो उपहित चिदाभास से अलग करके उपाधिमात्र ही करणरूप से विवक्षित है क्योंकि सभी जगह करण से उपहित वस्तु ही कर्ता होती है। यद्यपि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनः एव इति' (बृ० उ०) अर्थात् काम,

संकल्प, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय, ये सब मन ही हैं, इस श्रुतिद्वारा अनुवादित सभी वृत्तियों की त्रिविधता विवक्षित है (अर्थात् उनका वर्णन करना उचित है) तो भी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के उपलक्षण के लिए (अन्य वृत्तियों के त्याग के लिए नहीं) बुद्धि और धृति की त्रिविधता का अलग से निरूपण किया है—यह इसका रहस्य है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अब बुद्धि के और धृति के भी तीन-तीन प्रकार के भेद कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—(हे धनंजय ! बुद्धि के और धृति के भी गुणों के अनुरूप तीन तीन प्रकार के भेद सम्पूर्णता से अलग-अलग कहे जा रहे हैं, उन्हें सुनो) । श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ।

(२) शंकरानन्द—कर्ता के समान करण भी तीन प्रकार का है, ऐसा सूचन करने के लिए बुद्धि आदि के तीन प्रकार के भेदों का वर्णन करते हैं—**बुद्धेः भेदम् धृतेः च एव**—जिससे पदार्थ के तत्त्व का निश्चय करके पुरुष कार्य में प्रवृत्त होता है उस बुद्धि के यानी अन्तःकरण की वृत्तिविशेष के तथा धृति के यानी वृत्तिविशेष के । [चकार समुच्चय के लिए है । एवकार अन्य के व्यवच्छेद के (अर्थात् पृथक् करने के) लिए है] **गुणतः पृथक्त्वेन**–पृथक् यानी प्रत्येक के गुणतः (सात्त्विक आदि गुणों के भेद से) तीन प्रकार के भेद **अशेषेण प्रोच्यमानम् शृणु**–जिन्हें कि मैं तुम्हें अशेषतः (पूर्णरूप से) कह रहा हूँ, उन्हें तुम सुनो । यद्यपि पूर्व में ज्ञान तीन प्रकार का है, ऐसा प्रतिपादन किया है, तथापि **वह ज्ञान वृत्तिसामान्यात्मक है और बुद्धि वृत्तिविशेषात्मक**—है । धृति भी वृत्तिविशेषरूप ही है, इसलिए पुनरुक्तिका प्रसङ्ग नहीं है ।

(३) **नारायणी टीका**—अब बुद्धि और धृति का तीन प्रकार का भेद कहा जाता है । ज्ञान तथा धृति बुद्धि का (निश्चयात्मिका बुद्धि का) ही वृत्तिविशेष है तथापि ये दोनों सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति के लिए साक्षात् उपाय हैं । इसलिये बुद्धि, ज्ञान तथा धृति के भेद बताना अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा समझकर भगवान् उनके प्रत्येक के) सात्त्विकादि भेद का वर्णन करते हैं—ज्ञान (वृत्तिज्ञान) का भेद २० से २२ श्लोक तक बताया गया है । अब बुद्धि तथा धृति के भेद का पृथग्रूप से

अर्थात् उनमें से कौन हेय (परित्याज्य) एवं कौन उपादेय (ग्राह्य) है ऐसा पृथक् करके अशेषतया इस सम्बन्ध में जो कुछ भगवान् कह रहे हैं उसको सावधान होकर अर्जुन को सुनने को कहा क्योंकि सात्त्विकी बुद्धि एवं सात्त्विकी धृति से सम्पन्न होने पर ही मोक्ष का द्वार उन्मुक्त हो जाता है । अन्तःकरण जब अध्यवसाय (निश्चयरूप) वृत्ति से युक्त होता है तब उसका नाम होता है बुद्धि । उद्देश्य में पहुँचने के लिए साधन अर्थात् क्रिया करते हुए यदि कठिन विघ्न भी उपस्थित हो तो भी जो चित्तवृत्तिविशेष की सामर्थ्य से अपने साधन से तनिक भी विच्युत नहीं होता है, उस सामर्थ्य अर्थात् धैर्य को धृति कहते हैं ।

अब सात्त्विकी बुद्धि का लक्षण बताते हैं ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३० ॥

अन्वय—हे पार्थ ! या बुद्धिः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च कार्याकार्ये भयाभये बन्धम् मोक्षम् च वेत्ति सा सात्त्विकी ।

अनुवाद—हे पार्थ ! जो बुद्धि अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य प्रवृत्ति (बंधन के हेतुरूप कर्ममार्ग) को, तथा निवृत्ति (मोक्ष के हेतुरूप संन्यासमार्ग) को, कार्याकार्य (कार्य-अकार्य कर्तव्य-अकर्तव्य) को, दृष्ट एवं अदृष्ट विषयक भय और अभयको अर्थात् उन दोनों के कारणों को एवं हेतुसहित बन्धन और मोक्ष को भी जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे अर्जुन ! [तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) बुद्धि के तीन प्रकार के भेदों को भलीभाँति जानती थी एवं राजसी तथा तामसी बुद्धि का त्याग करके मेरी परम भक्त हो गई थी । तुम भी ऐसे ही हो सकोगे इसमें कोई संशय नहीं है–ऐसा उत्साह देने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' कहकर सम्बोधित किया] या बुद्धिः—जो बुद्धि अर्थात् जिसके द्वारा कर्ता जानता है अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा ['या' शब्द यहाँ करण में कर्तृत्व का उपचार करके प्रथमा विभक्ति में प्रयोग किया गया है अर्थात् 'यया बुद्धया वेत्ति' इस अर्थ में 'या बुद्धिः' पद है ।] **प्रवृत्तिम्**

च निवृत्तिम् च—प्रवृत्ति को (अर्थात् बन्धन के हेतुरूप कर्ममार्ग को) और निवृत्तिको जानती है (अर्थात् मोक्ष के हेतुरूप संन्यास मार्ग को) [बन्ध और मोक्ष के साथ प्रवृत्ति और निवृत्ति की सामान्य वाक्यता है। इससे यह सूचित होता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का अर्थ कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग ही है।] **कार्याकार्ये**—कार्य (कर्तव्य अर्थात् विहित होने के कारण करने योग्य) और अकार्य (अकर्तव्य अर्थात् निषिद्ध होने के कारण न करने योग) को भी जानती है। कार्याकार्य किसके सम्बन्ध में है ? (उत्तर)–देश काल आदि की अपेक्षा से जिनको दृष्ट और अदृष्ट फल होते हैं उन कर्मों के सम्बन्ध में है [मधुसूदन सरस्वती के मत में प्रवृत्तिमार्ग में कर्म करना कार्य है और निवृत्ति मार्ग में कर्म का न करना अकार्य है।] **भयाभये**–जिससे मनुष्य भयभीत होता है उसका नाम भय है। उससे विपरीत का नाम अभय है। उन दोनों को अर्थात् दृष्ट एवं अदृष्ट विषयक जो भय और अभय हैं, उन दोनों के कारणों को जानती है [स्वामी मधुसूदन के मत में प्रवृत्तिमार्ग गर्भवासादि दुःख भय हैं एवं निवृत्तिमार्ग में तत्त्वज्ञान होने पर उनका अभाव ही अभय है—इन दोनों को जो जानती है। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा से अतिरिक्त अन्य सभी दृष्ट तथा अदृष्ट वस्तु का मिथ्यात्व निश्चित होने के कारण किसी से भय नहीं रहता है अर्थात् अभय प्राप्त होता है। यही मोक्ष है। इसलिए श्रुति में कहा है–'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि (बृह० उ०)। द्वैतबुद्धि रहने से ही भय उत्पन्न होता है, इसलिये श्रुति में कहा है 'द्वितीयाद्वैभयम्'] **बन्धम् मोक्षम् च**—हेतु सहित बन्धन और मोक्ष को भी जानती है [बन्ध अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग में मिथ्याज्ञान-जनित कर्तृत्वादि का अभिमान और मोक्ष अर्थात् निवृत्ति मार्ग में ज्ञान के द्वारा होने वाला अज्ञान एवं उसके कार्य का अभाव] **वेत्ति**—इन्हें यथार्थ रूप से जो (बुद्धि) जानती है अर्थात् प्रकाशित करती है। **सा सात्त्विकी**—वह बुद्धि सात्त्विकी है। अर्थात् प्रमाणजनित निश्चयवती बुद्धि सात्त्विकी है। जो बुद्धि सर्वप्रकार के प्रमाण द्वारा (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों के द्वारा) प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य इत्यादि के यथार्थस्वरूप का निश्चय करने में समर्थ होती हैं वह बुद्धि सात्त्विकी है।

शंका—प्रवृत्ति-निवृत्ति, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष इत्यादि को जान लेने पर ही अर्थात् उनसे सम्बन्धित ज्ञान के रहने पर ही यदि बुद्धि सात्त्विकी होती हैं तो ज्ञान और बुद्धि क्या एक ही वस्तु नहीं है ? यदि एक हो तो ज्ञान का तीन प्रकार का भेद पहले ही कहा गया है। अतः पुनः बुद्धि का भेद बताने का क्या प्रयोजन है ? समाधान—ज्ञान और बुद्धि एक वस्तु नहीं हैं। पहले जो ज्ञान कहा गया है वह बुद्धि की वृत्तिविशेष है और बुद्धि स्वयं वृत्तिवाली है अर्थात् ज्ञानरूप वृत्ति बुद्धि का धर्म है। उसी प्रकार धृति भी बुद्धि का वृत्तिविशेष ही है। इसीलिये बुद्धि तथा धृति इन दोनों का सात्त्विकादि भेद पृथक्रूप से वर्णित हो रहा है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—उनमें से बुद्धि के तीन प्रकार 'प्रवृत्तिं च' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं–हे अर्जुन ! **प्रवृत्तिं च**–धर्म में प्रवृत्त होने को, **निवृत्तिम् च**—अधर्म से निवृत्त होने को **कार्याकार्ये**–जिस देश काल में जो काम करना चाहिए, जो नहीं करना चाहिए उन दोनों को तथा **भयाभये**—भय और अभयको अर्थात् कार्य और अकार्य के निमित्त से होनेवाले अर्थ और अनर्थ को तथा **बन्धम्**—कैसे बन्धन होता है और **मोक्षम्**—उससे कैसे मुक्ति होती है इत्यादि बातों को **या बुद्धिः वेत्ति**—जो बुद्धि (अन्तःकरणवृत्ति) जानती है, **सा सात्त्विकी**—वह सात्त्विकी है। यहाँ जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य जानता है ऐसा कहना चाहिए। वहाँ जो बुद्धि जानती है, इस प्रकार के कथन से करण में कर्तापन का उपचार ठीक उसी तरह से है जैसे 'काठ से पकाते हैं, इस वाक्य के स्थान में लोग 'काठ पका रहे हैं' इस प्रकार से करण में कर्तापन का औपचारिक व्यवहार करते हैं।

(२)—**शंकारानन्द**—सात्त्विक बुद्धि का लक्षण कहते हैं **प्रवृत्तिम्**–प्रवृत्ति को (श्रुतिस्मृति से विहित धर्म को) **निवृत्तिम् च**—निवृत्ति (श्रुतिस्मृति से निषिद्ध अधर्मको) **कार्याकार्ये**—कार्याकार्य को (कार्य यानी देश, काल आदि के अनुकूल होने पर कर्तव्य को और अकार्य को यानी प्रतिकूल होने पर त्यागने के योग्य अकर्तव्य को) **भयाभये**—भयाभय को (भय का कारण अनर्थ भय है, भय के अभाव का कारण अनर्थ का अभाव अभय है, उनको) **बन्धम् मोक्षम् च**—बन्धको यानी बन्ध के हेतु को और मोक्ष को यानी मोक्ष के हेतु को **या बुद्धिः वेत्ति सा सात्त्विकी**—

ज्ञान में कर्तापन न होने के कारण बुद्धि करणार्थक है। पदार्थ के तत्त्व का निश्चय करनेवाली जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म आदिको कर्म में, अधिकारी पुरुष जानता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। अथवा 'बन्धं मोक्षं च' यहाँ बन्ध और मोक्ष दोनों प्रतिपादनीय होने के कारण प्रवृत्ति आदि पादों का उनके विशेषणरूप से अन्वय होना युक्त है **प्रवृत्तिम् च**—प्रवृत्ति का अर्थ कर्ममार्ग है। जिसमें प्रवृत्त हुआ पुरुष शुद्धात्मा होकर मोक्ष के लिए समर्थ होता है, उस प्रवृत्तिको और **निवृत्तिम् च**—निवृत्ति को (निवृत्ति यानी निष्कर्मत्वमार्ग संन्यास, जिसमें कि प्रवृत्त हुआ पुरुष संसाररूपी बन्धन से मुक्त होता है, उस निवृत्ति को)। तीनों चकार समुच्चयार्थक हैं। **कार्याकार्ये**—कार्याकार्य को (कार्य अर्थात् आरुरुक्षु का कर्म विषय में समय-समय पर जो कर्तव्य है वह कार्य है तथा आरूढ़ का जो अकर्तव्य अर्थात् त्यक्तव्य है, वह अकार्य है—उन दोनों कार्य और अकार्य को **भयाभये**—जिससे पुरुष डरता है वह भय है, यानी संसार का कारण अज्ञान और जिससे भय का अभाव होता है यानी अभय सिद्ध होता है वह अभय है यानी ज्ञान। मोक्ष के कारण उन दोनों भय और अभयको तथा **बन्धम् मोक्षम् च**—बन्ध यानी अध्यास लक्षण अज्ञान के कार्य और मोक्ष यानी अध्यासाभावलक्षण ज्ञान के कार्य को **या बुद्धिः वेत्ति**—जिस बुद्धि से विचक्षण शुद्धात्मा इन सबको क्षीरनीर के समान पृथक् करके जानता है अर्थात् अज्ञ का यह साधन है, तज्ज्ञ का यह साधन है, आरुरुक्षु का यह कर्तव्य है, आरुढ़ का यह त्यक्तव्य है, यह अज्ञान है, यह ज्ञान है, यह बंध है, यह मोक्ष है, यों अपने अधिकार के अनुसार साध्य-साधन के भेद को तथा बन्ध और मोक्ष को जिससे पुरुष ठीक-ठीक जानता है। **सा सात्त्विकी**—वह बुद्धि सात्त्विकी है। बहुत जन्मों के पुण्य के परिपाक से उत्पन्न हुए शुद्ध सत्त्व का (अन्तःकरण का) कार्य होने से सात्त्विकी है, ऐसा पण्डितों (तत्त्वज्ञ पुरुषों) द्वारा कहा जाता है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि सात्त्विकी बुद्धि का ही मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक संपादन करना चाहिए।

(२) **नारायणी टीका**—अब सात्त्विकी बुद्धि का लक्षण बताते हैं—जिस बुद्धि से जाना जाता है कि (१) **प्रवृत्ति**—अर्थात् कर्म में प्रवृत्ति जो कि संसार का हेतु होती है तथा (२) **निवृत्तिः**—अर्थात् पहले शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करके

चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर तत्त्वज्ञान लाभ के पश्चात् जगत् के मिथ्यात्व का अनुभव करके सब कर्मों से निवृत्ति अर्थात् पूर्णतया सर्वकर्म का संन्यास किस प्रकार से होता है तथा (३) कार्य अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग में कर्मों का अनुष्ठान किस प्रकार से करना कर्तव्य है एवं (४) अकार्य अर्थात् निवृत्तिमार्ग में कर्म स्वतः ही छूट जाता है अथवा कर्म का कोई प्रयोजन न रहने के कारण सभी अकार्य अर्थात् अकर्म कैसे हो जाता है तथा (५) भय—अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग में कर्मफल की आकांक्षासहित कर्म करने के कारण उसके फलरूप से किस प्रकार से पुनः गर्भवासादि दुःख भोगना पड़ता है एवं (६) निवृत्तिमार्ग में कर्म का बीज न रहने के कारण संसाररूप भय से मुक्त होकर अभयरूप परमपद को (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा या ब्रह्म को) किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है तथा (७) बन्ध अर्थात् उक्त क्रम के अनुसार कर्मों में **प्रवृत्ति से**—किस प्रकार से **कार्य**—(कर्तव्य) बुद्धि [एवं मिथ्या अज्ञानजनित कर्तृत्वाभिमान] उत्पन्न होकर संसार **भय को**—प्राप्त होकर जन्ममृत्युरूपी बन्धन में पतित होता है एवं मोक्ष अर्थात् निवृत्ति मार्ग में कार्य से [यह मेरा कर्तव्य है इस प्रकार की बुद्धि एवं कर्तृत्व अभिमान तत्त्वज्ञान से परित्यक्त होने के कारण सभी कर्मों से] उपरत होकर अभयपद को प्राप्त होकर मोक्षलाभ कर सकता है। इन-सब तत्त्वों को जो बुद्धि यथार्थरूप से जानती है अर्थात् जिस निर्मल बुद्धि के द्वारा शास्त्र प्रमाण से तथा अनुभव से इन-सबका यथार्थ तत्त्व जाना जाता है, वह सात्त्विकी बुद्धि कही जाती है।

इस श्लोक में जो जो चित्तवृत्तियाँ संसारबन्धन का कारण होती हैं एवं जो जो वृत्तियाँ मोक्ष के अनुकूल होती हैं, उन सबको संक्षेप से श्रीभगवान् ने बताया है—

बन्धन के कारण	मोक्ष के कारण
(१) प्रवृत्ति	(१) निवृत्ति (तत्त्वज्ञान से सर्वकर्म का संन्यास)
(२) कार्य (कर्तव्यबुद्धि एवं कर्तृत्वाभिमान)	(२) अकार्य (सब वस्तु के मिथ्यात्व का निश्चय होने के कारण कार्य (कर्तव्य कर्म) का अभाव।
(३) भय (कर्म में प्रवृत्ति द्वैत बुद्धि से ही होती है एवं द्वैतबुद्धि से ही भय	(३) अभय-अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता न रहने के कारण

उत्पन्न होता है। इसलिए श्रुति कहती है— 'द्वितीयाद् वै भयम्'

(४) बन्धन अर्थात् कर्मों के बीज रहने के कारण पुनः पुनः जन्म-मरणरूप संसार का बन्धन।

भय के कारण का अभाव।

(४) मोक्ष-अर्थात् उक्त अभय अवस्था के प्राप्त होने पर संसार की निवृत्ति (सर्वदुःख की निवृत्ति) तथा आनन्दस्वरूप आत्मा में निरंतर स्थिति से परमानन्द की प्राप्ति।

जिस प्रकार 'काठ से पकाते हैं' इस वाक्य के स्थान में लोग 'काठ पका रहे हैं' ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ करण में (बुद्धि द्वारा जाना जाता है) इस वाक्य के स्थान में कर्तापन का आरोपकर (बुद्धि जानती है) इस प्रकार कहा गया है।

अब राजसी बुद्धि का लक्षण बताते हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

अन्वय—हे पार्थ यया धर्मम् अधर्मम् च कार्यम् अकार्यम् एव च अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी।

अनुवाद—जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित धर्म को और शास्त्र से प्रतिषिद्ध अधर्म को तथा पूर्वोक्त कर्तव्य और अकर्तव्य को यथार्थरूप से अर्थात् सब प्रकार से ठीक ठीक निर्णयपूर्वक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

भाष्यदीपिका—**हे पार्थ !**—हे अर्जुन ! **यया**—जिस बुद्धि के द्वारा **धर्मम्**—शास्त्रविहित धर्म को **अधर्मम् च**—और शास्त्र से निषिद्ध अधर्म को [जो दोनों ही अदृष्ट प्रयोजनवाले हैं अर्थात् जिनसे अदृष्ट इष्ट-अनिष्ट विषय की प्राप्ति होती है उन धर्म-अधर्म को] तथा दृष्ट (इहलौकिक इष्ट-अनिष्ट) विषय की प्राप्ति करनेवाले **कार्यम् अकार्यम् एव च**—पूर्व श्लोक में उक्त कर्तव्य एवं अकर्तव्य को **अयथावत् प्रजानाति**—यथार्थरूप से अर्थात् सर्वतोभाव से निर्णयपूर्वक नहीं जानता [जिस

बुद्धि के कारण पुरुष 'यह ऐसा है या नहीं' इस प्रकार की अनिश्चयता में अर्थात् संशय में पड़ा रहता है (मधुसूदन)] **सा राजसी**—वह बुद्धि राजसी है [यहाँ 'यया' शब्द से तृतीया विभक्ति के निर्देश होने से अन्यत्र भी करणरूप से बुद्धि की व्याख्या करनी चाहिए (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—राजसी बुद्धि का वर्णन करते हैं । (हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को) ठीक-ठीक नहीं जानता है किन्तु सन्देहास्पद रूप से जानता है (वह बुद्धि राजसी है) । अन्य शब्दों का अर्थ तो स्पष्ट ही है ।

(२) **शंकरानन्द**—राजसी बुद्धि को कहते हैं—**धर्मम् अधर्मम् च**—धर्म यानी विहित कर्म, अधर्म-यानी प्रतिषिद्ध कर्म, **कार्यम् च अकार्यम् एव च**—कार्य और अकार्य यानी देशकाल आदि के अनुकूल होनेपर कर्तव्य और प्रतिकूल होनेपर अकर्तव्यरूप कर्म [चकार से और अनर्थों का भी ग्रहण हुआ है] इन सबको **अयथावत्**—अयथार्थवत् [जिससे सम्पूर्ण विषय के अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता ऐसे असाकल्य से अर्थात् सन्देह से] **यया**—जिस बुद्धि से पुरुष **प्रजानाति**—जानता है **सा राजसी**—वह बुद्धि राजसी है । रजोगुण से सम्पन्न होने से राजसी कहलाती है ।

(३) **नारायणी टीका**—राजसी बुद्धि का लक्षण उस बुद्धि से सम्पन्न हुए पुरुष के कार्य से जाना जाता है । राजसी बुद्धियुक्त पुरुष धर्म (शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्म), अधर्म (शास्त्र से निषिद्ध कर्म) तथा कार्य एवं अकार्य में (अर्थात् अपने अनुकूल कर्तव्य तथा प्रतिकूल अकर्तव्य में) [अथवा प्रवृत्तिमार्ग में कर्म करना कार्य है एवं निवृत्ति मार्ग में कार्य न करना अकार्य है] इन सबके सम्बन्ध में स्पष्टरूप से निश्चय करने में असमर्थ होकर संशय के कारण धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को ठीक ठीक नहीं जानता है । इसलिए उस बुद्धि को राजसी कहा जाता है अर्थात् रजोगुण से उत्पन्न हुई बुद्धि का ऐसा ही लक्षण देखा जाता है । धर्म और अधर्म का फल अदृष्ट है अर्थात् उसी समय देखा नहीं जाता है परन्तु कार्य एवं अकार्य का फल दृष्ट होता है अर्थात् उसका फल तुरन्त मिलता है । यही धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्य में भेद है ।

तामसी बुद्धि का लक्षण बताते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे पार्थ तमसावृता या बुद्धिः अधर्मम् धर्मम् इति मन्यते (तथा) सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते सा बुद्धिः तामसी ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! जो तमोगुण से (अविवेक से) आवृत हुई बुद्धि अधर्म को (निषिद्ध कर्म को) धर्म (शास्त्रविहित) मान लेती है एवं सब विषय को (जानने योग्य अन्यान्य सब पदार्थ को) भी विपरीत ही समझती है, वह तामसी है ।

भाष्यदीपिका—**हे पार्थ**—हे अर्जुन ! **तमसावृता**—जो तमोगुण से आवृत हुई [जिस तमः या अज्ञानरूप दोष के कारण वस्तु के यथार्थरूप का दर्शन नहीं हो पाता है, उस तमोगुणरूप दोष से आवृत (आच्छादित) हुई] **या बुद्धिः**—जो बुद्धि (अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा) मनुष्य **अधर्मम् धर्मम् इति मन्यते**—अधर्म को (शास्त्र से निषिद्ध कर्म को) धर्म (शास्त्रविहित) मान लेती है [धर्म तथा अधर्म ये दोनों ही अदृष्ट विषय को प्राप्त करानेवाले हैं अतः कहने का अभिप्राय यह है कि जो बुद्धि अदृष्ट अर्थ में (विषय में) सर्वत्र विपरीत का ग्रहण करती है] तथा **सर्वार्थान् विपरीतान् च**—सम्पूर्ण अर्थ को अर्थात् समस्त दृष्ट प्रयोजनों को (जानने योग्य समस्त पदार्थों को) भी जो विपरीत ही समझती है **सा तामसी**—वह (विपर्यय दोषवाली) बुद्धि तामसी है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अत्र तामसी बुद्धि को बताते हैं **अधर्मम् धर्ममिति इत्यादि**—(हे पार्थ ! तमोगुण से आवृत्त हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सभी अर्थों को विपरीत समझती है, वह तामसी है) । तात्पर्य यह है कि विपरीत का ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है । पूर्वोक्त अन्तःकरण बुद्धि है, ज्ञान उसकी वृत्ति है, धृति भी उसकी वृत्ति ही है । अथवा अन्तःकरणरूपी धर्मी की बुद्धि भी निश्चयरूपा वृत्ति ही है । उस अन्तःकरण की इच्छा-द्वेष आदि वृत्तियाँ बहुत

होनेपर भी धर्म-अधर्म एवं भय-अभय के साधनरूप से प्रधान होने के कारण इन्हीं के तीन-तीन प्रकार बताये गये हैं। इससे अन्य वृत्तियों की त्रिविधता का भी उपलक्षण करके सूचित किया गया है।

(२) **शंकरानन्द**—तामसी बुद्धि को कहते हैं-**धर्मम् अधर्मम्**—धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को. अर्थ और अनर्थ को **या तमसावृता**—जिस तम से (तमोगुण से) आवृत स्पष्ट प्रकाशवाली बुद्धि से **सर्वान् अर्थान् विपरीतान्**—सम्पूर्ण अर्थों को पुरुष विपरीतरूप से **मन्यते**—मानता है-ग्रहण करता है **सा तामसी**—वह तामसी बुद्धि है, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—तमोगुण से बुद्धि के आवृत होनेपर वस्तु के यथार्थरूप के दर्शन की सामर्थ्य नहीं रहती है बल्कि विपरीत का ग्रहण ही तमोगुण का लक्षण होने के कारण तामसी बुद्धियुक्त पुरुष अधर्म में अर्थात् शास्त्र द्वारा निषिद्ध कर्म में धर्म मान लेता है। तथा समस्त ज्ञेय (इन्द्रियग्राह्य) पदार्थ को भी विपरीत-रूप से ग्रहण कर लेता है अर्थात् अदृष्ट (इन्द्रियों के अविषय), धर्माधर्म तथा दृष्ट (इन्द्रियग्राह्य) सभी पदार्थों को केवल ठीक-ठीक ग्रहण करने में असमर्थ है बस ऐसा ही नहीं परन्तु सब पदार्थों को विपरीत ही समझता है यथा (क) वर्णाश्रमधर्म अधर्म है क्योंकि यह मनुष्य में भेद (विषम) बुद्धि के ऊपर प्रतिष्ठित है, (ख) नित्यनैमित्तिक कर्म का जब विशेष कोई फल नहीं है तो इसका अनुष्ठान अनावश्यक है क्योंकि निष्फल कर्म चित्तशुद्धि को उत्पादन नहीं कर सकता। (ग) ज्ञान (आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान) इत्यादि कल्पित है, अतः अनावश्यक है। इसलिए उपासनादि के द्वारा चित्त की एकाग्रता का सम्पादन करना भी अनावश्यक है (घ) सांसारिक विषय का ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, अतः इसके अतिरिक्त किसी ज्ञान की कल्पना आनुमानिक ही है-तमोगुण से बुद्धि आच्छन्न होने पर इस प्रकार ही सर्वविषय में (इन्द्रियग्राह्य तथा इन्द्रियों के अगोचर विषय में) विपरीत भावना होती है। श्लोक में 'च' शब्द अवधारण के अर्थ में (निश्चय अर्थ में) है अर्थात् तामसी बुद्धि विपरीत भाव का ग्रहण करती है विपरीत से भिन्न अन्य किसी भाव का ग्रहण करने की इसकी सामर्थ्य नहीं है यही 'च' शब्द से स्पष्ट किया गया है।

पूर्व तीन श्लोकों में बुद्धि का निर्णय करके अब धृति के तीन प्रकार के भेद बताते हुए सात्त्विक धृति का लक्षण कहते हैं—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! योगेन अव्यभिचारिण्या यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः धारयते, सा सात्त्विकी धृतिः ।

अनुवाद—जिस योग (समाधि) से व्याप्त हुई अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा अर्थात् सदा समाधि में लगी हुई जिस धारणा के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रिय की सब (चेष्टायें) धारण की जाती हैं अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोकी जाती हैं, वह धृति सात्त्विकी है ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे अर्जुन ! **योगेन अव्यभिचारिण्या**—योग अर्थात् समाधिद्वारा अव्यभिचारिणी [अर्थात् समाधिद्वारा ब्रह्म के साथ जीव की एकात्मता के अनुभव से नित्य (निरंतर) व्याप्त रहने के कारण जो धारणाशक्ति अन्य किसी विषय को धारण नहीं करती है उसे अव्यभिचारिणी धृति कहा जाता है 'धृति' शब्द के साथ दूर पड़े हुए 'अव्यभिचारिणी' शब्द का सम्बन्ध है] **यया धृत्या**—उक्त प्रकार की धृति के द्वारा **मनःप्राणेन्द्रियाक्रियाः धारयते**—मन, प्राण और इन्द्रियों कि क्रिया को (चेष्टा को) मनुष्य धारण करता है अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोक लेता है **सा सात्त्विकी धृतिः**—इस प्रकार के लक्षणयुक्त धृति सात्त्विकी है । कहने का तात्पर्य यह है कि जिस अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा धारण करनेवाला मनुष्य चित्त को निरन्तर ब्रह्म में ही समाधियोग से धारण करके रखता है, अतः मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियायें (चेष्टायें) शास्त्र से निषिद्ध अन्य सब विषयों से सदा ही निवृत्त रहती हैं इस प्रकार की धृति सात्त्विकी है । [समाधि से व्याप्त हुई जिस धृति के द्वारा रोकी हुई मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियायें शास्त्र का अतिक्रमण करके किसी दूसरे पदार्थ में प्रवेश नहीं करती, वह धृति सात्त्विकी है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अब धृति के तीन प्रकार के भेद तीन श्लोकों द्वारा बताते हैं—**योगेन**—चित्त के एकाग्रतारूप योग के कारण **अव्यभिचारिण्या**

धृतिः—जो व्यभिचार दोष से रहित अर्थात् विषयान्तर को न धारण करनेवाली धृति है, ऐसी **यया**—जिस धृति के द्वारा मनुष्य **मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**—मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं **धारयते**—धारण करता है **सा सात्त्विकी**—वह धृति सात्त्विकी है।

(२) **शंकरानन्द**—धृति भी तीन प्रकार की है, ऐसा कहते हुए श्रीभगवान् पहले सात्त्विक धृति का प्रतिपादन करते हैं—**योगेन**—योग से ब्रह्म में चित्त की एकाग्रतारूप समाधि से **अव्यभिचारिण्या**—अव्यभिचारिणी यानी अविनाभूतरूपा (दूसरे विषयको न धारण करनेवाली) **यया धृत्या**—जिस धृति से (धारणात्मक जिस धीवृत्ति से) **मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**—मनप्राणेन्द्रियक्रिया को (मनकी, प्राणों की और चक्षुः आदि इन्द्रियों की जो बाहर की प्रवृत्तिरूप चेष्टायें हैं, उन सबको) ब्रह्मनिष्ठ **धारयते**—धारण करता है यानी रोकता है। ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता के स्थिर होने पर मन, प्राण और इन्द्रियों की सब क्रियायें स्वयं ही स्थिर हो जाती हैं। उससे एकाग्रताधारणशक्ति में योग की अव्यभिचारिता और मन, प्राण एवं इन्द्रियों की क्रिया का धारकत्व एक साथ ही सिद्ध हो जाता है। अतएव कहते हैं–योग से अव्यभिचारिणी जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को धारण किया जाता है **सा धृतिः सात्त्विकी**—वह धृति (धारणशक्ति) सात्त्विकी है। शुद्ध सत्त्व गुण से उत्पन्न होने के कारण मुनियों द्वारा वह सात्विक धृत्ति कही जाती है। पुण्य कर्म के परिपाक से प्राप्त हुए शुद्ध सत्त्व से युक्त पुरुष का ज्ञान, बुद्धि और धृति भी सात्त्विक है तथा मन, प्राण एवं इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी सात्त्विक ही होती हैं। बाह्य विषय का अनवलम्बन ही ज्ञान आदि का सात्त्विकत्व है इसलिए मुमुक्षुको सत्त्वशुद्धि का ही सम्पादन करना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—अब तीनों श्लोकों में धृति का भेद बताते हैं–सात्त्विक धृति के लक्षण इस प्रकार के हैं—जो धृति समाधियोग के द्वारा परमात्मा (अखण्डचैतन्ययस्वरूप अद्वितीय आत्मा) को ही निरन्तर धारण करती है एवं जिस धृति के द्वारा मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियायें (चेष्टायें) परमात्मा के बिना दूसरे किसी विषय में प्रवृत्त नहीं होती हैं अर्थात् जो धृति इस प्रकार होने के कारण अव्यभिचारिणी है वह धृति सात्त्विक कही जाती है।

अब राजसी धृति का लक्षण बताते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! हे पार्थ ! प्रसंगेन तु फलाकांक्षी यया धृत्या धर्मकामार्थान् धारयते सा धृतिः राजसी।

अनुवाद—हे अर्जुन ! हे पार्थ ! जिस धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है अर्थात् इन सबको मनमें अवश्यकर्तव्यरूप से निश्चय किया करता है तथा जिस-जिस धर्म, अर्थादि के धारण करने का प्रसंग आता है उस-उस प्रसंग से ही (अर्थात् जिस धृति के द्वारा मनुष्य प्रेरित होकर कर्तृत्व आदि के अभिमान से) फल की इच्छा रखता है, वह धृति राजसी होती है।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन !—हे पार्थ !—पार्थ कहकर सम्बोधन करने का तात्पर्य ३० श्लोक की दीपिका में कहा गया है। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ है संस्कृतबुद्धि। [तुम मेरी परम भक्ता पृथा के पुत्र हो एवं तुम्हारी बुद्धि भी शुभ कर्म तथा शुभ भावना से संस्कृत हुई है। अतः जन्म-मृत्यु के हेतुभूत कर्मों के फल के लिए तुम्हारी अभिलाषा रहना सम्भव नहीं है, इसलिये तुम्हारी धृति राजसी नहीं हो सकती, ऐसा आश्वासन देने के लिए ही श्रीभगवान् ने अर्जुन एवं पार्थ कहकर दो बार सम्बोधन किया।] प्रसङ्गेन तु फलाकांक्षी—जिस-जिस धर्म, अर्थ आदि के धारण करने का प्रसंग (अर्थात् यह मेरा अवश्य कर्तव्य है इस रूप से निश्चय की अवस्था) उपस्थित होता है उस-उस प्रसंग से ही (अर्थात् उस-उस निश्चय का समय या अवस्था उपस्थित होने पर ही) जो मनुष्य फल की इच्छा रखता है [मधुसूदन के मत से 'प्रसंगेन' शब्द का अर्थ है कर्तृत्व आदि के अभिनिवेश से एवं 'तु' शब्द सात्त्विकी धृति से राजसी धृति को पृथक् करने के लिए है।] यया धृत्या—(वह फलाकांक्षी पुरुष) जिस धृति के प्रभाव द्वारा धर्मकामार्थान्-धारयते—धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है अर्थात् जिस धृति के द्वारा मनुष्य इन सबको मनमें अवश्यकर्तव्य रूप से निश्चय किया करता है सा धृति राजसी—वह धृति राजसी होती है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—राजसी धृति को बताते हैं—**यया तु धृत्या**—हे अर्जुन ! जिस धृति के द्वारा **धर्मकामार्थान् धारयते**—मनुष्य धर्म, अर्थ और भोगों को प्रधानता से धारण किए रहता है—नहीं छोड़ता तथा **प्रसङ्गेन फलाकांक्षी** उसके प्रसङ्ग से फल चाहने वाला होता है, **सा राजसी**—वह राजसी धृति है।

(२) शंकरानन्द—राजस धृति को कहते हैं—**यया धृत्या तु**—'तु' शब्द अन्य की व्यावृत्ति के लिए है। जिस धृति से **धर्मकामार्थान् धारयते**—पुरुष धर्म, अर्थ और काम को मुख्य रूप से धारण करता है—पकड़ता है—नहीं छोड़ता है, **प्रसङ्गेन फलाकांक्षी**—प्रसङ्ग से (धर्मादि की प्रसक्ति होने पर सम्पादन काल में) फल की आकाक्षा करता है **सा धृतिः राजसी**—वह धर्म आदि का धारण करने वाली धृति राजसी है।

(३) नारायणी टीका—राजसी धृति का लक्षण बताते हैं—चारों पुरुषार्थों में राजसी धृति धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को ही धारण करने में समर्थ होती है अर्थात् राजसी धृति के द्वारा मनुष्य उन धर्म, अर्थ, काम को अवश्य कर्तव्य रूप से निश्चय किया करता है किन्तु उस-उस प्रसंग से अर्थात् उस-उस कर्म का सम्पादन करने का समय उपस्थित होने पर कर्तृत्व-अभिमानी पुरुष अवश्य ही फल की इच्छा भी करता है। अतः जिस धृति के द्वारा फलाकांक्षा पूर्वक धर्मादि कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है, उस धृति को राजसी कहा जाता है। फलाकांक्षा से चित्त विक्षिप्त रहने के कारण राजसी धृति के द्वारा मनुष्य मोक्षस्वरूप परमात्मा को कभी धारण नहीं कर सकता अर्थात् परमात्मा की (मोक्ष की) प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र कर्तव्य कर्म है ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, यही कहने का तात्पर्य है।

अब तामसी धृति का लक्षण बताते हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अन्वय—हे पार्थ दुर्मेधाः यया स्वप्नम् भयम् शोकम्, विषादम्, मदम् एव च न विमुञ्चति सा तामसी धृतिः।

अनुवाद—जिस धृति के द्वारा दुर्मेधा (सदसद् विवेक में असमर्थ कुत्सित बुद्धि वाला मनुष्य) निद्रा, भय, शोक, विषाद तथा मद (अहंकारवश अशास्त्रीय विषय सेवन में तत्परता) इन्हें नहीं छोड़ता किन्तु सर्वदा इनको अपने कर्तव्य रूप से मानता है, हे पार्थ ! वह धृति तामसी है।

भाष्यदीपिका—**दुर्मेधाः**—आत्मानात्म (सद् असद्) विवेक में असमर्थ कुत्सित (मलिन) बुद्धि वाला मनुष्य **यया**—जिस धृति के द्वारा **स्वप्नम् भयम् शोकम् विषादम् मदम् एव च**—स्वप्न (निद्रा), भय (त्रास), शोक (इष्ट वियोगजनित संताप), विषाद (इन्द्रियों की ग्लानि अर्थात् दुःख या खिन्नता) तथा मद को (अपने को बहुत बुद्धिमान् मानकर शास्त्र की विधि निषेध का उल्लंघन करके उन्मत्त के समान मद को अर्थात् । अशास्त्रीय विषय सेवन में तत्परता को) ['एव' शब्द निश्चयार्थ में तथा 'च' शब्द समुच्चयार्थ में है।] **न विमुञ्चति**—मन में सर्वदा अपने कर्तव्य रूप से मानता हुआ इन सबको नहीं छोड़ता है अर्थात् उन्हें धारण हीं किए रहता है **सा धृतिः तामसी**—उसकी (उस मनुष्य की) जो धृति है, वह तामसी मानी गई है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—तामसी धृति बताते हैं—**दुर्मेधाः**—जिसकी बुद्धि अधिक अविवेक युक्त अर्थात् दुष्ट है, ऐसा दुर्बुद्धि युक्त पुरुष **यया धृत्या**-जिस धृति के द्वारा **स्वप्नम् भयम् शोकम्, विषादम्, मदम् एव च**—स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ता अर्थात् बारम्बार उनका आवर्तन करता रहता है **सा तामसी**—वह धृति तामसी है। यहाँ स्वप्न नाम निद्रा का है।

(२) **शंकरानन्द**—तामस धृति को कहते हैं-**दुर्मेधाः**—दुष्ट (तमो दोष से दूषित) मेधा (बुद्धि) जिसकी है ऐसा दुर्भाग्यवान् पुरुष **यया**—जिस धृति से **स्वप्नम् भयम् शोकम् विषादम् मदम् एव च**—स्वप्न, निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को ही **न विमुञ्चति**—सदा धारण करता है एवं कभी भी उन्हें नहीं छोड़ता **सा धृतिः तामसी**—वह निद्रा आदि को धारण करने वाली धृति तामसी कहलाती है। सम्पूर्ण व्यवहारों की हेतु बुद्धि का त्रैविध्य सिद्ध होने पर उसके द्वारभूत श्रोत्र

आदि कारणों के भी सात्त्विक आदि भेद हैं, ऐसा (धृति के तीन प्रकार के भेदों का प्रदर्शन करके सूचित किया।

(३) **नारायणी टीका**—तामसी धृति का लक्षण बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि दुर्मेधा अर्थात् अत्यन्त अविवेकी मलिन बुद्धि वाला पुरुष जो धृति के प्रभाव से भय, शोक विषाद (विपन्नता या खिन्नता) तथा मद (अपनी बुद्धि को ही श्रेष्ठ मानकर अशास्त्रीय विषय की सेवा में तत्परता इन सबको अपने कर्तव्यरूप से मानकर ['एव च' पद का यही तात्पर्य है] स्वप्न से लेकर मद तक सभी को धारण करता है (अर्थात् उनका त्याग करने में समर्थ नहीं होता है) वह धृति शिष्ट पुरुषों के द्वारा तामसी मानी गई है।

पूर्व श्लोकों में गुण के भेद के अनुसार क्रिया और कारकों के तीन-तीन प्रकार के भेद बताकर अब उनके फलस्वरूप सुख के तीन प्रकार के भेद कहे जाते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—हे भरतर्षभ ! इदानीम् त्रिविधम् सुखम् तु मे शृणु। यत्र अभ्यासात् रमते, दुःखान्तम् च निगच्छति, (तथा) यत्तत् अग्रे विषमिव परिणामे अमृतोपमम् तत् आत्मबुद्धिप्रसादजम् सुखम् सात्त्विकम् प्रोक्तम्।

अनुवाद—हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार का सुख श्रवण करो। जिस सुख में मनुष्य अभ्यास से रमता है [अर्थात् जिस सुख के अनुभव में वारम्वार अभ्यास (आवृत्ति) करने से मनुष्य की रति (प्रेम) हुआ करता है], जहाँ उसके सारे दुःख का निश्चयरूप से अन्त (निवृत्ति) हो जाता है, तथा जो सुख पहले पहल (ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधिकाल में अत्यन्त श्रमसाध्य होने के कारण) विष के सदृश अर्थात् अत्यन्त दुःखकर प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में वह सुख ही (ज्ञान वैराग्य आदि के परिपाक से) अमृत के समान अनुभूत होता है वह सुख

आत्माकारा बुद्धि के प्रसाद (निर्मलता) से उत्पन्न होने के कारण विद्वानों के द्वारा सात्त्विक बतलाया गया है ।

भाष्यदीपिका—**हे भरतर्षभ**—हे भरतकुल-श्रेष्ठ अर्जुन ! [इस सम्बोधन से अर्जुन की वक्तव्यविषय के सुनने की योग्यता प्रदर्शित की है ।] **इदानीम्**—अब **त्रिविधम् सुखम् तु**—क्रिया तथा कारकों के फलस्वरूप जो सुख होता है, वह तीन प्रकार का है । इस त्रिविध सुख को ['तु' शब्द क्रिया तथा कारकों से उनके फलरूप सुख के पृथक्त्व (पार्थक्य) का निर्देश करने के लिए है ।] **मे**—मुझसे (मैं जैसा कह रहा हूँ उससे) **शृणु**—चित्त को समाहित करके सुनो [तीनों प्रकार के सुखों में कौन हेय (त्याज्य) एवं कौन उपादेय (ग्राह्य) है यह भलीभाँति समझने के लिए अन्य विषय की चिन्ता छोड़कर सावधानता से एकाग्र होकर मैं इसके सम्बन्ध में जो कुछ कह रहा हूँ वह सुनो, यही कहने का अभिप्राय है ।] **यत्र अभ्यासात् रमते**—जिस (समाधिजनित) सुख में अभ्यास से (अर्थात् अनुभव द्वारा परिचय होने पर वारम्बार उसकी आवृत्ति करने से) मनुष्य रमता है (परितृप्त होता है) [विषय सुख के समान तुरन्त ही तृप्त नहीं हो जाता अर्थात् विषयसुख के प्राप्त होने पर मनुष्य उसी क्षण ही तृप्त होता है किन्तु वह सुख स्थायी नहीं रहता है । परन्तु सात्त्विक सुख उस प्रकार का नहीं है क्योंकि उसमें रमने के लिए (उससे परितृप्त होने के लिए) उस सुख का पुनः पुनः अभ्यास के (आवृत्ति के) द्वारा पूर्णरूप से परिचय (साक्षात् अनुभव) प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है । इस प्रकार परिचय या अनुभव होने पर ही, विषयसुख अति तुच्छ प्रतीत होने के कारण, मनुष्य निर्मल सात्त्विक सुख मे ही रमता है—यही कहने का तात्पर्य है ।] **दुःखान्तम् च निगच्छति**—और जिस सुख के प्राप्त होने पर मनुष्य अपने समस्त दुःखों का अन्त पूर्णरूप से (सर्व प्रकार से) प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिसकी प्राप्ति से उसके सम्पूर्ण दुःखों की निःसन्देह निवृत्ति हो जाती है तथा **यत्तत् सुखम् अग्रे विषम् इव**—वह सुख जो पहले पहल अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के आरम्भ-काल में अत्यन्त श्रमसाध्य होने के कारण विष के सदृश (अर्थात् महान् दुःखरूप) होता है **परिणामे अमृतोपमम्**—परन्तु परिणाम में (ज्ञान, वैराग्य, ध्यान और समाधि के परिपाक से उत्पन्न हुआ) वह

सुख अमृत के समान अर्थात् अत्यन्त प्रीतिप्रद होता है **तत् आत्मबुद्धिप्रसादजम् सुखम्**—तथा वह सुख आत्मा की बुद्धि के (अपनी बुद्धि के) प्रसाद से (जल के समान बुद्धि की निर्मलता या स्वच्छता से) उत्पन्न हुए सुख को आत्मबुद्धिप्रसादजन्य सुख कहते हैं अथवा आत्मविषयक या आत्मा को अवलम्बन करनेवाली बुद्धि का (आत्मस्वरूप ब्रह्माकारा बुद्धि का) नाम आत्मबुद्धि है। उस बुद्धि के प्रसाद को (स्वच्छता की) अधिकता से जो सुख उत्पन्न होता है वह आत्मबुद्धिप्रसाद से जात सुख कहा जाता है। [यह सुख राजस सुख के समान विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होनेवाला नहीं होता और न तामस सुख के समान निद्रा और आलस्य से उत्पन्न हुआ होता है। (मधुसूदन)] **तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्**—ऐसा जो अनात्म-बुद्धि की निवृत्ति द्वारा आत्मविषयक (आत्माकारा) बुद्धि के प्रसाद से (निर्मलता से) उत्पन्न हुआ जो सुख है, उसे योगियों ने सात्त्विक कहा है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—आधे श्लोक द्वारा सुख के तीन प्रकार बताने की प्रतिज्ञा करते हैं। (भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार का सुख मुझसे सुनो)। उनमें से सात्त्विक सुख का लक्षण डेढ़ श्लोक से बताते हैं-**यत्र**—जिस सुख में **अभ्यासात्**—अभ्यास से अर्थात् अति परिचय हो जाने पर मनुष्य **रमते**—रमण करता है, विषय-सुख की भाँति सहसा जिसमें उसकी रति नहीं होत है, परन्तु जिसमें रमण करता हुआ साधक **दुःखान्तम् च**—दुःख के अन्त को (उसकी निवृत्ति को) भी भलीभाँति प्राप्त कर लेता है। **यत् अग्रे**—जो वह कोई अपूर्व सुख साधन के आरम्भ में पहले मन के संयम के अधीन होने के कारण **विषम् इव**—विष के सदृश दुःख देनेवाला सा होता है तथा **परिणामे अमृतोपमम्**—परिणाम में अमृत के सदृश जान पड़ता है तथा **आत्मबुद्धिप्रसादजम्**-आत्मविषयक बुद्धि आत्मबुद्धि है, उसके प्रसाद से (स्वच्छता से) उत्पन्न हुआ अर्थात् रजः और तमोरूप मल के त्यागपूर्वक जो बुद्धि की स्वच्छता की स्थिति हो गयी है उससे उत्पन्न हुआ जो विलक्षण सुख है **तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्**—वह सुख योगियों द्वारा सात्त्विक कहा गया है।

(२) शंकरानन्द—३६ श्लोक—इस प्रकार के गुणों के भेद से कर्ता, करण और कर्मों का त्रैविध्य कहकर कर्म के फलभूत सुख का भी त्रैविध्य कह रहे श्रीभगवान् पहले दो श्लोकों से सात्त्विक सुख का स्वरूप कहते हैं-इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है।

(३७ श्लोक)—**यत् अग्रे विषम् इव**—ब्राह्म सुख यद्यपि निरन्तर नित्य प्राप्त है, फिर भी आगे यानी उसकी सिद्धि के पहले उसकी सिद्धि के साधन को स्वीकार करना विष के स्वीकार करने के समान दुष्कर है, अतः वह स्वयं भी विष के समान है यानी उसकी प्राप्ति और अनुभव करना अति कठिन ही है, क्योंकि उसके साधन सत् और असत् का विवेक दुर्लभ है, उससे मुमुक्षुत्व दुर्लभ है, उससे वैराग्य दुर्लभ है, उससे शम आदि सम्पत्ति दुर्लभ है, उससे संन्यास दुर्लभ है, उससे श्रद्धा ही जिनका एक मूल है, ऐसे श्रवण आदि दुर्लभ हैं, उससे मुक्ति का असाधारण कारण श्रवण आदि से जन्य अपरोक्ष ज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभतर है और उसके परिपाक का हेतु समाधि तो दुर्लभतम है। उसी से ब्राह्मसुख की सिद्धि का साधन केवल समाधि ही जिसका मूल है, ऐसा ज्ञान तीव्र मोक्ष की इच्छा का एकमात्र कारण पूर्वोत्तर अङ्गों के साथ दुष्प्राप्य होने से स्वयं भी विष के समान है यानी दुष्प्राप्य और उपभोग के लिए अशक्य है, यह अर्थ है। जब ऐसा है तब मोक्षसुख की इच्छावाले यतियों की क्या गति होगी ? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—**परिणामे अमृतोपमम्**—सद्गुरु और ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त हुए ब्रह्मसुख की प्राप्ति के साधन ज्ञान का नित्य निरन्तर समाधि से परिणाम (परिपक्वता) सिद्ध होनेपर वह अमृत के सदृश होता है। जैसे कालकूट के दूर करने से प्राप्त हुआ अमृत देवताओं की जरा और मृत्यु का निवर्तक होता है वैसे ही करण दोषों के (अन्तःकरण के दोषों के) दूर करने से प्राप्त हुआ ब्रह्मसुख भी यति—महात्माओं के लिए जन्ममरणरूप दुःखप्रवाह का नाशक होने से, अमृत के समान और परमानन्दकर होता है। इसलिए मोक्षसुख के अनुभव की इच्छा रखनेवाले परमहंस ब्रह्मविदों को साधन की सिद्धि के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, साध्य की सिद्धि के लिए नहीं, क्योंकि साधन के सिद्ध होने पर साध्य स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। जैसे चक्षु का सौष्ठव होनेपर पूर्णचन्द्र के दर्शन का आह्लाद प्राप्त होता है, वैसे ही **यत् आत्मबुद्धिप्रसादजम् सुखम्**—जो सुख आत्मबुद्धिप्रसादज है। जिस बुद्धि से—ज्ञान से 'सच्चिदानन्दैकलक्षणवाला यह मैं हूँ' यों आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है, उस बुद्धि के ही प्रसाद से [अर्थात् चिरकाल तक नित्यनिरन्तर सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के अभ्यास के अतिशय से रजः और रजः के कार्य की (राग, द्वेष, लोभ,

मोह, दम्भ, दर्प, हर्ष, विषाद, असूया, अहंकार आदि की) तथा तमः और तमः के कार्य की–(संशय, असंभावना, विपरीतभावना, जाड्य, आलस्य, प्रमाद आदि की)– जो कि आत्मभावना के प्रतिबन्धक हैं उनकी–निःशेषनिवृत्ति से उत्पन्न हुआ शुद्ध स्फटिक के समान और दर्पण के समान प्रकाशवाला जो शुद्धसत्त्वनामवाला स्वच्छल गुण है–उससे] जो सुख उत्पन्न होता है, वह चक्षु के दोष की निवृत्ति से पूर्णचन्द्रिका के समान स्वयं प्रकट होता है, अतः 'आत्मबुद्धिप्रसादज' कहा जाता है। विषय के सुख के समान वह उत्पन्न नहीं होता है। यदि वह जन्य हो (किसी से उत्पन्न हुआ है ऐसा माना जाय) तो उसमें अनित्यत्व, परिच्छिन्नत्व, सातिशयत्व आदि दोषों का प्रसङ्ग होगा और मुमुक्षुओं की इच्छा के योग्य विषय भी नहीं होगा। चक्षु के निर्मल होने से जैसे रूप अपने आप उसका विषय हो जाता है, वैसे ही शुद्धसत्त्व की प्राप्ति से बुद्धिवृत्तिका वह प्रयत्न के बिना स्वयं ही विषय हो जाता है, क्योंकि स्वरूप-सुख नित्यसिद्ध है।

ब्रह्मविदों का ब्रह्मसुख अतिक्लेश से साध्य है। विषयसुख तो अतिसुलभ है, अतः सुख की इच्छा रखनेवाले पुरुषको उसी का उपभोग करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो इस विषय में तुमसे यह प्रश्न होगा कि क्या वैषयिक सुख विषय का धर्म है या करण का धर्म है या कर्म का धर्म है या भोक्ता का धर्म है या देश का धर्म है या काल का धर्म है या आत्मा का धर्म है या स्वयं व्यापार भावस्वरूप है अथवा दुःखाभावस्वरूप है ? पहला पक्ष तो युक्त है ही नहीं क्योंकि विषय के सन्निधान में पूर्वक्षण के समान उत्तरक्षण में सुख देखने में नहीं आता। यदि कहो कि व्यञ्जक के (अर्थ के संकेत करने वाले के) अभाव से व्यंग्य का (सांकेतिक विषय का) उदय नहीं होता, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध दुष्ट (खोटा) होने पर पूर्वक्षण में सुख के अनुदय का प्रसङ्ग होगा और उक्त इष्ट विषय की असिद्धि हो जायगी। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि विषय का व्यवधान होने पर सुख देखने में नहीं आता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख पुण्यकर्म का कार्य होने से उसका धर्म नहीं हो सकता, ऐसा होने से धर्म की उत्पत्ति के उत्तर क्षण में ही सुख के उदय का प्रसंग आवेगा। चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि भोक्ता का सर्वदा विक्षेप देखने में आता है, पांचवाँ पक्ष भी युक्त

नहीं है, क्योंकि सुखार्थी का स्वर्ग में गमन नहीं होगा और स्वर्गस्थ जीवों का भी दुःख सुनने में आता है, छठा पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि सुख शीत और गर्मी के समान सर्वत्र प्राप्त हो जायगा। अज्ञान का भी धर्म नहीं है, क्योंकि वस्तु की भोग्यता का परिज्ञान न होने पर सुख देखने में नहीं आता। ज्ञान का धर्म भी नहीं है, क्योंकि वस्तु के रम्यत्व का ज्ञान होने पर भी विरक्त को सुख नहीं होता। करण के व्यापारों का अभाव भी सुख नहीं है, क्योंकि स्वप्न में सुख देखने में नहीं आता और करण के व्यापार से युक्त भोजन आदि में सुख देखने में आता है। दुःख का अभाव भी सुख नहीं है, क्योंकि दुःख के अभाव से युक्त मिट्टि के पिण्ड में सुख देखने में नहीं आता। यदि कहो कि अचेतन होने से उसमें उसकी अभिव्यक्ति का अभाव है तो वह भी युक्त नहीं है. क्योंकि दुःखाभाववती बुद्धि की अस्फूर्ति में सुख देखने में नहीं आता। मूढ़तम पुरुष ने यह जो कहा था कि दुःख का अभाव सुख है वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख भावरूप है, अतः उसमें अभावत्व युक्त नहीं है। इस पशुतुल्य पुरुष ने सुषुप्ति के निर्विषय सुख का अनुभव ही नहीं किया है, इसलिए कहता है कि दुःख का अभाव सुख है। तब सुख आत्मा का ही धर्म है, ऐसा यदि कहो तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि सुख आत्मा का स्वरूप है, धर्म नहीं है क्योंकि यदि धर्म होगा तो धर्म का नाश होने पर आत्मा के नाश का प्रसंग आवेगा। स्वरूप होने पर सुख के क्षणिक होने से स्वरूपभूत सुख का नाश होने पर आत्मा का भी नाश है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'आकाश के समान सर्वगत नित्य, इस श्रुतिवाक्य से आत्मा नित्य है, ऐसा सुनने में आता है इसलिये उसका (आत्मा का) स्वरूपभूत सुख भी नित्य ही है। जैसे सुख आत्मा का स्वरूप है वैसे ही दुःख भी आत्मा का स्वरूप ही हो, क्योंकि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार से सुख-दुःख की प्रतीति एवं विषयत्व देखने में आता है, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं, 'मैं मेरा' इस प्रतीति के समान 'मैं दुःखी हूँ' यह प्रत्यय मोह का कार्य होने से मिथ्या है। पुत्र के मरने पर मैं, मेरा' यों कहनेवाले पुरुष का मरण मोह से आरोपण के सिवा दूसरा नहीं है, इसी प्रकार 'मैं दुःखी हूँ, ऐसा कहने से दुःखित्वप्रत्यय आत्मा में मोह से आरोपित होने के कारण मिथ्या ही है। यदि दुःख आत्मा का स्वरूप होता, तो सुषुप्ति में 'मैं सुख से

सोया' यों जैसे सुख का उपलम्भ होता है, वैसे दुःख की भी उपलब्धि होती, पर दुःख की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है। सुख ही आत्मा का स्वरूप है। 'सुख से मैं सोया, यह प्रत्यक्ष सुख ही आत्मस्वरूपता में प्रमाण है। 'आत्मा सुखस्वरूप है, सुषुप्ति में सुख मात्र का उपलम्भ (बोध) होने से, समाधि के समान, यह अनुमान सुख की ही आत्मरूपता में प्रमाण है और 'सच्चिदानन्दमात्र एकरस' 'बुद्ध सुखस्वरूप आत्मा' 'सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन' यह श्रुति तथा मुमुक्षुकी प्रवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से जनित अर्थापत्ति भी उक्त अर्थ में प्रमाण है। तब दुःख किसका स्वरूप है ? अनात्मा का स्वरूप है, ऐसा हम कहते हैं क्योंकि अनात्म मिथ्या, जड़ और दुःखात्मा है, यह विदित है। 'अतोऽन्यदार्तम्' (इससे अन्य मिथ्या है), 'नाल्पे-सुखमस्ति' (अल्प में सुख नहीं है), तदेतज्जडं मोहात्मकं अन्तवत्तुच्छम्' (यह दृश्य प्रपंच जड़ मोहात्मक, अन्तवाला, तुच्छ) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध हैं। सुख आत्मस्वरूप है, ऐसा सिद्ध होने पर विषयसुख, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? ऐसा यदि कहो, तो कहते हैं—पुण्यकर्मवश पुरुष के अन्तःकरण में इष्ट पदार्थ की संनिधि होने पर सत्त्व प्रकट होता है, उसमें आनन्दस्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्बरूप आत्मानन्द की स्फूर्ति ही विषय के सान्निध्य से विषयसुख कहलाती है। पुण्य के तारतम्य से सत्त्व का तारतम्य होता है, सत्त्व के तारतम्य से प्रतिबिम्बकी स्फूर्ति का तारतम्य होता है। इससे सुख का भी तारतम्य होता है। इसीलिए सुनने में आता है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अर्थात् इस आनन्द की मात्रा का ही अन्य भूत भोग करते हैं, इसलिए पूर्णानन्दस्वरूप अमृत पीनेवाले बड़े बड़े ब्रह्मवित् आभासिक विषय सुख की इच्छा नहीं करते। आत्मा आनन्दस्वरूप और पूर्ण होने से सदा सर्वत्र सबको प्रयत्न के बिना सुख का अनुभव स्वयं ही होना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मस्वरूप की उपलब्धि में वृत्ति की शुद्धि की अपेक्षा है। जैसे पूर्णमासी के परिपूर्ण होने पर भी उसके दर्शन का आह्लाद चक्षुकी सौष्ठवता की अपेक्षा करता है, इसी प्रकार आत्मानन्द का अनुभव भी बुद्धि के प्रसाद की अपेक्षा करता है इसीलिए भगवान ने भी कहा है—आत्मबुद्धिप्रसादजम्' । इस प्रकार वह आत्मबुद्धिप्रसाद से उत्पन्न होता है अतः नित्य, निरन्तर, निरपेक्ष, निरतिशय तथा निरवधिक जो ब्रह्मसुख है,

तत् सात्त्विकम् सुखम् प्रोक्तम्—वह सात्त्विक है। सत्त्वगुण के आविर्भूत होने के कारण सात्त्विक है, ऐसा महर्षिलोग कहते हैं यही अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—(३६–३७ श्लोक) इस अध्याय के प्रारम्भ में मनुष्य यज्ञ, दान, तप आदि जितना शुभ या अशुभ कर्म शरीर से, वाणी से एवं मन से किया करता है उसके अधिष्ठान आदि पाँच कारण भगवान् ने बताये हैं फिर उन सब कारणों को कर्ता कर्म तथा ज्ञान में अन्तर्भूत करके इन तीनों के तीन-तीन प्रकार के भेद बतलाये एवं साथ-साथ कर्ता की बुद्धि तथा धृति का भी तीन प्रकार का भेद दिखलाया। इस प्रकार से क्रिया (कर्म) एवं कारकों का तीन तीन प्रकार का भेद बताकर उनके फलरूप से जो सुख प्राप्त होता है उसका भी भेद अब बता रहे हैं क्योंकि इस भेद को भली-भाँति न जानने से कौन सुख मोक्ष के लिए ग्राह्य है एवं कौन सुख परित्याज्य है इसका निर्णय करना सम्भव नहीं होता है। सात्त्विक सुख ही परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए ग्रहण करने योग्य है, इसे स्पष्ट करने के लिए श्रीभगवान् अब सात्त्विक सुख का लक्षण बताते हैं—विषय के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है उससे सहसा (तत्क्षण में) तृप्ति होती है परन्तु वह क्षणस्थायी है एवं अन्त में दुःख देने वाला है। इसलिए विषयसुख मोक्षाकांक्षी पुरुष के लिए अग्राह्य है। (१) यम, नियमादि के अभ्यास के द्वारा ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप के चिन्तन का पुनः पुनः अभ्यास (आवृत्ति) करते हुए क्रम से जो समाधि प्राप्त होता है एवं (२) जिस सुख का अनुभव (परिचय) होने पर विषय सुख अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने के कारण अभ्यासी पुरुष उस ब्रह्मसंस्पर्श जनित सुख में ही रमता है एवं (३) जिसमें निरन्तर स्थिति के प्राप्त होने पर समस्त दुःखों का (अज्ञान एवं अज्ञानजनित सभी दुःखों का) अन्त (निवृत्ति) हो जाता है तथा (४) जिस सुख की प्राप्ति के पहले-पहल ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि के अति श्रमसाध्य अनुष्ठान की आवश्यकता होने के कारण अर्थात् अत्यन्त चंचल मन को विषय से हटाकर आत्मा में समाहित करना अति कठिन होने के कारण वह विष के समान (अर्थात् अत्यन्त दुःखकर) होता है परन्तु परिणाम में अर्थात् ज्ञान, वैराग्य आदि के परिपक्व होने से परमानन्द स्वरूप आत्मा का संस्पर्श लाभकर अमृत के समान अत्यन्त सुखदायक होता है एवं (५) जो सुख आत्मबुद्धि (आत्माकारबुद्धि)

के प्रसाद से (स्वच्छता से) ही उत्पन्न होता है—अन्यथा नहीं [क्योंकि शुद्धचैतन्य परमानन्दघन आत्मा के चिन्तन से बुद्धि जब आत्माकारा (ब्रह्माकारा) वृत्ति का पुनः पुनः अभ्यास करती है एवं आत्मस्वरूपभूत परमानन्द का आभास प्राप्त करके जब वह अत्यन्त प्रसन्न (अति निर्मल) हो जाती है तब उस प्रसाद से जो सुख उत्पन्न होता है उसे योगी (तत्त्वदर्शी) लोग सात्त्विक सुख कहते हैं। यह विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो राजस सुख उत्पन्न होता है अथवा निद्रा या आलस्य से जो तामस सुख उत्पन्न होता है उससे सम्पूर्ण विलक्षण है क्योंकि इन सुख के भोग के समय में शरीर निश्चल होकर एवं मन चिन्ताशून्य (विक्षेप रहित) होकर आत्मदर्शन में निमग्न रहता है। अतः अज्ञान एवं अज्ञानजनित कर्म भी स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार से सात्त्विक सुख उत्पन्न होने पर ही मुख्य संन्यास (सर्वकर्मों का स्वतः त्याग) होता है उसके पहले नहीं इसलिए ही जब तक सात्त्विक सुख न प्राप्त हो तब तक सभी कर्तव्य कर्म आसक्ति एवं फलाकांक्षा को त्याग करके करने का विधान है।

अब राजस सुख का लक्षण बताते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—विषयेन्द्रियसंयोगात् यत् तत् अग्रे अमृतोपमम् परिणामे विषम् इव (भवति), तत् सुखम् राजसम् स्मृतम्।

अनुवाद—जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है एवं पहले अमृत के समान प्रिय बोध होता है परन्तु परिणाम में विष के समान अप्रिय होता है, वह (वैषयिक) सुख राजस माना गया है।

भाष्यदीपिका—**विषयेन्द्रियसंयोगात्**—विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ (आत्मबुद्धि के प्रसाद से नहीं) **यत् तत्**—जो सुख [अर्थात् अति प्रसिद्ध माला, चन्दन और स्त्री आदि के संग से होने वाला जो सुख मधुसूदन)] **अग्रे**—पहले (पहले क्षण में आरम्भ में) **अमृतोपमम्**—अमृत के समान (अर्थात् प्रिय) होता है अर्थात् मन के संयम आदि क्लेश की आवश्यकता न रहने के कारण

अमृत के समान प्रतीत होता है किन्तु **परिणामे विषम् इव**—परिणाम में विष के समान है [अभिप्राय यह है कि बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेघा, धन और उत्साह की हानि इस प्रकार वैषयिक सुख से होती है एवं यह सुख अधर्म एवं उससे उत्पन्न नरकादि का भी हेतु होता है। अतः वह परिणाम में (अपने उपभोग का अन्त होने के पश्चात्) विष के सदृश (परलोक में अत्यन्त दुःख का कारण) होता है **बल**—शारीरिक सामर्थ्य, **वीर्य**—पराक्रम द्वारा प्राप्त हुआ यश, **रूप**—देह का सौन्दर्य; **प्रज्ञा**—वेदादि शास्त्रों के अर्थ (तात्पर्य का ग्रहण करने की सामर्थ्य **मेधा**—शास्त्रों के अर्थ को समझ लेने के पश्चात् उसको स्मृति में धारण करने की शक्ति, **धन**—गो हिरण्य आदि, **उत्साह**—कार्य करने के लिए उद्यम (आनन्दगिरि) इन सबकी जिस सुख से हानि होने के कारण इहलोक में ही विष के समान दुःख भोग करना पड़ता है तो वह सुख प्रायः अधर्ममूलक होने के कारण परिणाम में (इह लोक के भोग समाप्तिके पश्चात् परलोक में) विष के सदृश अर्थात् अत्यन्त दुःखदायक होगा इसमें आश्चर्य की बात क्या है ?] **तत् सुखम् राजसम् स्मृतम्**—ऐसा सुख राजस माना गया है। [इस प्रकार का सुख सर्व प्रकार से दुःख का हेतु होने के कारण बुद्धिमान् पुरुष के लिए सदा हेय (त्याज्य) है, यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—राजस सुख को बताते हैं—**विषयेन्द्रियसंयोगात्**—विषयों के और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ **यत् सुखम्**—जो सुख स्त्री आदि के सङ्ग से होनेवाला प्रसिद्ध है **तत् अग्रे अमृतोपमम्**—वह पहले अमृत जिसक उपमा है उस प्रकार का होता है, अर्थात् अमृत के समान होता है, **परिणामे विषम् इव**—परन्तु परिणाम में इस लोक और परलोक में दुःखके हेतु होने से विष के तुल्य होता है, **तत् राजसम् स्मृतम्**—वह सुख राजस माना गया है।

(२) **शंकरानन्द**—राजस सुख को कहते हैं—**विषयेन्द्रियसंयोगात्**—विषयों के और इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला **यत् सुखम्**—जो विषयसुख **अग्रे**—पहले यानी अपने अनुभव काल में अपना अनुभव करनेवाले पुरुषको **अमृतोपमम्**—सुधा के तुल्य होकर 'पुनः पुनः अधिक बढ़ता है' इस न्याय से स्वविषयक अविद्या, काम और कर्म को बढ़ाता है और **परिणामे**—अपने कार्य के (अविद्या, काम और

कर्म के वर्धन के) फलकाल में **विषम् इव**—अपने में आसक्ति रखनेवाले पुरुषको विष के समान मारता है अर्थात् अपने कार्य से सम्बद्ध करके 'स कामभिर्जायते तत्र तत्र' अर्थात् वह कामनाओं से तत्-तत् योनियों में जन्म ग्रहण करता है, इस न्याय से अनेक योनियों में गिराकर बार बार मृत्यु को प्राप्त कराता है, यह अर्थ है। जो इस प्रकार के लक्षण से युक्त विषयों का सुख है, **तत् सुखम् राजसम् स्मृतम्**–वह राजस है। रजोगुण से (काम से) उत्पन्न होने के कारण वह राजस है, ऐसा मुनियों ने स्मरण किया है अर्थात् कहा है।

(३) **नारायणी टीका**—अब राजस सुख का लक्षण भगवान् बताते हैं चक्षु से सुन्दर रूप को देखने से, कर्ण से सुमधुर ध्वनि सुन लेने से, नासिका से सुगन्धि का ग्रहण करने से, जिह्वा से सुमिष्ठ वस्तु का आस्वादन करने से, त्वचा से सुकोमल प्रिय वस्तु को स्पर्श करने से जो तत्काल ही सुख उत्पन्न होता है वह भोग के समय में अमृत के समान प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के भोग में इन्द्रिय संयम, वैराग्य अथवा चित्तवृत्ति के निरोधजनित क्लेश को सहन नहीं करना पड़ता। किन्तु इस प्रकार से विषय के साथ इन्द्रियों के संयोग से माला चन्दन वनितादि के भोग के उपस्थित होने के कारण जो वैषयिकसुख उत्पन्न होता है वह (१) अस्थायी (क्षणस्थायी) है क्योंकि विषय मात्र ही निरन्तर विकारशील एवं अनित्य होने के कारण उससे उत्पन्न हुआ सुख भी विकारशील अनित्य (क्षणस्थायी) ही होगा। अतः वह सुख बराबर न रहने के कारण उसका अभाव होने से दुःख उत्पन्न होता है। इस कारण से सभी विषय सुख पहले अमृत के समान प्रतीत होने से भी परिणाम में विष के समान ही होते हैं (२) विषय सुख का भोग करते हुए शरीर का बल एवं रूप, इन्द्रिय का वीर्य, मनका उत्साह एवं बुद्धि की प्रज्ञा मेधा इत्यादि की एवं धनादि की भी हानि होती है। अतः विषय भोग से सर्वप्रकार से शक्ति का क्षय होने के कारण परिणाम में भोग की सामर्थ्य भी नहीं रहती है। भोग की तीव्र इच्छा रहते हुए भी यदि उसके लिए सामर्थ्य न रहे तो इससे दुःख की बात और क्या हो सकती है ? अतः परिणाम में अर्थात् सामूहिक भोग के अन्त में सभी विषय सुख विष के समान दुःखदायक होते हैं। (३) विषय के साथ संयोग होने से इन्द्रियाँ आदि के जिस सुख में भोग की प्रवृत्ति होती है उसमें

अविवेक के कारण हित-अहित, धर्माधर्म का विचार नहीं रहता है क्योंकि तात्कालिक (क्षणिक) भोग की इच्छा ही उस समय प्रबल रहती है। अतः उस सुख के मूल में अधर्म या अशुभ कर्म तथा वासना रहने के कारण परिणाम में (अर्थात् इहलोक में भोग की समाप्ति होने के पश्चात् परलोक में) नरकादि अधोगति के प्राप्त होने के कारण यह सुख अन्त में विषतुल्य ही होता है। उक्त प्रकार के नाना अनर्थकर वैषयिक सुख को विद्वान् लोगों ने राजस कहा है।

अब तामस सुख का लक्षण बताते हैं—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—यत् निद्रालस्यप्रमादोत्थम् अग्रे अनुबन्धे च आत्मनः मोहनम् तत् तामसम् सुखम् उदाहृतम्।

अनुवाद—जो सुख निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ होता है तथा जो आरम्भ में और परिणाम में भी चित्त को मोह में डालने वाला है, वह सुख तामस कहा गया है।

भाष्यदीपिका—यत् निद्रालस्यप्रमादोत्थम्—जो सुख निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद [कर्तव्य अर्थ के निश्चयके बिना केवल मनोराज्य मात्र में रहना प्रमाद है।] इन तीनों से उत्पन्न हुआ होता है तथा **अग्रे च अनुबन्धे च**—जो सुख आरम्भ में एवं परिणाम में भी (अर्थात् उपभोग के पीछे भी) **आत्मनः मोहनम्**—आत्मा को मोहित करनेवाला होता है। [अर्थात् जो सुख न तो सात्त्विक सुख के समान बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाला है और न तो राजस सुख के समान विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होनेवाला होता है परन्तु निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होकर उसके भोग के समय एवं भोग के पश्चात् भी आत्मा को (बुद्धि को) मोह में (उत्तरोत्तर अविवेक में) डाल देता है] **तत् तामसम् सुखम् उदाहृतम्**—वह सुख तामस कहा गया है। अतः इस प्रकार का तामस सुख भी सर्वथा परित्याज्य है, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अब तामस सुखको बताते हैं—यत् अग्रे-जो सुख पहले यानी प्रथम क्षण में अनुबन्धे च—और परिणाम में पीछे भी मोहनम् आत्मनः—आत्मा को मोहित करनेवाला है, तथा निद्रालस्यप्रमादोत्थम् सुखम्-निद्रा, आलस्य और प्रमाद (यानी कर्तव्य के विषय में निश्चय से रहित मनोराज्य) इन सबसे जो सुख उत्पन्न होता है, तत्तामसम् उदाहृतम्—वह सुख तामस कहा जाता है।

(२) शंकरानन्द—तामस सुख को कहते हैं अग्रे—पहले अपनी उत्पत्ति के समय में और अनुबन्धे च—परिणामकाल में यानी अन्त में भी आत्मनः—आत्मा के सत्यत्व और असत्यत्व के विवेक की हेतु बुद्धि का मोहनम्—मोहकारक यानी विवेक-शक्ति को ढकनेवाला निद्रालस्यप्रमादोत्थम्—निद्रा तथा आलस्य (बुद्धि की जड़ता) और प्रमाद (यानी बुद्धि की परवशता) इनसे उत्पन्न हुआ यत् सुखम्-जो सुख है तत् तामसम् उदाहृतम्—वह तामस है। तमोगुण से उत्पन्न होने के कारण तामस है, ऐसा ऋषियों ने कहा है, यही अर्थ है।

नारायणी टीका—तामस सुख के लक्षण इस प्रकार से हैं (१) जो सुख निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होता है (२) जो भोग के आरम्भ में अर्थात् भोग के समय में एवं अनुबन्ध में अर्थात् भोग के अवसान (समाप्ति) के पश्चात् भी आत्मा का (बुद्धि) मोहकारक होता है अर्थात् बुद्धिको मोह में (अविवेक में) डालकर पारमार्थिक सत्यवस्तु जो अखण्ड, अद्वय आत्मा है उसका अनुभव कभी करने नहीं देता है, वह सुख तामसिक कहा गया है। निद्रा का हेतु मोह है, यह तो सभी जानते हैं। निद्रा के भोग के समय कोई विवेकज्ञान होना सम्भव नहीं है एवं निद्रा से उत्थान होने पर बुद्धि की जड़ता रहने के कारण किसी प्रकार की विचारशक्ति का होना सम्भव नहीं होता है। अतः निद्रा से उत्पन्न हुआ सुख मोहात्मक है (अर्थात् मोह इसका स्वरूप है)। अतः आगे एवं पीछे यह आत्मा को (बुद्धि को) मोह में डाल देता है इन्द्रियों को व्यापारों की गति आलस्य से अतिशिथिल रहने के कारण ज्ञान की भी शिथिलता (मन्दगति) रहती है। अतः उससे उत्पन्न हुए सुख में जड़ भाव की अतिशयता रहने के कारण बुद्धि भी उससे मोहग्रस्त (विवेकहीन) होती है एवं अपने

कर्तव्य का निश्चय करने में असमर्थ होती है। इसे ही प्रमाद कहा जाता है। प्रमाद से जो सुख उत्पन्न होता है उसमें कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करने की सामर्थ्य न रहने के कारण केवल मनोराज्य की कल्पना से ही वह (सुख) उत्पन्न होता है। अतः इस प्रकार के सुख के भोग के समय तथा पश्चात् भी वह सुख बुद्धि को मोह के वशीभूत करके आत्मा को ज्ञान से विमुख कर देता है।

अतः मुमुक्षु को राजस एवं तामस सुख का सर्वतोभाव से परित्याग करके केवल सात्त्विक सुख का ही आश्रय लेना कर्तव्य है, ऐसा सूचित किया है।

क्रिया, कारक (कर्ता, कर्म, करण) इत्यादि एवं कर्मफल ये तीनों ही संसार के स्वरूप हैं। पूर्ववर्ती श्लोकों में सत्त्वादि गुण के भेद से उन तीनों के तीन प्रकार के भेद बताये गये हैं। अब शंका हो सकती है कि संसार में ऐसा भी कुछ हो सकता है जो कि सत्त्वादि तीनों गुणों से उत्पन्न नहीं हुआ है इस शंका का निवारण करने के लिए जो चल रहा है उसका (अर्थात् संसार के सभी सत्त्व, रजः तथा तमः, इन तीनों गुणों के द्वारा संयुक्त हैं इस प्रकार के प्रकरण का) उपसंहार करने के लिए कहा जाता है कि—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

अन्वय—पृथिव्याम् दिवि वा पुनः देवेषु वा तत् सत्त्वम् न अस्ति यत् एभिः प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः मुक्तम् स्यात्।

अनुवाद—पृथ्वी में अथवा स्वर्ग लोक में अथवा देवताओं में भी ऐसा कोई प्राणी या प्राण ही नहीं है जो इन प्रकृतिजनित (प्रकृति से उत्पन्न हुए) सत्त्वादि तीनों गुणों से मुक्त हो।

भाष्यदीपिका—पृथिव्याम्—पृथ्वी में (मनुष्यलोक में) **दिवि वा**—अथवा स्वर्ग में **पुनः देवेषु वा**—अथवा देवताओं में भी **तत् सत्त्वम् न अस्ति**—ऐसा कोई सत्त्व अर्थात् मनुष्यादि प्राणी या अन्य कोई भी वस्तु (स्थावर जंगम पदार्थ) नहीं है **यत्**—जो कि **एभिः प्रकृतिजैः**—इन प्रकृति से (जिस त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रकरण चल रहा है उससे उत्पन्न हुए **त्रिभिः गुणैः**—तीनों गुणों के द्वारा

मुक्तम् स्यात्—मुक्त अर्थात् परित्यक्त (रहित) हो 'न तदस्ति' (ऐसा कोई नहीं है) इस पूर्व के पद से इस वाक्य का सम्बन्ध है। [कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी लोक में एवं किसी भी काल में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से व्याप्त नहीं है गुणत्रय से मुक्त एकमात्र परमात्मा ही है उसके अतिरिक्त सभी गुणों के अधीन हैं।]

[मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रकृतिजैः गुणैः' इस पद की इस प्रकार से व्याख्या की सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। जब तक साम्यावस्था रहती है तब तक किसी गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः जगत् सृष्टि का भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए साक्षात् रूप से गुणसमूह प्रकृतिजा (प्रकृति से उत्पन्न) नहीं हैं क्योंकि वे प्रकृति रूप ही हैं। जब साम्यावस्था से वैषम्य अवस्था होती है तभी गुणों की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। अतः गुण के वैषम्य की अवस्था ही उपचार से उनकी उत्पत्ति है। अथवा प्रकृति माया को कहते हैं उससे होने वाले अर्थात् उससे कल्पित बन्धन के हेतुभूत इन सत्त्वादि तीनों गुणों से मुक्त (रहित) कोई सत्त्व (प्राणी अथवा अप्राणी-चेतन या (जड़ वस्तु) पृथ्वी में, स्वर्ग में तथा देवताओं में भी नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—जिनके तीन प्रकार नहीं कहे गये, उनका भी संग्रह करते हुए प्रकरण के अर्थ का उपसंहार करते हैं। **एभिः**—इन प्रकृतिजनित **त्रिभिर्गुणैर्मुक्तम्**—सत्त्व आदि तीनों गुणों से मुक्त (रहित) जो सत्त्व (प्राणिमात्र) अथवा अन्य कुछ भी ऐसा वह **पृथिव्याम्**—पृथ्वी पर (मनुष्य लोकादि में) **दिवि**—आकाश में **पुनः देवेषु वा**—और देवों में कहीं भी **न अस्ति**—नहीं है यह भाव है।

(२) **शंकरानन्द**—क्रिया, कारक और फल त्रिगुणात्मक है ऐसा विभाग करके प्रतिपादन कर अब अविभाग से सब त्रिगुणात्मक हैं ऐसा कहते हैं—**पृथिव्याम्**—पृथिवी में भूलोक में ('वा' शब्द से पाताल में) **दिवि वा**—दिवि में (स्वर्ग में) अथवा **देवेषु पुनः**—देवों में यानी ब्रह्मादि में। 'पुनः' शब्द 'वा' के अर्थ में है। **प्रकृतिजैः**—प्रकृतिज यानी प्रकृति से उत्पन्न हुए **त्रिभिः गुणैः**—इन उक्त लक्षण

वाले तीनों से (तीन प्रकार के सत्त्व आदि गुणों से) **मुक्तम् यत् स्यात्**—मुक्त (परित्यक्त अर्थात् अस्पृष्ट) कोई हो **तत् सत्त्वम् न अस्ति**—ऐसा सत्त्व (द्रव्य अथवा प्राणी) त्रिलोकी में नहीं है। त्रिगुणात्मक माया का कार्य होने से सब जगत् त्रिगुणात्मक ही है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणा टीका**—पूर्ववर्ती श्लोकों में क्रिया, कारक एवं फलों के सात्त्विक राजसिक एवं तामसिक भेद दिखाकर अब श्रीभगवान् प्रकरण का उपसंहार करते हैं। 'गुण' शब्द का अर्थ रज्जु या बन्धन। अतः जहाँ गुण एवं गुणों के कार्य हैं वहीं बन्धन का भी हेतु अवश्य होगा। गुणों की साम्यावस्था में किसी सृष्टि का सम्भव नहीं होता है क्योंकि सृष्टि के हेतुभूत गुणों की अभिव्यक्ति उस अवस्था में नहीं होती है। इस साम्यावस्था को ही प्रकृति या माया कहते हैं। उस समय माया (शक्ति) मायावी (शक्तिमान) के साथ अभिन्न (एक) होकर रहती है। परमात्मा को आश्रय करके जो अनिर्वचनीय कल्पना शक्ति (स्वभावरूप से) रहती है वही माया या प्रकृति है। कल्पनात्मक होने के कारण माया या प्रकृति की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः माया से अर्थात् माया से उत्पन्न हुए गुणों से अनन्त कार्यों की अभिव्यक्ति होने पर भी परमार्थ सत्यवस्तु जो शुद्धचैतन्य स्वरूप परमात्मा हैं उनकी अद्वैत सत्ता की हानि नहीं होती है। इस माया मे (कल्पना शक्ति में) जब स्वतः ही काम (वासना) प्रकट होता है तो सत्त्व, रजः एवं तमः, इन तीनों गुणों में विक्षोभ (वैषम्य) उत्पन्न होने पर विश्वप्रपंच की सृष्टि होती है। अतः प्रकृति या माया से उत्पन्न हुए तीन गुणों के द्वारा ही चराचर (चेतन, जड़) सभी सृष्ट पदार्थ व्याप्त रहते हैं अर्थात् पृथ्वी में (मनुष्यादि लोक में), स्वर्ग लोक में या देवताओं में भी जो कुछ वस्तु प्रतीत होती है उनमें से कोई भी इन गुणों से मुक्त (रहित) नहीं है। अतः क्रिया, कारक एवं फल-स्वरूप समस्त संसार त्रिगुणात्मक अर्थात् अविद्या परिकल्पित यानी मिथ्या ही है। जिसको आश्रय करके माया से उत्पन्न (कल्पित) हुए ये तीनों गुण सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कार्य कर रहे हैं, उस अधिष्ठान स्वरूप, नित्यशुद्धमुक्त, चैतन्यस्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिति लाभ करने पर ही इन तीनों गुणों के कार्य से मुक्त होना सम्भव है—अन्य कोई उपाय नहीं है, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है।

क्रिया, कारक और फल ही जिसका स्वरूप है ऐसा वह समस्त संसार सत्त्व, रजः और तमः–इन तीनों गुणों का ही विस्तार है। माय से (कल्पनाशक्ति से उत्पन्न होने के कारण) ये तीनों गुण एवं इनका कार्य संसार अविद्या से ही परिकल्पित है एवं अनर्थरूप है। इसलिए १५वें अध्याय में वृक्षरूप की कल्पना करके 'ऊर्ध्वमूलं' इत्यादि वाक्यों द्वारा मूलसहित संसार का वर्णन किया गया है, एवं साथ-साथ यह भी कहा गया है कि 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्' (गीता १५।४) अर्थात् उसको दृढ़ असङ्ग शस्त्र द्वारा छेदन करके उसके पश्चात् उस परम पद को खोजना चाहिए। [(१) संसार क्रिया, कारक आदि अनेकात्मक होने के कारण अशान्त है अतः हेय (त्याज्य) है (२) संसार त्रिगुणात्मक होने के कारण निर्गुण आत्मा से विलक्षण है अतः हेय है। (३) संसार अविद्या से परिकल्पित है अतः अवस्तु (मिथ्या) होते हुए भी स्वप्न दृश्य के समान अनर्थकर है, अतएव हेय है। इसलिए संसार का त्याग करके निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वितीय, केवल आनन्दस्वरूप परमात्मा प्राप्त न होने से परमशान्ति की सम्भावना नहीं है, यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।] अब शंका होती है कि समस्त संसार जब त्रिगुणात्मक है (प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों का ही कार्य है) एवं सांख्यमत के अनुसार प्रकृति जब नित्या है तब तो संसार के कारण की निवृत्ति न होने की सम्भावना होती है। इसलिए जिस उपाय से उसकी निवृत्ति हो उसे बतलाना चाहिए तथा सम्पूर्ण गीताशास्त्र का इस प्रकार से उपसंहार भी किया जाना चाहिए कि परमपुरुषार्थ की सिद्धि चाहनेवालों के द्वारा अनुष्ठान किये जाने योग्य यह इतना ही कर्म समस्त वेदों और श्रुतियों का अभिप्राय है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार विहित वर्णाश्रम-धर्म के अनुष्ठान के द्वारा परमेश्वर के परितोषित होने पर विषयवैराग्य के द्वारा तत्त्वज्ञानरूप असङ्ग शस्त्र प्राप्त होता है। वैराग्य से तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान का नाश होने पर अज्ञानकल्पित तीनों गुण तथा त्रिगुणात्मक संसार की निवृत्ति होती है यही गीता तथा समस्त वेद और स्मृतियों का अर्थ (तात्पर्य) है। अतः सम्पूर्ण गीताशास्त्र के अर्थ का (प्रतिपाद्य-विषय का) इसी प्रकार से उपसंहार भी किया जाना चाहिए जिससे कि परमपुरुषार्थ

(मोक्ष) कामी पुरुष अपने-अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान कर सकें। इस अभिप्राय से ही 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' इत्यादि श्लोक आरम्भ किए जाते हैं अर्थात् ब्राह्मणादि चारों वर्णों को जिस धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए उसका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

अन्वय—हे परंतप ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् शूद्राणाम् च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि।

अनुवाद—हे परंतप! (शत्रुनाशन) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म अलग-अलग सम्यक्‌रूप से विभक्त हैं—बँटे हुए हैं।

भाष्यदीपिका—हे परंतप—हे शत्रु को ताप देनेवाले अर्जुन! **ब्राह्मण-क्षत्रियविशाम् शूद्राणाम् च**—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों के और शूद्रों के भी [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों का एक साथ समासकरण इसलिए किया गया है कि वे द्विज होने के कारण (उपनयनसंस्कार विशिष्ट होने के कारण) उनके वेदाध्ययन आदि में समान अधिकार हैं तथा शूद्र का उस प्रकार से अधिकार न रहने के कारण अर्थात् शूद्रों के उपनयनसंस्कार तथा वेदाध्ययन में अधिकार न रहने के कारण शूद्रों को समास में अन्तर्भूत न कर पृथक्‌रूप से रखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के अतिरिक्त अन्य सभी मनुष्य एकमात्र शूद्र के अन्तर्गत हैं। इसलिए 'शूद्राणां' शब्द (शूद्र शब्द को) बहुवचन में कहा गया है।] **कर्माणि**—प्रत्येक के लिए कर्मसमूह अर्थात् ब्राह्मणादि प्रत्येक के लिए पृथक् पृथक् कर्म **प्रविभक्तानि**—प्रकृष्टरूप से विभक्त (व्यवस्थापित) किये हुए हैं अर्थात् परस्पर विभागपूर्वक निश्चित किए हुए हैं। प्रश्न होगा कि कर्मों की संकीर्णता (सीमा) नहीं है, अतः ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिए किसके द्वारा विभक्त हुए हैं अर्थात् उनके विभाग के व्यवस्थापक कौन हैं? इसके उत्तर में कहते हैं **स्वभावप्रभवैः गुणैः**—स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा। स्वभाव अर्थात् ईश्वर की प्रकृति (ईश्वर की माया), वह माया जिन गुणों के प्रभव का अर्थात्

उत्पत्ति का कारण है ऐसे स्वभावप्रभव (अर्थात् माया से उत्पन्न हुए) गुणों के द्वारा ब्राह्मण आदि के शम, दम आदि कर्म विभक्त किए गए हैं ।

अथवा यह समझना होगा कि ब्राह्मण के स्वभाव की उत्पत्ति का कारण सत्त्वगुण है एवं उसी प्रकार से क्षत्रियस्वभाव का कारण सत्त्वमिश्रित रजोगुण है, वैश्यस्वभाव का कारण तमोमिश्रित रजोगुण है और शूद्र स्वभाव का कारण रजोमिश्रित तमोगुण है क्योंकि उक्त चारों वर्णों में गुणों के अनुसार क्रमशः ब्राह्मण में शान्ति, क्षत्रिय में ऐश्वर्य, वैश्य में चेष्टा (कर्मप्रवृत्ति) और शूद्र में मूढ़ता–ये पृथक् पृथक् स्वभाव देखे जाते हैं । अथवा प्राणियों के जन्मान्तर में किए हुए संस्कार जो वर्तमान जन्म में अपने कार्य के अभिमुख होकर व्यक्त हुए हैं उनका नाम स्वभाव है । [पूर्व जन्म में कृत धर्म एवं अधर्मरूप कर्मों के संस्कार वर्तमान जन्म में अपना फल देने के लिए व्यक्त होते हैं । इस प्रकार से फल देने में उन्मुख (उद्यत) संस्कार को ही 'स्वभाव' कहा जाता है । अतः 'स्वभावप्रभवैः गुणैः' पद का अर्थ है–पूर्वजन्मार्जित धर्माधर्मसंस्काररूप स्वभाव से प्रभव (उत्पन्न हुए) गुणों के द्वारा । प्राणियों में भिन्न भिन्न गुण का प्रादुर्भाव (प्राधान्य) किसी विशेष कारण के बिना सम्भव नहीं होता है । अतः इसका स्वभाव (धर्माधर्मरूप संस्कार) ही कारण है ऐसी कल्पना युक्तियुक्त ही है । इस प्रकार स्वभाव के अनुसार ही उससे उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा अपना-अपना कार्य प्रकट होता है अर्थात् ब्राह्मण के लिए शम, दम आदि, क्षत्रिय के लिए शौर्य, तेज आदि, वैश्य के लिए कृषि, गौ रक्षा आदि में प्रवृत्ति एवं शूद्रों के लिए परिचर्या (सेवा) रूपी कर्मसमूह प्रकृष्टरूप से विभक्त हुए हैं ।]

शंका—ब्राह्मण आदि वर्णों के शम आदि कर्म तो शास्त्र द्वारा विभक्त हैं अर्थात् शास्त्र द्वारा निश्चित किये गये हैं, फिर यह कैसे कहा जाता है कि सत्त्वादि गुणों के द्वारा वे विभक्त किए गये हैं ?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि शास्त्र द्वारा भी ब्राह्मण आदि के शमादि कर्म गुणविशेष की अपेक्षा से ही विभक्त किए गये हैं—बिना गुणों की अपेक्षा से नहीं । अतः शास्त्र द्वारा विभक्त किए हुए कर्मसमूह गुणों के द्वारा विभक्त किए गये हैं, ऐसा कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यदि इस प्रकार सभी क्रिया, कारक और फल आदि तथा प्राणिसमुदाय त्रिगुणात्मक ही हैं तब इनकी मुक्ति कैसे होगी ? इस आशंका के उत्तर में अपने-अपने अधिकार के अनुसार विहित कर्मोंद्वारा परमेश्वर की आराधना करने पर उसकी कृपा से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा मुक्ति होती है—इस प्रकार से सम्पूर्ण गीता के प्रयोजन का सार संगृहीत करके प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अध्याय-समाप्ति के दूसरे प्रकरणका आरम्भ करते हैं—हे परंतप—हे शत्रुनाशन !

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च—ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म प्रकृतिरूप से (भली भाँति) विभागपूर्वक विहित किए गये हैं। यहाँ शूद्रों का समास से पृथक्करण इसलिए किया गया है कि उनमें द्विजातिका अभाव होने से विलक्षणता है। विभाग का उपलक्षण बताते हैं कि **कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः**—सात्त्विक आदि स्वभाव के जो प्रभाव हैं अर्थात् जिनसे यह स्वभाव उत्पन्न होता है, उन उपलक्षणभूत गुणों के द्वारा (अथवा पूर्वजन्मों का संस्कार रूप जो स्वभाव है उससे उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा) चारों वर्णों के कर्म भली-भाँति विभक्त किए हुए हैं। उनमें ब्राह्मण सत्त्वगुण प्रधान हैं, क्षत्रियों में सत्त्वगुणअल्पता तथा रजोगुण की प्रधानता है, वैश्यों में तमोगुण की अल्पता तथा रजोगुण की प्रधानता है और शूद्रों में तमोगुण कीप्रधानता है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार से सभी जगत् त्रिगुणात्मक है, ऐसा सिद्ध हो जाने पर तीनों गुणों का अतिक्रमण जिस पुरुष ने किया है उसकी ही मुक्ति होती है। गुणों का अतिक्रमण करने की इच्छा वाले मुमुक्षुके गुणातिक्रमण की सिद्धि का परम कारण ज्ञान है। उसकी सिद्धि का कारण सत्त्वशुद्धि है और सत्त्वशुद्धि का कारण कर्म ही है। अतः मुमुक्षुको उसी का वर्णाश्रम अनुकूल कर्मों का अवश्य ही अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार से सब वैदिक कर्मों की कर्तव्यता के प्राप्त होने पर जिन-जिन ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओं के लिए अपने-अपने गुणों के अनुसार जो-जो कर्म विभक्त हैं, उन-उनको उन-उन कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए, दूसरे कर्मों का नहीं, ऐसा नियम दिखाते हैं—**ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्**—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में जाति से विषमता होने पर भी उपनयन, अध्ययन, यजन

आदि कर्मों से और आश्रम से उनकी समता होने के कारण धर्मतः वे समान (बराबर) हैं अतः उनका समास करना विरुद्ध नहीं है **शूद्राणाम् च**—'शूद्राणां' यह पृथक्करण जाति से, धर्म से और क्रिया से विषमता होने के कारण विरुद्ध नहीं है। **कर्माणि**—इस प्रकार उन ब्राह्मण आदि के और शूद्रों के नियम से कर्तव्य कर्म **स्वभावप्रभवैः गुणैः**—स्वभाव से (प्रकृति से) उत्पन्न हुए सत्त्व आदि गुणों से **प्रविभक्तानि**—प्रविभक्त (प्रकर्ष से विभक्त) हैं। गुणवालों के गुणों के भेद से कर्म भी भिन्न भिन्न हैं यानी गुणों के द्वारा पृथक्रूप से व्यवस्थापित हैं, यह अर्थ है। अथवा **स्वभावप्रभवैः**—ब्राह्मण का स्वभाव केवल सत्वगुण से उत्पन्न है, क्षत्रियका स्वभाव सत्त्वमिश्रित रजोगुण से उत्पन्न है, वैश्य का स्वभाव रजोमिश्रित तमः से उत्पन्न है, शूद्र का स्वभाव केवल तमोगुण से उत्पन्न है। इस प्रकार **गुणैः प्रविभक्तानि**—सत्त्व आदि गुणों के भेद से उन-उन गुणवाले ब्राह्मण आदि के और शूद्रों के कर्तव्य कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। अथवा 'ब्राह्मण इसका मुख हुआ इस श्रुति द्वारा उक्त प्रकार से चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र 'पूर्वः पूर्वो जन्यतः श्रेयान्' अर्थात् पूर्व-पूर्व जन्म से श्रेष्ठ इस न्याय से **भव** ही भाव (जनन अर्थात् सृष्टि) है अतः स्वकीय भाव स्वभाव है। अथवा—अपना अपना भाव स्वभाव है। मुख, बाहु आदि से जनन है प्रभव (कारण) जिनका, उन **स्वभावप्रभवैः**—स्वजन्मनिमित्तक [अर्थात् अपने-अपने भाव (जनन) के प्रभव (कारण)] उत्तमत्त्व, मध्यमत्त्व, निकृष्टत्व और अतिनिकृष्टत्वरूप **गुणों से** उपलक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के नियम से जो कर्तव्य कर्म हैं, वे जन्मतः उत्कृष्टत्व आदि भेद से विभक्त हैं। शास्त्र ने विभाग करके उनका विधान किया है, यही कहने का तात्पर्य है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने पहले ही कहा है कि जो सभी कर्म (काम्यकर्म) त्याग देते हैं वे संन्यासी हैं और जो देह में आत्माभिमान रहने के कारण कर्मों का त्याग नहीं कर सकते हैं वे यदि अपने-अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान फल की वासना को त्याग करके करें तो उनको त्यागी कहा जाता है। किन्तु सभी कर्म जब त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् ज्ञान, कर्ता, बुद्धि, धैर्य, सुख इत्यादि पृथ्वी में स्वर्गलोक में या देवताओं में जो कुछ पदार्थ या भाव हैं वे जब सत्त्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों से मुक्त नहीं हैं अर्थात् आबद्ध हैं (अर्थात् जहाँ गुण है वहीं बन्धन का कारण

रहने के हेतु साध्य, साधन एवं साधक सभी जब त्रिगुण के वशीभूत है) तो इस त्रिगुणात्मक संसाररूप वृक्ष का उच्छेद करके मोक्षलाभ कैसे सम्भव हो सकता है, इसके उत्तर में भगवान् ने पहले ही इस प्रकार से कहा।

> सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
> निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४।५)

अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण अव्यय (विनाश-रहित) देही को देह में बद्ध करते हैं। देह की उत्पत्ति के बीजभूत इन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके देहधारी विद्वान् जन्म-मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) और दुःख से मुक्त होकर (मेरे भाव को प्राप्त होकर) अमृत का अनुभव करता है (गीता १४।२२)। इन गुणों को अतिक्रमण करने का सहज उपाय है भगवान् के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति (गीता १४।२६) किन्तु अव्यभिचारिणी भक्ति अपने अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन निष्काम होकर ईश्वर अर्पण बुद्धि से न करने पर कभी सम्भव नहीं होती है निष्काम कर्म से ही भगवान् (अन्तरात्मा) की प्रसन्नता उत्पन्न होती है एवं भगवान् में अतिशय प्रेम एवं विषय के प्रति वैराग्य उपस्थित होता है अर्थात् इसके विषय वैराग्य-रूपी असङ्गशस्त्र को प्राप्त होकर आत्मकल्याणकामी पुरुष संसार वृक्ष का छेदन करके परम पद को प्राप्त कर लेता है (गीता १५।३-४) इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम धर्म का निष्काम भाव से ठीक-ठीक पालन न करने पर चित्तशुद्धि के अभाव के कारण मोक्षमार्ग में किसी का अग्रसर होना सम्भव नहीं है। इस लिए पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्म कैसे एवं किसके द्वारा सम्यक् (पूर्णरूप से) विभक्त किये गये हैं उसको बताना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म रामायण में भी इसलिए कहा है—

> आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिता क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
> समाप्य तत्पूर्वमुपैति साधनं समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों के धर्म स्वभावप्रभव गुणों के द्वारा प्रकृष्टरूप से विभक्त हुए हैं। 'स्वभाव' शब्द का अर्थ है पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के

संस्कार जो चित्त में आहित (स्थापित) होकर इस जन्म के सर्व शुभ एवं अशुभ कर्मों के बिना आयास में (स्वतः ही) प्रवर्तक होते हैं अर्थात् कर्मों की प्रवृत्ति अनायास (बिना यत्न के) जिससे उत्पन्न होती है वही स्वभाव अर्थात् व्यष्टिरूप से जीव प्रकृति एवं समष्टिरूप से ईश्वरी माया कही जाती है। स्वभाव (प्रकृति या माया) त्रिगुणात्मक है। जब तक सत्त्व, रजः, तमः इन तीनो की—साम्यावस्था में प्रकृति (माया) ब्रह्म में लीन रहती है, पुरुष से (ब्रह्म) भी प्रकृति से पृथक् सा प्रतीत होती है एवं अर्थात् दोनों अभिन्न रहती हैं गुणों का विक्षोभ होने पर प्रकृत में वैषम्य उत्पन्न होता है एवं तब शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्माको पुरुष या (ब्रह्मको) अधिष्ठान करके उनके सान्निध्य में प्रकृति ही सृष्टि, स्थित, प्रलयरूपी कार्य करती रहती है। गुणों के वैषम्य के कारण ही सृष्टि में वैषम्य देखा जाता है एवं उसके कारण ही सब प्राणियों की शुभाशुभ कर्म में भिन्न-भिन्न रुचि देखी जाती है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जीव जैसे जैसे कर्म करते हैं अथवा वासना रखते हैं उन्हीं के अनुसार प्राणियों में पृथक् पृथक् संस्कार उत्पन्न होते हैं। यह संस्कार ही परवर्ती जन्म में भिन्न-भिन्न प्राणी का पृथक्-पृथक् स्वभाव (जीव प्रकृति) बन जाता है एवं उसी स्वभाव से ही फिर प्रत्येक प्राणी में सत्त्व, रजः, तमः इन तीनों गुणों के आधिक्य या अल्पता का प्रभव (उत्पत्ति) होता है। जिसमें सत्त्व गुण का आधिक्य होता है वह स्वतः शान्त, दान्त इत्यादि गुणसंपन्न होता है एवं वह ब्राह्मण पदवाच्य है अर्थात् उसको ब्राह्मण कहा जाता है। जिसमें सत्त्वगुण की दुर्बलता एवं रजोगुण का आधिक्य रहता है, वह सदा ही प्रभुत्व (ईश्वर भाव) से युक्त होने के कारण क्षत्रिय कहा जाता है। तमो गुणकी अल्पता तथा रजोगुण का आधिक्य जिसमें है वह सदा ही विषयकामनायुक्त होने के कारण नाना प्रकार से अर्थोपार्जन करने के लिए कर्म में प्रवृत्त रहता है एवं इस प्रकार के मनुष्यको वैश्य कहा जाता है और जिसमें रजोगुण की दुर्बलता तथा तमोगुण का आधिक्य रहता है वह मूढ़स्वभाव होने के कारण दासत्व ही उसको प्रिय है। इस प्रकार का पुरुष शूद्र है। अतः चारों वर्ण एवं चारों वर्णों के पृथक् पृथक् कर्म किसी दूसरे से निर्दिष्ट नहीं हुए हैं, वे अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए (अर्थात् पूर्वजन्मों के संस्कार से प्रादुर्भूत) गुणों के वैषम्य के कारण स्वतः ही निर्दिष्ट हुए हैं अर्थात् स्वभावजात गुण के

प्राधान्य एवं अल्पता के कारण भिन्न-भिन्न प्राणियों की भिन्न-भिन्न कर्मों में रुचि एवं प्रवृत्ति होती है। इस लिए भगवान् ने भी कहा है 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'। श्लोक में 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' पद में प्रथम तीन वर्ण द्विजन्मा होने के कारण समास करके एक साथ कहे गये हैं क्योंकि उन सबके वेदाध्ययन आदि धर्म तुल्य (समान) हैं। किन्तु शूद्रों में द्विजत्व का अभाव होने के कारण समास वाक्य से पृथक् कर उसका उल्लेख किया गया है। इसलिए वशिष्ठ कहते हैं—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं, इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण द्विजाति हैं। इसका पहला जन्म माता से होता है और दूसरा मौञ्जीबन्धन से (उपनयनसंस्कार से) होने के कारण उसको द्विज कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बिना और सभी शूद्र जाति के अन्तर्भूत हैं क्योंकि 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जातिरिति च गौतमः अर्थात् शूद्र चौथा वर्ण है एवं एक जाति है ऐसा गौतम जी का भी कथन है। इसलिए 'शूद्र' शब्द का बहुवचन से प्रयोग कर तीनों वर्णों के अतिरिक्त सब मनुष्य शूद्र ही हैं, ऐसा सूचित किया गया है। शूद्र से लेकर ब्राह्मण तक क्रम से एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। अपना-अपना धर्म ठीक-ठीक पालन करने से देहका त्याग करने के पश्चात् परवर्ती जन्म में सभी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकते हैं एवं ब्राह्मण भी कदाचारी होकर अपने धर्म का पालन न करने पर दूसरे जन्म में शूद्रयोनि या उससे नीची-योनि को भी प्राप्त होता है—यह महाभारत के अनुशासन पर्व में बारम्बार स्पष्ट किया गया है। यद्यपि शूद्र अत्यन्त सत्स्वभाव सम्पन्न एवं सदा ही शुभ कर्म में अनुरक्त होने पर कदाचारी, वर्णाश्रम—धर्महीन ब्राह्मण की अपेक्षा प्रशंसनीय है, ऐसा भी अनुशासन पर्व में कहा गया है तथापि जबतक पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न हुए शूद्र देह की स्थिति रहती है तब तक उसे ब्राह्मण नहीं कहा जाता है और न तो उसका वेदाध्ययन आदि में अधिकार उत्पन्न होता है। यदि वह अहंकार का आश्रय करके स्वधर्म को छोड़कर परधर्म को (ब्राह्मण आदि के धर्म को) ग्रहण करने में प्रयत्नशील हो तो परवर्ती जन्म में वह ब्राह्मणत्व आदि उच्चगति को प्राप्त न होकर उसे अधोगति ही प्राप्त होती है (गीता १६।२३-२४)।

महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है।

वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत्॥

अर्थात् यदि शूद्र के पास बाप दादों की दी हुई जीविका का कोई निश्चित साधन नहीं है तो वह दूसरी किसी वृत्ति का अवलंबन न करे। तीनों वर्णों की सेवा को ही जीविका के उपयोग में लाये (महा० भा० शान्तिपर्व २९३ अ०)।

परन्तु महाभारत शान्तिपर्व में यह भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो दूर की बात है अतिनीच शूद्रादिभी यदि पूर्वजन्मार्जित अति शुभ संस्कार से एवं इस जन्म में अपने वर्णधर्म का पालन करते हुए तत्त्वज्ञान का अधिकारी हो तो उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए......समस्त वर्ण ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं (गीता ३।१४–१५) अतः किसी वर्ण में यदि कोई आत्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त हो जाय तो वह यथार्थ ब्राह्मणपदवाच्य है। इसलिए सभी वर्णों का नित्यसत्य, आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानने में अधिकार है क्योंकि समस्त विश्व ही तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि में ब्रह्ममय ही है। मूढ़लोग इस वाक्य का उल्लेखकरके देहात्माभिमानी (देह-इन्द्रिय आदि में ही आत्मबुद्धि करने वाले) मूढ़ स्वभाव (पूर्वजन्मार्जित संस्कार) से उत्पन्न हुए गुणों के वशीभूत तथा असंख्य विषयावासनायुक्त शूद्र के लिए भी यदि उसके वर्णविहित कर्मको छुड़वाकर उच्च ब्राह्मण आदि के कर्म में उसे प्रवृत्त करें तो उनसे सर्वथा शास्त्र के तात्पर्यज्ञानहीन वेदविरोधी एवं सर्व लोगों के लिये अहितकर उपदेशक और कौन हो सकता है? तत्त्वज्ञान तथा भगवत् प्राप्तिरूप मोक्ष में सभी का समान अधिकार है क्योंकि जिसका तत्त्व जानने से (साक्षात्कार करने से) मोक्षरूप परमानन्द तथा परमशान्ति प्राप्ति हो सकती है, वह सभी प्राणियों का आत्मा है [अहं (मैं) इस पद का लक्ष्यार्थ शुद्धचैतन्य सत्ता है] अतः अपने घर में जाने के लिए जिस प्रकार से सबका समान अधिकार है उसी प्रकार से अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए सत्त्वादि गुण एवं उनके कार्य को अतिक्रमण करके आत्मस्वरूप में अर्थात् गुणातीत, निष्क्रिय तथा प्रकृति से परे आत्मा में सदा के लिए स्थित होने का अधिकार है। आत्मा में स्थितिलाभ करने पर उसके लिए स्वभावप्रभव गुणों का कोई अधिकार नहीं रहता है अर्थात् उनसे वह सर्व प्रकार से

मुक्त हो जाता है एवं उसकी दृष्टि में कोई भेदबुद्धि न रहने के कारण वह स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इसलिए महाभारत शान्तिपर्व में यही कहने का तात्पर्य है कि जो ब्रह्म को जानता है वह गुण-वर्ण-कर्म इत्यादि का अतिक्रमण कर यथार्थ ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होता है (बृह० उ० याज्ञवल्क्य गार्गिसंवाद द्रष्टव्य) उसके लिए कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता है (गीता ३ । १७) । अतः वर्णाश्रम धर्म का विधान उसके लिए नहीं है। किन्तु जबतक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती है तबतक अपने अपने वर्णाश्रम का श्रद्धापूर्वक पालन करना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

वे कर्म कौन कौन से हैं इसके उत्तर में कहते हैं। इनमें ब्राह्मण के स्वाभाविक गुणों द्वारा होनेवाले कर्मों का पहले वर्णन करते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—शमः, दमः, तपः, शौचम्, क्षान्तिः, आर्जवम् एव ज्ञानम् विज्ञानम् आस्तिक्यम् च स्वभावजम् ब्रह्मकर्म।

अनुवाद—शम, दम, तप, शौच, आर्जव (सरलता) ज्ञान, विज्ञान, और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

भाष्यदीपिका—शमः–अन्तःकरण की विषय से उपरति (उपशम) **दमः**–बाह्य इन्द्रियों की उपरति (इनके अर्थ की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है) **तपः**–शारीरिक आदि भेद से तीन प्रकार का तप जिसका 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' इत्यादि में वर्णन किया गया है (गीता १७।१९) ब्राह्मण का स्वाभाविक तप सात्त्विक ही होता है। **शौचम्**—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के शौच की व्याख्या भी पहले कही गई है (गीता १६।३) **क्षान्ति**–क्षमा [गाली दिए हुए अथवा पीटे हुए पुरुष को भी मन में विकार रहित रखना (इसकी पहले व्याख्या हो चुकी है।)] **आर्जवम्**—अकुटिलता अर्थात् अन्तःकरण की सरलता (यह भी पहले कही जा चुकी है) **ज्ञानम्**–अंगसहित वेद आदि शास्त्रीय विषय का ज्ञान **विज्ञानम्**—कर्मकाण्ड में कही हुई यज्ञादि कर्मों में कुशलता तथा ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव

आस्तिक्यम्—आस्तिकता अर्थात् शास्त्रों के वचनों में श्रद्धा और विश्वास (आस्तिकता सात्त्विकी श्रद्धा है यह पहले कहा जा चुका है।)

स्वभावजम् ब्रह्मकर्म—ये शमादि नौ गुण स्वभावज (सत्त्वगुणी स्वभाव से होनेवाले) ब्रह्मकर्म हैं (ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं) अर्थात् ब्राह्मण जाति के कर्म हैं। पूर्व श्लोक में स्वभावप्रभव (स्वभाव से उत्पन्न) गुणसमूहों के द्वारा ब्राह्मणादि में कर्मसमूह प्रकृष्टरूप से विभक्त हुए हैं, ऐसा कहा गया है। इस श्लोक में ब्राह्मण जाति के स्वभावप्रभव (स्वभावज अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न) होनेवाले कर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। [यद्यपि सात्त्विक अवस्था में तो ये चारों ही वर्णों के धर्म हो सकते हैं तो भी अधिकता से इनका ब्राह्मण में ही होना सम्भव है, क्योंकि वह सात्त्विक स्वभाववाला होता है। सत्त्वगुण की अधिकता होने पर तो किसी समय ये धर्म अन्य वर्णों में भी होते हैं, इसी से अन्य शास्त्रों में इन्हें **साधारण**—धर्मरूप से कहा है। जैसा कि विष्णु भगवान् कहते हैं–क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थसेवन, दया, सरलता, लोभहीनता, देवता और ब्राह्मणों का पूजन–ये सब प्रायः चारों वर्णों में तथा आश्रमों में भी **सामान्य**-हैं।

तथा बृहस्पतिजी कहते हैं–दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहत्व–ये सबके **साधारण**—धर्म हैं। कोई अन्य पुरुष हो अथवा अपना भाई, बन्धु तथा मित्र हो या द्वेष करनेवाला आपत्तिग्रस्त होने पर सर्वदा उसकी रक्षा करना—यह 'दया' कही गई है। किसी समय बाह्य या आन्तर दुःख उत्पन्न कर दिया जाय तो न तो कुपित हो और न आघात ही करे—यह 'क्षमा' कही गई है। जो गुणी के गुणों को आघात नहीं पहुँचाता, थोड़े गुण वालों की भी प्रशंसा करता है और दूसरों के दोष में सुख नहीं मानता–यह 'अनसूया' है। अभक्ष्य का त्याग, गुणहीनों का संसर्ग न करना और स्वधर्म में स्थित रहना–यह 'शौच' कहा गया है। अत्यन्त शुभ होने पर भी जिस कर्म से शरीर को पीड़ा हो उसे नहीं करना चाहिए—यह 'अनायास' कहलाता है। सर्वदा श्रेष्ठ आचरण करना और निन्द्य आचरण का त्याग करना—इसे तत्त्वदर्शी मुनियों ने मंगल कहा है। अपने पास थोड़ी वस्तु हो तो भी दीनता शून्य हृदय से उसमें से नित्य कुछ दे दिया जाय

इसे 'अकार्पण्य' कहा है। दूसरे के द्रव्य का चिन्तन न करते हुए, अपने को जो कुछ मिले उसी से संतोष कर लेना—यह 'अस्पृहा' कही गई है।

इन्हीं आठ को गौतम ने आत्मा के गुणरूप से कहा है। अब आत्मा के आठ गुण बताए जाते हैं—समस्त प्राणियों के प्रति दया, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य और अस्पृहा, तथा महाभारत में कहा है सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, लज्जा, क्षमा आर्जव, ज्ञान, शम, दया और ध्यान-यह सनातन धर्म है। सत्य प्राणियों के हित को कहा है, मन का दमन करना दम है, अपने धर्म में रहना तप है, संकरता का त्याग शौच है, विषय का त्याग सन्तोष है, न करने योग्य कर्म से दूर रहना लज्जा है, द्वन्द्व सहन का स्वभाव क्षमा है, समचित्तता आर्जव है, तत्त्व से वस्तु का सम्यक् बोध ज्ञान है, चित्त की अत्यन्त शान्ति शम है, प्राणियों का हितैषी होना दया है और मनका निर्विषय होना ध्यान है। देवल ऋषि कहते हैं—शौच, दान, तप, श्रद्धा, गुरुसेवा, क्षमा दया, विज्ञान, विनय और सत्य यह धर्म का संग्रह है, तथा व्रत और उपवासादि के नियमों से शरीर को सन्तप्त करना 'तप' है। धर्म के कार्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है, क्योंकि जो श्रद्धाहीन है उसे धर्मसम्बन्धी कृत्यों का प्रयोजन नहीं होता। तथा वैदिकी और लौकिकी सभी विद्याओं का जो धारण करना है वह 'विज्ञान' है, निरन्तर शम और दम रखना–यह दो प्रकार का विनय कहा गया है। शेष धर्मों की व्याख्या तो प्रायः हो चुकी है, इसलिए उनकी व्याख्या करने वाले महर्षि देवल के वचन नहीं लिखे। याज्ञवल्क्य जी कहते है—यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय—ये सब धर्मों के अंग होते हुए भी योग द्वारा जो आत्मा का साक्षात्कार करना है—यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है। यह सारी दैवीसम्पद्, जिसकी पहले व्याख्या हो चुकी है, ब्राह्मण में **स्वाभाविक रूप से** होती है और दूसरों में **निमित्तवश** होती है। इसलिए इनमें कोई विरोध नहीं है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—उनमें ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्मों को बताते हैं– **शमः**—चित्तकी उपरति, **दमः**—बाह्य इन्द्रियों की उपरति, **तपः**—पहले बताया हुआ शरीरादि सम्बन्धी तप, **शौचम्**—बाहर भीतर की पवित्रता **क्षान्तिः**—क्षमा **आर्जवम्**—सरलता **ज्ञानम्**—शास्त्रविषयक जानकारी, **विज्ञानम्**—अनुभवसिद्ध

जानकारी, **आस्तिक्यम्**—आस्तिकता (परलोक है यह निश्चय), **ब्रह्मकर्म स्वभावजम्**—यह शम आदि ब्राह्मण का स्वभावजनित कर्म है।

(२.) **शांकरानन्द**—उनके जातिनियम से विभक्त वे कर्म कौन हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—**शमः**—चित्त का उपरम अर्थात् दृष्ट एवं अदृष्ट सब विषयों में भोगेच्छाकी निःशेष निवृत्ति। **दमः**—इन्द्रियों का उपरम अर्थात् निषिद्ध अर्थों में अप्रवृत्ति। **तपः**—सत्रहवें अध्याय में कहा गया शरीर आदि तीन प्रकार का तप। **शौचः**—बाह्य और आन्तर की शुद्धि, असत्य भाषण और पराये अन्न के त्याग से मुख और जिह्वा की शुद्धि, प्रतिग्रह के त्याग से हाथ की शुद्धि, विहित ब्रह्मचर्य से कच्छ की शुद्धि, राग, द्वेष आदि दोषों के त्याग से मनकी शुद्धि, विहित के आचरण से क्रिया की शुद्धि, यों छः प्रकार का शौच। **क्षान्तिः**—क्षमा, (निन्दा, गालीप्रदान, ताड़न आदि होने पर भी चित्त में विकार का न होना)। **आर्जवम् एव च**—तीन प्रकार की सम्पूर्ण इन्द्रियों की एकरूपता **ज्ञानम्**—भलीभाँति पढ़े गये वेदशास्त्रों के पदवाक्य के अर्थ का ज्ञान **विज्ञानम्**—अनुष्ठान करने कराने में समर्थ निरंकुश शास्त्रार्थ के तत्त्व का निश्चय। **आस्तिक्यम्**—आस्तिकत्व अर्थात् यह अवश्य कर्तव्य है इससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं इस प्रकार कर्म में और कर्म के फल में श्रद्धा। 'च' कार शब्द नहीं कहे गये आचार्य, वेद और ईश्वर में भय और भक्ति के समुच्चय के लिए है। 'एव' कार ब्राह्मण मुमुक्षु का यही कर्तव्य कर्म है, ऐसा अवधारण (निश्चय) करने के लिए है। **स्वभावजम्**—केवल सत्त्वगुणात्मिका प्रकृति से अथवा मुख से जन्म प्राप्त **ब्राह्मणम्**—ब्राह्मण जाति के योग्य **कर्म**—यह कर्तव्य कर्म शास्त्र से विहित है, यह अर्थ है। यद्यपि तीन वर्णों के सब मुमुक्षुओं के लिए शम से लेकर आस्तिक्यतक कर्म मोक्ष का साधन होने से समान ही है, तो भी केवल सत्त्वप्रभव ब्राह्मणों का गुड़ के माधुर्य के समान निरुक्त कर्म स्वाभाविक और नियत है, इसके सिवा दूसरों का यत्न-साध्य है, ऐसा बोधन करने के लिए 'ब्राह्म कर्म' कहा गया है। इससे सूचित होता है कि ब्राह्मणों की ही सत्त्व की अधिकता होने से, शम आदि संपत्ति है और केवल शमादि से साध्य ज्ञान और उसके फल मोक्ष में अधिकार है, दूसरों का नहीं, इसलिए मोक्ष के सन्निकृष्ट ब्राह्मणजन्म को प्राप्त हुए पण्डितों को शीघ्र ही मोक्ष के लिए यत्न करना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—अब ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म बताते हैं। वे इस प्रकार के हैं (१) **शम**—मन का निग्रह अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से व्यतिरिक्त अन्य विषय की भावना न करना। तत्त्वज्ञान की इच्छा तीव्र होने पर भी यदि पूर्वसंस्कार के वशीभूत होकर मन चंचल होकर माला, चंदन, स्त्री इत्यादि विषय के प्रति चलना शुरू करे तो जिस चित्तवृत्ति के द्वारा मनको विषय से निवृत्त कर आत्मा में स्थित किया जाय, वह शम कहा जाता है। (२) **दम**—बाह्य इन्द्रियों को (पंच कर्मेन्द्रियों एवं पंच ज्ञानेन्द्रियों को) जिस चित्तवृत्ति के द्वारा विषय से निवृत्त कर आत्मा के श्रवण मनन आदि व्यापार में नियुक्त किया जाता है, उसका नाम दम है (अर्थात् विषय से इन्द्रियों का निग्रह दम है) (३) **तप**—देवलऋषि के मत में व्रत उपवास आदि के द्वारा शरीर के पीड़न को तप कहा गया है किन्तु इस प्रकार पीड़न, अत्यधिक न होकर अनायास होना चाहिए क्योंकि देह इन्द्रियों का संयम ही तप का उद्देश्य है। इस प्रकार तप से भोगवासना का संकोच (संयम) तथा क्षुधा-पिपासा, शीत उष्णादि रूप द्वन्द्वों की सहनशक्ति की वृद्धि होती है। महर्षि व्यास के मत में 'स्वधर्मवर्तित्वं तपः' अर्थात् स्वधर्म में निष्ठा (स्थिति) ही तप है। गीता में शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तप का सात्त्विक आदि भेद से वर्णन १७।२४–१९ श्लोकों में किया गया है। (४) **शौच**—मिट्टी, जल आदि द्वारा देह को परिष्कृष्ट रखना तथा हितकर परिमित आहार करना-इन दोनों को **बाह्य**—शौच कहा जाता है। प्राणायाम अथवा मैत्री करुणामुदिता–उपेक्षा की भावना द्वारा चित्त के राग द्वेषादि मल को क्षालन (धोना) को **आभ्यन्तर–शौच** कहा जाता है (५) **क्षान्ति**–बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्। न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥ (बृहस्पति) विकार के हेतु रहने पर भी जिस वृत्ति के द्वारा क्रोधादि का निरोध किया जाता है, ऐसा कि मनोविकार भी उत्पन्न नहीं होता है, उसका नाम क्षमा है (६) **आर्जव**—सरलता (अकुटिलता) अर्थात् दूसरे के पास मन के अनुरूप बाह्यचेष्टा का प्रकाशन (७) **ज्ञान**—शास्त्राध्ययन से उत्पन्न हुआ परोक्षज्ञान (८) **विज्ञान**—वेद के कर्म काण्ड के अन्तर्गत यज्ञादि के साधन कौशल एवं ज्ञान काण्ड में कहे हुए ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का अनुभव करने की शक्ति

(९) **आस्तिक्य**—भगवान् सत्य, शास्त्र सत्य इत्यादि का निश्चय एवं तद्विषय में श्रद्धा और विश्वास। ये नव गुण यद्यपि चारों वर्णों को ही सात्त्विक अवस्था में उत्पन्न होते हैं तथापि वे ब्राह्मण जाति के स्वाभाविक धर्म हैं अर्थात् पूर्व जन्मों की जो सुकृति के फल से ब्राह्मण शरीर प्राप्त हुआ है उस शुभसंस्कार के बल से ब्राह्मण देहधारी जीव में ये सब कर्म स्वतः ही प्रकट होते हैं। उक्त नौ लक्षण सात्त्विक गुण के कार्य हैं, अतः सात्त्विक भावयुक्त ही ये सब **स्वाभाविक**—धर्म है एवं यदि वे दूसरी जाति में भी प्रकट हों तो वे उनके लिए **नैमित्तिक**—हैं। अपने से जो कुछ उत्पन्न होता है (जैसे पक्षी के उड़ने का स्वभाव) एवं जिसके लिए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है उसको 'स्वभावज' कहा जाता है।

अब क्षत्रिय के गुण और स्वभावज कर्म बताते हैं—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

अन्वय—शौर्यम् तेजः धृतिः दाक्ष्यम् युद्धे च अपि अपलायनम् दानम् ईश्वर-भावः च स्वभावजम् क्षात्रं कर्म।

अनुवाद—शूरवीरता, तेज, कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वर-भाव (शासकत्व), ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

भाष्यदीपिका—**शौर्यम्**—शूरवीरता (विक्रम-अपने से अधिक बलवान् पर भी प्रहार करने की प्रवृत्ति) **तेजः**—प्रगल्भता अर्थात् दूसरे से न दबने का स्वभाव **धृतिः**–धारणाशक्ति–जिस शक्ति से उत्साहित हुए मनुष्य का सभी अवस्था में अवसाद, शैथिल्य या शोक का अभाव होता है [महान् विपत्ति में भी जिस वृत्ति के द्वारा देह और इन्द्रियादि के संघात का शैथिल्य (अवसाद) नहीं होता है, वह चित्तवृत्ति धृति कही जाती है। (मधुसूदन)] **दाक्ष्यम्**—दक्षता अर्थात् सहसा प्राप्त हुए कार्य में बिना घबराहट के प्रवृत्त होने का स्वभाव **युद्धे च अपि अपलायनम्**—युद्ध से न भागना अर्थात् शत्रु को पीठ न दिखाना **दानम्**—देने योग्य पदार्थ का खुले हाथ देने का स्वभाव [बिना संकोच के अपना स्वामित्व छोड़कर दूसरे का स्वामित्व कर देना

(मधुसूदन)] **ईश्वरभावः च**—जिनका शासन करना है उनके प्रति प्रभुत्व (शासन-शक्ति को) प्रकट करना भी **स्वभावजं क्षात्रकर्म**—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं अर्थात् क्षात्रिय जाति के लिए विहित कर्म हैं। [ये सब क्षत्रिय के स्वभावज हैं अर्थात् सत्त्वगुण की गौणता (अल्पता) युक्त प्रबल रजोगुणी स्वभाव से होनेवाले क्षात्र-कर्म (क्षत्रिय जाति के विहित कर्म) हैं। (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों को बताते हैं—**शौर्यम्**—पराक्रम **तेजः**—प्रगल्भता–निर्भयता **धृतिः**—धैर्य, **दाक्ष्यम्**—दक्षता कुशलता (चातुरी) **युद्धे चाप्यपलायनम्**—युद्ध में भी पलायन न करना-विमुख न होना (पीठ न दिखाना) **दानम्** उदारता **ईश्वरभावः च**—तथा शासनशक्ति **क्षात्रम् कर्म स्वभावजम्**—यह क्षत्रिय का स्वभावजनित कर्म है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार ब्राह्म (ब्राह्मण के) कर्म को कहकर क्षात्र कर्म को कहते हैं–'शौर्यम' इत्यादि से–**शौर्यम्**—शूर का भाव शौर्य या पराक्रम है यानी वीरों का भी संहार करने की सामर्थ्य। **तेजः**—प्रागल्भ्य यानी बलवान से भी अभिभूत न होना। **धृतिः**—विपत्ति में चित्त विकल न होना अर्थात् धैर्य। **दाक्ष्यम्**—दक्ष का भाव दाक्ष्य अर्थात् सैकड़ों प्रतिकूलताएँ उपस्थित होनेपर भी अपने कार्य का निर्वाह करने की सामर्थ्य। **युद्धे च अपि अपलायनम्**—युद्ध में अपलायन यानी प्राणान्त की सम्भावना होनेपर भी मुख न मोड़ना। **दानम्**—सत्पात्रों को धन देना **ईश्वरभावः च**—ऐश्वर्य अर्थात् प्रभाव के अतिशय से सबको नियन्त्रण में रखना (धर्म से प्रजा का पालन करना), यह अर्थ है। 'च'कार और 'अपि' शब्द उक्त सभी क्षत्रिय धर्म के समुच्चय के लिए हैं। क्षात्रम् कर्म **स्वभावजम्**—शौर्य से लेकर ऐश्वर्यतक सब कर्म क्षत्रिय के स्वभाव से उत्पन्न हैं अर्थात् सत्त्वमिश्रित रजोगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुए क्षात्र (क्षत्रिय जाति के योग्य) कर्तव्य (कर्म) शास्त्र से विहित हैं।

(३) **नारायणी टीका**—क्षत्रिय के स्वभावज कर्म इस प्रकार हैं (१) **शौर्य**—शूरत्व (अर्थात् अपने से अधिक बलवान् पर भी प्रहार करने का पराक्रम) (२) **तेज**—दूसरे से न दबना (३) **धृति**—अत्यन्त विपत्ति उपस्थित होनेपर भी जो कर्म का आरम्भ किया गया है उसकी समाप्ति न होने तक देह तथा इन्द्रिय का अवसाद

(शिथिलता) न होना (अर्थात् शिथिल न पड़ना) (४) दक्षता—अकस्मात् कोई कार्य उपस्थित होनेपर बिना हिचकिचाहट के कौशलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होना (५) **युद्ध में अपलायन**—मृत्यु निश्चित है ऐसा जानकर भी शत्रु को पीठ न दिखाना (६) **दान**—बिना संकोच के द्रव्यादि में ममत्वबुद्धि का त्याग करके मुक्त हस्त से दूसरे को दे देना । (७) **ईश्वरभाव**—अर्थात् शासन के योग्य व्यक्तियों पर अपनी शासनशक्ति को (प्रभुत्व को) प्रकट करना अर्थात् शिष्ट का पालन एवं दुरात्माओं का दमन करने की शक्ति । ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं अर्थात् पूर्व जन्म के संस्कार के कारण सत्त्वगुण की गौणता तथा रजोगुण की प्रबलता से युक्त होकर क्षत्रिय देह प्राप्त हुई है । उस संस्कार से उक्त शौर्यादि उत्पन्न होने के कारण ये सब क्षत्रिय जाति के लिए स्वभावसिद्ध कर्म हैं एवं शास्त्र में भी ये सब क्षत्रिय के लिए कर्तव्य रूप से विहित किए गये हैं ।

अब वैश्य एवं शूद्र के स्वाभाविक कर्म बताते हैं—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम् स्वभावजम् वैश्यकर्म, शूद्रस्य अपि परिचर्यात्मकम् स्वभावजम् कर्म ।

अनुवाद—कृषि (खेती) गौरक्ष्य (गोपालन) एवं वाणिज्य ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म सेवा है ।

भाष्यदीपिका—**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्**-कृषि अर्थात् अन्न की उत्पत्ति के लिए भूमि का कर्षण (धरती जोतना), गौरक्ष्य [गौ की रक्षा करनेवाला गौरक्ष है अर्थात् गौरक्षा का भाव गौरक्ष्य है अर्थात् पशुपालन], **वाणिज्यम्**—वैश्य का खरीदना-बेचनारूप कर्म [कुसीद (ब्याज) लेना भी] वैश्य के भी कर्म के अन्तर्गत कर लेना चाहिए (मधुसूदन)] **स्वभावजम् वैश्यकर्म**—ये तीनों वैश्य जाति के स्वाभाविक (अर्थात् तमोगुण की गौणता एवं रजोगुण की प्रबलता से उत्पन्न हुए स्वभाव के) कर्म हैं । **शूद्रस्य अपि**—ऐसा ही शूद्र का भी **परिचर्यात्मकम् कर्म**—

द्विजाति की सेवारूप कर्म **स्वभावजम्**—स्वाभाविक है अर्थात् रजोगुण की गौणता एवं तमोगुण की प्रबलता से उत्पन्न हुए शूद्रस्वभाव का कर्म है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[वैश्य और शूद्रों के कर्म बताते हैं–**कृषिः**—पृथ्वी का कर्षण करना (उसे जोतना), **गौरक्ष्यम्**—जो गो की रक्षा करता है, वह गोरक्ष है, उसका भाव गौरक्ष्य है। गौरक्ष्य का अर्थ है पशुओं का पालन करना और **वाणिज्यम्**—खरीद बिक्री आदि रूप वाणिज्य, यह **वैश्यकर्म स्वभावजम्**—वैश्य का स्वभावजनित कर्म है। **परिचर्यात्मकम् कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**—तीनों वर्णों की सेवा करना–यह शूद्र का भी स्वभावजनित कर्म है।

(२) **शंकरानन्द**—वैश्य और शूद्रों के कर्म को कहते हैं—**कृषिः**—कर्षण, **गौरक्ष्यम्**—(जो गाय रखता है, वह गोरक्ष है, उसका भाव गौरक्ष्य) यानी पशुपालन और **वाणिज्यम्**—(वणिक का कर्म वाणिज्य) क्रयविक्रय **वैश्यकर्म स्वभावजम्**–यों तीन प्रकार का कर्म स्वभावज (रजोमिश्रित तमोरूप प्रकृति से अथवा उरूओं से उत्पत्ति से ही प्राप्त) वैश्य (वैश्य जाति के योग्य) कर्तव्य कर्म है अर्थात् शास्त्र से विहित है **परिचर्यात्मकम् कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**—परिचर्यात्मक तीनों वर्णों की शुश्रूषा रूप कर्म स्वभावज (केवल तमोरूप प्रकृति से अथवा पैरों से जन्म से प्राप्त हुआ) शूद्र का कर्तव्य कर्म है। 'शुश्रूषा करना शूद्र का धर्म है' ऐसा शास्त्र में कहा गया है 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के नियम से कर्तव्य कर्मों को कहूँगा' ऐसा उपक्रम करके 'शमो दमः' इससे और 'शौर्यं तेजः' इससे प्राकृत धर्म का ही आप उपदेश देते हैं, नियम से कर्तव्य वैदिक कर्म का, जिसके करने से ईश्वर प्रसन्न होता है, उपदेश नहीं देते। शम, शौर्य, कृषि आदि कर्म से ईश्वर प्रसन्न नहीं होता, अतः कैसे इस विपरीत कर्म का उपदेश देते हैं, ऐसा यदि कहो, तो ठीक है, यद्यपि शम आदि और शौर्य आदि कर्म संध्या आदि के समान अनुष्ठेय नहीं हैं और ईश्वर की प्रीति के लिए भी नहीं हैं, तो भी 'अहरहः संध्यामुपासीत' (अर्थात् प्रतिदिन संध्या करे) 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति' (अर्थात् सायं और प्रातः अग्निहोत्र करे) 'यज्ञोऽध्ययनं दानं इति' (अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान) इससे तथा 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या' (अर्थात् द्विजातियों का अध्ययन, इज्यादान इत्यादि से) ब्राह्मण आदि का नियम से नित्य

कर्तव्यकर्म जैसे शास्त्र से ही कहा गया है वैसे ही 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति' (अर्थात् शम से शान्त पुरुष भला आचरण करते हैं) 'दमेन दान्ताः किल्विषमेव-घ्नन्ति' (अर्थात् दम से दान्त पुरुष पाप को नष्ट करते हैं) 'तपसा किल्विषं हन्ति' (अर्थात् तप से पाप को नष्ट करता है) 'राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्' (अर्थात् राजा का अधिक (श्रेष्ठ) कर्म है सबभूतों का रक्षण) 'न्याय्यदण्डत्वम्' (अर्थात् न्यायानुसार दण्ड देना) 'बिभृयाद् ब्राह्मणाञ्श्रोत्रियान्' (अर्थात् श्रोत्रिय ब्राह्मणों को भरण पोषण करना चाहिए) 'संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च' (अर्थात् संग्राम में स्थिति और अनिवृत्ति) 'कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते', 'कुसीदं च' इति (अर्थात् अपने द्वारा या दूसरों के द्वारा कृषि और वाणिज्य तथा कुसीदवृत्ति) 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जातिः' (अर्थात् शूद्र चौथा वर्ण एक जाति है) 'तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् (अर्थात् उसका भी सत्य, अक्रोध कर्म है) और 'परिचर्या चोत्तरेषाम्' (अर्थात् ब्राह्मण आदि की परिचर्या शूद्र का कर्म है। इत्यादि से ये भी कर्म अनुष्ठेयरूप से शास्त्र से कहे गये हैं किन्तु यहाँ इतना विशेष है—ब्राह्मण आदि का सन्ध्या-उपासना, अग्निहोत्र आदि अविभक्त (साधारण) वर्णाश्रम धर्म है। शम, शौर्य, कृषि आदि तो प्रत्येक का विभक्त जाति धर्म है, इसलिए जाति, वर्ण और आश्रम निमित्तक ये दोनों धर्म नित्य श्रौत-स्मार्त कर्म के समान प्रधान ही हैं, उन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। दोनों भी शास्त्र से नियत होने के कारण मुमुक्षुओं के नियम से अनुष्ठान करने योग्य ही हैं। यहाँ कुछ भी विपरीत ग्रहण करने के लिए अथवा बोधन करने के लिए नहीं है। इसलिए जाति धर्म में नियम से वर्तमान ब्राह्मण आदि को अपने-अपने वर्णाश्रम के योग्य वैदिक कर्मों का नित्य अनुष्ठान करना चाहिए, अर्थात् उनका त्याग नहीं चाहिए। प्रधान कर्म के एक देश के अनुष्ठान से पूर्णता न होने के कारण उसका फल सिद्ध नहीं होता। जैसे श्रौत और स्मार्त कर्मों में एक का अनुष्ठान करने से संस्कार साकल्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही प्रकृति में (जिस विषय का प्रकरण चल रहा है उसमें) भी समझना चाहिए। इसलिए शम आदि, शौर्य आदि स्वधर्म में सर्वदा वर्तमान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का नियम से अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—वैश्य एवं शूद्र के स्वभावज कर्मों का लक्षण बताते हैं। पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार से जब रजोगुण प्रधान (प्रबल) होता है एवं तमोगुण अप्रधान (गौण) रूप से उस रजोगुण के साथ मिश्रित होता है, तो वैश्य जाती में जन्म प्राप्त होकर जीव की कृषि (भूमि को जोतकर अन्न का उत्पादन करने) में, गोरक्ष्य में (गोपालन एवं गव्यादि की वृद्धि में) वाणिज्य में (द्रव्यादि के क्रय-विक्रय एवं ब्याज से धन संग्रह करने में) स्वतः ही प्रवृत्ति होती है। इसलिए ये तीनों कर्म वैश्य के स्वभाव से जात (विहित) होने के कारण वैश्य जाति के लिए ये स्वाभाविक कर्म होते हैं। उसी प्रकार पूर्व जन्मकृत कर्मों के संस्कार से (स्वभाव) यदि तमोगुण प्रधान (प्रबल) एवं रजोगुण अप्रधान (गौण) रूप से रहता है तो उन मिश्रित गुणों से शूद्र जाति में जन्म प्राप्त होता है एवं स्वभावतः (स्वतः) उसकी परिचर्यात्मक कर्म में [द्विजाति की सेवा (शुश्रूषा) रूप कर्म में] प्रवृत्ति होती है। इसलिए सेवा-शुश्रूषा शूद्र के स्वभावजात (स्वभाव से विहित) कर्म हैं।

सभी जीव तीन गुणों के वशीभूत हैं। इन तीनों गुणों को माया कहा जाता है एवं यही संसारबन्धन का कारण है। प्रश्न हो सकता है कि यदि सभी मनुष्य को गुणों के वशीभूत होकर कर्म करना पड़ता है तो मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? इसके उत्तर में भगवान् ने ४० से लेकर ४४ तक के श्लोकों में चारों वर्णों का स्वाभाविक कर्म या धर्म पृथक् करके बतलाया। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के कर्म अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक्-पृथक् रूप से विभक्त हुए हैं। अतः इनके कर्मों के विभाग स्वभावज हैं अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार से (स्वभाव से) सत्त्व, रजः तथा तमोगुण से तारतम्य (कमीवेशी) अर्थात् प्रधानता-गौणता से उत्पन्न होते हैं अर्थात् उसके अनुसार ही जीव के जन्म एवं स्वाभाविक कर्म के विभाग होते हैं। अतः उसके द्वारा ही भिन्न प्रकार के कर्म में प्रवृत्ति या रुचि दिखाई पड़ती है। गुण एवं गुणों से विभक्त हुए कर्म संसारबन्धन का (जन्म-मरण का) कारण होने पर भी अपने-अपने स्वभावज कर्म का अनुष्ठान निष्काम भाव से (ईश्वरार्पण बुद्धि से) करने पर चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि से विवेक-वैराग्य के उत्पन्न होने पर उससे तत्त्वज्ञान का साक्षात् अनुभव होने पर गुण एवं कर्मों का बन्धन मूल अविद्या के साथ छिन्न हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त

कर्तव्यकर्म जैसे शास्त्र से ही कहा गया है वैसे ही 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति' (अर्थात् शम से शान्त पुरुष भला आचरण करते हैं) 'दमेन दान्ताः किल्बिषमेवघ्नन्ति' (अर्थात् दम से दान्त पुरुष पाप को नष्ट करते हैं) 'तपसा किल्विषं हन्ति' (अर्थात् तप से पाप को नष्ट करता है) 'राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्' (अर्थात् राजा का अधिक (श्रेष्ठ) कर्म है सबभूतों का रक्षण) 'न्याय्यदण्डत्वम्' (अर्थात् न्यायानुसार दण्ड देना) 'विभृयाद् ब्राह्मणाञ्श्रोत्रियान्' (अर्थात् श्रोत्रिय ब्राह्मणों को भरण पोषण करना चाहिए) 'संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च' (अर्थात् संग्राम में स्थिति और अनिवृत्ति) 'कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते', 'कुसीदं च' इति (अर्थात् अपने द्वारा या दूसरों के द्वारा कृषि और वाणिज्य तथा कुसीदवृत्ति) 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जातिः' (अर्थात् शूद्र चौथा वर्ण एक जाति है) 'तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् (अर्थात् उसका भी सत्य, अक्रोध कर्म है) और 'परिचर्या चोत्तरेषाम्' (अर्थात् ब्राह्मण आदि की परिचर्या शूद्र का कर्म हैं। इत्यादि से ये भी कर्म अनुष्ठेयरूप से शास्त्र से कहे गये हैं किन्तु यहाँ इतना विशेष है—ब्राह्मण आदि का सन्ध्या-उपासना, अग्निहोत्र आदि अविभक्त (साधारण) वर्णाश्रम धर्म है। शम, शौर्य, कृषि आदि तो प्रत्येक का विभक्त जाति धर्म है, इसलिए जाति, वर्ण और आश्रम निमित्तक ये दोनों धर्म नित्य श्रौत-स्मार्त कर्म के समान प्रधान ही हैं, उन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। दोनों भी शास्त्र से नियत होने के कारण मुमुक्षुओं के नियम से अनुष्ठान करने योग्य ही हैं। यहाँ कुछ भी विपरीत ग्रहण करने के लिए अथवा शोधन करने के लिए नहीं है। इसलिए जाति धर्म में नियम से वर्तमान ब्राह्मण आदि को अपने-अपने वर्णाश्रम के योग्य वैदिक कर्मों का नित्य अनुष्ठान करना चाहिए, अर्थात् उनका त्याग नहीं चाहिए। प्रधान कर्म के एक देश के अनुष्ठान से पूर्णता न होने के कारण उसका फल सिद्ध नहीं होता। जैसे श्रौत और स्मार्त कर्मों में एक का अनुष्ठान करने से संस्कार साकल्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही प्रकृति में (जिस विषय का प्रकरण चल रहा है उसमें) भी समझना चाहिए। इसलिए शम आदि, शौर्य आदि स्वधर्म में सर्वदा वर्तमान ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का नियम से अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—वैश्य एवं शूद्र के स्वभावज कर्मों का लक्षण बताते हैं। पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार से जब रजोगुण प्रधान (प्रबल) होता है एवं तमोगुण अप्रधान (गौण) रूप से उस रजोगुण के साथ मिश्रित होता है, तो वैश्य जाती में जन्म प्राप्त होकर जीव की कृषि (भूमि को जोतकर अन्न का उत्पादन करने) में, गौरक्ष्य में (गौपालन एवं गव्यादि की वृद्धि में) वाणिज्य में (द्रव्यादि के क्रय-विक्रय एवं ब्याज से धन संग्रह करने में) स्वतः ही प्रवृत्ति होती है। इसलिए ये तीनों कर्म वैश्य के स्वभाव से जात (विहित) होने के कारण वैश्य जाति के लिए ये स्वाभाविक कर्म होते हैं। उसी प्रकार पूर्व जन्मकृत कर्मों के संस्कार से (स्वभाव) यदि तमोगुण प्रधान (प्रबल) एवं रजोगुण अप्रधान (गौण) रूप से रहता है तो उन मिश्रित गुणों से शूद्र जाति में जन्म प्राप्त होता है एवं स्वभावतः (स्वतः) उसकी परिचर्यात्मक कर्म में [द्विजाति की सेवा (शुश्रूषा) रूप कर्म में] प्रवृत्ति होती है। इसलिए सेवा-शुश्रूषा शूद्र के स्वभावजात (स्वभाव से विहित) कर्म हैं।

सभी जीव तीन गुणों के वशीभूत हैं। इन तीनों गुणों को माया कहा जाता है एवं यही संसारबन्धन का कारण है। प्रश्न हो सकता है कि यदि सभी मनुष्य को गुणों के वशीभूत होकर कर्म करना पड़ता है तो मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? इसके उत्तर में भगवान् ने ४० से लेकर ४४ तक के श्लोकों में चारों वर्णों का स्वाभाविक कर्म या धर्म पृथक् करके बतलाया। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के कर्म अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक्-पृथक् रूप से विभक्त हुए हैं। अतः इनके कर्मों के विभाग स्वभावज हैं अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार से (स्वभाव से) सत्त्व, रजः तथा तमोगुण से तारतम्य (कमीवेशी) अर्थात् प्रधानता-गौणता से उत्पन्न होते हैं अर्थात् उसके अनुसार ही जीव के जन्म एवं स्वाभाविक कर्म के विभाग होते हैं। अतः उसके द्वारा ही भिन्न प्रकार के कर्म में प्रवृत्ति या रुचि दिखाई पड़ती है। गुण एवं गुणों से विभक्त हुए कर्म संसारबन्धन का (जन्म-मरण का) कारण होने पर भी अपने-अपने स्वभावज कर्म का अनुष्ठान निष्काम भाव से (ईश्वरार्पण बुद्धि से) करने पर चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि से विवेक-वैराग्य के उत्पन्न होने पर उससे तत्त्वज्ञान का साक्षात् अनुभव होने पर गुण एवं कर्मों का बन्धन मूल अविद्या के साथ छिन्न हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त

होता है अतः अपने-अपने स्वभावज कर्म अवश्य करने चाहिए, इसे सूचित करने के लिए चारों वर्णों का स्वभावज कर्म ४० से ४४ श्लोकों तक वर्णित किया गया है।

पूर्वोक्त शम दमादि से लेकर परिचर्या तक चारों जाति के उद्देश्य से जो जो कर्म कहे गये हैं उनका कामनासहित भली प्रकार अनुष्ठान किए जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति-रूप स्वाभाविक फल होता है क्योंकि आपस्तम्ब स्मृति में इस प्रकार कहा गया है—वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (आ० स्मृ० २।२।२।३) अर्थात् 'अपने कर्मों में तत्पर हुए वर्णाश्रमावलम्बी मरकर परलोक में कर्मों का फल भोगकर बचे हुए कर्म फल के अनुसार श्रेष्ठ देश, काल, जाति, कुल, धर्म, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा, आदि से युक्त होकर जन्म ग्रहण करते हैं'। और पुराणों में भी वर्णा-श्रमियों के लिए अलग-अलग लोक-प्राप्तिरूप फलभेद बतलाया गया है। पुराण में भिन्न-भिन्न वर्णाश्रमियों के लिए पृथक् पृथक् लोक प्राप्तिरूप फलभेद बतलाया गया है। श्रुति में भी कहा है 'सर्व एेत पुण्यलोका भवन्ति' अर्थात् इन सभी से पुण्यलोक (स्वर्गादि लोक) प्राप्त होते हैं। किन्तु स्मृति-शास्त्र में यह भी कहा है कि जो लोग अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म की अवहेलना करके यथेष्टाचारी होते हैं वे मृत्यु के पश्चात् सर्वतोगामी होकर विनष्ट होते हैं अर्थात् पशु पक्षी आदि की निकृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं। किन्तु इन सब कर्मों का अनुष्ठान यदि दूसरे कारण से अर्थात् चित्तशुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए किया जाय तो वह मोक्षरूप फल प्राप्ति का हेतु होता है वह बतलाया जाता है। [प्रश्न हो सकता है कि शम दमादि रूप सात्त्विक कर्म ब्राह्मण का स्वाभाविक धर्म होने के कारण यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ही एकमात्र मोक्ष का अधिकारी है क्योंकि यह पहले कहा गया है कि सात्विक गुण से ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यदि ऐसा ही हो तो क्षत्रियादि दूसरे वर्णों के लिए मोक्षप्राप्ति तो असम्भव ही होगी इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं।]

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अन्वय—नरः स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिम् लभते। स्वकर्मनिरतः यथा सिद्धिम् विन्दति तत् श्रृणु।

अनुवाद—अपने-अपने कर्म में अच्छी प्रकार से लगा हुआ पुरुष संसिद्धि (सम्यक् ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में लगा हुआ पुरुष जिस प्रकार सिद्धि (तत्वज्ञान) प्राप्त करता है, यह सुनो—

भाष्यदीपिका—**नरः**—कर्माधिकारी मनुष्य [वर्णाश्रम का अभिमान रखने वाला मनुष्य क्योंकि कर्मकाण्ड का अधिकार मनुष्य को ही है। देवतादि वर्णाश्रम अभिमानी होते नहीं हैं, इसलिए उनको धर्म में अभिमान का न होना उचित ही है। वर्णाश्रम अभिमान की अपेक्षा से रहित उपासनादि में उनका अधिकार है ही, यह बात ब्रह्मसूत्र में देवता-अधिकरण में सिद्ध की गई है (मधुसूदन)] इसलिए वर्णाश्रम धर्म के अभिमानी नर (मनुष्य) ही हैं। **स्वे स्वे**—अपने-अपने अर्थात् उस उस आश्रम और वर्ण के लिए विहित (स्वेच्छामात्र से किए हुए नहीं) **कर्मणि अभिरत** (अर्थात् उसके अच्छी तरह अनुष्ठान में लगा हुआ) **संसिद्धिम् लभते**—संसिद्धि लाभ करता है अर्थात् अपने कर्म का अनुष्ठान करने से देह और इन्द्रियों के संघात की अशुद्धि के क्षय द्वारा ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) की निष्ठा विषयक योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है (सम्यग् ज्ञान में स्थिति के लिए योग्यता को प्राप्त होता है)। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वधर्मनिष्ठ पुरुष बुद्धि की शुद्धि के द्वार ज्ञाननिष्ठा की योग्यता को प्राप्त होकर सम्यग् ज्ञान (पूर्ण रूप से आत्मसाक्षात्कार) द्वारा मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। अतः सात्त्विक गुण से विशिष्ट ब्राह्मण से अतिरिक्त जो कोई अपने वर्णाश्रम धर्म में निष्ठावान् है उसका भी मोक्ष में अधिकार है, यह सिद्ध किया गया है। अब शंका हो सकती है कि जब सब कर्म ही संसारबन्धन के हेतु हैं तो क्या अपने कर्म का अनुष्ठान करने से ही साक्षात् संसिद्धि मिल जाती है? [क्योंकि यदि ऐसा हो तो शास्त्र में संन्यास आश्रम का जो विधान किया गया है वह अनर्थक (व्यर्थ) होता है।]

उत्तर—नहीं, केवल स्वधर्म के अनुष्ठान के द्वारा ही साक्षात् ज्ञाननिष्ठा या मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता नहीं होती है वह किस प्रकार से मिलती है इसको कहते हैं **स्वकर्मनिरतः**—अपने वर्णाश्रमविहित कर्म में तत्पर हुआ (रत हुआ) मनुष्य **यथाविन्दति**—जिस प्रकार सिद्धि लाभ करता है **तत् शृणु**—वह तुम सुनो अर्थात् सुनकर अवधारण करो (निश्चित रूप से समझ लो)।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—४१ से ४४ वें श्लोक तक चारों वर्णों के जो स्वभावज कर्म (धर्म) कहे गये हैं वे गौण धर्म हैं क्योंकि आत्मचिन्तन ही मनुष्य के लिए एक धर्म है। 'धर्म' शब्द का अर्थ है श्रेय (अभ्युदय) अर्थात् सब ओर से जिसके द्वारा कल्याण (वृद्धि) प्राप्त होता है, वह धर्म कहलाता है। भविष्य पुराण में वह भेदमूलक सनातन धर्म पाँच प्रकार का कहा गया है (१) एक तो वर्ण धर्म कहा जाता है (२) दूसरा आश्रमों का धर्म है (३) तीसरा वर्णाश्रम धर्म है तथा इनके सिवा (४) गौण धर्म और (५) नैमित्तिक धर्म भी हैं। हे राजन्! जो धर्म केवल वर्णत्व का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है वह **वर्णधर्म**—कहा गया है, जैसे कि उपनयन संस्कार (जिसमें पहले तीनों वर्णों के अधिकार हैं, किन्तु शूद्र को नहीं)। और जो धर्म केवल आश्रम का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हो वह **आश्रम धर्म**—है, जैसे भिक्षा और दण्डादि। तथा जो धर्म वर्णत्व और आश्रमत्व दोनों ही का आश्रय लेकर प्रवृत्त हो वह वर्णाश्रम धर्म कहा जाता है मूँज आदि की मेखला। जो धर्म गुण द्वारा प्रवृत्त हो वह गुणधर्म है, जैसे राजगद्दी पर अभिषिक्त राजा के लिए प्रजापालन। और जो धर्म किसी एक निमित्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है उसे **नैमित्तिक**—समझना चाहिए, जैसे प्रायश्चित्त की विधि।

यहाँ अधिकार ही धर्म है। हारीत ने आश्रमियों का अलग-अलग धर्म, विशेष धर्म, समान धर्म और कृत्स्नधर्म, इस प्रकार **चार प्रकार** का—धर्म बताया है। पृथक्-पृथक् आश्रम के अनुष्ठान से पृथग् धर्म होता है, जैसे अपने आश्रम विशेष के अनुष्ठान से चारों वर्णों का धर्म **विशेष धर्म**—जैसे नैष्ठिक, यायावर, आनुज्ञायिक और चातुराश्रम्यसिद्धों का धर्म। जो इन सबका समान रूप से धर्म है वह **समान** धर्म है तथा नैष्ठिक (निष्काम) धर्म **कृत्स्नधर्म**—है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी विशेष होता है, यायावर गृहस्थ विशेष होता है, आनुज्ञायिक वानप्रस्थ विशेष होता है और चातुराश्रम्यसिद्ध यतिविशेष होता है। सबका सामान्य धर्म अर्थात् सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमों के समान धर्म के विषय में महाभारत में कहा है—अक्रूरता, अहिंसा, अप्रमाद, दान, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में संतुष्ट रहना, शौच, सर्वदा ईर्ष्याहीन रहना, आत्मज्ञान और तितिक्षा—हे राजन्! यह साधारण धर्म है।

समस्त आश्रमों के लिए इस समान धर्म का पहले उल्लेख हो चुका है। निष्ठा–संसार की समाप्ति को कहते हैं, वह जिसका प्रयोजन है उसका नाम नैष्ठिक है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष के हेतुभूत आत्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए निष्काम कर्म का अनुष्ठान करना कृत्स्नधर्म है।

शास्त्रों में आश्रम चार बताये गये हैं। जैसे गौतम जी कहते हैं 'तस्याऽऽश्रम-विकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः' अर्थात् उसके आश्रमभेद को कोई लोग ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वानप्रस्थ—इस प्रकार कहते हैं। आपस्तम्बजी कहते हैं–'चार आश्रम हैं–गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास। उन सबमें अव्यग्रचित्त से शास्त्रादेश के अनुसार बर्तने वाला पुरुष कल्याण को प्राप्त करता है।' वसिष्ठ जी कहते हैं—'चार आश्रम हैं–गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य को खण्डित न करने वाला पुरुष एक दो अथवा अधिक वेदों का अध्ययन कर इनमें जिसकी इच्छा हो उसी में रहे।' इस प्रकार उनके अलग-अलग धर्म भी बताए हैं और अज्ञानियों के लिए फल भी बताया है। जैसे मनु जी कहते हैं–श्रुति और स्मृति द्वारा कहे हुए धर्म का अनुष्ठान करने से मनुष्य इस लोक में कीर्ति लाभ करता है और मरकर अनुत्तम सुख पाता है।' अनुत्तम सुख यह समय-समय पर प्राप्त होने वाले फलों के उपलक्षण के लिए है। आपस्तम्बजी कहते हैं—'समस्त वर्णों को अपने धर्म का अनुष्ठान करने पर अत्यन्त असीम सुख मिलता है और फिर मरने के पश्चात् भोगने से शेष रहे हुए कर्मफल के द्वारा जाति, रूप, वर्ण, वृत्ति, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य और धर्मानुष्ठान इन सबको प्राप्त करते हैं। गौतमजी का कथन है—'अपने-अपने वर्ण और आश्रम के कर्म में निष्ठा रखने वाले पश्चात् कर्म फल का अनुभव कर शेष बचे हुए कर्मों द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत सदाचार, धन, सुख और मेधावाले होकर जन्म ग्रहण करते हैं तथा विपरीत आचरणवाले यथेच्छाचारी पुरुष नष्ट हो जाते हैं। यहाँ 'शेष' शब्द से जिनका फल भोग लिया है उन ज्योतिष्टोमादि कर्मों से भिन्न, 'अनुशयं' शब्द से कहे जानेवाले चित्रायाग आदि कर्म कहे जाते हैं—पूर्वकर्म का एक देश नहीं, ऐसा निश्चय करना चाहिए। ऐसा ही वेदान्त दर्शन के पुण्य भोग समाप्त होने पर कर्मशेषयुक्त जीव, जिस धूमादि मार्ग से गया था उसी से विपरीत

क्रम से इस लोक में लौट आता है, यह बात शास्त्र और लौकिक युक्ति से सिद्ध होती है एवं 'कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' इस सूत्र से निश्चय होता है। तथा कुमारिलभट्ट भी कहते हैं कि गौतमीय शास्त्र में भी चित्रादि कर्म को लक्ष्य करके ही कर्मशेष का निरूपण किया गया है। विष्वञ्चः—सब ओर से आनेवाले अर्थात् यथेष्ट आचरण करनेवाले विपरीत अर्थात् नरकादि में जन्म पाकर विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् कृमिकीटादि के भाव को प्राप्त होकर सारे पुरुषार्थों से पतित हो जाते हैं। हारीतजी कहते हैं—कोई लोग काम्य यज्ञ, दान और तप के द्वारा पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं किन्तु जो कामनाओं से हीन होकर यथार्थ यज्ञ, सुन्दर दान और तप में तत्पर रहनेवाले होते हैं, वे अक्षय लोको को प्राप्त होते हैं—

भविष्यपुराण में कामना के होने और न होने के कारण फल का भेद दिखाया है—'नित्य कर्मों का अनुष्ठान बिना फलकामना के भी स्पष्टतया माना गया है। काम्य कर्मों का अनुष्ठान अपने इष्ट फल के लिए और दोष की निवृत्ति के लिए है तथा नैमित्तिक कर्मों के करने में तीन प्रकार का कर्मफल होता है—(१) कोई तो उसको (काम्य कर्मों के) फल रूप से प्राप्त हुए पाप का क्षय बताते हैं—(२) दूसरे लोग प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति बताते हैं और (३) कोई अन्य लोग नित्य क्रिया को ही उसका आनुषङ्गिक फल समझते हैं। अन्य अर्थात् आपस्तम्बादि, 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते' इत्यादि वचनों के द्वारा नित्य कर्मों की आनुषङ्गिकफलता समझते हैं। श्रुति ने भी 'तीन धर्म के स्कन्ध हैं; यज्ञ, अध्ययन और दान यह पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। तथा ब्रह्मचर्य से ही आचार्यकुल में रहनेवाला, आचार्यकुल में ही अपने शरीर को अत्यन्त क्षीणकर देनेवाला तीसरा स्कन्ध है' इस प्रकार, गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी का वर्णन करके 'ये सब पुण्यलोक के भागी होते हैं' ऐसा कहकर अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर उनके मोक्ष का अभाव बताया है और फिर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति' अर्थात् ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ पुरुष अमृतत्त्व को प्राप्त होता है, ऐसा कहकर 'तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसन्धित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या'—अर्थात् शुद्धचित्त हुए इन लोगों का ही संन्यासपूर्वकज्ञाननिष्ठा से मोक्ष होता है, इस प्रकार ऐसा निश्चय होने पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ,

वानप्रस्थ अथवा मुमुक्षु फलासक्ति को छोड़कर भगवदर्पणबुद्धि से अपने-अपने कर्मका भलीप्रकार से अनुष्ठान करने पर उस मुख्य संन्यास की योग्यता को प्राप्त होता है।

(२) श्रीधर—इस प्रकार के ब्राह्मण आदि के कर्मों का ज्ञान में हेतु होना बताते हैं—**स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**—अपने-अपने अधिकार के अनुसार विहित कर्म में अच्छी प्रकार लगा हुआ (स्थित हुआ) मनुष्य सम्यक् सिद्धि को (ज्ञान प्राप्ति की योग्यता को) प्राप्त हो जाता है। कर्मों द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रकार 'स्वकर्म' इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा बताते हैं—**स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु**—अपने कर्म में भली-भाँति स्थित हुआ साधक जैसे (जिस प्रकार से) सिद्धि (तत्त्वज्ञान) पाता है, उस प्रकार को सुनो।

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार ब्राह्म (ब्राह्मण) आदि के नियम से कर्तव्य-रूप से विहित किए हुए शुभ आदि कर्मों का एवं उनसे उपलक्षित 'यज्ञ दान और तप का कभी त्याग नहीं करना चाहिए, उनका अनुष्ठान करना ही चाहिए', इत्यादि से उक्त श्रौत और स्मार्त कर्मों का उपदेश करके सत्त्व की (अन्तः करण की) शुद्धि के लिए उनका ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा बोधन करने लिए उनमें प्रवृत्तिसिद्धि के लिए फलप्रदर्शन करते हैं—**नरः**—ब्राह्मण आदि मुमुक्षु (अधिकारी पुरुष) **स्वे स्वे**—अपने-अपने 'शम, दम' इत्यादि से विभाग करके दिखलाये गये स्वकीय **कर्माणि अभिरतः**—श्रौत और स्मार्तरूप शम आदि कर्म में अभिरत (नियम से परिनिष्ठित) **संसिद्धिं लभते**—यथाविधि अनुष्ठित सत्कर्म प्रतिबन्ध रूप सम्पूर्ण पापपटल को धोकर संसिद्धि को (अर्थात् एक बार के उपदेश मात्र से आत्मतत्त्वावगति के आविर्भाव की योग्यता लक्षण सत्त्वशुद्धि को) प्राप्त करता है। अनेक ब्राह्मण आदि सदा अनेक कर्म का अनुष्ठान करते हैं, पर उनकी उस कर्म के अनुष्ठान से उक्त लक्षण शुद्धि देखने में नहीं आती, फिर कर्म में अभिरत पुरुष कैसे शुद्धि को प्राप्त करता है? ऐसी आकांक्षा होने पर 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा अस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' (अर्थात् हे गार्गि! जो इस अक्षर को न जानकर इस लोक में अनेक हजारों वर्ष तक हवन करता है, यजन, करता है, तप तपता है, वह उसका अन्तवान् ही होता है), इस न्याय से पूर्वोक्त शम आदि के अभाव से

और काम, संकल्प एवं अहंकार के अभिनिवेश से कर्मों का अनुष्ठान कर रहे पुरुष की सत्त्वशुद्धि नहीं होती, ऐसा बोधन करने के लिए कहते हैं—स्वकर्मेति। उक्त शम आदि से संपन्न **स्वकर्मनिरतः**—स्वकर्मनिरत-अपने श्रुति और स्मृति से विहित वैदिक कर्म में निरत (निष्ठ) मुमुक्षु ब्राह्मण आदि **यथासिद्धिम् विन्दति**—सिद्धि को यानी सत्त्वशुद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होते हैं, **तत् शृणु**—उस प्रकार को तुम सुनो (सुनकर उसी प्रकार का अनुष्ठान करने में बुद्धि करो)।

(४) **नारायणी टीका**—ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों में कोई भी यदि अपने-अपने स्वभावज (स्वभाव से उत्पन्न हुए) वर्णाश्रमविहित कर्म में सम्यक् प्रकार से निष्ठावान् रहता है अर्थात् भली प्रकार से उसके अनुष्ठान में तत्पर रहता है तो वह नर (वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्य) संसिद्धि अर्थात् देह इन्द्रियादि की अशुद्धि के क्षय के द्वारा चित्तशुद्धि एवं तत्त्वज्ञान की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होता है। प्रश्न होगा कि कर्म एवं उससे उत्पन्न हुआ फल तो संसार-बन्धन का हेतु ही है फिर वर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान इतना जटिल है कि उसका पूर्णतया अनुष्ठान असंभव प्रतीत होता है। अतः स्वकर्म में निरत पुरुष की संसिद्धि कैसे हो सकती है? [संसिद्धि' शब्द का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किया है। जैसे संसिद्धि सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्ति की योग्यता (श्रीधर) देह इन्द्रिय आदि की अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूप सिद्धि (शंकर, मधुसूदन), सत्त्वशुद्धि अर्थात् एक बार के उपदेशमात्र से आत्मतत्त्व ज्ञान के प्रकट करने की योग्यतारूप चित्तशुद्धि (शंकरानन्द) परमपद प्राप्तिरूप (परमानन्दप्राप्ति रूप) सिद्धि (रामानुज)।] उक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म द्वारा परम पद (परमानंद) की प्राप्ति कभी संभव नहीं है। आश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान करने पर चित्तशुद्धि होती है एवं चित्तशुद्धि से ज्ञान लाभ की योग्यता मात्र प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में व्यासदेव ने अध्यात्म रामायण में कहा है—'नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो, भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्। ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता, तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत्' ॥ अर्थात् अज्ञान का नाश या राग-आसक्ति का क्षय कर्म द्वारा संशोधित नहीं होता है। कर्मों से दोषयुक्त कर्मों का उद्भव (उत्पत्ति) होता है। अतः कर्मपरम्परा से संसारगति ही अनवरत प्राप्त होती है। इसलिये विवेकियों को ज्ञानतत्त्व के अनुसन्धान में प्रयत्नशील होना चाहिए।

यावच्छरीरादिषु माययात्मधीः तावद् विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तत्, ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत् क्रियाः॥

अर्थात् माया (अज्ञान) के कारण जबतक शरीरादि में आत्मबुद्धि रहती है तबतक विहित कर्म का अनुष्ठान करने की विधि है। उसके पश्चात् चित्तशुद्धि के उत्पन्न होने पर 'यह' नहीं इस प्रकार से समस्त नामरूपात्मक जगत् के त्यागपूर्वक परमात्म स्वरूप का ज्ञान होने पर समस्त कर्म को त्याग देना चाहिए।

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं, न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुतिः ज्ञानं विमोक्षाय च कर्मसाधनम्॥

अर्थात् तैत्तरीय श्रुति ने प्रशस्तरूप से विहित कर्म समूह के त्याग को शास्त्रसिद्ध कहकर आदरपूर्वक स्पष्ट करके कहा है एवं वाजसनेय श्रुति (बृहदारण्यक उपनिषद्) ने यही कहा है कि ज्ञान ही मुक्ति का साधन है कर्म नहीं है। जो लोग मुक्ति के नाम से भयभीत होते हैं एवं मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन में शृगालत्व अच्छा है, ऐसा मानते हैं एवं भक्तरूप से पृथक् अहंअभिमान को रखना ही समुचित समझते हैं, वे किस शास्त्र का प्रमाण मानते हैं यह समझना कठिन है। ज्ञानी ही यथार्थ भक्त हो सकता है यह भगवान् ने भी अपने मुख से गीता में पुनः-पुनः स्पष्ट किया है (गीता ७।१७–१८)। फिर व्यास जी ने अध्यात्मरामायण में भी यही कहा है—

स प्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधीरज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमपि क्रियात्मभिर्विधानतः कर्मविधिप्रकाशितम्॥

अर्थात् कर्मत्याग करने पर प्रत्यवाय (पाप) ग्रस्त होऊँगा इसप्रकार आत्मा में अनात्मधर्म का आरोप करनेवाली जो बुद्धि है वह अज्ञ जनों के निकट ही प्रसिद्ध है, तत्त्वदर्शीलोग ऐसा नहीं मानते हैं। अतः जिनका चित्त कर्म में आसक्त है उनके लिए विधिविहित कर्मों की व्यवस्था निर्धारित रहने पर भी ज्ञानियों को तो कर्म का त्याग करना ही चाहिए।

इसलिये जो लोग कर्म में निरत हैं अर्थात् अपने-अपने कर्म में निष्ठावान् हैं वे विधिपूर्वक कर्म करते हुए भी किस प्रकार से सिद्धि अर्थात् मुख्य संन्यासरूप नैष्कर्म्य-

सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं उसे भगवान् ने अपने मुख से सावधान होकर सुनने के लिए अर्जुन को कहा क्योंकि अर्जुन अभीतक स्वधर्मविहित युद्धादि कर्म का ही अधिकारी है।

इस श्लोक में अपना-अपना धर्म पालन करते हुए कर्माधिकारी पुरुष चित्तशुद्धि द्वारा संन्यासरूप नैष्कर्म्यसिद्धि को किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है, उसको अब स्पष्ट करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६ ॥

अन्वय—यतः भूतानाम् प्रवृत्तिः येन इदम् सर्वम् ततम् तम् स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिम् विन्दति।

अनुवाद—जिस अन्तर्यामी ईश्वर से समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति या चेष्टा होती है और जिस ईश्वर से यह सारा जगत् व्याप्त है उस ईश्वर की अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों द्वारा अभ्यर्चना करके (आराधना द्वारा संतुष्ट करके) मनुष्य उसकी कृपासिद्धि (अर्थात् ब्रह्म एवं आत्मा के ऐकात्म्यज्ञाननिष्ठा की योग्यता-रूप सिद्धि) को अर्थात् अन्तःकरणशुद्धि को प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका—यतः—जिस अन्तर्यामी ईश्वर से अर्थात् [जिस निमित्त और उपादान कारणरूप मायोपाधिक, चिदानन्दघन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी ईश्वर से (मधुसूदन)] **भूतानाम् प्रवृत्तिः**—समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति या चेष्टा [स्वप्न के रथादि के समान भूतों की स्थावर-जंगम सभी पदार्थों की प्रवृत्ति-उत्पत्ति हुई है] **येन इदम् सर्वम् ततम्**—जिस परमेश्वर या अन्तर्यामी से यह समस्त जगत् (सारा विश्वजात पदार्थ) व्याप्त है [तीनों कालों में सद्रूप और स्फुरण-रूप से व्याप्त है अर्थात्, अपने में ही अन्तर्भूत किया हुआ है क्योंकि कल्पित वस्तु का अपने अधिष्ठान से भेद नहीं होता। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है-'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' अर्थात् जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं और

जिसमें जाकर लीन हो जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। यहाँ 'यतः' यह प्रकृति (उपादान कारण) के अर्थ में पंचमी है। 'यतः' और 'येन' इन पदों से उस उपादान कारण एवं निमित्त कारण की एकता बतानी अभीष्ट है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनदाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' अर्थात् आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानो क्योंकि आनन्द से ही ये सब भूत निश्चय उत्पन्न होते हैं, यह उसका निर्णय वाक्य है। इसलिये श्रुति कहती है 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं' इत्यादि अर्थात् माया को तो प्रकृति जानो और मायी को महेश्वर जानो 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' अर्थात् जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है। अतः भगवान् ने इस श्लोक के पूर्वार्ध में 'यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम्' द्वारा श्रौत अर्थ को ही प्रकाशित किया है।]

स्वकमर्णा तम् अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिम् विन्दति—उस अन्तर्यामी ईश्वरको प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम के लिए पहले कहे हुए विहित कर्म के द्वारा अभ्यर्चित (पूजा-द्वारा या आराधना द्वारा संन्तुष्ट) करके उसकी कृपा से मनुष्य केवल ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूप सिद्धि [ब्रह्म और आत्मा के ऐकात्म्य (एकत्व) ज्ञान की निष्ठा की योग्यता रूप सिद्धि (अन्तःकरणशुद्धि] को प्राप्त करता है। [तात्पर्य यह है कि देवादि तो केवल उपासनामात्र से यह सिद्धि प्राप्त करते हैं क्योंकि—उनमें वर्णाश्रमव्यवस्था न होने के कारण स्वकर्म का भेद नहीं है (मधुसूदन)]।

टिप्पणो—(१) **श्रीधर**—**यतः**–जिस अन्तर्यामी परमेश्वर से **भूतानाम्**–भूतों की (प्राणियों की) **प्रवृत्तिः**—चेष्टा होती है **येन**—जिस कारणरूप परमात्मा से **सर्वमिदम्**—यह समस्त **ततम्**—विश्व व्याप्त है **तम् स्वकर्मणा अभ्यर्च्य**–उस ईश्वर की अपने कर्मोंद्वारा भलीभाँति अर्चना (पूजा) करके **मानवः सिद्धिम् विन्दति**—मनुष्य सिद्धि को पाता है।

(२) **शंकरानन्द**—'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' 'कर्ता क्रियाणां स स युज्यते क्रतुः, स एव तत्कर्मफलं च तस्य' अर्थात् क्रियाओं का कर्ता वही (ईश्वर) है, फलभागी भी वही है, क्रतु वही है, कर्मफल भी वही है, स्रुक् आदि जो अशेष यज्ञसाधन हैं, वे भी हरिस्वरूप हैं, कुछ भी उससे भिन्न नहीं है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति में कही गई रीति से मुख्य अधिकारी विद्वान् की [जो कि कर्ता, कर्म,

उसके साधन स्रुव, चरु, पुरोडाश, अग्नि आदि में अव्याहत (निरन्तर) ब्रह्मदृष्टि से कर्म का अनुष्ठान करता है उसकी] इष्टत्व, अनिष्टत्व, मित्रत्व, अमित्रत्व, दुष्टत्व, अदुष्टत्व आदि विषमबुद्धि क्रम से नष्ट हो जाती है एवं उसका नाश होने से राग, द्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं। उनका नाश होने से 'मैं, 'मेरा' इत्यादि अभिमानदोष नष्ट हो जाते हैं। उन सब रजः, तमः दोषों के क्रम से नष्ट होने पर सत्त्व (अन्तःकरण) स्वयं ही प्रसन्न हो जाता है, ऐसा बोधन करने के लिए सब सगुण ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान रखनेवाले तथा उसी की आराधना करनेवाले पण्डित की सत्त्वशुद्धि होती है, ऐसा कहते हैं—'यतः' इत्यादि से 'जन्माद्यस्य यतः,' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' अर्थात् जगत् के जन्मादि जिससे होते हैं' वह ब्रह्म है, जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है इत्यादि उक्त प्रकार से **यतः**—जिससे (जिस मायारूप उपाधिवाले ब्रह्म से) **भूतानाम्**—भूतों की, आकाशादि की और उनके कार्यों की **प्रवृत्तिः**—उत्पत्ति हुई है यानी जैसे मिट्टी से घट आदि की उत्पत्ति होती है, वैसे ही जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है। किंच **येन**—जिससे कारणभूत ब्रह्म से उसका कार्य **सर्वम् इदम्**—यह सब जगत् **ततम्**—व्याप्त है यानी मिट्टी से घट के समान बाहर भीतर पूर्ण है **तम्**—उस सर्वात्मक परमात्मा का स्रुक्, स्रुव अग्निहोत्र, मंत्र, तंत्र आदि में सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखकर **मानवः**—मानव (अधिकारी विद्वान्) **स्वकर्मणा**—श्रौत और स्मार्त आदि सात्त्विक निजकर्म से अर्चन करके (श्रद्धाभक्तिपूर्वक नियम से पूजन करके) और सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करके **सिद्धिम् विन्दति**—सत्त्वशुद्धिलक्षण सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् सत्त्वशुद्धि और उसकी फलभूत ज्ञानसिद्धि को प्राप्त होता है। 'यतः प्रवृत्तिः,' 'येन सर्वम्' अर्थात् जिससे प्रवृत्ति और जिससे सब व्याप्त, ये दो विशेषण सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, यह बोधन करने के लिए हैं, ऐसा जाना जाता है। अधिकारियों का मध्यम आदि भेद होने पर तो 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः' अर्थात् जो सब भूतों में स्थित होकर सब भूतों से अभ्यन्तर है इत्यादि श्रुति में कही गई रीति से जिससे भूतों की ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त भूतों की प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है अर्थात् जो सबको प्रवृत्त करता है, यह अर्थ है। यह सब जगत् जिससे 'तत' यानी व्याप्त है अर्थात् जो सर्वात्मक है, उसका अर्थात् अग्नि, इन्द्र, आदित्य आदि देवतारूप से वर्तमान

सबके नियन्ता परमेश्वर का अपने कर्म से अर्चन कर (श्रद्धाभक्ति से अग्नि आदि सब देवताओं का ईश्वरबुद्धि से पूजन कर) उसके अनुग्रह से मानव (मुमुक्षु अधिकारी ब्राह्मण आदि) सिद्धिको (सत्त्वशुद्धि और उसकी फलभूत ज्ञानसिद्धि को) क्रम से प्राप्त होता है, यह अर्थ है।

(२) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्म में निष्ठावान् पुरुष की जिस प्रकार से मुख्यसंन्यास की योग्यता रूप सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि होती है, यह कहने के लिए भगवान् ने प्रतिज्ञा की। इस श्लोक में वही वर्णित किया जा रहा है–जिससे अर्थात् जिस मायोपाधियुक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर परमेश्वर से समस्त भूतों की अर्थात् आकाश आदि से लेकर सब प्राणियों की (समस्त विश्वप्रपंच की) प्रवृत्ति (अर्थात् उत्पत्ति या चेष्टाएँ) हुई है [जैसे मिट्टी से घटादि की उत्पत्ति होती है अथवा स्वप्न में जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा की कल्पना से समस्त स्थावरजंगम भूतों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार यह सब दृश्य पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है एवं जिस अन्तर्यामी पुरुष द्वारा यह समस्त जगत् (दृश्य पदार्थ) व्याप्त हुआ है] उस परमेश्वर की [ब्राह्मण आदि वर्ण भेद के अनुसार यानी पूर्ववर्ती श्लोकों में जिस प्रकार शम, दमादि पृथक्-पृथक् स्वभावज कर्म वर्णित हुआ है उसी के अनुसार] मनुष्य यदि अपने-अपने वर्णाश्रम विहित कर्म द्वारा अभ्यर्चना अर्थात् पूजा या आराधना करे तो वह उस परमात्मा के प्रसाद से ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूप सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि को प्राप्त हो सकता है।

शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा में न तो सृष्टि आदि कर्म हैं और न तो विश्व-प्रपंचरूप कार्य हैं। सृष्टि आदि व्यापार माया से उत्पन्न हुए गुणों का ही कार्य है, यह भगवान् ने गीता में पुनः पुनः स्पष्ट किया है। माया भगवान् की (आत्मा की) स्वभावरूपा कल्पना शक्ति है। माया से उपाधियुक्त होने पर ही माया का सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप कार्य होना सम्भव है क्योंकि माया स्वयं जड़ है अतः चैतन्यस्वरूप आत्मा के आभास को प्राप्त होकर ही माया की सृष्टि आदि कार्य होते हैं। ये सब कार्य शुद्ध-चैतन्यरूप आत्मा में (जिसको ब्रह्म, भगवान्, परमात्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है उसमें) आरोपित होकर ही उसका ईश्वरत्व माना जाता है अर्थात्

निष्क्रिय, शुद्ध, केवल होनेपर ही आत्मस्वरूप भगवान् को सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् इत्यादि कहा जाता है। जिस प्रकार समस्त स्वाप्निक पदार्थ की स्वप्नद्रष्टा की कल्पना से प्रवृत्ति—(उत्पत्ति या चेष्टाएँ) होती है, उसी प्रकार मायोपाधिक भगवान् से ही विश्व की मायामयी उत्पत्ति हुई है। मायिक वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से भिन्न नहीं होती है। इसलिये भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों काल में ही विश्वरूप मायिक पदार्थों की सत्ता भगवान् की सत्ता से पृथक् नहीं है। इसलिए कहा है 'येन सर्वम् इदम् ततम्' अर्थात् जिससे समस्त विश्वप्रपंच व्याप्त है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वर्णकार की कल्पना से सुवर्ण से (सोना से) हार, वलय, कंगन आदि का रूप बन जाता है किन्तु वह नाममात्र है क्योंकि सुवर्ण ही उन सबके अणुपरमाणु में सदा ही व्याप्त है अर्थात् सुवर्ण से अतिरिक्त उन सब अलंकारों की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, उसी प्रकार भगवान् भी मायिक सृष्टि के अणुपरमाणु में सर्वत्र एवं सर्वकाल में व्याप्त है।

श्लोक में 'यतः' पद से 'जनीकर्तुः प्रकृतिः' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार परमात्मा को प्रकृति या उपादान कारण कहा गया है एवं 'येन' (अर्थात् जिस अन्तर्यामी नियन्ता से) इस पद के द्वारा परमात्मा को निमित्तकारण भी कहा गया है। अतः विश्व के निमित्त एवं उपादान कारण भगवान् ही हैं, यह उक्त दोनों पदों के द्वारा सूचित किया गया है। श्रुति भी कहती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तैत० उ० ३।१) अर्थात् जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है, जिसकी सत्ता से सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं अथवा जिसकी सत्ता से सभी वस्तु सद्रूप से प्रतीत होती है एवं अन्त में जिसमें समस्त प्राणी चले जाते हैं तथा लीन हो जाते हैं, उसको जानने की इच्छा करो क्योंकि वही ब्रह्म है।

इस प्रकार अभिन्न निमित्त-उपादान कारणरूप सृष्टिस्थिति-प्रलयकारक सर्वान्तर्यामी पुरुष की पूजा या आराधना के रूप से जो मनुष्य अपने वर्ण या आश्रम के लिए विहित समस्त कर्तव्यकर्म निष्काम भाव से श्रद्धापूर्वक पुष्पाञ्जलि देकर करता रहता है, वह इस प्रकार के कर्मानुष्ठान से ज्ञाननिष्ठा की योग्यता को प्राप्त करने के लिए जो अन्तःकरण-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है उसे प्राप्त कर लेता है। [ब्रह्म एवं

आत्मा के एकात्मताबोध (अनुभव) को ज्ञान कहा जाता है। उस ज्ञान में निष्ठा (स्थिति) की योग्यता चित्तशुद्धि के बिना नहीं होती है। अतः यहाँ सिद्धि शब्द का अर्थ चित्तशुद्धि है] देह-इन्द्रियों में आत्मबुद्धि रखनेवाला पुरुष यदि अपने कर्तव्य कर्म का त्याग करदे अथवा शास्त्रविधि का उल्लंघन करके अपनी इच्छानुसार कर्म करे तो कभी सिद्धि (अन्तःकरणशुद्धि) को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने कहा '**स्वकर्मणा**' अर्थात् शास्त्रविहित अपने कर्तव्य का नियमपूर्वक अनुष्ठान करके ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। वर्णाश्रम धर्म में मनुष्य के बिना अन्य किसी का अधिकार नहीं है क्योंकि देवताओं में भी वर्णाश्रम व्यवस्था के न होने के कारण स्वकर्मों का (अपने-अपने कर्म का) भेद नहीं है। इसलिए देवता लोग केवल उपासना के द्वारा ही भगवान् का प्रसाद लाभ करके मुक्त हो जाते हैं। अतः शास्त्रविहित कर्मों का भेद मनुष्य के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। भगवान् ने कहा 'मानवः' अर्थात् मनुष्य ही इस प्रकार स्वकर्म द्वारा भगवान् की आराधना करके सिद्धि (चित्तशुद्धि) को प्राप्त कर सकता है, अन्य कोई प्राणी नहीं।

ब्राह्मणादि चारों वर्ण केवल स्वकर्म (स्वधर्म) में निष्ठा द्वारा ही साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि एकमात्र ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होना सम्भव है, अन्य कोई उपाय नहीं है तथापि जो लोग स्वधर्मनिष्ठ होकर कर्मफल की आकांक्षा का त्याग करके ईश्वरार्पण बुद्धि से नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, उनको भी कर्मफल के त्याग देने के कारण त्यागी ही कहा जाता है। इसप्रकार कर्मों के अनुष्ठान द्वारा वे ईश्वर के अनुग्रह से विवेक वैराग्य सम्पन्न होकर ज्ञाननिष्ठा की योग्यता के लिए आवश्यक अन्तःकरण शुद्धि को प्राप्त करते हैं। उसके पश्चात् तत्त्वज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) को प्राप्त होकर संसारप्रवाह से मुक्त हो जाते हैं। यही कर्म से मुक्ति की प्राप्ति का क्रम है—जिस उपाय को बताने लिये भगवान् ने पूर्व श्लोक में प्रतिज्ञा की इस श्लोक में 'सिद्धिं विन्दति' इत्यादि कहकर उसका प्रतिपादन किया।

स्वधर्म के अनुष्ठान द्वारा ही जब भगवान् के प्रसाद से चित्तशुद्धि को प्राप्त करके अन्त में तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष हो सकता है तो अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान ही सभी बुद्धिमान् पुरुषों को करना चाहिए क्योंकि—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् स्वधर्मः विगुणः (अपि) श्रेयान् । स्वभावनियतम् कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति ।

अनुवाद—सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान किए गये परधर्म की अपेक्षा अपना विगुण (गुणरहित अर्थात् अंगहीनता से न्यूनतायुक्त) कर्म भी श्रेष्ठतर है क्योंकि स्वभावजनित (स्वभाव से नियत) कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता ।

भाष्यदीपिका—**स्वनुष्ठितात्**-सम्यक् प्रकार से (भली प्रकार) अनुष्ठान किए हुए **परधर्मात्**—दूसरे के धर्म से अर्थात् अपने लिए जो कर्म विहित नहीं है परन्तु दूसरे के लिए विहित है उस प्रकार परधर्म से **विगुण** (अपि)-गुणरहित (अंगहानिरूप दोष से युक्त होने पर भी) अर्थात् सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित न होने पर भी **स्वधर्मः**—शास्त्रविधि के अनुसार जिस धर्म में (कर्म में) अपना अधिकार है वह अपना धर्म है । इस प्रकार धर्म **श्रेयान्**-श्रेष्ठतर (अधिक प्रशस्त अधिक प्रशंसनीय) है [जिस प्रकार विष में उत्पन्न हुए कीड़े के लिए विष दोषकारक नहीं होता उसी प्रकार] **स्वभावनियतम् कर्म कुर्वन्**—स्वभाव से नियत कर्म को करता हुआ [अर्जुन के मन में यदि शंका हो कि बन्धुवध रूप प्रत्यवाय के (पाप के) कारण मुझे स्वधर्म होने पर भी युद्धादि नहीं करना चाहिए तो भगवान् कहते हैं कि पहले बताए हुए शौर्य, तेज इत्यादि क्षत्रिय स्वभाव से नियत हिंसात्मक युद्धादि कर्म को करने पर भी (मधुसूदन)] **किल्बिषम् न आप्नोति**—मनुष्य (बन्धवधादिजनित) किल्बिष (पाप) को प्राप्त नहीं होता [ऐसे ही 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यादि स्थल में पहले व्याख्या की गई है । जिस प्रकार शास्त्रविहित ज्योतिष्टोम यागादि में पशुहिंसा पाप का हेतु नहीं होती है, उसी प्रकार क्षत्रिय के लिए युद्धादि विहित कर्म की अंगभूता प्रतिपक्षी बन्धुओं की हिंसा भी प्रत्यवाय (पाप) का हेतु नहीं होती (मधुसूदन) ।] जो बात पहले 'स्वभावजम्' पद से कही गई थी वही यहाँ 'स्वभावनियतम्' इस पद से कही गई है । पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कारों से उत्पन्न हुए स्वभाव से जो कर्म स्वतः ही नियत (विहित) होते हैं अर्थात्

जिसके अनुष्ठान के लिये स्वाभाविक प्रेरणा (प्रवृत्ति) होती है, उन्हें 'स्वभावनियत' कर्म कहते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—'अपने कर्मों द्वारा' इस विशेषण का फल बताते हैं–**विगुणः स्वधर्मः**—विगुण भी अपना धर्म **स्वनुष्ठितात्**—पूर्णतया अनुष्ठान में लाये हुए **परधर्मात्**—पर धर्म की अपेक्षा **श्रेयः**—कल्याणमय (श्रेष्ठ) है। बन्धुवध आदि से युक्त युद्ध आदि स्वधर्म की अपेक्षा भिक्षाटन आदि परधर्म श्रेष्ठ है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि **स्वभावनियतं कर्म**—पूर्वोक्त स्वभाव के द्वारा नियमपूर्वक बताए हुए कर्मों को **कुर्वन्**—करता हुआ **मनुष्यः**—मनुष्य **किल्बिषं नाप्नोति**–पाप को नहीं प्राप्त होता।

(२) शंकरानन्द—ब्राह्मण की भिक्षा में आचार्य, यज्ञ और विवाह—ये निमित्त हैं। चित्तशुद्धि और उसका फल प्राप्त करने की इच्छा वाले मुमुक्षु ब्राह्मण का प्रतिग्रह प्राप्त द्रव्य से किए जा रहे याग की अपेक्षा ब्रह्मचारी के समान प्रतिग्रह न करके शुद्ध वृत्ति से अवस्थान ही उसका शोधक और पापरहित है, क्योंकि यज्ञ आदि का अनुष्ठान प्रतिग्रह प्राप्त द्रव्य से ही होता है और प्रतिग्रह पाप का हेतु है। इसी प्रकार से युद्ध हिंसा प्रधान होने के कारण साध्य द्रव्य से किए जा रहे राजसूय आदि यागानुष्ठान की अपेक्षा शुद्धि की कामना वाले क्षत्रिय का प्रतिग्रहभीरु ब्राह्मण के समान शुद्ध वृत्ति से अवस्थान ही उसका शोधक और पापरहित है, ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं **परधर्मात् स्वनुष्ठितात्**—परधर्म से (पर के अर्थात् जाति से, वर्ण से अथवा आश्रम से अपने से भिन्न (स्वविलक्षण) के धर्म से यानी आचार से) जो स्वनुष्ठित यानी किसी अङ्ग के लोप से न कर अर्थात् जो सर्वाङ्ग से तथा ठीक-ठीक रूप से आचरित है, वह **विगुणः**—विगुण भी स्वलक्षणपौषकल्य से हीन अर्थात् अंग के विकलता (लोप) होने के कारण दोषयुक्त होने पर भी **स्वधर्मः श्रेयान्**—ब्राह्मण का, क्षत्रिय का या अन्य का स्वधर्म ही श्रेयान् (श्रेष्ठ) यानी निःश्रेयस का (मोक्ष का) साधन है। भली-भाँति अनुष्ठित होने पर भी परधर्म श्रेयस का साधन नहीं है, क्योंकि वह विहित नहीं है, यह अर्थ है। इसी को स्पष्ट करते हैं 'स्वभाव' इत्यादि से **स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**—'ब्राह्मणस्याऽधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः'

अर्थात् ब्राह्मण के प्रवचन, याजन और प्रतिग्रह अधिक हैं ।, [क्षत्रिय के युद्ध में मरण और अपलायन अधिक धर्म हैं ।] 'न दोषो हिंसायामाहवे' अर्थात् युद्ध में हिंसा दोष नहीं है, परन्तु 'युद्ध में जिसके घोड़े आदि नष्ट हो गये हों एवं जो प्राणयाचना कर रहा हो' इत्यादि कुछ अपवाद हैं, जिनको युद्ध में मारने से दोष लगता है । इस प्रकार स्वभावनियत [स्वभाव को (तत्-तत् जाति को उद्देश्य करके) नियत (शास्त्र से विहित)] कर्म अर्थात् प्रतिग्रह रूप कर्म से उपार्जित द्रव्य से याग आदि का अनुष्ठान कर रहा ब्राह्मण तथा युद्ध आदि रूप कर्म से उपार्जित द्रव्य से याग आदि का अनुष्ठान कर रहा क्षत्रिय किल्बिष को (चित्तशुद्धि के प्रतिबन्धक पाप को) प्राप्त नहीं होता । अपनी जाति, वर्ण और आश्रम के अनुसार विहित धर्म के अनुष्ठान से पुरुष पापी नहीं होता, यह अर्थ है ।

(३) नारायणी टीका—निष्काम भाव से अपने-अपने स्वभावजात (स्वभाव नियत) कर्म करता हुआ मनुष्य उन कर्मों के द्वारा यानी उन सब कर्मों के समर्पण द्वारा (जिसकी प्रेरणा से सब कर्म किया जाता है एवं जो सभी प्राणी के अणु परमाणु में व्याप्त हैं उस सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी) परमेश्वर की अभ्यर्चना (पूजा) करने पर सिद्धि (अन्तःकरण शुद्धि) को अवश्य प्राप्त होता है, यह भगवान् ने पूर्व श्लोक में स्पष्ट किया । पूर्व संस्कार के कारण जिसका जिस वर्ण में जन्म हुआ है तथा जिस वर्ण के लिए विहित कर्म में अधिकार स्वतः ही (स्वभाव से) उत्पन्न हुआ है, वही उस व्यक्ति के लिए स्वधर्म है । स्वधर्म के अनुसार कर्म करना केवल अनायास (सहज) है ऐसा नहीं, परन्तु यदि वह विगुण अर्थात् अंगहानि से युक्त हो अथवा हिंसादि अन्य प्रकार के दोषों से युक्त हो तथापि उस स्वधर्म का पालन भली प्रकार अनुष्ठित किए हुए दूसरे के धर्म से श्रेय (अधिक कल्याणकर एवं प्रशंसा के योग्य) है क्योंकि भिन्न-भिन्न वर्णाश्रमवासियों के लिए स्वभाव से विहित जो कर्म है उसके अनुष्ठान से उस मनुष्य को किसी प्रकार का किल्बिष (पाप) प्राप्त नहीं होता है । अपने अपने अधिकार के अनुसार निष्काम भाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना ही चित्तशुद्धि तथा अन्त में परमकल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन है । अपने स्वधर्म को त्याग कर उच्च अधिकारी के श्रेष्ठ कर्म का (परधर्म का) अनुष्ठान (अनुकरण) करने पर परिणाम में

वह अनर्थ का ही हेतु होता है क्योंकि उससे 'इतोभ्रष्टस्ततो नष्टः' होना पड़ता है अर्थात् इस प्रकार कर्म करने पर केवल अपने धर्म से च्युत ही नहीं होता है परन्तु अपने अधिकार से बहिर्भूत परधर्म के पालन से उसको इस लोक तथा परलोक में किसी फल-प्राप्ति की भी संभावना नहीं होती है। अतः उसका (परधर्म का) अनुष्ठान निष्फल (व्यर्थ) ही होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्व जन्म के संस्कार के अनुसार जिसके लिए जो वर्ण एवं कर्म स्वतः ही निर्धारित हुआ है, वही शास्त्र के विधान के अनुसार स्वधर्म है। यदि कोई अपने धर्म का त्याग करके दूसरे के धर्म को श्रेष्ठ मानकर उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त हो तो उससे उसको इसलोक या परलोक में किसी प्रकार के सुफल, पुन्य या आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है किन्तु निष्काम भाव से स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए यदि वह किसी प्रकार दोषयुक्त भी हो अर्थात् सम्यक् प्रकार से अंगादि सहित अनुष्ठित न हो तो भी उससे पाप होना तो दूर की बात है, उससे तत्त्वज्ञान की योग्यता के लिए जो चित्तशुद्धि की आवश्यकता है वह अवश्य ही प्राप्त होती है। जिस प्रकार विष में उत्पन्न हुए कीड़े के लिए वह विष उसके प्राण रक्षा का हेतु ही होता है—नाश (मृत्यु) का कारण नहीं होता है, उसी प्रकार अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान यदि फलाकांक्षारहित होकर व भगवदर्पण बुद्धि से किया जाय तो वह मोक्षरूप कल्याण-मार्ग में अग्रसर होने के लिए सहायक ही होता है—यही कहने का तात्पर्य है।

पूर्व श्लोक में यह कहा गया है कि स्वभाव से नियत कर्म को करने वाला मनुष्य विष में उत्पन्न हुए कीड़े के समान पाप को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अपना-अपना स्वभाव नियत कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसके अनुष्ठान से पाप का भागी नहीं होना पड़ता। फिर तीसरे अध्याय में यह भी कहा है कि दूसरे का धर्म भयावह है (गीता ३।३५) उसी अध्याय में यह भी बताया गया है कि कोई भी अज्ञानी बिना कर्म किए क्षण भर भी नहीं रह सकता (गीता ३।५)। इसलिए अपना-अपना कर्म दोषयुक्त होने पर भी जब तक तत्त्वज्ञान में निष्ठा की योग्यता प्राप्त न हो तब तक मनुष्य को स्वभाव-नियत (सहज) कर्म करना ही उचित है, यह अब स्पष्ट करते हैं—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय सदोषम् अपि सहजम् कर्म न त्यजेत्, हि धूमेन अग्निः, इव सर्वारम्भाः दोषेण आवृताः ।

अनुवाद—जो जन्म के साथ उत्पन्न होता है उस सहज (स्वभावजात) कर्म को दोषयुक्त होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि अग्नि जैसे धुएँ से आवृत (ढकी) रहती है वैसे ही समस्त कर्म (स्वधर्म या परधर्म रूप कुछ भी कर्म तीनों गुणों के कार्य होने के कारण) दोष से आवृत हैं ।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय—हे कुन्तीनन्दन अर्जुन। सदोषम् अपि—त्रिगुणमय होने के कारण जो दोषयुक्त है ऐसा सहजम् कर्म—जो जन्म के साथ उत्पन्न हुआ है उसका नाम सहज है जो कर्म सहज है वह स्वभावज कर्म है। इस प्रकार सहज कर्म को न त्यजेत्—अन्तःकरण की शुद्धि न होने तक किसी को त्याग करना नहीं चाहिए [कोई भी आत्मज्ञानहीन पुरुष एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता है, अतः जब सर्व कर्म का त्याग उसके लिए सम्भव नहीं है तो अपना स्वभावजात कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसका त्याग करना उचित नहीं है] क्योंकि सर्वारम्भाः—जो आरम्भ किए जाते हैं उनका नाम आरम्भ है अतः यहाँ प्रकरण के अनुसार सर्वारम्भ का अर्थ है समस्त कर्म। जो स्वधर्म या परधर्मरूप जो कुछ भी कर्म हैं वे सभी तीनों गुणों के कार्य हैं। अतः त्रिगुणात्मक होने के कारण जिस प्रकार अग्नि उसके साथ-साथ उत्पन्न हुए धुएँ से अर्थात् सहज धुएँ से आवृत्त (ढकी) रहती है, उसी प्रकार सभी कर्म दोष से आवृत होते हैं अर्थात् समस्त कर्म स्वभावतः ही दोष से युक्त हैं।

अभिप्राय यह है कि स्वधर्म नामक सहजकर्म का परित्याग करने से और परधर्म के ग्रहण करने से भी दोष से छुटकारा नहीं हो सकता और परधर्म भयावह भी है, तथा अज्ञानी द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का पूर्णतया त्याग होना सम्भव नहीं है; सुतरां सहज-कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। (यहाँ यह विचार करना चाहिए कि) क्या

कर्मों का अशेषतः त्याग होना असम्भव है, इसलिए उनका त्याग नहीं करना चाहिए, अथवा सहज कर्म का त्याग करने में दोष है इसलिये ?

पूर्वपक्ष—इससे क्या सिद्ध होगा ?

उत्तर पक्ष—यदि यह बात कहो कि अशेषतः त्याग होना अशक्य है, इसलिये सहज-कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, तब तो यही सिद्ध होगा कि कर्मों का अशेषतः त्याग करने में गुण (श्रेयः) ही है।

पूर्वपक्ष—यह ठीक है, परन्तु यदि (अज्ञ के लिए) कर्मों का पूर्णतया त्याग हो ही नहीं सकता (तो फिर गुण-दोष की बात ही क्या है ?)

उत्तरपक्ष—तो क्या सांख्यवादियों के गुणों की भाँति आत्मा सदा चलनः स्वभाववाला (क्रियाशील) है ? जिस कारण से कर्म का त्याग नहीं किया जाता है। अथवा बौद्धमतावलम्बियों के प्रतिक्षण में नष्ट होनेवाले (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्काररूप) पंच स्कन्धों की भाँति क्रिया ही कारक है ! [बौद्ध मत में क्रिया और कारक में (कर्ता, कर्म करण में) भेद नहीं है। क्रिया गतिशील होने के कारण कारक (आत्मा) भी गतिशील अर्थात् अस्थिर व अनित्य है। फिर उस मत में पंचस्कन्ध क्रिया का ही समष्टि है, अतः क्षणविध्वंसी (क्षण क्षण में नाश होनेवाला) है। अतः उनके मतानुसार क्रिया=कारक (आत्मा)=पञ्चस्कन्ध=क्षणविध्वंसी। इन दोनों ही मतों में कर्मों का अशेषतः त्याग नहीं हो सकता।

हाँ तीसरा एक (वैशेषिक) पक्ष और भी है कि जब आत्मा कर्म करता है तब तो वह सक्रिय होता है और जब कर्म नहीं करता, तब वही निष्क्रिय होता है। ऐसा मान लेने से (आत्मा की निष्क्रिय अवस्था में) कर्मों का अशेषतः त्याग भी हो सकता है। इस तीसरे पक्ष में यह विशेषता है कि न तो आत्मा नित्य चलन-स्वभाववाला माना गया है, और न क्रिया को ही कारक माना गया है। तो फिर क्या है कि अपने स्वरूप में स्थित द्रव्य में ही अविद्यमान क्रिया उत्पन्न हो जाती है और विद्यमान क्रिया का नाश हो जाता है ? शुद्ध द्रव्य, क्रिया की शक्ति से युक्त होकर स्थित रहता है और वही (कर्तादि) रूप से क्रिया करता है, इस प्रकार वैशेषिकमतावलम्बी कहते हैं अर्थात्

उनके मत में शुद्ध निर्विकार द्रव्य (आत्मा) शक्तिमत् होकर स्थित रहता है एवं उस शक्ति के कारण ही निर्विकार द्रव्य में विकार उत्पन्न होता है।

पूर्वपक्ष—इस पक्ष में क्या दोष है ?

उत्तरपक्ष—इसमें प्रधान दोष तो यही है कि यह मत भगवान् को मान्य नहीं है।

पूर्वपक्ष—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तरपक्ष—इसीलिए कि भगवान् तो 'असत् वस्तु को कभी भाव नहीं होता' (गीता २।२६) इत्यादि वचन कहते हैं और वैशेषिक-मतवादी असत् का भाव और सत् का अभाव मानते हैं।

पूर्वपक्ष—भगवान् का मत न होने पर भी यदि न्याययुक्त हो तो इसमें क्या दोष है ?

उत्तरपक्ष—बतलाते हैं (सुनो)। सब प्रमाणों से इस मत का विरोध होने के कारण भी यह मत दोषयुक्त है।

पूर्वपक्ष—किस प्रकार ?

उत्तरपक्ष—(क) यदि यह माना जाय कि द्व्यणुक आदि द्रव्य उत्पत्ति से पहले अत्यन्त असत् हुए ही उत्पन्न हो जाते हैं और किंचित् काल स्थित रहकर फिर अत्यन्त ही असत् भाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब तो यही मानना हुआ कि असत् ही सत् हो जाता है अर्थात् अभाव भाव हो जाता है और भाव अभाव हो जाता है अर्थात् (यह मानना हुआ कि उत्पन्न होनेवाला अभाव, उत्पत्ति से पहले शशशृङ्ग की भाँति सर्वथा असत् होता हुआ ही, समवायि, असमवायि और निमित्त नामक तीन कारणों की सहायता से उत्पन्न होता है। परन्तु अभाव इस प्रकार उत्पन्न होता है अथवा कारण की अपेक्षा रखता है—यह कहना नहीं बनता, क्योंकि खरगोश के सींग आदि असत् वस्तुओं में ऐसा नहीं देखा जाता।

हाँ यदि यह माना जाय कि उत्पन्न होनेवाले घटादि भावरूप हैं और वे अभिव्यक्ति के किसी कारण की सहायता से उत्पन्न होते हैं, तो यह माना जा सकता है।

(ख) तथा असत् का सत् और सत् का असत् होना मान लेनेपर तो किसी का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार में कहीं विश्वास नहीं रहेगा। क्योंकि ऐसा मानलेने से फिर यह निश्चय नहीं होगा कि सत्-सत् ही है और असत्-असत् ही है।

(ग) इसके सिवा वे 'उत्पन्न होते हैं' इस वाक्य से द्वयणुक आदि द्रव्य का अपने कारण और सत्ता से सम्बन्ध होना बतलाते हैं अर्थात् उत्पत्ति से पहले कार्य असत् होता है, फिर अपने कारण के व्यापार की अपेक्षा से अपने कारणरूप परमाणुओं से और सत्ता से समवायरूप सम्बन्ध के द्वारा संगठित हो जाता है और संगठित होकर कारण से मिलकर सत् हो जाता है। इसपर उनको बतलाना चाहिए कि असत् का कारण सत् कैसे हो सकता है; और असत् का किसी के साथ सम्बन्ध भी कैसे हो सकता है? क्योंकि वन्ध्यापुत्र की सत्ता, उसका किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है अथवा उसका किसी भी प्रमाण द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्ष—वैशेषिक-मतवादी अभाव का सम्बन्ध नहीं मानते। वे तो भावरूप द्वयणुक आदि द्रव्यों का ही अपने कारण के साथ समवायरूप संबन्ध बतलाते हैं।

उत्तरपक्ष—यह बात नहीं है। क्योंकि (उनके मत में) कार्य-कारण का सम्बन्ध होने से पहले कार्य की सत्ता नहीं मानी गई है। अर्थात् वैशेषिक-मतावलम्बी कुम्हार और दण्ड-चक्र आदि की क्रिया के आरम्भ होने से पहले घट आदि का अस्तित्व नहीं मानते और यह भी नहीं मानते कि मिट्टी को ही घटादि के आकार की प्राप्ति हुई है। इसलिए अन्त में असत् का ही सम्बन्ध मानना सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष—असत् का भी समवायरूप सम्बन्ध होना विरुद्ध नहीं है।

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वन्ध्यापुत्र आदि का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं देखा जाता। अभाव की समानता होने पर भी यदि कहोकि घटादि के प्रागभाव का ही अपने कारण के साथ सम्बन्ध होता है, वन्ध्यापुत्र के अभाव का नहीं तो इनके अभावों का भेद बतलाना चाहिए। एक का अभाव, दो का अभाव, सबका अभाव प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव अत्यंताभाव इन लक्षणों से कोई भी अभाव की विशेषता नहीं दिखला सकता। फिर किसी प्रकार की विशेषता न होते हुए भी यह कहना कि घट का प्रागभाव ही कुम्हार आदि के द्वारा घट भाव को प्राप्त होता है, तथा उसका कपाल नामक अपने कारणरूप भाव से सम्बन्ध होता है, और वह सब व्यवहार के योग्य भी होता है। परन्तु उसी घट का जो प्रध्वंसाभाव है वह अभावत्व में समान होने पर भी सम्बन्धित नहीं होता। इस तरह प्रध्वंसादि अभावोंको किसी भी अवस्था में व्यवहार

के योग्य न मानना और केवल द्व्यणुक आदि द्रव्यनामक प्रागभाव को ही उत्पत्ति आदि व्यवहार के योग्य मानना असमञ्जसरूप (युक्तिविरुद्ध) ही है क्योंकि अत्यन्ताभाव और प्रध्वंसाभाव के समान ही प्रागभाव का भी अभावत्व है, उसमें कोई विशेषता नहीं है।

पूर्वपक्ष—हमने प्रागभाव का भाव रूप नहीं बतलाया है।

उत्तरपक्ष—तब तो तुमने भाव को ही भावरूप हो जाना कहा है जैसे घट का घटरूप हो जाना, वस्त्र का वस्त्ररूप हो जाना; परन्तु यह भी अभाव के भावरूप होने की भाँति ही प्रमाणविरुद्ध है। इस प्रकार वैशेषिक मत का खण्डन करके अब सांख्यमत का खण्डन कर रहे हैं।]

सांख्य-मतावलम्बियों का जो परिणामवाद है, उसमें अपूर्व धर्म की उत्पत्ति और विनाश स्वीकार किये जाने के कारण, वह भी (इस विषय में) वैशेषिक मत से कुछ विशेषता नहीं रखता। अभिव्यक्ति (प्रकट होना) और तिरोभाव (छिप जाना) स्वीकार करने से भी अभिव्यक्ति और तिरोभाव की विद्यमानता और अविद्यमानता का निरूपण करने में, पहले की भाँति ही प्रमाण से विरोध होगा।

इस विवेचन से 'कारण का कार्य रूप में स्थित होना ही उत्पत्ति आदि है, ऐसा निरूपण करने वाले मत का भी खण्डन हो जाता है। इन सब मतों का खण्डन हो जाने पर अन्त में यही सिद्ध होता है कि 'एक ही तत्त्व (आत्मा) अविद्या द्वारा नट की भाँति उत्पत्ति, विनाश आदि धर्मों से अनेक रूप में कल्पित होता है। यही भगवान् का अभिप्राय 'नासतो विद्यते भावः' इस श्लोक में बतलाया गया है क्योंकि सत् प्रत्यय का व्यभिचार नहीं होता और अन्य (असत्) प्रत्ययों का व्यभिचार होता है (अतः सत् ही एकमात्र तत्त्व है)।

पूर्वपक्ष—यदि (भगवान् के मत में) आत्मा निर्विकार है तो भगवान् यह कैसे कहते हैं कि अशेषत कर्मों का त्याग नहीं हो सकता ?

उत्तरपक्ष—सत्त्व, रजः, तमः इन गुणों से उत्पन्न हुए शरीर-इन्द्रियादि चाहे सत्य वस्तु हों, चाहे अविद्याकल्पित हों, जब कर्म उन्हीं का ही धर्म है तब आत्मा में तो वह अविद्याध्यारोपित ही है। वस्तुतः कर्म आत्मा के धर्म नहीं है।

इस कारण कोई भी अज्ञानी (देहात्माभिमानी) अशेषतः कर्मों का त्याग क्षण भर भी नहीं कर सकता, यह कहा गया है। परन्तु विद्या द्वारा अविद्या के निवृत्त हो जाने पर ज्ञानी तो कर्मों का अशेषतः त्याग कर ही सकता है क्योंकि ज्ञान द्वारा अविद्या के नष्ट होने के पश्चात् अविद्या से अध्यारोपित वस्तु का अंश बाकी नहीं रह सकता, जैसे कि तिमिर रोग से विकृत हुई दृष्टि द्वारा अध्यारोपित हुए चन्द्रमा आदि का कुछ भी अंश, तिमिर-रोग के नष्ट हो जाने पर, शेष नहीं रहता (अर्थात् दो चन्द्रादि का और कभी दर्शन नहीं होता है)।

यह बात सिद्ध हो जाने पर 'सब कर्मों को मन से छोड़कर (गीता ५।१३) इत्यादि कथन ठीक ही हैं। तथा 'अपने अपने कर्म में लगे हुए मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होते हैं', 'मनुष्य अपने कर्मों से उसकी पूजा करके सिद्धि को प्राप्त करता है (गीता १८।४५-४६) ये कथन भी ठीक हैं।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—फिर भी यदि तू सांख्य दृष्टि से अपने धर्म में हिंसारूप दोष मानकर परधर्म को श्रेष्ठ मानता है तो परधर्म में भी सदोषता का होना समान ही है अर्थात् कोई भी धर्म दोषशून्य नहीं है इस आशय से कहते हैं—हे कुन्तीपुत्र! **सहजम् कर्म**—स्वभाव के अनुरूप विहित कर्म **सदोषम् अपि न त्यजेत्**—दोषयुक्त होने पर भी नहीं त्यागना चाहिए; क्योंकि—**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**—सभी आरम्भ (दृष्ट और अदृष्ट फल वाले सभी कर्म) किसी न किसी दोष से आवृत्त (व्याप्त) ही हैं। जिस प्रकार अग्नि के साथ जन्मे हुए धुएँ से अग्नि आवृत रहती है, उसी प्रकार सभी आरम्भ (कर्म) दोष से व्याप्त हैं इसलिए जैसे अग्नि के धूम रूप दोष को हटाकर उसके तेज का ही अन्धकार और शीत आदि की निवृत्ति के लिए सेवन किया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के भी दोषयुक्त अंश को छोड़कर गुणयुक्त अंश का ही अंतःकरण की शुद्धि के लिए सेवन करना चाहिए।

(२) **शंकरानन्द**—ब्राह्मण या क्षत्रिय के अपने-अपने अग्निष्टोम आदि धर्म और युद्ध धर्म बाहर से यद्यपि दोषयुक्त प्रतीत होते हैं, तथापि विहित होने से निर्दुष्ट हैं। अतः उनका अनुष्ठान मुक्तिरूप फल का ही उत्पादक है, बन्धन का नहीं,

ऐसा बोधन करके याग या संग्राम हिंसाप्रधान होने से दोषवान् ही है इसलिये उसका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है, ऐसी शंका सर्वथा नहीं करनी चाहिए, इस प्रकार कहे गये अर्थ को ही पुनः दृढ़ करने के लिए कहते हैं—**सहजम् कर्म**—सहज कर्म का ['कर्म से द्विज होता है' इस न्याय से दूसरे जन्म के साथ जो उत्पन्न होता है वह सहज है यानी जाति से प्राप्त है अर्थात् जाति और वर्ण को निमित्त करके शास्त्र से जो विहित है) उस कर्म का (स्वधर्म का)] **सदोषम् अपि न त्यजेत्**—उक्त रीति से दोषयुक्त होनेपर भी आरुरुक्षु (मोक्षेच्छु) ब्राह्मण आदि त्याग न करे, संन्यास न करे, यह अर्थ है। यदि कहो कि दोषवाले कर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा निर्दुष्ट परधर्म का आश्रय ही युक्त है, तो इस विषय में तुमसे यह प्रश्न होगा कि क्या कर्तव्य कर्म का त्याग दुष्टत्वबुद्धि से करना चाहिए ? अथवा असाधनत्वबुद्धि से या असत्त्वबुद्धि से या परधर्म अदुष्ट है, अतः वह आश्रयणीय है, इस बुद्धि से करना चाहिए ? पहला पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि विहित का परित्याग करने से प्रत्यवाय होता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविरक्त पुरुष को असाधनत्वबुद्धि (मुझे कुछ करना नहीं है ऐसी बुद्धि) नहीं होती और विरक्त पुरुष को त्यक्तव्य कर्म में गुण और दोष का विचार नहीं होता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनात्मज्ञ पुरुष को कर्म, कर्म के साधन और फल में असत्त्वबुद्धि नहीं हो सकती। चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म होने से परधर्म में भी दोषवत्त्व का अव्यभिचार है अर्थात् परधर्म भी किसी न किसी प्रकार से दोषयुक्त ही है। अविरक्त कुटीचक भी शिखा यज्ञोपवीत आदि के होने के कारण कर्मी है, उसका कर्म भी साधनसाध्यरूप से दोषवान् ही है, ऐसा निश्चय कर सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालों के द्वारा क्रियमाण कर्म दोषवान् ही हैं, क्योंकि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' अर्थात् सब भूतों की हिंसा न करे' इस श्रुति से भूतहिंसा का निषेध है और सब वैदिक कर्म कुश, समिधा आदि से साध्य होने के कारण हिंसा-प्रधान हैं। इसलिये सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालों के द्वारा क्रियमाण सभी कर्म हिंसाप्रधान होने से दोषयुक्त ही हैं' यों सब कर्मों की दोषवत्ता दिखलाने के लिए कहते हैं—**सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृताः**—'काममय एवायं पुरुषः' अर्थात् काममय ही यह पुरुष है, 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' अर्थात्

जो-जो जन्तु (प्राणी) करता है, वह-वह काम की ही चेष्टा है' तथा 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्' अर्थात् तृष्णा और सङ्ग से उत्पन्न रजोगुण को रागात्मक जानो, हे कौन्तेय, वह कर्म सङ्ग से देही को बाँधता है, इस न्याय से प्रत्येक कर्म काम, संकल्प आदि रजोगुण का कार्य होने के कारण दोषवान् है जिस कारण से सम्पूर्ण आरम्भ (जिनका आरम्भ किया जाता है वे आरम्भ हैं) यानी सम्पूर्ण वर्ण और आश्रमवालों से क्रियमाण सभी कर्म हिंसादोष से अथवा रजोदोष से, धूम से अग्नि के समान वृत्त व्याप्त हैं। जैसे अपनी उत्पत्ति में धूम के विना अग्नि के अस्तित्व का अभाव है वैसे ही हिंसा या काम के विना वैदिक कर्म के अस्तित्व का भी अभाव होने से सब कर्म दोषवान् ही हैं। जिस कारण से ऐसा है इसलिये परधर्म भी दोषयुक्त ही है। परधर्म के आचरण से एक स्वाभाविक दोष प्राप्त होता है, स्वधर्म का त्याग दूसरा दोष है, अविहित का आचरण तीसरा दोष है और ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना चौथा दोष प्राप्त होता है। केवल मोक्ष की ही कामना करनेवाले आरुरुक्षु अविरक्त पुरुष को जाति, वर्ण और आश्रम को निमित्त करके श्रुति और स्मृति से विहित कर्म का (वह दोषयुक्त ही क्यों न हो) सत्त्वशुद्धि के लिए अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए। स्वधर्म के आचरण से ही शुद्धात्मा होकर ब्राह्मण आदि मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जैसे कि स्मृति है 'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः' अर्थात् वेदोक्त स्वकीय कर्मों का आलस्यरहित होकर नित्य अनुष्ठान करे, यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष परमगति को प्राप्त होता है। जिस कारण से ऐसा है, इसलिए वर्णाश्रमी मुमुक्षुओं को बन्धन से मुक्ति पाने के लिए स्वधर्म का अनुष्ठान ही करना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—त्रिगुणात्मक (अर्थात् सत्त्व, रजः एवं तमोगुण के मिश्रण से) सभी कर्म उत्पन्न होते हैं। जहाँ त्रिगुण है वहीं कोई न कोइ दोष अवश्य रहता है जैसे जहाँ अग्नि है वहीं कम या वेशी धुआँ भी अवश्य रहेगा। अतः निम्नलिखित कारण से सहज (स्वभावजात या स्वाभाविक) कर्म का किसी को त्याग नहीं करना चाहिए।

(१) सभी कर्म तीनों गुणों के कार्य होने के कारण दोषयुक्त हैं। अतः स्वधर्म का त्याग करके यदि कोई परधर्म को ग्रहण करे तो भी वह कर्म स्वभावतः

दोषयुक्त रहेगा अतः अपने स्वाभाविक कर्म का त्याग करने पर भी दोष से मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

(२) परधर्म सदा ही भयावह अर्थात् अनेक अनर्थ का हेतु है (गीता ३।३५)। इसलिये भी स्वधर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

(३) अज्ञ (अर्थात् अनात्मज्ञ) पुरुष एक क्षण के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (गीता ३।५)। अतः कर्म जब उसको स्वभाव से अवश होकर करना ही पड़ता है तो अपने सहज (स्वभावजात) कर्म का त्याग करने पर इहलौकिक तथा पारलौकिक किसी भी शुभफल को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः उसको अपने स्वभाव-नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। क्षत्रिय का स्वाभाविक युद्धादि कर्म प्रत्यक्षतः दोषयुक्त है अर्थात् उसमें बन्धुबधादि की सम्भावना रहने के कारण वह विशेषरूप से दोषयुक्त है तथापि देहात्माभिमानी क्षत्रिय के लिये उक्त कारणों में अपने स्वभावज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। अब प्रश्न होगा कि यदि स्वाभाविक कर्म करना ही सबके लिए कर्तव्यरूप से विहित है तो सर्वकर्म त्यागरूप मुख्यसंन्यास (अथवा नैष्कर्म्य-सिद्धि जिसके बिना मोक्षप्राप्ति असम्भव है वह) कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जैसे अग्नि विशेषरूप से प्रज्वलित होने पर उसके साथ स्वतः ही उत्पन्न हुआ धूम्र (धुआँ) क्रमशः अत्यन्त कम होते हुए प्रायः निवृत्त होता है एवं तब वह प्रज्वलित अग्नि शीत एवं अन्धकार को दूर करने में तथा अन्न पकाने में समर्थ होती है, उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त होने पर भी यदि फलाकांक्षाशून्य होकर ईश्वर-अर्पणबुद्धि से (ईश्वर की प्रीति के लिए) किया जाय तो वह कर्म भी अपने दोष के अंश का परित्यागकर क्रम से चित्तशुद्धि, विविदिषा, सर्वकर्म त्यागरूप मुख्यसंन्यास, तत्त्वज्ञान एवं नैष्कर्म्यसिद्धिरूप मोक्षपद की प्राप्ति का हेतु होता है, यही भगवान् की उक्तिका तात्पर्य है।

पूर्व श्लोक में यह कहा गया है कि अपना सहज (स्वाभाविक) कर्म या स्वधर्म यदि हिंसादि दोषों से युक्त भी हो तथापि उसका परित्याग न कर फलाकांक्षा के त्याग-पूर्वक भगवदर्पणबुद्धि से स्वधर्म का अनुष्ठान करने पर चित्तशुद्धि होती है एवं उससे ज्ञाननिष्ठा की योग्यता की प्राप्ति होती है। ज्ञाननिष्ठा की योग्यता ही सहज (स्वभावज)

कर्म की सिद्धि है। उसकी फलभूत ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि भी कही जानी चाहिए (क्योंकि नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होने के पहले सर्वकर्म का त्याग करना सम्भव नहीं है)। यह बात स्पष्ट करने के लिए अगला श्लोक आरम्भ किया जाता है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अन्वय—सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः संन्यासेन परमाम् नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति ।

अनुवाद—सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला जितेन्द्रिय (अन्तःकरण को वश में रखने वाला) और निस्पृह (सर्व प्रकार की इच्छा से रहित) पुरुष संन्यास के द्वारा (सर्वकर्मों के त्याग के द्वारा) सर्वकर्म की निवृत्तिरूप नैष्कर्म्यसिद्धि (निष्क्रिय आत्म-स्वरूप से स्थित होनारूप निष्कर्मता की परमसिद्धि) को प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका—सर्वत्र असक्तबुद्धिः—आसक्ति के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री आदि सभी में जिसका अन्तःकरण आसक्ति से (प्रीति से) रहित हुआ है ['मैं इनका हूँ और ये मेरे हैं' इस प्रकार के आग्रह से जिसकी बुद्धि रहित हुई है, ऐसे पुरुष को सर्वत्र असक्तबुद्धि कहा जाता है।] क्योंकि वह **जितात्मा**—अर्थात् उसका आत्मा (अन्तःकरण) विषय से हटाकर जित (वशीभूत किया) हुआ है क्योंकि **विगतस्पृहः**—शरीर, जीवन और भोगों में भी उसकी स्पृहा (तृष्णा) नष्ट हो गई है। जो ऐसा आत्मज्ञानी है वह **परमाम् नैष्कर्म्यसिद्धिम्**—परम नैष्कर्म्य सिद्धि को निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है अर्थात् मैं शुद्धचैतन्यस्वरूप निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप हूँ यह ज्ञान होने के कारण जिसके सर्व कर्म निवृत्त हो गये हैं वह 'निष्कर्मा' है। उसके भाव का नाम 'नैष्कर्म्य' है तथा (कर्मधारय समास से) निष्कर्मतारूप सिद्धि का नाम नैष्कर्म्यसिद्धि है अथवा (षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा) निष्क्रिय आत्मस्वरूप से स्थित होनारूप निष्कर्मता की सिद्धि (परिपक्वावस्था) को प्राप्त होना ही नैष्कर्म्यसिद्धि है। ऐसी जो कर्मजनित सिद्धि से विलक्षण और सद्योमुक्ति में (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अविचलरूप से स्थिति होनारूप उत्तम सिद्धि है, उस परम नैष्कर्म्यरूप सिद्धि को **संन्यासेन अधिगच्छति**—

सम्यक् दर्शन से (यथार्थज्ञान से) अथवा ज्ञानपूर्वक सर्वकर्मों के संन्यास के द्वारा प्राप्त करता है। गीताशास्त्र में अन्यत्र भी ऐसा कहा है कि–'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' 'नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते' (अर्थात् सब कर्मों को मन से छोड़कर न करता हुआ, न कराता हुआ और न करवाता हुआ ज्ञानी रहता है)। [तात्पर्य यह है कि जो समस्त दृश्य पदार्थों में दोष देखने से तथा नित्यबोध परमानन्दस्वरूप मोक्ष में गुण देखने से सबसे विरक्त हैं; ऐसा जो शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष है अर्थात् 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) इस वचन द्वारा प्रतिपादित कर्मजनित अपरासिद्धि को यानी ज्ञान के साधन वेदान्तवाक्यविचार के अधिकाररूप ज्ञाननिष्ठा की योग्यता को प्राप्त है वह संन्यास से (शिखायज्ञोपवीतादि के सहित सम्पूर्ण कर्मों के त्यागरूप हेतु से अर्थात् उस त्यागपूर्वक विचार से) नैष्कर्म्यसिद्धि को (निष्कर्म ब्रह्म को कहते हैं, उससे सम्बन्ध रखनेवाले विचार से होनेवाला ज्ञान नैष्कर्म्य है–उस नैष्कर्म्यरूपा परमा सिद्धि को जो कर्मजनित अपरमा सिद्धि की फलभूता होती है), अधिगत करता है अर्थात् साधन के परिपाक द्वारा प्राप्त करता है। अथवा 'संन्यासेन' यह इत्थंभूत लक्षण में तृतीया है। अतः तात्पर्य यह है कि सर्वकर्मसंन्यासरूप नैष्कर्म्य सिद्धि को अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता को (नैर्गुण्यरूपा सिद्धि को जो परमा है अर्थात् सर्वोत्तम सात्त्विकी सिद्धि की फलभूता है उसे) प्राप्त कर लेता है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अब प्रश्न होता है कि कर्म करते समय उसके दोषयुक्त अंश के त्यागपूर्वक केवल गुणयुक्त अंश को ही कैसे प्राप्त किया जायगा ? इस अपेक्षा पर कहते हैं–**असक्तबुद्धिः सर्वत्र**—जिसकी बुद्धि सर्वत्र असक्त (सङ्गशून्य) हो गई है, **जितात्मा**—जिसने आत्मा को (अन्तःकरण को) जीत लिया है अर्थात् जो अहंकाररहित है, **विगतस्पृहः**—जिससे स्पृहा (फलविषयक इच्छा) विगत (दूर) हो गई है, ऐसा विगतस्पृह साधक **नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम् संन्यासेनाधिगच्छति**– 'स त्यागः सात्त्विको मतः' इस प्रकार पहले कहे हुए कर्मासक्ति और कर्मफल दोनों के त्यागरूप संन्यास के द्वारा 'नैष्कर्म्य-सिद्धि को' अर्थात् सर्वकर्म निवृत्तिरूप अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त होता है। यद्यपि सङ्ग और फल दोनों के त्यागपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करना भी निष्कर्मता ही है, क्योंकि उसमें कर्तापन के अभिनिवेश का अभाव है,

जैसा कि 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा कहा गया है, तो भी इस कहे हुए लक्षणोंवाले संन्यास से परम निष्कर्मतारूप सिद्धि को अर्थात् 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' इस प्रकार के लक्षणवाली सिद्धि को, जिसका दूसरा नाम 'पारमहंस' है, प्राप्त होता है।

(२) **शंकरानन्द**—सम्पूर्ण शास्त्रों में प्रसिद्ध ज्ञान और कर्म के साध्यसाधन-भाव का बोधन कराने के लिए ही उस प्रकार केवल मोक्ष की ही कामना रखनेवाले आरुरुक्षु पुरुष का कर्तव्य कर्म दोषयुक्त होनेपर भी (चित्तशुद्धि अन्य से साध्य न होने के कारण) अवश्य करने योग्य है। श्रुति और स्मृति से विहित होने के कारण वह निर्दुष्ट और श्रेय का साधन है क्योंकि उस सात्त्विक कर्म से अनेक जन्मों तक भलीभाँति आराधित ईश्वर के प्रसाद से चित्तशुद्धि होती है, ऐसा प्रतिपादन करके केवल सात्त्विकी बुद्धि और सात्त्विक कर्म से समाराधित परमेश्वर के प्रसाद से सम्यक् शुद्धि को प्राप्त कर चुकनेवाले, सद्गुरु के एकबार के उपदेशमात्र से प्राप्त हुए आत्मज्ञान से युक्त आरूढ़ की संन्यासयोग से ब्रह्मप्राप्ति दिखलाते हैं—**सर्वत्र असक्तबुद्धिः**—सर्वत्र दूसरे विषय में, दूसरे कर्म में, दूसरे देश में, दूसरे लोक में और दूसरे देवता में भोगने के लिए, करने के लिए, स्थिति के लिए, प्राप्त करने के लिए और उपासना करने के लिए असक्त (अनुरक्त) यानी उन-उन विषयों के साथ सम्बन्ध से रहित है बुद्धि जिसकी, वह असक्तबुद्धि है अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य में मिथ्यात्व का निश्चय करके सर्वत्र अर्थात् विषयमात्र में भलीभाँति विरक्त सबमें मिथ्यात्व के निश्चय से विषयों में असक्तबुद्धि होनेपर भी चंचलचित्तवाले की ज्ञाननिष्ठा का सम्भव न होने से विद्वान् को अपना मन वश में रखना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**जितात्मा**—जित (तीव्र वैराग्य से श्रद्धापूर्वक चिरकालिक नित्य-निरन्तर सत्यप्रत्यय की आवृत्ति के अभ्यास से निर्जित) अर्थात् ब्रह्म में ही स्थिरता को प्राप्त हुआ है आत्मा (मन) जिसका, वह जितात्मा (चित्त को वश में रखनेवाला)। असक्तबुद्धित्व और जितात्मत्व के सिद्ध होनेपर भी शरीरसुख की अपेक्षा रखनेवाले और परिग्रहवाले योगी की ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती, इसलिए इससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**विगतस्पृहः**—देह से और परिग्रह से विशेष करके गत (विगत) हो गई है (देह, परिग्रह और क्षेमविषयक)

स्पृहा (अपेक्षा) जिसकी, वह विगतस्पृह है। समय पर प्रारब्ध से प्राप्त हुए अन्न का भोजन करनेवाला और कोपीन, कन्था, दण्ड और कुण्डिकामात्र का परिधान करनेवाला होवे, यह अर्थ है। इस प्रकार उक्त साधनों से सम्पन्न आत्मतत्त्व को भलीभाँति जाननेवाला, तीव्र मोक्ष की इच्छा रखनेवाला आरूढ़ मुमुक्षु पुरुष **संन्यासेन**—संन्यास से (स्वात्मरूप से विदित सत्ब्रह्म में निरन्तर स्थित रहना संन्यास अर्थात् समाधि है उससे) अर्थात् निरन्तर ब्रह्म (ज्ञान) निष्ठा से। अथवा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म, इत्यादि से उक्त लक्षणवाला 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार दूसरे भाव की प्राप्ति से शून्य होकर अपने ब्रह्माकार से निरन्तर अवस्थान जिससे सिद्ध होता है, वह संन्यास है यानी मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही यह सब हूँ इस प्रकार का जो सम्यक् ज्ञान है, उससे यानी अपने यथार्थ स्वरूप के विज्ञान से **परमाम् नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति**—नैष्कर्म्यसिद्धि को (जहाँ कर्म नहीं, वह निष्क्रिय परब्रह्म है क्योंकि 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' अर्थात् ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय शान्त है, ऐसी श्रुति है। निष्कर्म का भाव नैष्कर्म्य यानी ब्रह्मभाव, उसकी प्राप्ति नैष्कर्म्यसिद्धि है, उसको अर्थात् निर्विशेषब्रह्मस्वरूप से अवस्थितिरूप नैष्कर्म्यसिद्धि को), जो कि परमा है—ब्रह्मभाव की प्राप्ति से उत्तम दूसरी सिद्धि न होने के कारण वह अनुत्तम है। सभी अणिमा आदि सिद्धियाँ अथवा सालोक्य आदि सिद्धियाँ भेदप्रत्यय की हेतु होने के कारण मोहक हैं, अतः वे पुरुष को संसार की प्राप्ति कराती हैं, नैष्कर्म्यसिद्धि तो स्वसिद्धि के कारण सम्यक्दर्शन से द्वैत और द्वैतप्रत्यय के हेतुभूत अज्ञानरूप अन्धकार का विध्वंस कराकर संसार से निवृत्त करके ब्रह्मवित् को स्वाराज्य के सुख में स्थापन करती है, इसलिए नैष्कर्म्यसिद्धि का उत्तम होना युक्त है। इस नैष्कर्म्यसिद्धि को ब्रह्मवित् यति संन्यास से (निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा से होनेवाले यथार्थविज्ञान से) ही प्राप्त होता है, दूसरे मार्ग से नहीं, यह सिद्ध हुआ। अथवा नैष्कर्म्यसिद्धि को (नैष्कर्म्य की—निर्विशेष ब्रह्मभाव की—प्राप्ति नैष्कर्म्यसिद्धि है उसको) संन्यास से यानी 'अहङ्कार, बल और दर्प को' इत्यादि से वक्ष्यमाण अहंकार आदि के त्याग से प्राप्त होता है।

अथवा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' अर्थात् अपने कर्म से उसका अर्चन करके, इस न्याय से सात्त्विक बुद्धि, श्रद्धा आदि से युक्त सात्त्विक मुमुक्षु पंडित का अर्थात् जिसने

कि सात्त्विक वैदिक कर्मों से अनेक जन्मों में समाराधित परमेश्वर के अनुग्रह से सत्त्व शुद्धि प्राप्त कर ली है और तदनन्तर एकबार के उपदेश मात्र से आत्मतत्त्व विज्ञान को प्राप्त किया है उसका तो पुत्रैषण के त्याग आदि के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों के संन्यास में ही अधिकार है, कर्म में किसी प्रकार का अधिकार नहीं है, ऐसा बोधन करने के लिए उस प्रकार के लक्षणों से युक्त पुरुष में ही संन्यासयोग्यता है एवं इस प्रकार से अधिकारी के लक्षणों को कह रहे श्रीभगवान् जिसका अन्तःकरण परिपक्व हो गया है, उसी पुरुष को नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**असक्तबुद्धिः सर्वत्र**—पुत्र, मित्र, कलत्र, धन आदि में आसक्त (सक्ति यानी मोह से असक्त यानी राग, ममता आदि दोषों से निर्मुक्त बुद्धि जिसकी है वह असक्तबुद्धि) । यानी सबसे भली भाँति विरक्त तात्कालिक वैराग्य होने पर भी अस्थिर मन वाले पुरुष में पीछे से राग आदि दोष, विषय प्रवृत्ति से उसका पातित्य (परमपुरुषार्थ से पतन) हो जायगा, इसलिए पुरुष को उससे रहित होना चाहिए, ऐसा कहते हैं—**जितात्मा**—जित यानी निर्जित हुआ है [तीव्र मुमुक्षा से, बार बार विषयों मे दोष देखने से, उससे उदित तीव्र वैराग्य से, उनमें बन्धकत्व बुद्धि से, भय से और असत्य ज्ञान से भली भाँति विषयों से विमुखता को प्राप्त हुआ है] आत्मा (मन) जिसका, वह जितात्मा है अर्थात् मन को अपने वश में कर चुकने वाला तीव्र मोक्षेच्छा आदि जितात्मत्व के सिद्ध होने पर भी 'औषधवदशनमाचरेत' अर्थात् औषध के समान भोजन करे इत्यादि उक्त लक्षण के न होने पर देहसुख की अपेक्षा रखने वाले पुरुष का ज्ञान और उसके फल का सम्भव न होने से, संन्यास में अधिकार नहीं है। इसलिए उससे रहित होना चाहिए ऐसा कहते हैं **विगतस्पृहः**—देह के सुख से और परिग्रह की (भिक्षा, कन्था कौपीन आदि की) सुन्दरता से विशेष करके चली गई है स्पृहा (आशा) जिसकी, वह विगतस्पृह अर्थात् देहभरण की अपेक्षा से रहित, यह अर्थ है। इस प्रकार के लक्षणों से लक्षित शुद्धात्मा तथा सद्गुरु के प्रसाद से आत्मतत्त्व को जान चुकने वाला मुमुक्षु विद्वान् **नैष्कर्म्य-सिद्धिम् परमाम् संन्यासेनाऽधिगच्छति**—नैष्कर्म्य सिद्धि को (श्रौत, स्मार्त आदि सम्पूर्ण कर्मों से जो निकल गया है, वह निष्कर्मा है उसका भाव नैष्कर्म्य यानी विहित, प्रतिषिद्ध आदि सम्पूर्ण कर्मों के सम्बन्ध से रहित होकर अवस्थान यानी कर्म और कर्मविधि का विषय न होना रूप अवस्था की प्राप्ति नैष्कर्म्य सिद्धि है, उसको)

अर्थात् परमपुरुषार्थरूप मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान की साधना होने से परम नैष्कर्म्य सिद्धिको संन्यास से (साधनों के साथ विहित कर्मों का विधि से त्याग संन्यास है, उससे यानी संन्यास आश्रम से अर्थात् यति धर्म से) ही प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम से गार्हस्थ्य से और वानप्रस्थ से नैष्कर्म्य सिद्धि नहीं होती, इसलिए ब्रह्मवित् को नैष्कर्म्य का संन्यास से ही सम्पादन करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—शास्त्रविहित स्वधर्म का पालन निष्काम भाव से भगवान् की अर्चनारूप से करने पर चित्तशुद्धि प्राप्त होती है एवं उस निर्मल बुद्धि के द्वारा अविद्याकल्पित शरीर, जीवन तथा विषय भोग असत् (मिथ्या) हैं एवं आत्मा ही एकमात्र सत् वस्तु है इस प्रकार की विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है। अतः मिथ्या वस्तु के लिए उसकी स्पृहा (तृष्णा) नहीं रहती है अर्थात् वह **विगतस्पृह**—होता है देहादि की रक्षा के लिए एवं विषयभोग के लिए जिसकी स्पृहा है उसका आत्मा (अन्तः करण) भी इन्द्रियादि के साथ बाह्य विषयप्रपंच में ही लिप्त रहता है परन्तु विगतस्पृह होने पर उसके आत्मा को (अन्तःकरण को) मिथ्या विषयों से लौटाकर जित (वशीभूत) करना सम्भव होता है अर्थात् जो विगतस्पृह है वही **जितात्मा**—हो सकता है। ऐसा होने पर उसके देहादि में 'यह मैं हूँ, अथवा पुत्र दारादि में 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिमान के द्वारा उसकी बुद्धि (अन्तःकरण) किसी वस्तु में आसक्त नहीं रहती है अर्थात् वह **सर्वत्र असक्तबुद्धि**—हो जाता है। इस प्रकार विगतस्पृह, जितात्मा तथा सर्वत्र असक्त बुद्धि वाला पुरुष ही सर्व कर्म के संन्यास में (सम्यक् रूप से त्याग करने में) अधिकारी होता है। अतः वह संन्यास द्वारा (सर्व कर्म के त्याग द्वारा) नैष्कर्म्य सिद्धि (निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अविचलरूप से स्थिति रूप जो सिद्धि अर्थात् पूर्णता है उसे) प्राप्त होता है। [(१) नैष्कर्म्य सिद्धि शब्द की व्याख्या विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से की हैं यद्यपि उन सभी की व्याख्या का तात्पर्य एक ही है, यथा **नैष्कर्म्य सिद्धि**—सर्व कर्मों की निवृत्ति रूप अन्तः करण शुद्धि (श्रीधर) (२) ब्रह्म को निष्कर्म कहा जाता है। उस ब्रह्म के साथ संबन्ध युक्त विचार द्वारा जिस तत्त्व ज्ञान का उदय होता है वह नैष्कर्म्य है। वह नैष्कर्म्यरूपा सिद्धि को (सर्व कर्मों से उपरम होने पर जिस सिद्धि को प्राप्त होता है,

उस सिद्धि को) नैष्कर्म्य सिद्धि कहते हैं (मधुसूदन)-(३) (क) ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व बोध होने से जीव के सर्वकर्म की निवृत्ति होने पर उसको 'निष्कर्मा' कहा जाता है । निष्कर्मा का भाव नैष्कर्म्य है उस नैष्कर्म्य की सिद्धि (पूर्णता) नैष्कर्म्य-सिद्धि है । अथवा (ख) निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थिति नैष्कर्म्य की सिद्धि (निष्पत्ति अर्थात् परिपक्व अवस्था) नैष्कर्म्य सिद्धि है (शंकराचार्य) । (४) जहाँ कर्म नहीं है वह निष्कर्मा अर्थात् निष्क्रिय परब्रह्म है । निष्कर्मा के भाव को नैष्कर्म्य अर्थात् ब्रह्म-भाव कहते हैं । उस नैष्कर्म्य प्राप्ति अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति नैष्कर्म्य सिद्धि है (शंकरानन्द) ।]

पूर्वोक्त अपने धर्म के अनुष्ठान द्वारा ईश्वरार्चन रूप साधन से उत्पन्न हुई ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति की योग्यता रूप सिद्धि को (अन्तःकरण शुद्धि को जिसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है) जो प्राप्त कर लेता है और जिसमें आत्मविषयक विवेक ज्ञान उत्पन्न हो गया है उस पुरुष को जिस क्रम से केवल आत्मज्ञान निष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है वह बतलाना चाहिए, इसलिए भगवान् कहते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! सिद्धिम् प्राप्तः यथा ब्रह्म आप्नोति तथा मे समासेन एव निबोध या ज्ञानस्य परा निष्ठा ।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन ! सिद्धि को (अन्तःकरणशुद्धि को) प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह संक्षेप से ही मुझसे सुनो जो कि ज्ञान की परानिष्ठा है अर्थात् वही ब्रह्मज्ञान की अन्तिम अवधि या पर समाप्ति (अर्थात् चरम उत्कर्ष-अवस्था मोक्ष) है ।

भाष्यदीपिका—हे **कौन्तेय**—हे अर्जुन ! [तुम्हारी माता कुन्ती केवल सर्वकर्मों से ही नहीं, अपने सुख दुःखरूप पुष्पाञ्जलि से भी मेरी अर्चना करती थी अतः उसके पुत्र तुम भी उसी प्रकार से कर्मों का अनुष्ठान करके जो ज्ञान सच्चिदानन्द स्वरूप मेरी प्राप्ति में परिसमाप्त हो जाता है, उस ब्रह्मज्ञान से मोक्षस्वरूप मुझे प्राप्त कर

सकोगे इस प्रकार अर्जुन को आश्वासन देने के लिए भगवान् ने 'कौन्तेय' शब्द से सम्बोधित किया।] **सिद्धिम् प्राप्तः**—अपनी सिद्धि को (अपने कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान द्वारा ईश्वर की सम्यक् प्रकार से पूजा करके उसकी कृपा से उत्पन्न हुई ज्ञान-निष्ठा प्राप्ति की योग्यता रूप सिद्धि को अर्थात् शरीर-इन्द्रिय तथा अन्तः करण की शुद्धि को) प्राप्त हुआ पुरुष ['सिद्धिम् प्राप्तः' शब्द का प्रयोग अनुवाद (पुनरुक्ति) है। यह पहले भी कहा गया है। परन्तु अब और कुछ बोलने के लिए अर्थात् आगे कहे जाने वाले वचन के साथ संबन्ध जोड़ने के लिए यह पुनरुक्ति है।] वे आगे कहे जाने वाले वचन कौन से हैं ? सो बताते हैं **यथा ब्रह्म आप्नोति**—जिस ज्ञान निष्ठारूप प्रकार से शुद्धात्मा ब्रह्म को (परमात्मा को) प्राप्त होता है (साक्षात्कार करता है) **तथा मे समासेन एव निबोध**—उस प्रकार को (ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति के क्रम को) तुम मेरे वचनों से संक्षेप से सुनकर निश्चय पूर्वक अवधारण करो (समझो) अर्थात् मुझसे सुनकर उसके अनुसार अनुष्ठान करो। मैं विस्ताररूप से नहीं कह रहा हूँ क्योंकि विस्तार पूर्वक वर्णन करने से तुम्हारे लिए समझना कठिन होगा। अतः समास से (संक्षेप से) ही कह रहा हूँ इस वाक्य से जिस ब्रह्म-प्राप्ति के उपाय बतलाने के लिए भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी उसे इदम् रूप से (स्पष्ट रूप से) दिखाने के लिए कहते हैं—**या ज्ञानस्य परा निष्ठा**—ज्ञान की (ब्रह्मज्ञान की) जो परा (अन्तिम एवं श्रेष्ठ) निष्ठा (पर्यवसान या परिसमाप्ति) है उसको मैं कह रहा हूँ, तुम सुन लो)। प्रश्न होगा कि वह ब्रह्मज्ञान की निष्ठा कैसी है ?

उत्तर—जैसा कि आत्मज्ञान (आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व ज्ञान) है।

प्रश्न—वह कैसा है ?

उत्तर—जैसे आत्मा है अर्थात् आत्मा का स्वरूप जैसा है उसको यथार्थ रूपसे जानना आत्मज्ञान है।

प्रश्न—वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर—जैसा भगवान् ने कहा है तथा जैसा उपनिषद् वाक्यों के द्वारा कहा गया है एवं जैसा न्याय से (युक्तियों से) सिद्ध है ऐसा ही आत्मा का स्वरूप है [स्वामी मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार व्याख्या की—ब्रह्म प्राप्ति के प्रकार के क्रम का निश्चय

करने से क्या होगा इस पर कहते हैं **निष्ठा ज्ञानस्य या परा**—इस क्रम को जानने पर] विचार से निष्पन्न हुए ज्ञान की परा निष्ठा (परिसमाप्ति) होती है अर्थात् इसके पीछे और कोई साधन नहीं करना पड़ता है। अतः सब साधन जिसमें परिसमाप्त हो जाता है वही ब्रह्मप्राप्ति रूपा ज्ञाननिष्ठा मोक्ष का साक्षात् हेतु होने के कारण परा है (सबसे श्रेष्ठ है)।

पूर्वपक्ष—ज्ञान विषयाकार होता है [विषय का आकार जिससे प्रतिभात (प्रकाशित) होता है उसे ज्ञान कहा जाता है। अतः विषय के बिना ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।] परन्तु आत्मा न तो कहीं भी विषय माना जाता है और न आकारवान् ही। अतः आत्मा ज्ञान का विषय न होने के कारण आत्मज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तरपक्ष—किन्तु 'आदित्यवर्ण' 'प्रकाशस्वरूप' 'स्वयंज्योतिः' इस तरह आत्मा का आकारवान् होना तो श्रुति में कहा है।

पूर्वपक्ष—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे वाक्य तमः स्वरूपत्व का निषेध करने के लिये कहे गये हैं। अर्थात् आत्मा में द्रव्यगुण आदि का प्रतिषेध करने पर जो आत्मा के अन्धकाररूप मानेजाने की आशंका होती है उसका प्रतिषेध करने के लिये ही 'आदित्यवर्ण' इत्यादि वाक्य हैं—(आत्मा का कोई रूप सिद्ध करने के लिये नहीं) क्योंकि 'अरूपम्' आदि वाक्यों पर विशेषतः रूप का प्रतिषेध किया गया है और 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिनैनम्' (श्वे० उ० ४।२०) अर्थात् इसका (आत्मा का) रूप इन्द्रियों के सामने नहीं ठहरता, इसको (आत्माको) कोई भी आखों से नहीं देख सकता, 'अशब्दमस्पर्शम्' अर्थात् यह अशब्द है, अस्पर्श है, इत्यादि वचनों से भी आत्मा किसी का विषय नहीं है, यह बात कही गई है।

सुतरां [आत्मा का कोई आकार न रहने के कारण तथा यह इन्द्रियादि का विषय न होने के कारण] आत्माकार ही ज्ञान है अर्थात् 'जैसा आत्मा है वैसा जानना ही ज्ञान है' यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। तब फिर आत्मा का ज्ञान कैसे होता है ? क्योंकि सभी ज्ञान, जिसको विषय करते हैं उसी के आकारवाले होते हैं किन्तु 'आत्मा

'निराकार है' ऐसा कहा है, अतः आत्मा अचिंत्य है फिर ज्ञान और आत्मा दोनों निराकार होने से आत्मज्ञान भी निराकार ही होगा। अतः निराकार आत्मज्ञान में भावना और निष्ठा कैसे हो सकती है? [भावना=पुनःपुनः चिन्तन; निष्ठा=भावना की परिसमाप्ति अर्थात् अभ्यास के द्वारा आत्मसाक्षात्कार से निरन्तर आत्मस्थिति]

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा का अत्यन्त निर्मलत्व, स्वच्छत्व और सूक्ष्मत्व सिद्ध है और बुद्धि का भी आत्मा के सदृश निर्मलत्व आदि सिद्ध है, इसलिए उसका (बुद्धि का) आत्मचैतन्य के आकार से आभासित होना बन सकता है [निर्मलत्व, स्वच्छत्व, सूक्ष्मत्व ये तीनों आत्मा व बुद्धि में समान रूप से विद्यमान हैं।] इसलिए आत्मचैतन्य के आभासद्वारा ज्ञान के परिणामस्वरूप बुद्धि व्याप्त होती है। उसके साथ-साथ बुद्धि से आभासित मन, मन से आभासित इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से आभासित स्थूल शरीर होता है। इसलिये सांसारिक मनुष्य देहमात्र में ही आत्मदृष्टि करते हैं।

[आत्मचैतन्य का आभास सूक्ष्मशरीर से लेकर यथाक्रम से स्थूलशरीर तक होता रहता है। इसलिये अज्ञानीव्यक्ति अपनी-अपनी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न अंश में (कभी स्थूल शरीर में कभी इन्द्रियों में कभी-कभी मन या बुद्धि में) आत्मबुद्धि करता है, यथा] देहात्मवादी लोकायतिक 'चेतनाविशिष्ट शरीर ही आत्मा है' ऐसा कहते हैं'। दूसरे इन्द्रियों को चेतन कहनेवाले हैं तथा कोई मनको और कोई बुद्धि को चेतन कहनेवाले हैं। कितने ही (जगत् कारण के उपासक), उस बुद्धि के भी भीतर व्याप्त, अव्यक्तको अव्याकृतसंज्ञक अविद्यावस्थ (चिदाभास) को आत्मरूप से समझने वाले हैं। बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त सभी जगह। आत्मचैतन्य का आभास ही उनमें आत्मा की भ्रान्ति का कारण है।

अतः (यह सिद्ध हुआ कि) आत्मविषयक ज्ञान विधेय नहीं है अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान का विधान शास्त्रों द्वारा नहीं किया गया है। तो क्या विधेय है? नामरूप आदि अनात्म वस्तुओं का जो आत्मा में अध्यारोप है उसकी निवृत्ति ही कर्तव्य है। आत्मचैतन्य का विज्ञान प्राप्त करना नहीं है। क्योंकि आत्मा उस अविद्या द्वारा आरोपित समस्त पदार्थों के आकार में विशेष रूप से ग्रहण किया हुआ है।

अतः अविद्याकृत अध्यारोप अपसारित होने से ही स्वप्रकाश आत्मचैतन्य स्वतः ही प्रकट होता है यही कारण है कि विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, इस प्रकार मानते हैं। और उस ज्ञान को स्वसंवेद्य मानने के कारण प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं मानते क्योंकि विज्ञान स्वयं ही अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

सुतरां ब्रह्म में जो अविद्या द्वारा (शरीरादि प्रपञ्च का) अध्यारोप किया गया है, उस अविद्या का निराकरणमात्र कर्तव्य है। स्वयंप्रकाश ब्रह्म ज्ञान के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म (सभी का आत्मा होने के कारण) तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। सर्वात्मा ब्रह्म यद्यपि अत्यन्त प्रसिद्ध सुविज्ञेय, अति समीप और आत्मस्वरूप है (सबके मैं पद का लक्ष्य पदार्थ है) तो भी वह विवेकरहित मनुष्यों की बुद्धि अविद्या कल्पित नाम रूप के भेद से भ्रमित हो जाने के कारण आत्मस्वरूप ब्रह्म अप्रसिद्ध, दुर्विज्ञेय, अतिदूर और दूसरा सा (अपने से पृथक्) प्रतीत हो रहा है। परन्तु विश्वप्रपंच को मिथ्यात्व निश्चय कर जिनकी बाह्याकार (वाह्यिक् जागतिक विषय के आकार से आकारित बुद्धि निवृत्त हो गई है, जिन्होंने गुरु और आत्मा की कृपा लाभ कर ली है उनके लिए इससे (आत्मज्ञान से) अधिक सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय, सुखस्वरूप और अपने समीप कुछ भी नहीं है। 'प्रत्यक्ष उपलब्ध धर्ममय' इत्यादि वाक्यों से भी यही बात कही गई है। [गुरुप्रसाद शुश्रूषा के द्वारा जब गुरु अत्यन्त परितुष्ट होते हैं तब उनका हृदय करुणा से पूर्ण होकर स्वतः ही 'मेरा यह शिष्य परमार्थतत्त्व को अवधारण करने में समर्थ हो जाय', इस प्रकार की भावना का उदय उनके मन में होता है। यही गुरुप्रसाद (गुरु की प्रसन्नता या कृपा) है। **आत्मप्रसाद**—जब गुरुवाक्य की पदशक्ति तथा तात्पर्य को शिष्य धारण करने में समर्थ होता है एवं श्रुति, युक्ति एवं अनुसन्धान (विचार) के द्वारा मन को विषयों से निवृत्त कर प्रत्यक्चेतन आत्मा में मन की एकाग्रता द्वारा स्थितिलाभ होता है तब जिस प्रसाद (प्रसन्नता अर्थात् आनन्द का आभास) का अनुभव हो सकता है उसे आत्मप्रसाद कहा जाता है। (आनन्दगिरि)।]

कितने ही अपने को पण्डित माननेवाले यों कहते हैं, कि आत्मतत्त्व निराकार होने के कारण उसको बुद्धि नहीं पा सकती; अतः सम्यक् ज्ञाननिष्ठा दुःसाध्य है।

उत्तर—ठीक है, जो गुरु-परम्परा से रहित हैं, जिन्होंने वेदान्त वाक्यों को (विधिपूर्वक) नहीं सुना है, जिनकी बुद्धि सांसारिक विषयों में अत्यन्त आसक्त हो रही है, जिन्होंने यथार्थ ज्ञान का निश्चय किस प्रकार से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाणों के द्वारा किया जाय वह जानने के लिए परिश्रम नहीं किया है, उनके लिए यही बात है परन्तु जो उनसे विपरीत हैं उनके लिए तो, लौकिक ग्राह्य-ग्राहक भेदयुक्त वस्तुओं में सद्भाव सम्पादन करना (इनको सत्य समझना) अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनको आत्मचैतन्य से अतिरिक्त दूसरी वस्तु की (ग्राह्य-ग्राहकरूप द्वैत वस्तु की) उपलब्धि ही नहीं होती। यह ठीक इसी तरह है अन्यथा नहीं है। यह बात हम पहले सिद्ध कर आये हैं और भगवान् ने भी कहा है कि 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' अर्थात् जिसमें सब प्राणी जागते हैं, ज्ञानी मुनि की वही रात्रि है इत्यादि (गीता २।६९)

सुतरां आत्मस्वरूप के अवलम्बन में बाह्य नाना प्रकार की भेदबुद्धि की निवृत्ति ही कारण है। द्वैतविषयक भेदबुद्धि ही आत्मा का आवरण है। अतः उक्त उपायों के द्वारा भेदबुद्धि के नष्ट होनेपर ही आत्मस्वरूप स्वतः प्रकट होता है, जैसे सूर्य का आवरण करनेवाले मेघ अपसारित होने पर सूर्य स्वतः ही प्रकाशित होता है। क्योंकि आत्मा कभी किसी के भी लिए अप्रसिद्ध (अज्ञात), स्वर्गादि के समान यज्ञादि क्रिया द्वारा प्राप्तव्य, नरकादि के समान त्याज्य या परलोक के समान उपादेय नहीं हो सकता। उस आत्मा को अप्रसिद्ध मान लेनेपर तो सभी प्रवृत्तियों को निरर्थक मानना सिद्ध होगा। इसके सिवा न तो यह कल्पना की जा सकती है कि अचेतन शरीरादि के लिए (सब कर्म किये जाते हैं) और न यही कि सुख के लिए सुख है या दुःख के लिए दुःख है। क्योंकि सारे व्यवहार का प्रयोजन अन्त में आत्मावगति है। [सुख प्राप्ति तथा दुःख के परिहार के लिए ही सबकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसके प्रयोजन की सिद्धि के लिए ऐसा किया जाता है वह अनुसन्धान करने पर अनायास यह अनुभूत होता है कि सदा चेतनरूप से विद्यमान आत्मा के प्रयोजनसिद्धि के लिए ही सभी कर्मों में प्रवृत्ति होती है।] इसलिए, जैसे अपने शरीर को जानने के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है; वैसे ही आत्मा उससे भी अधिक अन्तरतम होने के कारण आत्मा को जानने के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है; अतः यह सिद्ध हुआ कि

विवेकियों के लिए अध्यात्मज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्ध है (क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है) । [जबतक आत्मा के ज्ञान का विषय नहीं होता है तकतक किसी व्यवहार की प्रयोजनसिद्धि नहीं हो सकती । अतः प्रमाणादि के लिए प्रवृत्ति के पहले ही आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में निश्चय करना आवश्यक होता है क्योंकि आत्मा प्रसिद्ध है यह जानकर ही प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृत्तिरूप सभी व्यवहार होते हैं ।]

जिनके मत में ज्ञान निराकार और अप्रत्यक्ष है उनको भी ज्ञेय का बोध (अनुभव) ज्ञान के ही अधीन होने के कारण, सुखादि की तरह ही ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है यह मान लेना चाहिए [ज्ञान सदा ही प्रत्यक्षानुभवगम्य है, अनुमेय नहीं, अर्थात् अनुमानादि प्रमाण विषय नहीं है ।] तथा ज्ञान को जानने के लिए जिज्ञासा नहीं होती इसलिए भी (यह मान लेना चाहिए कि ज्ञान प्रत्यक्ष है) । यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष होता, तो अन्य ज्ञेय वस्तुओं की तरह उसको भी जानने के लिए इच्छा की जाती, अर्थात् जैसे ज्ञाता (पुरुष) घटादिरूप ज्ञेय पदार्थों को ज्ञान के द्वारा अनुभव करना चाहता है, उसी तरह उस ज्ञान को भी अन्य ज्ञान के द्वारा जानने की इच्छा करता (क्योंकि तब तो अनावस्था दोष का प्रसंग होगा । परन्तु यह बात नहीं है । (इससे प्रमाणित होता है कि आत्मज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध है) । सुतरां ज्ञान अत्यन्त प्रत्यक्ष है और इसीलिए ज्ञाता भी अत्यन्त ही प्रत्यक्ष है । [वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान ये तीनों ही ज्ञानस्वरूप हैं । अतः ज्ञान के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य नहीं है, किन्तु अनात्मबुद्धि की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करना कर्तव्य है, इसीलिए ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्य (अनायास) है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इस प्रकार से परमहंस की ज्ञाननिष्ठा द्वारा ब्रह्मभाव का प्रकार 'सिद्धिं प्राप्तः' इत्यादि छः श्लोकों द्वारा बताते हैं—**कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र । **सिद्धिम् प्राप्तः इत्यादि**—निष्कर्मतारूप सिद्धि को प्राप्त हुआ जिस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को तुम संक्षेप से ही मेरे कथनानुसार सुनो, जो कि ज्ञान की परानिष्ठा है ।

(२) शंकरानन्द—पहले ज्ञान और कर्म का साध्यसाधनभाव सूचन करने के लिए सात्त्विक कर्म के अनुष्ठान से होनेवाली सत्त्वशुद्धि का प्रतिपादन किया ।

अब तत्त्वविवेकज्ञान को प्राप्त हुए आरूढ़ यति की विदेह कैवल्यसिद्धि के कारण ज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की (ज्ञान में निरन्तर स्थिति की) सिद्धि के लिए नियमपूर्वक क्रम से कर्तव्य के प्रकारसहित ज्ञाननिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा का प्रकार और ज्ञान के फल का निरूपण करने के लिए कहते है 'सिद्धिम्' इत्यादि से **सिद्धिम् प्राप्तः सन् यथा**—सत्त्वशुद्धि से जो आत्मतत्त्व को भलीभाँति जान चुका है ऐसा आरूढ़ मुमुक्षु संन्यास से सिद्धि को (नैष्कर्म्यसिद्धि को) प्राप्त होकर जिस प्रकार **ब्रह्म आप्नोति**—तत् तत् साधनों के अनुष्ठानपूर्वक ज्ञान निष्ठा की सिद्धि के क्रम से परिपक्व हुए ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त करता है यानी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। संशय, असम्भावना, विपरीत भावना आदि विकल्पों से रहित होकर जिसका भलीभाँति प्रत्यक्ष किया गया है, ऐसे स्वात्मरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा सच्चिदानदैक रस, निर्विशेष, अद्वितीय, परब्रह्म में 'यही मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि करना ही विद्वान् की ब्रह्मप्राप्ति है। जैसे देवदत्त आरोपित दोष से पहले अपने को अन्यथा जानकर अनन्तर दोष की निवृत्ति से 'देवदत्त मैं ही हूँ,' यों अपने स्वरूप में आत्मबुद्धि करता है, वैसे ही अपने अज्ञान से अपने को ब्रह्मस्वरूप न समझकर गुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए विज्ञान से उस अज्ञान की निवृत्ति से स्वरूप ब्रह्म में आत्मबुद्धि करता है। वहाँ आत्मबुद्धि करना ही विद्वान् की ब्रह्मप्राप्ति कही जाती है, धन की प्राप्ति के समान प्राप्ति नहीं कही जाती है' क्योंकि प्राप्तव्य ब्रह्म का देश से, काल से और स्वरूप से व्यवधान नहीं है। 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है, इस न्याय से प्राप्त करनेवाले विद्वान् का स्वरूप होने से नित्य प्राप्त वस्तु की (ब्रह्म की) फिर प्राप्तिकल्पना करना युक्त नहीं है। इसलिए भूले हुए कण्ठाभरण के अस्तित्व का अवधारण ही प्राप्ति है, वैसे ही अज्ञान से अन्यथारूप से गृहीत स्वस्वरूप ब्रह्म में विचारजन्य ज्ञान से फिर स्वभाव का (आत्मबुद्धि का) अवधारण करना ही ब्रह्मप्राप्ति है। इस प्रकार ब्रह्मवित् जिस ब्रह्मनिष्ठासिद्धि के प्रकार से विशुद्ध बुद्धिद्वारा ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस ज्ञान निष्ठासिद्धि के प्रकार को **समासेन**—समास से (संक्षेप से) अर्थात् विस्तार से नहीं, क्योंकि विशुद्ध बुद्धि से युक्त सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण करनेवाले पुरुष के लिए अनेक गाथाओं का उपयोग करना युक्त नहीं है। अतः अल्प-ग्रन्थ से उस प्रकार को मुझसे सुनो, भली-भाँति जान लो। जानकर उसके अनुष्ठान में

तत्पर होओ। सुनने का और जानने का फल अनुष्ठान ही है, अन्यथा बाजारू वार्ता के समान उपदेश निरर्थक है, यह अर्थ है। वह सम्यक् ज्ञान विदेहमुक्ति का परमकारण है। या परा—जो कि परा अर्थात् निरतिशयपरिपाकस्वरूपनिष्ठा (परिसमाप्ति) और विकार से रहित निश्चल स्थिति है।

किसकी निष्ठा है ? इस पर कहते हैं—ज्ञानस्य—'न जन्मता है, न मरता है' यहाँ से लेकर उत्तम पुरुष तो अन्य है। जो परमात्मा कहा गया है। 'पुरुषोत्तम प्रसिद्ध है' यहाँ तक के (गीता २।२०–१५।१८) निर्विशेषवस्तुप्रतिपादक ग्रन्थ से जिस निर्विशेष, नित्यशुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव, प्रत्यगेकरस, अद्वितीय आत्मा का सम्यक् निरूपण किया गया है, उसका जिस तरह ज्ञान है, जिस प्रकार के ज्ञान से 'मैं ही यह सब हूँ, यह सब मैं हूँ, यों ब्रह्मवित् यति सर्वात्मक, दृश्यसम्बन्ध से रहित, चिदेकरस, आकाश के समान परिपूर्ण तथा अद्वितीय आत्मा को देखता है, उस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि के लिए करने योग्य जो परा निष्ठा है, वह जिस प्रकार से सिद्ध होती है, उस प्रकार को मुझसे सुनो, यह अर्थ है। जब मुमुक्षु का आत्मज्ञान ही सिद्ध नहीं होता, तब उसकी परानिष्ठा कहाँ से सिद्ध होगी ? यदि कहो कि क्यों ज्ञान की सिद्धि नहीं होती ? तो इस विषय में कहते हैं–जिस आकार का ज्ञेय होता है, उसी आकार का उसका ज्ञान होता है। यदि ज्ञेय नर है, तो उसका ज्ञान भी नराकार ही होता है, यदि पशु ज्ञेय है, तो पशु के आकार का ज्ञान होता है, दूसरे आकार का नहीं होता। आत्मा तो निराकार है। आत्मा का आकार नहीं है, क्योंकि 'वह न सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है, इससे दृश्यत्व का निषेध है और सत् एवं असत् से विलक्षणवस्तु अप्रसिद्ध होने से आकारशून्य है, अतः उसमें विषयत्व हो नहीं सकता। आत्मा का आकार तो तभी सिद्ध हो सकता है, जब आत्मा 'युष्मत्' प्रत्यय का अर्थ (विषय) हो, यह आत्मा 'युष्मत्' प्रत्यय का अर्थ है नहीं क्योंकि 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' अर्थात् स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं इससे आत्मा का सब दृश्य से वैलक्षण्य सुनने में आता है।

यदि कहो कि 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः' अर्थात् देवता उसको ज्योतियों का ज्योति मानते हैं, इससे तथा 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' अर्थात् यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति है, इससे आत्मा ज्योतिःस्वरूप है, ऐसा सुनने में आता है, फिर वह रूपरहित कैसे

है ? तो यह कहना युक्त है, क्योंकि 'स्थूल नहीं' जो वह अदृश्य है, इत्यादि से रूपवत् द्रव्यत्व का निषेध होने पर अरूपद्रव्यत्व की आपत्ति द्वारा जड़त्व की प्राप्ति होनेपर श्रुति से उसका निषेध किया जाता है प्रकाशस्वरूप आत्मा है, न कि सूर्य आदि के समान ज्योतिःस्वरूप आत्मा है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा में भौतिकत्व, ज्ञेयत्व, जड़त्व, अनित्यत्व आदि दोषों का प्रसंग आवेगा। यदि कहोकि सूर्य आदि के समान प्रयत्न के बिना ही वह विषय हो जायगा, तो वह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इससे अमूर्तत्व सुनने में आता है। 'ईश्वर का रूप इन्द्रियों का विषय नहीं है' इससे आत्मा का निर्विषयत्व सुनने में आता है। विषयभूत वस्तु में ही ज्ञान का उसके स्वरूप से परिणाम होता है, अविषयभूत वस्तु में परिणाम नहीं होता है। 'वह आत्मा है, उसको जानना चाहिए' इससे निर्विशेष आत्मा सुना जाता है। अतः सुने हुए अर्थ के आकार से ज्ञान का परिणाम उत्पन्न है ही, ऐसा यदि कहो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यह वन्ध्यापुत्र जाता है' इत्यादि श्रुति से अर्थ के आकार के ज्ञान का प्रसंग आवेगा और उक्त ज्ञान मनोराज्य के समान मिथ्या है। श्रुत, श्रावित या मन से भावित पदार्थ और उसका अवलम्बन करनेवाला ज्ञान सत्य नहीं होता तथा दूसरे प्रमाण से बाधित होता है। जिस कारण से ऐसा है, इसलिये आत्मविषयक ज्ञान का ही संभव नहीं है, उसका संभव न होनेपर विद्वान की उक्त निष्ठा कैसे होगी ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है क्योंकि आत्मा की सत्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानने में आती है। अतः उसके ज्ञान का असम्भव नहीं हो सकता–कहीं प्रत्यक्ष प्रमाण है, कहीं अनुमान है, कहीं शास्त्र और अर्थापत्ति है। आत्मविषय में तो यह सब प्रमाण ही हैं—'देह, इन्द्रिय आदि अधिष्ठाता से युक्त हैं, स्वयं जड़ होने पर भी इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्तिमान् और निवृत्तिमान् होने से, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा भी नहीं है जैसे शकट, उसका अधिष्ठाता आत्मा देहादि से भिन्न है, नियामक होने से रथिक के समान' इत्यादि अनुमान से और 'न अन्तःप्रज्ञ, न बहिःप्रज्ञ', इत्यादि शास्त्र से आत्मा का विषय प्रमाण है। पण्डितो के द्वारा कहे गये अर्थ का अङ्गीकार करके जैसे उपवास किया जाता है वैसे ही विद्वान् को 'न अन्तःप्रज्ञ' इत्यादि से लेकर 'प्रपंच से रहित, शान्त, शिव, अद्वैत चौथा मानते हैं, वह आत्मा है'

(मा० उ०) यहाँ तक के शास्त्र से सम्पूर्ण दृश्यसम्बन्ध का निषेध करके समर्पित जिसमें सब समर्पित किया जाता है उस) केवल आत्मतत्त्व का स्वरूप से ही परिज्ञान करना चाहिए, क्योंकि दोनों समानरूप से शास्त्रप्रतिपादित हैं।

यदि शङ्का हो कि 'अन्तःप्रज्ञ नहीं' इस श्रुति से उक्त अर्थ की निर्विशेष रूप से उपलब्धि नहीं होती, इसलिए वह वन्ध्यापुत्र के समान असत् ही है, तो एकादशी का भी विशेष आकार देखने में नहीं आता, अतः स्वरूप से उसके समान होने के कारण उस व्रत का अनुष्ठान ही असंभव होगा। इसलिए दोनों में शास्त्रैकगम्यत्व और शास्त्र के द्वारा कथित होने से अभ्युपगम्यत्व (मानने की योग्यता) समान ही है। एकादशी के समान आत्मा के सद्भाव का शास्त्र से अङ्गीकार किया जाता ही है, ऐसा यदि कहो, तो यहाँ जैसे निश्चय से प्रवृत्ति होती है, वैसे ही 'मैं देहादि नहीं हूँ' ऐसे निश्चित आत्मा में अहंभाव का त्याग कर 'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसी बुद्धि करके चुपचाप स्थित हो जाना चाहिए, फिर विकल्प नहीं करना चाहिए, यही प्रमाणिक और प्रमाण का फल है। यद्यपि हमारे मत में शास्त्र प्रमाण ही हैं, तो भी आत्मा विषय नहीं है, अतः उसका अनुभव न होने से प्रवृत्ति का अभाव है, ऐसा यदि कहो, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तुम्हें एकादशी का प्रत्यक्ष और उसके अनुभव से उसमें प्रवृत्ति माननी होगी। ऐसी स्थिति में अपना अज्ञतमत्व (अतिशय अज्ञता) ही प्रकट करना होगा। शुद्धबुद्धि वाले मुमुक्षु पण्डितों का ही मोक्षशास्त्र में और उसके प्रतिपादित अर्थ में विश्वास, दृढ़ प्रत्यय और प्रवृत्ति हजार-करोड़ जन्मों में किये पुण्यपुञ्ज के परिपाक से ईश्वर के प्रसाद से ही सिद्ध होती है, दूसरे प्रकार से करोड़ों युक्तियों से अशुद्ध आत्मा वालों की नहीं होती। यह जो कहा था कि अविषय होने से, अप्रसिद्ध होने से और आत्मा का अनुभव न होने से प्रवृत्ति का अभाव है, उसमें कहते हैं–यह आत्मा स्वयं एकादशी के समान एकान्त अविषय नहीं है, क्योंकि अस्मत्-प्रत्यय के अर्थ रूप से नित्य अपरोक्ष प्रकाशस्वरूप एवं सर्ग का (सृष्टि का) प्रकाशक है। अतः प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है। आत्मा कभी किसी को अप्रसिद्ध नहीं होता एवं ज्ञातव्य तथा प्राप्तव्य भी नहीं होता यदि आत्मा अप्रसिद्ध होता, तो तुम्हारा लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध न होता। आत्मा के उद्देश्य से ही सबकी

इष्ट और अनिष्ट पदार्थ में प्रवृत्ति और निवृत्ति देखने में आती है, अनात्मा के देह, प्राण, बुद्धि या अन्य के उद्देश्य से नहीं देखने में आती। मनुष्य आत्मसुख के लिए ही देह को निरोग चाहता है, तथा बुद्धि की स्वच्छता, आहार का उपशम, प्राण का उपशम, प्राण का निरोध और योग करता है, भार्या के साथ विवाह करता है, देवताओं का यजन करता है और हरि को भजता है। इसलिए देह आदि से भिन्न आत्मा (अस्मत् प्रत्यय का अर्थ) प्रसिद्ध ही है। मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति कभी किसी को नहीं होती। मैंने स्वप्न को देखा, मैं सुख पूर्वक सोया, मैं जागता हूँ, इस प्रकार से तीनों अवस्थाओं में सभी 'मैं हूँ' यों आत्मसत्ता का सदा अनुभव करते हैं। अतः आत्मा ज्ञातव्य नहीं है और सम्पूर्ण दृश्यों से भिन्न है। अकेले अपना (स्वात्मा का) साक्षात् अनुभव कर रहे पण्डित के लिए अपनी सत्ता की सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती जिससे सब प्रमाणों का प्रामाण्य सिद्ध होता है, सम्पूर्ण प्रमाणों के प्रामाण्य की सिद्धि के कारणभूत उस स्वप्रकाश आत्मा का कौन प्रकाश करेगा? अचेतन चेतन का प्रकाश नहीं कर सकता अपने अस्तित्व का अपने को ही प्रत्यक्ष होता है। इसलिए आत्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण है और व्यवहार की अन्यथा अनुपपत्ति से जनित अर्थापत्ति भी उक्त अर्थ में प्रमाण है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध आत्मा वन्ध्यापुत्र के समान असत् है तथा उसका ज्ञान मनोराज्य के समान मिथ्या विषयक है एवं सगुण ध्यान के समान अन्य प्रमाण से बाधित है, ऐसी कभी संभावना नहीं कर सकते। ऐसा होने पर तुम्हारी और तुम्हारे ज्ञान की अभावरूपता हो जायगी इसलिए ज्ञाता रूप से अस्मत् प्रत्यय के अर्थ रूप से, सम्पूर्ण व्यवहारों के कारण रूप से और परमप्रेम के भजन रूप से प्रसिद्ध होने के कारण यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है। किन्तु स्वच्छता, निर्मलता और सूक्ष्मता से युक्त बुद्धि आत्मचैतन्य के सम्बन्ध से—जैसे सूर्य के प्रकाश के सम्बन्ध से स्फटिक सूर्य के समान भासित होता है, वैसे ही—आत्मा के समान भासती है। उस प्रकार की बुद्धि की व्याप्ति से मन से लेकर स्थूल पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् आत्मा के समान भासता है। उससे देह, इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि आदि अनात्माओं में 'मैं' ऐसी आत्मबुद्धि सबको विशिष्ट रूप से नहीं होती, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, यति हूँ

तथा मैं द्रष्टा, श्रोता, काना और लंगड़ा हूँ एवं मैं भूखा और प्यासा हूँ तथा मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी हूँ इत्यादि से आरोपित अनात्मा और अनात्मप्रत्ययों से आत्मा शैवाल से जल के समान तथा मेघपटलों से चन्द्रमा के समान तिरोहित (आवृत) रहता है। पण्डित भी सैकड़ों बार श्रवण और मनन करके अनादि अविद्या की वासना से बाहर-भीतर परिपूर्ण अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय आत्मा को न जानकर जड़ आरोपित स्थूल अनात्मा का ही आत्मरूप से ग्रहण करते हैं, आत्मा का नहीं। इसलिए अनादि अविद्या से आरोपित आन्तर बुद्धि आदि का, बाह्य घट पट आदि का और उनके प्रत्ययों का 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार की सर्वत्र केवल ब्रह्ममात्र की ही अवलम्बन करने वाली प्रत्यक् दृष्टि से निरास (त्याग) ही करना चाहिए। सर्वदा ब्रह्मप्रत्यय की आवृत्ति से विपरीत प्रत्ययों के निःशेष निवृत्त होने पर शैवाल के निवृत्त होने पर स्वच्छ सुखकर जल के समान तथा मेघ के निवृत्त होने पर पूर्ण आनन्दकर चन्द्र के समान, स्वच्छ, शान्त, आनन्दघन आत्मा ज्ञानरूप चक्षु का भली-भाँति विषय होता है। जिस कारण से ऐसा है, इसलिए विद्वान् को तीव्र मोक्ष की इच्छा से आत्मा को आवृत करने वाले अनात्म प्रत्यय के निरसन में (त्याग करने में) ही प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मा कैसा है? किस लक्षणवाला है? कैसे स्थित है? कहाँ है? कैसे प्राप्य है? इत्यादि रूप से आत्मा के सद्भाव में (अस्तित्व बोध में) और उसकी प्राप्ति होती है या नहीं इत्यादि ज्ञान में यत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अहं का अर्थ होने से स्वतः सिद्ध है और नित्यप्राप्त है। जब निराकार काल और दिशा आदि का भी ज्ञान शास्त्र और आचार्य के उपदेश से सिद्ध होता है (जैसा आज एकादशी है, यह पूर्वदिशा है इत्यादि) तो स्वस्वरूपरूप से सिद्ध आत्मा का ज्ञान शास्त्र और आचार्य के उपदेश से सिद्ध होता है, इसमें तो कहना ही क्या है? आत्मज्ञान से ही अपने को और दूसरे को अपने रूप से तथा मेरा ही यह सब है इत्यादि रूप से जानता है। जिसने स्वप्न देखा, जो सुख से सोया, वही मैं जागता हूँ इस प्रकार से अनुभव करनेवालों को देह, इन्द्रिय आदि से अपना भेद तथा स्वप्न और सुषुप्ति में बुद्धि आदि का भेद होने पर भी दोनों का ज्ञाता आत्मा एक होने के कारण आत्मा का बुद्धि आदि से भेद तथा

आत्मा सर्वत्र ज्ञाता है यह जानकर भी आत्मा कौन है ? उसका ज्ञान कैसे होता है ? यह कहना पण्डित के लिए शोभा नहीं देता । जिसके प्रकाश से इस सबको बाहर-भीतर जानता है, उसका ज्ञान नहीं होता, यह कहना अत्यन्त ही साहस है । 'क्षेत्र को जो जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इससे क्षेत्र और क्षेत्र के धर्म सबको जो जानता है, वही मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार आत्मज्ञान शुद्धात्मा यति के लिए परमेश्वर के प्रसाद से सुलभतम ही है । चूँकि ऐसा है इसलिए आत्मा सुप्रसिद्ध है और उसका ज्ञान भी ईश्वर के प्रसाद से सुलभतम ही है ।

इसलिए शुद्धात्मा यति मुमुक्षु सद्गुरु के उपदेश से प्राप्त हुए आत्मज्ञान के ही अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए अनात्मवासना द्वारा किए गए विपरीत प्रत्यय की निःशेष निवृत्ति से ज्ञाननिष्ठा का सम्पादन करना चाहिए, ऐसा भगवान् ने कहा है—'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' अर्थात् जो ज्ञान की परा अर्थात् जो ज्ञान की परा निष्ठा है, मुमुक्षु को ज्ञाननिष्ठा का सम्पादन करना चाहिए, ऐसा जो कहा जाता है, उसमें प्रश्न यह होता है कि क्या ज्ञान में (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में) चित्त की निश्चल स्थिति का नाम ज्ञाननिष्ठा है ? या ज्ञानाभ्यास की समाप्ति का नाम ज्ञाननिष्ठा है ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है क्योंकि चञ्चल होने के कारण मन की ब्रह्म में स्थिति असंभव है । दूसरे पक्ष में क्या ज्ञान की अर्थात् ज्ञान के हेतु वेदान्त शास्त्र के अभ्यास की परिसमाप्ति का नाम ज्ञान-निष्ठा है ? अथवा ज्ञान की यानी प्रत्यय की आवृत्ति की परिसमाप्ति ज्ञाननिष्ठा है ? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि शुष्क तर्क के समान केवल ग्रन्थ की आवृत्ति से क्लेश के सिवा दूसरा प्रयोजन देखने में नहीं आता । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि 'वह तुम हो' इस प्रकार तत् और त्वं पदार्थ के शोधनपूर्वक वाक्यार्थ के श्रवण-मात्र से ही मैं ब्रह्म हूँ; यों जानने वाले विद्वान् को ब्रह्मात्मप्रत्यय के प्राप्त हो जाने पर बार-बार उसकी आवृत्ति करने से फल देखने में नहीं आता । यदि कहो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ है उसी को ब्रह्मात्मप्रत्यय की दृढ़ता के लिए बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि पट्टाभिषेक से जिसने राजत्व को प्राप्त किया है, ऐसे राजा को बार-बार मैं राजा हूँ, इस प्रकार की आवृत्ति करने से जैसे लघुता के सिवा दूसरा फल प्राप्त नहीं होता, वैसे ही श्रुति और

युक्ति से तत् और त्वं पदार्थ के सम्यक् शोधित होने पर एकत्वावबोधक वाक्यार्थ के श्रवण मात्र से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए यति की बार-बार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय की आवृत्ति से फिर उपाधि द्वारा की गई परिच्छिन्नता के सिवा दूसरा फल देखने में नहीं आता, और जैसे 'मैं राजा हूँ' इस आवृत्ति क्रिया से अराजामें राजापन की कल्पना की जाती है, वैसे ही अब्रह्म में ब्रह्मत्व की आवृत्ति क्रिया से कल्पना ही होगी। जैसे यह घट है, इस उपदेश मात्र से घटविषयक ज्ञान तुरन्त उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही 'वह तुम हो' इस प्रकार के केवल उपदेश मात्र से, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्मत्वापादक ज्ञान शुद्धात्मा को उत्पन्न हो ही जाता है, इसमें फिर प्रत्यया वृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती। चक्षु के संनिकर्षमात्र से घट का ज्ञान होने पर यह घट है, यों ज्ञान को दृढ़ करने के लिए बार-बार आवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि प्रमाण प्रमेय के सम्बन्ध मात्र से ही प्रमा हो जाती है, आवृत्ति से नहीं होती क्योंकि वह वस्तु के अधीन है, पुरुष के अधीन नहीं है। इसलिए ज्ञान का अभ्यास निष्प्रयोजन ही है, ऐसा यदि कहो तो ठीक है।

यद्यपि प्रमाण प्रमेय के सम्बन्धमात्र से उत्पन्न हुआ ज्ञान वस्तु के अधीन होता है, पुरुष के या क्रिया के अधीन नहीं होता, तो भी अपनी उत्पत्ति में प्रमाणसौष्ठव की अपेक्षा रखता है। वास्तविक ज्ञान भी प्रमाणसौष्ठव होने पर ही समीचीन होता है, यदि प्रमाण का असौष्ठव हो (प्रमाण दोषयुक्त होने से) तो नहीं। जैसे वस्तु के विस्पष्ट होने पर भी काच, कामल आदि दोष से चक्षु के दुष्ट हो जाने पर चन्द्र के अनेकत्व का ज्ञान अवास्तविक ही होता है, निरन्तर औषध सेवा के द्वारा उक्त दोष की निवृत्ति से चक्षु की निर्मलता सिद्ध होने पर ठीक-ठीक ही चन्द्र का ज्ञान विस्पष्ट और उसके दर्शन से आह्लाद सिद्ध होता है। उसी प्रकार अनादि अविद्या की वासनाओं के द्वारा किए गये सत्त्व, रजः और तमोरूप दोषों से अन्तः करण के दूषित हो जाने पर उत्पन्न हुए मैं, यह, वह इत्यादि अनात्म प्रत्ययों से आवृत्त हुआ आत्मतत्त्व विस्पष्ट (विशेषरूप से स्पष्टतया) नहीं भासता। जब चिरकाल तक नित्यनिरन्तर अनुष्ठित सजातीय प्रत्यय की आवृत्तिरूप समाधि-योग से निरुक्त दोषों की और उनके कार्यों की निःशेष निवृत्ति से उसी अन्तःकरण में

केवल शुद्ध सत्त्व भाव प्राप्त है, तब 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा सम्पूर्ण दृश्य सम्बन्ध से रहित और अप्रतिबद्ध, अद्वैत आत्मविज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानपरिपाक ही प्रत्यय की आवृत्ति का प्रयोजन है। ज्ञानपरिपाक के सिद्ध होने पर ही उक्तलक्षण सम्पन्न सम्यक् ज्ञान, जिसका कैवल्य पद ही फल है तथा जो अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है, सिद्ध होता है। श्रुति भी है 'समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत् सुखं भवेत्' इति, अर्थात् समाधि से जिसका मल निर्मल हो गया है ऐसे आत्मा में निवेशित चित्त में जो सुख होता है, वह अवर्णनीय है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति अर्थात् आहार के शुद्ध होने पर सत्त्वशुद्धि (चित्तशुद्धि और सत्त्वशुद्धि होने पर निरन्तर स्मृति होती है, और अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः अर्थात् अभ्यास से जिसका विज्ञान परिपक्व हुआ है, ऐसा पुरुष कैवल्य को प्राप्त करता है, 'नास्ति ज्ञानात्परं किंचित् पवित्रं पापनाशनं' अर्थात् ज्ञान से बढ़कर पवित्र दूसरा पापनाशक कुछ नहीं है, उसके अभ्यास के सिवा दूसरा संसार के उच्छेद का कारण नहीं है। चिरकाल तक नित्यनिरन्तर अभ्यास के द्वारा की गई सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति से सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक (१) सत्त्व, रजः और तमोगुण की, (२) उनके कार्य में, यह, वह, इष्ट अनिष्ट इत्यादि विपरीत प्रत्ययों की और (३) राग, द्वेष, मोह आदि विकारों की निःशेष निवृत्ति से उत्पन्न हुए अन्तःकरण का केवल प्रसाद (प्रसन्नता तथा स्वच्छता) रूप शुद्धसत्व भाव ही ज्ञान का परिपाक है, जिसकी सामर्थ्य से 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा अपने में और सबमें ब्रह्मत्वबुद्धि का व्यवस्थापक विकल्परहित वृत्तिव्यापार की समाप्तिरूप जीवब्रह्मैकत्वविज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान केवल नित्य निरन्तर सजातीयप्रत्यय की आवृति से ही प्राप्त होता है, न कि यह घट है, इसके समान एकबार के उपदेशमात्र से प्राप्त है और न राजत्वज्ञान के समान पट्टबन्धक्रियामात्र से ही प्राप्त होता है। वहाँ ज्ञेय (राजा) स्थूल है, अतः उसका ज्ञान भी स्थूल होने से, सप्रतियोगी (सप्रतिबन्धक) न होने से और लौकिक होने से प्रत्यय की आवृत्ति की अपेक्षा नहीं करता। 'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नित्य, 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' अर्थात् दुःख से दर्शन के योग्य गहन (प्राकृत विषयज्ञानों से प्रच्छन्न), बुद्धिरूप गुहा में स्थित, विषम अनेक अर्थसंकटों में स्थित, उस पुरातन को इत्यादि श्रुतियाँ हैं, यहाँ तो ज्ञेय वस्तु परमसूक्ष्म, अलौकिक, शैवाल पटलों से

जल के समान अविद्या और उसके कार्यों से तिरोहित है इसलिए उसका ज्ञान जैसे चक्षु सूर्यलोक के आवरक की निवृत्ति चाहता है, वैसे ही वह स्वविषय के आवरक का वरण करनेवाली सत्यप्रत्यय की आवृत्ति की अपेक्षा करता है। अतः इससे ब्रह्मभाव कल्पित नहीं होता। मैं मनुष्य नहीं हूँ, यहाँ पर आत्मा में मनुष्यत्व की निवृत्ति की जाती है, न कि अहमर्थत्व की कल्पना की जाती है। ब्रह्मभाव की भी कल्पना नहीं होती, क्योंकि अहमर्थत्व स्वतः सिद्ध है और यह आत्मा ब्रह्म, क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो' इससे ब्रह्मभाव श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है उनका भेद होने पर, तो अद्वैत कैसे सिद्ध होगा।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् एक अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ अनेक कुछ नहीं है, 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' अर्थात् एक रुद्र है अतः द्वितीय भाव के लिए स्थित नहीं हुए' इत्यादि श्रुतियों से अद्वैत का ही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए घटाकाश और महाकाश के समान उन दोनों ब्रह्म और आत्मा का अभेद स्वतः ही सिद्ध है, उसकी क्रिया से कल्पना नहीं की जा सकती किन्तु ब्रह्मवित् केवल अपने पूर्णत्वज्ञान की दृढ़ता के लिए सत्यप्रत्यय की आवृत्ति से अनादि वासना से प्रतीत होनेवाले विपरीत प्रत्यय का अपनोदन (दूरीकरण) मात्र ही करता है। जैसे रत्न का ज्ञान स्थूल होनेपर भी अपनी दृढ़ता के लिए सदा परिशीलन की अपेक्षा करता है अथवा जैसे सूर्य के बिम्ब का ज्ञान स्थूल होनेपर भी सबके अपरोक्षत्व के लिए चिरकाल तक नित्य निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और प्रतिबन्धकों से युक्त ब्रह्माभिन्नत्वज्ञान अपनी अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए सत् प्रत्यय की आवृत्ति की अपेक्षा करता है, इसमें तो कहना ही क्या है ? 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्व-भावात्' अर्थात् परमात्मा के ध्यान से, योजन और तत्त्वभाव से 'तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे' अर्थात् उसके ध्यान से देह का नाश होनेपर मोक्ष प्राप्त करता है, 'निष्कलं ध्यायमानः' अर्थात् निष्कल का ध्यान करता हुआ, 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं' अर्थात् ध्यान करके मुनि भूतयोनि को (ब्रह्म को) प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुतियों से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए सजातीय प्रत्यय की आवृत्तिरूप समाधि कर्तव्यरूप से सुनाई जाती है—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' अर्थात्

उसी को जानकर धीर ब्राह्मण प्रज्ञा (समाधि) करे' जिस कारण से ऐसा है इसलिए जिसने श्रवण किया है तथा आत्मतत्त्व को जाना है ऐसे तद्बुद्धित्व आदि और अद्वेष्टृत्व आदि वक्ष्यमाण सहकारी संधानों से सम्पन्न हुए मुमुक्षु यति को सार्वात्म्यसिद्धि के (सब ही आत्मा हैं इसकी सिद्धि के) लिए द्वैतप्रत्ययों के नाशक सत्यप्रत्ययावृत्तिरूप ज्ञानाभ्यास अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार छठे अध्याय में निरूपित अर्थ को दृढ़ करने के लिए भगवान् ने कहा है 'मुझसे संक्षेप से सुनो, जो ज्ञान की परानिष्ठा है'। यह जो कहा था कि ज्ञान के हेतु वेदान्तशास्त्र की आवृत्ति का शुष्कतर्क के समान क्लेश के सिवा दूसरा प्रयोजन नहीं है, वह भी युक्त नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान केवल वेदान्त की आवृत्ति से ही प्राप्त होता है, अतः उसकी आवृत्ति सफल है। निरन्तर वेदान्तविचार के सिवा स्तोत्र, मंत्र और जप आदि से मुमुक्षु यति को ज्ञान सिद्ध नहीं होता क्योंकि 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' अर्थात् संन्यास ग्रहणकर श्रवण करे, 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' अर्थात् श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, तथा 'उपनिषदम् आवर्तयेत्' अर्थात् उपनिषदों की आवृत्ति करे इत्यादि श्रुतियों से निरन्तर विचार ही करना चाहिए ऐसा सुनने में आता है। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि श्रुति है। 'शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्' अर्थात् शमादि सहित तबतक श्रवण आदि को करे। 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' अर्थात् सोने तक और मरने तक वेदान्त के चिन्तन से काल बितावे तथा 'तत्त्यागी पतितो भवेत्' अर्थात् 'इसका त्याग करनेवाला पतित हो जाता है' इत्यादि स्मृतियों से वेदान्तविचार की नियम से कर्तव्यता और उसका परित्याग करने पर प्रत्यवाय का प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए प्रणवजप आदि को अङ्ग बनाकर और विचार को अङ्गी बनाकर जबतक सम्यक् आत्मविज्ञान का उदय न हो, तबतक सर्वदा वेदान्त की आवृत्ति का ही नियम करना चाहिए। संन्यास का भी वही प्रयोजन है। जब ज्ञान और विज्ञान की सिद्धि हो जाय, तब आवृत्ति का परित्याग करना चाहिए। कहा भी है–'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः'। अर्थात् ग्रन्थ का अभ्यास करके मेधावी ज्ञान और विज्ञान में तत्पर होकर जैसे धान्यार्थी पलाल का त्याग कर देता है, वैसे ही ग्रन्थ का

अशेषरूप से त्याग करे। इस श्रुति से जिज्ञासु को निरन्तर आवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध होता है। पहले यह जो कहा था कि चञ्चल होने से मन की ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मयाथात्म्य का (आत्मा के यथार्थस्वरूप का) अवधारण केवल मन से ही होता है। जैसे निश्चयात्मक बुद्धिवृत्ति के भलीभाँति विषय हुए ही मणि आदि के स्वरूप का अवधारण देखने में आता है, चञ्चल वृत्ति के विषयभूत मणि आदि का नहीं, वैसे ही समाहित बुद्धि से भलीभाँति विषयीकृत ही ब्रह्म के याथात्म्यस्वरूप का अवधारण, उसमें आत्मबुद्धि का करना और उसका फल सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए समाधि से प्रयत्नपूर्वक मन की स्थिरता का सम्पादन करना चाहिए। विज्ञाततत्त्व मुमुक्षु यति 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वात्मना पश्यति' अर्थात् समाहित होकर आत्मा में आत्मा को देखता है, सबको आत्मा देखता है' इत्यादि श्रुति से समाहित बुद्धिवाला होकर ही आत्मयाथात्म्यता को जानता है, उसमें आत्मबुद्धि करता है और सबको आत्मरूप से देखता है, ऐसा सुना जाता है! इसलिए केवल सुननेमात्र से यति की आत्मा में आत्मत्वसिद्धि और सार्वात्म्यसिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसी को जिसने श्रवण किया है, ऐसे यति की इस ज्ञाननिष्ठा का (अभ्यास के द्वारा निरन्तर ज्ञान में स्थिति का) सर्वज्ञ ईश्वर ने 'निष्ठा ज्ञानस्य' इत्यादि से प्रतिपादन किया है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकों में भगवान् ने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि अपने-अपने स्वभाव से नियत कर्म के शास्त्रविधि के अनुसार निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा भगवान् की अर्चना करने से उनकी कृपा से चित्त राग-द्वेष से मुक्त होकर शुद्ध होता है एवं विवेकज्ञान से (अनात्मवस्तु को आत्मा से पृथक् करने की सामर्थ्य से) सम्पन्न होता है। इस प्रकार विवेकबुद्धि से दृश्यप्रपंच का मिथ्यात्व एवं आत्मा का सत्यत्व निश्चित होनेपर विषयवैराग्य तथा आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए संवेग उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् वह शुद्धात्मा पुरुष पूर्व श्लोकोक्त गुणों से सम्पन्न होने पर अर्थात् यथाक्रम से विगतस्पृह, जितात्मा एवं सर्वत्र असक्त बुद्धि होने पर सर्वकर्मों को त्याग करने का यथार्थ अधिकारी होता है, अतः वह संन्यास द्वारा (सर्वकर्मों के एवं वासनाओं के त्याग द्वारा) परम (अर्थात् कर्मजनित सिद्धि से

विलक्षण तथा मुक्ति की सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक) नैष्कर्म्य सिद्धि [अर्थात् निष्कर्म ब्रह्मविषयक वेदान्त वाक्यादि का श्रवण करके उसके मनन (विचार) एवं निदिध्यासन द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिति रूप सिद्धि] को प्राप्त होता है परन्तु इस प्रकार की सिद्धि (नैष्कर्म्य सिद्धि) सहज साध्य नहीं है क्योंकि जब तक उस ज्ञान में परानिष्ठा (निरन्तर स्थिति) अर्थात् ज्ञान का अभ्यास भी जिसमें परिसमाप्त हो जाता है एवं जिसके पश्चात् और कोई कार्य नहीं रहता है वह आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मानन्दरूप (गीता ३।१७) अविचल ब्राह्मीस्थिति प्राप्त न हो तब तक जीव ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त कर पूर्ण नहीं हो सकता।

अतः सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि के पश्चात् जिस साधन के क्रम को (प्रकार को) शुद्धात्मा साधक अतिक्रमण करके नैष्कर्म्य रूप परम सिद्धि में (ब्रह्म में) पहुँच सकता है उसे बतलाने की आवश्यकता है एवं इसी उद्देश्य से भगवान् जिस क्रम से साधक **ब्रह्म की प्राप्ति**—कर सके उस क्रम को समास से (संक्षेप से) बताते हैं क्योंकि ब्रह्म की स्वरूपता प्राप्ति ही (ब्रह्म हो जाना ही) यथार्थ **ज्ञान की निष्ठा**—(परिसमाप्ति) है एवं वह निष्ठा ही **परा**—(श्रेष्ठ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट) है क्योंकि वही मोक्ष-अवस्था है। इसलिए श्रुति में कहा है 'सा निष्ठा सा परा गतिः'। [यहाँ 'ब्रह्म आप्नोति' (ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस पद का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म बाह्य विषय के समान कोई प्राप्तव्य वस्तु है कन्धों पर गमछा रखकर जैसे कोई व्यक्ति उसको भूल जाने पर सारा घर ढूढ़ता है एवं अन्त में उसके भ्रम की निवृत्ति होने पर कहता है कि गमछा प्राप्त हो गया है, उसी प्रकार अपने शरीर के अणुपरमाणु में विद्यमान हुए चिदानन्दस्वरूप आत्मा को भूलकर असंख्य जन्मों तक उस आनन्द का अनुसंधान करते हुए यदि वह जीव अन्तर्मुखी होकर साधन बल से भ्रम की (अज्ञान की) निवृत्ति कर उस आत्माको जान लेता है तो इस जानने को ही प्राप्ति कहा जाता है। अतः 'ब्रह्मप्राप्ति' शब्द का अर्थ है अज्ञान की निवृत्ति द्वारा शुद्धचैतन्य स्वरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानना (अर्थात् उस स्वरूप का ज्ञान) एवं ज्ञान की परानिष्ठा अर्थात् आत्मा में ही निरन्तर अविचलित रूप से स्थित रहना। यही 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इस वाक्य का तात्पर्य है।]

पूर्व श्लोकोक्त ज्ञान की परानिष्ठा किस प्रकार करनी चाहिए? सो कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥

अन्वय—विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः आत्मानम् धृत्या नियम्य च शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।

अनुवाद—विशुद्ध बुद्धि से सम्पन्न संन्यासी सात्त्विक धृति (धैर्य) पूर्वक आत्मा का (शरीर, मन और इन्द्रियों के संघात का) संयमकर, शब्दादि विषयों का परित्यागकर एवं राग-द्वेष का परिहारकर (निकालकर)।

भाष्यदीपिका—**विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः**—विशुद्ध अर्थात् मायारहित कपटता रहित [अथवा संशय और विपर्यय से शून्य (मधुसूदन)] निश्चयात्मिका बुद्धि से [वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुई 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति से] युक्त (उससे सर्वदा सम्पन्न) संन्यासी **धृत्या आत्मानम् नियम्य च**—सात्त्विक धृति (धैर्य) से आत्मा को यानी कार्य (शरीर–करण इन्द्रिय) के कार्यरूप संघात को नियमितकर (वशीभूतकर) [अर्थात् कुमार्ग की ओर से उसकी प्रवृत्ति को रोककर उसे आत्मा की ओर लगाकर। यहाँ 'च' शब्द से योगशास्त्र में बताये हुए अन्य साधनों का यम, नियम, आसन इत्यादि का समुच्चय किया गया है (मधुसूदन)।] **शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा**—शब्दादि विषय को अर्थात् शब्द जिनका आदि है ऐसे सभी विषयों को त्यागकर [शब्दादि को अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो भोग के द्वारा बन्धन के हेतु होते हैं—उन पंचविषय को तथा प्रकरण के सामर्थ्य से ज्ञाननिष्ठा के लिए केवल शरीरस्थितिमात्र प्रयोजन में उपयुक्त है (आवश्यक है), उनसे अतिरिक्त सुखभोग के लिये जो अधिक विषय हैं उन सबको छोड़कर तथा शरीरस्थिति के निमित्त प्राप्त हुए विषय में भी **रागद्वेषौ व्युदस्य च**—रागद्वेष को परित्यागकर (छोड़कर) ['च' शब्द से ज्ञान साधन में विक्षेप करनेवाले अन्य विषयको भी त्यागकर एकान्तसेवी हो–इस प्रकार परवर्ती श्लोक में 'विविक्तसेवी' इस पद के साथ 'स्यात्' इस क्रिया पद का अध्याहार कर इसका 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस अन्तिम पद से अन्वय करना चाहिए (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः—पूर्वोक्त प्रकार से पहले ही कही हुई विशुद्ध सात्त्विकी बुद्धि से युक्त साधक **धृत्या**—सात्त्विकी धृति के द्वारा **आत्मानम्**—कार्य कारण के संघातरूप आत्मा को (उसी बुद्धि को) **नियम्य च**—नियमन (स्थिरीकरण) करके तथा **शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा**—शब्दादि विषयों को त्यागकर **रागद्वेषौ च व्युदस्य**—और तद्विषयक राग एवं द्वेष को नष्ट करके 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' इत्यादि का तीसरे श्लोक के अन्त में आये हुए 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इस वाक्य के साथ अन्वय है।

(२) **शंकरानन्द**—तत्-तत् नियत (निरन्तर) साधनों के अनुष्ठानपूर्वक निष्ठा कर रहे ब्रह्मवित् को ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं-'बुद्ध्या' इत्यादि तीन श्लोकों से। **विशुद्धया बुद्ध्या**—बुद्धि यानी अध्यवसायात्मिका बुद्धि (क) 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान, तथा अनन्त स्वरूप है, (ख) 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है इस श्रुत्युक्त रीति से ब्रह्म में सत्य, ज्ञान और आनन्द रूपत्व का निश्चय, आत्मा में ब्रह्माभिन्नत्व का निश्चय एवं (ग) 'विकल्पो नहि वस्तु' अर्थात् विकल्प वस्तु नहीं है, इस न्याय प्रत्यक् स्वरूप परब्रह्म में मरु में जल के समान तथा आकाश में नीलिमा के समान, देहादि सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के कल्पित्व के निश्चय को अध्यवसाय कहते हैं। इस प्रकार के अध्यसाय से युक्त बुद्धि यहाँ विवक्षित है क्योंकि अपने आत्मरूप ब्रह्म में आरोपित अनात्मप्रत्यय के निरसन में (हटाने में) विद्वान् प्रवृत्त है। वह भी विशुद्ध होनी चाहिए, अर्थात् श्रुति और तदनुसार युक्तियों से निश्चितार्थ होने के कारण संशय और विपर्यास से निर्मुक्त होनी चाहिए। उस विशुद्ध बुद्धि से युक्त अर्थात् भलीभांति अविनाभूत (बुद्धि से च्युत न होकर ब्रह्मनिष्ठा में प्रवृत्त ब्रह्मवित् यति, **धृत्या आत्मानम् नियम्य च**—उक्त सात्त्विक धृति से आत्मा को (चित्त को) बाह्य प्रवृत्ति से रोककर (चित्त की बाह्य प्रवणता का निरोध कर)। 'च' कार से प्राण और इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को भलीभाँति नियम में रखकर **शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा**—शब्दादि का अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का परित्यागकर अर्थात् विषयों का अनुसन्धान न कर। यद्यपि बाह्य और आन्तर करणों को रोकने से विद्वान् का स्वतः विषयों से सम्बन्ध नहीं हो सकता तथापि

प्राप्त हुए विषयों का भी अनुसन्धान नहीं करता, यह अर्थ है **रागद्वेषौ व्युदस्य च**—राग और द्वेष को हटाकर [भिक्षा काल में प्राप्त हुए इष्ट पदार्थों में राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष को हटाकर (परित्याग कर)]। अथवा व्युत्थान-दशा में देखे गये श्रोत्रिय, हितकारी तथा साधुओं में राग और उनसे विपरीतों में द्वेष उन दोनों को छोड़कर। 'च' कार से समाधि में विघ्न के कारण मोह, आलस्य, जड़ता और प्रमाद का त्याग कर यह अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—(५३ श्लोक की टीका द्रष्टव्य)।

उसके पश्चात् क्या करना उचित है ? इसको कहते हैं—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अन्वय—विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः नित्यं ध्यानयोगपरः वैराग्यम् समुपाश्रितः।

अनुवाद—एकान्त सेवी, हल्का आहार करने वाला और शरीर, वाणी तथा मन के संयम वाला होकर सर्वदा ध्यान योग में तत्पर रहता हुआ वैराग्य का आश्रय लेकर—

भाष्यदीपिका—विविक्तसेवी—विविक्त (एकान्त या पवित्र) देश का (वन, नदीतीर, पहाड़ की गुफा आदि एकान्त देश का) सेवन करना ही अर्थात् जनसमूह से रहित एवं पवित्र स्थान का सेवन करना ही जिसका स्वभाव है इसप्रकार के पुरुष को विविक्तसेवी कहा जाता है अर्थात् जिस स्थान में रहने पर चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो सकता है उस स्थान का त्याग करके चित्त की एकाग्रता का सम्पादन करने के अनुकूल अरण्यादि एकान्त स्थान का अथवा म्लेच्छ आदि से वर्जित पुण्य देश का सेवन करना जिसका स्वभाव है वही विविक्तसेवी है, ऐसा होकर तथा **लघ्वाशी**—लघु (हल्का) अशन (आहार) करने वाला होकर [अर्थात् परिमित हितकारी एवं पवित्र तथा निन्द्रालस्यादि चित्त का लय करने वाले पदार्थ से रहित भोजन करने वाला होकर (मधुसूदन)] 'एकान्त सेवन' और 'हल्का भोजन' यह दोनों निद्रादि दोषों के निवर्तक

होने से चित्त की स्वच्छता में हेतु हैं, इसलिए इनका ग्रहण किया गया है। **यत-वाक्कायमानसः**—मन, वाणी और शरीर को वश में रखकर जिस ज्ञाननिष्ठ यति की काय (देह), मन और वाणी तीनों जीते हुए होते हैं वह 'यतवाक्कायमानस' है इस प्रकार सब इन्द्रियों को कर्मों से उपरम करके [अर्थात् यम नियम, आसन आदि साधनों से सम्पन्न होकर (मधुसूदन)।] **नित्यं ध्यानयोगपरः**—सर्वदा ध्यान योग के परायण रहता हुआ। आत्मस्वरूप के चिन्तन का नाम ध्यान है और आत्मा में चित्त को एकाग्र करने का नाम योग है, ये दोनों जिसके परम कर्तव्य अर्थात्, श्रेष्ठ कर्तव्य रूप से निश्चित हुए हैं वह ध्यानयोग परायण है। उसके साथ नित्य पद का ग्रहण मंत्र, जप, तीर्थयात्रा इत्यादि अन्य कर्तव्य का अभाव (अनावश्यकता) दिखाने के लिए किया गया है क्योंकि वे चित्तविक्षेप के हेतु होने के कारण ध्यान योग के प्रतिबन्धक (विघ्न) हैं [चित्त के आत्माकार प्रत्यय की आवृत्ति ध्यान है। आत्माकार प्रत्यय के द्वारा चित्त को वृत्तिशून्य कर देना योग है—इनमें ही जो सर्वदा तत्पर है अर्थात् इन्हीं के अनुष्ठान में लगा हुआ है, कभी भी मंत्र, जप या तीर्थयात्रा आदि में प्रवृत्त नहीं होता है, उसे नित्य ध्यान योग परायण कहा जाता है। इसप्रकार होकर (मधुसूदन)] **वैराग्यं समुपाश्रितः**—इस लोक और परलोक के भोगों में तृष्णा का अभावरूप जो वैराग्य है उसके सम्यक् प्रकार से आश्रित होकर अर्थात् सदा वैराग्य सम्पन्न होकर—

टिप्पणी (१) श्रीधर—जो **विविक्तसेवी**—शुद्ध देश में स्थित रहने वाला और **लघ्वाशी**—हल्का अन्न खाने वाला अर्थात् मिताहारी है तथा इन्हीं उपायों से **यतवाक्कायमानसः**—जिसने वाणी, शरीर और मन जीत लिए हैं, अर्थात् जिसकी वाणी, शरीर और मन संयत हैं, ऐसा होकर जो **नित्यम्**—सदैव **ध्यानयोगपरः**—ध्यानयोग परायण है अर्थात् ध्यान के द्वारा जो योग-ब्रह्मसंस्पर्श होता है, उसमें तत्पर है साथ ही ध्यान आदि का विच्छेद न होने के उद्देश्य से बार-बार दृढ़ वैराग्य का पूर्णतया आश्रय लेकर स्थित है।

(२) **शंकरानन्द**—किञ्च 'विविक्तसेवी' इत्यादि। **विविक्तसेवी**—(विविक्त-निर्जन-देश का यानी अरण्य, नदी, पुलिन, गिरि, कन्दरा, गुहा आदि का ही चित्त के प्रसाद और चित्त की एकाग्रता की सिद्धि के लिए सेवन करने का जिसका शील है वह

विविक्त सेवी) निदिध्यासु यति को सदा विविक्त सेवी होना चाहिए। तथा लघ्वाशी—अल्पाहारी भी होना चाहिए। हलका भोजन करने का जिसका शील है, वह लघ्वाशी है। लघु भोजन करने वाले को ही निश्चलरूप से समाधिनिष्ठा होती है। अथवा लघु यानी गुरुत्वरहित द्रव्य का जो अशन करता है, वह लघ्वाशी है। लघुपद हित, मित और मेध्य का भी उपलक्षण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि निदिध्यासु यति लघु, हित, मित और मेध्य अन्न का भोजन करे और **यतवाक्कायमानसः**—ऐसा भी होवे [यत (संयत अर्थात् बाहर की प्रवृत्ति से भली-भाँति विरुद्ध यानी भली-भाँति विमुख कर लिए हैं) वाक्, काय और मन जिसने वह 'यतवाक्कायमानस' है] विषय चिन्तन से मन स्थूल ही होता है, सूक्ष्म नहीं होता और वासना भी बढ़ती है, ऐसी अवस्था में मनोनाश और वासनाक्षय के लिए क्रियमाण समाधि हाथी के स्नान के समान निष्फल ही होती है। इसलिए सदा विषय चिन्तन से रहित होना चाहिए। तथा वाणी की प्रवृत्ति से तुम, मैं, यह, वह इत्यादि विपरीत प्रत्यय नष्ट नहीं होते, द्वैत ही बढ़ता है, जैसे कि अपथ्याचरण से रोगी के रोग को वृद्धि होती है। इसलिए सदा मौन रहना चाहिए। शरीर से कर्मों में प्रवृत्ति के द्वारा कर्ता का तादात्म्य और इन्द्रियों का चलन होता है और वह समाधि में विघ्न होता है। इसलिए वासनाक्षय और मनोनाश के लिए प्रवृत्त यति को विषयों के अनुसंधान से रहित तथा मौन और नैष्कर्म्य से सदा युक्त होना चाहिए। ऐसे पुरुष को 'यतवाक्कायमानसः' कहा जाता है। इसकी सिद्धि के हेतु कहते हैं **वैराग्यं समुपाश्रितः**—दृश्य में मिथ्यात्व बुद्धि से और तुच्छत्व बुद्धि से विषयों के भोग और अनुसंधान करने के लिए विषयों से विगत (निकल गया है) राग यानी इच्छा जिसका, वह विराग है, उसका भाव वैराग्य (सर्वत्र इच्छा से रहित होना) है, उसके **नित्यम्**—नित्य (अविच्छिन्न भाव से) आश्रित होकर। इस प्रकार शुद्धिबुद्धत्व आदि साधनों से युक्त ब्रह्मवित् यति नित्य निरन्तर ['नित्य' विशेषण देहलीदीप न्याय से दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है। 'नित्यपद' द्वारा यही सूचित कर रहे हैं कि निदिध्यासु को दूसरा अनुष्ठान नहीं करना चाहिए] **ध्यानयोगपरः**—तदनन्तर सर्वदा ध्यानयोग पर ध्यान और योग है ध्यान योग, उसमें परायण ध्यानयोग पर। प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्दैकरस, निर्विशेष, अद्वितीय, परब्रह्मरूप अधिष्ठान में आरोपित नाम, रूप आदि विजातीय प्रत्ययों के तिरस्कार-

पूर्वक बाहर और भीतर सर्वत्र ब्रह्ममात्र का ही अवगाहन करने वाले सत्प्रत्ययों का प्रत्यग्भाव को प्राप्त हुई वृत्ति से निरन्तर तैलधारा के समान जो अविच्छिन्न प्रवाहीकरण है, वह **ध्यान**—है। विजातीय प्रत्ययों से अप्रतिबद्ध केवल सत्यप्रत्ययों के ही चिरकाल तक नित्य निरन्तर अभ्यास से विक्षेप करने वाली वासनाओं का क्षय हो जाने पर सूक्ष्मता को प्राप्त हुई बुद्धि की वृत्ति का ब्रह्म में ब्रह्माकार से निवातस्थल में स्थित दीप के समान जो निश्चलीभाव है, वही **योग**—है। उक्त लक्षण ध्यान और योग में नित्य परायण होकर यानी उक्त ध्यान और योग में निष्ठा से सम्पन्न यति ही परिपक्व ज्ञान से सम्पन्न होता है, यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—[५३ श्लोक की टीका द्रष्टव्य]।

ज्ञाननिष्ठा के लिए और जो विशेषसाधन हैं उनका वर्णन करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अन्वय—अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् परिग्रहम् विमुच्य निर्ममः शान्तः सन् ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अनुवाद—अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके जो कि देहजीवनमात्र में भी ममतारहित, एवं इसीलिये शान्त (उपरत) है वह ब्रह्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाता है।

भाष्यदीपिका—अहंकारम् बलम् दर्पम्—अहंकार, बल और दर्प को छोड़कर। शरीर इन्द्रियादि में अहंवाद करने का नाम अहंकार है। [शरीर जन्म लेता है तथापि अज्ञानी पुरुष देह में आत्मबुद्धि करके कहता है 'मैं बड़े कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं महापुरुष का शिष्य हूँ' इत्यादि। मन ही विषय से विरक्त होता है तथापि अज्ञानी मन में आत्माभिमान करके कहता है 'मैं अत्यन्त विरक्त हूँ—मेरे समान दूसरा नहीं है'। इसप्रकार के मिथ्या अभिमान को अहंकार कहा जाता है। कामना और आसक्ति से युक्त जो सामर्थ्य है उसका नाम बल है। यहाँ बल शब्द से शरीरादि की साधारण सामर्थ्य को सूचित नहीं किया जा रहा है क्योंकि वह स्वाभाविक है इसलये

उसका त्याग करना सम्भव नहीं है। अतः कामना एवं रागादि (आसक्ति) के द्वारा प्रेरित होकर जो असत् (मिथ्या) आग्रह किया जाता है वही बल शब्द का अर्थ है।] **दर्पम्**—हर्ष के साथ होनेवाला तथा धर्म के उल्लंघन का कारण जो गर्व है उसका नाम दर्प है [अर्थात् हर्ष से जो मद (मत्ततारूप मनोवृत्तिविशेष) उत्पन्न होता है एवं जिसके कारण धर्म का अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति होती है वह दर्प है क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो' धर्ममतिक्रामत्ति' अर्थात् हर्षयुक्त पुरुष दर्प करता है, दर्प करनेवाला धर्म का उल्लंघन किया करता है, इत्यादि।] **कामम् क्रोधम् परिग्रहम्**—इच्छा (विषय अभिलाषा) का नाम काम है, द्वेष का नाम क्रोध है बाह्य विषय के संग्रह का नाम परिग्रह है। काम और क्रोध का त्याग करने से इन्द्रिय और मन में रहनेवाले दोषों का त्याग हो जाता है। यद्यपि 'वैराग्यं समुपाश्रितः' इससे कामत्याग का वर्णन हो चुका है तो भी प्रयत्न की विशेषता के लिए अर्थात् इस सम्बन्ध में (अर्थात् काम का त्याग करने के लिये) विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है, यह सूचित करने के लिये पुनः 'काम' शब्द का प्रयोग किया गया है काम और क्रोध का त्याग करने के पश्चात् शरीर-धारण के प्रसंग से या धर्मानुष्ठान के निमित्त से जो बाह्य संग्रह की प्राप्ति अर्थात् इच्छा न होने पर भी दूसरे के द्वारा लाये हुए शरीरधारण में उपयोगी या धर्मानुष्ठान के उपयोगी पदार्थ की प्राप्ति होती है उसका परिग्रह न कर उसका भी **विमुच्य**—परित्याग करके परमहंस परिव्राजक होकर जो **निर्ममः शान्तः भवति**—देह के जीवन मात्र में भी ममतारहित और इसीलिये शान्त अर्थात् सर्व-व्यापारों से उपरत हो चुका है [अहंकार और ममकार का अभाव हो जाने से हर्ष विषाद से शून्य हो जाने के कारण शान्तचित्त और विक्षेपरहित होता है। (मधुसूदन)।] ऐसा सर्वपरिश्रम से रहित ज्ञाननिष्ठ यति **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—ब्रह्मरूप होने के योग्य होता है [ज्ञान साधन के परिपाक के क्रम से ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए समर्थ होता है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—**अहंकारम् इत्यादि**—उसके बाद जो 'मैं विरक्त हूँ'–इस प्रकार के अहंकारको, बल यानी दुराग्रहको अर्थात् योगमार्ग के बल से विपरीत मार्ग में प्रवृत्तिरूप दर्पको तथा प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले विषयों में भी काम,

क्रोध और संग्रह को विशेषरूप से छोड़कर बलपूर्वक प्राप्त हुए विषयों में **निर्ममः इत्यादि**—ममतारहित हुआ शान्त (परम उपरति को प्राप्त हुआ) है, वह साधक **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—ब्रह्मभाव के लिए अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चलतापूर्वक स्थित होने के लिये योग्य होता है।

(२) **शंकरानंद**—जो इस प्रकार से बहुत काल तक नित्य निरन्तर केवल समाधिनिष्ठा का ही अनुष्ठान कर रहा है, जिसकी समाधिरूप अग्नि से वासनाग्रन्थि दग्ध हो गई है एवं जिसकी निःशेष विपरीत भावना निवृत्त हो गई है ऐसे ब्रह्मवित् यति के सम्यक् परिपक्व विज्ञान की सिद्धि का फल कहते हैं—'अहंकारम्' इत्यादि।

जो चिर काल तक नित्य, निरन्तर भलीभाँति अनुष्ठित समाधिद्वारा निष्पन्न हुए सम्यक् ज्ञान से देहादि द्वैत प्रपञ्च में अपने से भिन्नत्व का आभास होने से, स्वत्वबुद्धिपूर्वक स्वात्मरूप अधिष्ठानभूत ब्रह्म में 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूप से ज्ञात ब्रह्म में ही आत्मत्ववासना के दृढ़ हो जाने से अनात्मा देहादि में अहंकार (अहंङ्करण) यानी अनात्मा में 'मैं' ऐसी बुद्धि, ब्रह्मवित् यति छोड़ देता है। अज्ञानी के समान आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष सबके अधिष्ठान नित्यशुद्धबुद्धमुक्तरूप चिदेकरस परिपूर्ण परब्रह्म को स्वस्वरूप जानकर आरोपित, असत्, देहादि तुच्छ का 'मैं' इस रूप से अवलम्बन नहीं करता, किन्तु प्रतिबिम्ब के समान आभासरूप से प्रतीयमान होने पर भी इस देह से अहंभाव का त्याग करता है क्योंकि उसमें आत्मबुद्धि रूप हेतु जो अज्ञान था वह अधिष्ठान के (आत्मस्वरूप ब्रह्म के) याथात्म्यसन्दर्शन से नष्ट हो गया है। इसलिए कारण के नाश से कार्य का नाश होता है, इस न्याय से ब्रह्मवित् उनमें अहंभाव नहीं करता, यह अर्थ है। **बलम्**—बल को यानी तुम, मैं, यह, वह इस प्रकार आरोपित पदार्थों के ग्रहण में कारणभूत अविद्यावासना द्वारा सम्पादित वृत्ति के वेगरूप बल को छोड़ देता है अर्थात् नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठा से अनादि अविद्यावासना का क्षय हो जाने पर अन्तःकरण में स्थित वेगरूप बल को त्याग देता है। पहले जैसे वासनावश अन्तःकरण परिपूर्ण ब्रह्मरूप का ग्रहण न कर प्रपञ्च का ग्रहण करता है, वैसे ही समाधि से वासना का क्षय होने पर नाम रूप आदि विशेषों का ग्रहण नहीं करता, किन्तु आभासरूप प्रपञ्च का त्यागकर सर्वत्र ब्रह्म का ही ग्रहण करता है। व्युत्थान और समाधि

दोनों दशाओं में सर्वदा ब्रह्म में ही स्थित रहता है, इससे विद्वान् में 'इदम्' (दृश्य पदार्थ) में 'अहम्' भाव रहने के कारण जो वासना आदि थी उसका अभाव है, ऐसा सूचित होता है। **दर्पम्**—दर्प को यानी 'मैं कृतार्थ हूँ, मैं ब्रह्मवित् हूँ, ऐसे अभिनिवेषरूप अन्तःकरण के विकार को भी त्याग देता है। समाधि से अपने (दर्प के) कारणभूत अज्ञान और अहङ्कार के नष्ट हो जाने पर 'कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है, इस न्याय से दर्प स्वयं ही नष्ट हो जाता है। **कामं क्रोधम्**—उसी प्रकार काम और क्रोध को छोड़ देता है। प्राप्त हुए पदार्थ के भोग की इच्छा **काम**–है। अपने अपकारी का हनन करने के लिए उद्योग करना **क्रोध**–है उन दोनों का ब्रह्मवित् त्याग कर देता है समाधि से कामक्रोधादि के कारण रजोगुण का निर्मूलन हो जाने से अन्तःकरण के विशेष निर्मल होने के कारण अप्रतिबद्ध सम्यक् आत्मविज्ञान से 'मैं ही यह सब हूँ,' यों सर्वात्मभाव को प्राप्त हुए विद्वान् में 'मैं भोक्ता हूँ, यह भोग्य है, तथा यह हन्ता है, मैं मारा जाता हूँ' इत्यादि विपरीत भावना का अभाव होता है अतः सभी उसके स्वरूप हो जाते हैं इसलिये सर्वत्र राग द्वेष का अनवकाश होने पर निमित्त के नाश से नैमित्तिक का नाश होता है, इस न्याय से काम और क्रोध स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं **परिग्रहम्**—उसी से परिग्रह का भी (शरीररक्षण के लिए प्राप्त जो वस्तु है, वह परिग्रह है उसका भी यानी कौपीन, काषाय, कन्था आदि उसका भी) त्यागकर देता है। इसप्रकार अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह जो बाह्य और आन्तर विकल्प के कारण हैं, उन सबका परित्याग कर 'न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः' अर्थात् दण्ड, कमण्लु, शिखा, यज्ञोपवीत और आच्छादनको परमहंस नहीं रखता है, इस श्रुति के द्वारा उक्त रीति से केवल देहरूप से अवशिष्ट परमहंस होकर। शरीर-स्थिति के हेतु काषाय, कन्था आदि का परित्याग करने पर शीत, वात आदि से विकल्प ही हो सकता है, ऐसी अवस्था में ब्रह्मविदुत्तम परमहंस निर्विकल्प कैसे हो सकता है? ऐसी यदि आशङ्का हो तो वह युक्त नहीं है क्योंकि देहादि में 'मैं, मेरा इस प्रकार के अभिमानवाले पुरुषको ही शीत आदि से विक्षेप हो सकता है, निरभिमानी पुरुषको नहीं। उसके (विकल्प के) न होने में हेतु कहते हैं **निर्ममः**—ममता के कारण अहङ्कार के निःशेष नष्ट हो जाने से गत (निकल गया है) देह में से ममभाव जिसका

वह निर्मम है। पराई देह के समान अपनी देह से ममता रहित, यह अर्थ है। 'स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते एतद्वपुरपध्वस्तम्' अर्थात् परमहंस अपने शरीर को मरा हुआ सा देखता है, यह शरीर नष्ट हो गया है, इस श्रुति के अनुसार केवल ब्रह्म में ही आत्मत्व प्रत्यय से युक्त महात्मा ब्रह्मवित् अनात्मस्वरूप से परित्यक्त शव के सदृश शरीर में अहंभाव और ममभाव नहीं करता। क्योंकि सब विकल्प अहंममभावनिमित्तक ही हैं, विद्वान में उनका अभाव है, अतः उसमें विकल्प का अभाव है, ऐसा सूचन करने के लिए ही 'निर्मम' कहा गया है। जिस कारण से इस प्रकार चिरकाल, नित्य, निरन्तर समाधियोग से अहंकार ममकार आदि अविद्यावासनाप्रपंच को धो डालनेवाला ब्रह्मवित् यति सब गुहारूपी ग्रन्थियों से विमुक्त हो जाता है, इसीलिए **शान्तः**—इन्धनरहित अग्नि के समान अन्तःकरण के सब विकारों से शून्य होता है। अतः अन्तःकरण के प्रसन्न होने से आत्मयाथात्म्यविज्ञान को प्राप्त कर लेनेवाला यति **ब्रह्मभूयाय कल्पते**—ब्रह्मभाव के लिए (ब्रह्मभाव यानी सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप से अवस्थान के लिए) समर्थ होता है। ब्रह्माकार से स्थित होता है, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि जो अत्यन्त श्रद्धा से चिरकाल तक नित्य निरन्तर केवल समाधिनिष्ठा का ही नियम से अनुष्ठान करता है, जो समाधिनिष्ठा से अहमादिवासनाग्रन्थियों का भलीभाँति विनाशकर चुका है, जो वासनाग्रन्थि के उच्छेद से सम्यक् आत्मप्रसाद को प्राप्त कर चुका है, तथा जो उसको प्राप्त करके आत्मयाथात्म्यविज्ञान की संसिद्धि से 'मैं ही यह सब हूँ', इस प्रकार से सबको आत्मा ही देखता है, उस ब्रह्मवित् का ब्रह्मभाव सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—ब्रह्मभावना की योग्यता लाभ करने के लिए अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार की योग्यता को प्राप्त करने के लिए गीता में भगवानने जो-जो साधन रहस्य बताया उसका सारांश यह है—

(१) **कर्मजा सिद्धि**—श्रीभगवान् ने कहा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) अर्थात् अपने-अपने कर्मों द्वारा भगवान का अर्चन (पूजा) करने पर मनुष्य सिद्धि (चित्तशुद्धि) लाभ करता है। यहाँ 'स्वकर्म' शब्द का अर्थ है स्वभावजकर्म अर्थात् पूर्वजन्मकृत संस्कार से नियत कर्म जिसके अनुसार

मनुष्य ब्राह्मण आदि वर्णों में जन्म लेता है एवं जो कर्म शास्त्र के द्वारा उसके लिए विहित किया जाता है। अतः स्वभाव से प्रेरित होकर एवं साथ-साथ शास्त्रविधि का उल्लंघन न कर अर्थात् स्वभाव एवं शास्त्र से ही नियुक्त होकर 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकार की बुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसमें (१) कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है (२) केवल ईश्वरकी पूजा (प्रीति) के लिए ही वह कर्म किया जाता है, अतः कर्म से अपने लिए कोई फलाकांक्षा नहीं रहती है। (३) ऐहिक या पारलौकिक किसी सुख की प्राप्ति के लिये उस कर्म का अनुष्ठान न होने से काम-क्रोध अथवा राग-द्वेष का कोई अवकाश भी नहीं रहता है। सभी कर्म दोषयुक्त हैं तथापि जिस कर्म में कर्तृत्वाभिमान, कर्मफल की आसक्ति एवं राग द्वेष नहीं रहता है वह सर्वदोष से मुक्त ही है। इसलिये इसप्रकार कर्म से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है क्योंकि कर्तृत्व-अभिमान तथा काम-क्रोध, राग द्वेष इत्यादि से मुक्त चित्त ही शुद्धचित्त है। चित्त (अन्तःकरण) सात्त्विक गुण से उत्पन्न होने के कारण स्वतः ही स्वच्छ है एवं आत्मप्रतिबिम्ब (अर्थात् शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा का प्रकाश) ग्रहण करने की सामर्थ्य भी शुद्धचित्त को सदा ही है। चित्त जब उक्त कर्तृत्व-अभिमान, फलासक्ति इत्यादि से दोषयुक्त होता है तब वह आत्मा का प्रकाशक न होकर आत्मा का आवरक होकर संसारबन्धन का हेतु बन जाता है। अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान की सिद्धि अर्थात् कर्मजासिद्धि चित्तशुद्धि में ही परिसमाप्त होती है क्योंकि चित्तशुद्धि प्राप्त होने पर ही आत्मस्वरूप भगवान् के प्रसाद (प्रसन्नता) अर्थात् स्वरूपानन्द के आभास का अनुभव होता है एवं उसके पश्चात् सभी कर्म का धीरे-धीरे स्वतः ही त्याग हो जाता है अर्थात् नैष्कर्म्यसिद्धि की योग्यता प्राप्त होती है।

(२) **नैष्कर्म्यसिद्धि**—ईश्वर की प्रसन्नता का अनुभव करने से अर्थात् ब्रह्मसंस्पर्श से अत्यन्त सुख प्राप्त होने पर विषय सुख के तुच्छत्व एवं मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। अतः शुद्धचित्त महात्मा समस्त विषय के प्रति विगतस्पृह या तृष्णाशून्य होता है। किसी वस्तु की स्पृहा न रहने पर चित्त के विक्षेप का कारण नहीं रहता। अतः आत्मा (अन्तःकरण) विषय से निवृत्त होकर जित (वशीकृत या स्थिर) होता है एवं इसप्रकार विगतस्पृह, जितात्मा पुरुष नित्य परमानन्दस्वरूप आत्मा में

स्थित रहने के लिए ही निरन्तर अभ्यास करते हैं। अतः सर्वप्रकार से उसकी बुद्धि आत्मा से अतिरिक्त सभी विषयों से (अपने जीवन धारण के अनुकूल भोग से भी निरासक्त (विरक्त) होकर सर्वकर्मों के त्याग के द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा योग्यताको प्राप्त होता है, यह भगवान्ने पहले ही १८।४९ श्लोक में स्पष्ट किया।

(३) **संसिद्धि या ज्ञाननिष्ठा**—नैष्कर्म्य सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा की योग्यता) के प्राप्त होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से अपरोक्ष अनुभूति होती है। उसका नाम ज्ञान (तत्त्वज्ञान) है। यह ज्ञान अभ्यास के द्वारा परिपक्व होने पर ब्रह्मवित् यति (सर्वकर्म संन्यासी) ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही निष्ठा (निरन्तर स्थिति) को प्राप्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है यही ज्ञाननिष्ठा या सम्यक् संसिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि कही जाती है।

गीता में इसप्रकार से तीन प्रकार की सिद्धि का वर्णन है। इसमें पूर्व-पूर्व सिद्धि उत्तर-उत्तर सिद्धि का अनिवार्य साधन है। इन तीन प्रकार की सिद्धि के साधन क्रम का भगवान् ने ५१ से ५३ वें श्लोक तक विशेष भाव से वर्णन ऐसे किया—

(१) कर्मजा सिद्धि के पश्चात् चित्तशुद्धि होने पर जीव और ब्रह्म एक ही है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार निश्चयात्मिका (विशुद्ध बुद्धि का) उदय होता है। वेदान्त श्रवण-मनन-निदिध्यासन से जब बुद्धि संसार विपर्यय से शून्य होती है तभी वह विशुद्ध (विशेष भाव से शुद्ध) होती है। इसप्रकार से विशुद्ध बुद्धि के उत्पन्न होने पर मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा भी उसमें स्वतः ही दिखाई पड़ती हैं। सारांश यह है कि १८।३० श्लोक में कही हुई सात्त्विक बुद्धि की सर्वोत्कृष्ट अवस्था ही विशुद्ध बुद्धि है। अतः मुमुक्षु के लिए ईश्वर आराधना रूप से स्वकर्म का अनुष्ठान करके पहले विशुद्ध बुद्धि से युक्त होना पड़ेगा एवं तत्पश्चात्—

(२) धृति के अभ्यास के द्वारा जिससे शरीर तथा इन्द्रिय का अवसाद न उपस्थित हो उसके लिए शरीर तथा इन्द्रियों को शास्त्रोक्त दृढ़ **आसन**—के अभ्यास के द्वारा नियमित करना चाहिए एवं साथ-साथ प्राण की गति को भी नियमित (स्थिर) करना चाहिए [५१ श्लोक में 'च' शब्द द्वारा '**प्राणायाम**—को' सूचित किया गया है जो धृति कही है वह सात्त्विकी धृति है (गीता १८।३३)।]

(३) इसप्रकार विशुद्ध बुद्धि तथा शरीर, इन्द्रिय एवं प्राण को नियमन (स्थिरता का सम्पादन) होने पर चित्त विक्षेप से रहित होने के कारण विवेक ज्ञान से युक्त होने पर विषय का मिथ्यात्व अवधारण करने में समर्थ होता है। अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को (जिन पंचविषय में वह पहले रमता था उन शब्दादि विषय को) त्याग कर देता है अर्थात् विषय भोग से निवृत्त होकर आत्मानन्द के भोग के लिए तीव्रसंवेग युक्त होता है। इसको ही योगशास्त्र में **प्रत्याहार**—कहा गया है।

(४) **राग-द्वेष परित्याग**—बाह्य शब्दादि विषय से चित्त की वृत्ति निवृत्त होने पर भी भीतर वासना के रहने के कारण राग-द्वेष रह सकता है किन्तु जिसकी निश्चयात्मिका बुद्धि (विशुद्ध बुद्धि) है एवं सात्त्विक धृति के द्वारा विषय के मिथ्यात्वका निर्णय हो चुका है उसके लिए विषय के प्रति आसक्ति या वासना से उत्पन्न हुए राग-द्वेष का सम्भव नहीं होता है। अतः वह सर्व वासना शून्य होकर राग द्वेष को त्याग करके आत्मा में चित्त को धारण करने में समर्थ होता है। राग द्वेष ही चित्त के विक्षेप का विशेष कारण है। अतः राग द्वेष का त्याग न होने तक योगशास्त्र में उक्त **धारणा**—अर्थात् एक स्थान में मन को स्थिर रखना सम्भव नहीं होता है।

(५) उक्त प्रकार के साधन से युक्त होकर विविक्त (जनशून्य तथा पवित्र) देश में वास एवं—

(६) निद्रा तथा आलस्य का परिहार करने के लिए लघु आहार (अल्पाहार)

(७) पूर्व संस्कारवश चंचलता का निवारण करने के लिए वाणी, मन एवं शरीर को **यम नियमादिरूप** दृढ़ साधनों द्वारा एवं—

(८) दृष्ट एवं अदृष्ट (इहलोक एवं परलोक सम्बन्धीय) समस्त विषयों में तृष्णा रहित होकर वैराग्य का सम्यक् प्रकार से आश्रय कर—

(९) **ध्यान**—योग में परायण रहने पर ही नैष्कर्म्य सिद्धिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा रूप संसिद्धि को प्राप्त करना सम्भव है [तैल धारावत् अविच्छिन्न आत्मस्वरूप के चिन्तन को ध्यान कहा जाता है। उस ध्यान से आत्मा के साथ योग (एकत्व बोध) जिससे पूर्णतया हो सके इसके लिए जो निरन्तर अभ्यास के अनुष्ठान में तत्पर रहता है

उसको 'ध्यानयोगपर' कहा जाता है। इस प्रकार से ध्यानयोगपरता ज्ञाननिष्ठा का साक्षात् मुख्य साधन है क्योंकि इस ध्यानयोग के ही निर्विकल्पसमाधि में परिणत होने पर आत्मसाक्षात्कार एवं तत्पश्चात् ब्राह्मीस्थिति (ज्ञाननिष्ठा) सम्भव होती है। इसप्रकार ब्राह्मीस्थिति लाभ करना अर्थात् आत्मसंस्थ होना ही **परम योग** है।

(१०) ध्यानयोगपरायण होने के मार्ग में पाँच अन्तराय (विघ्न) हैं। अतः विद्वान् पुरुष को इनका सर्वथा त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। वे कौन हैं? इस पर कहते हैं—

(क) **अहंकार**—मैं महा योगी, महाज्ञानी हूँ, मेरे समान और कोई नहीं है इस प्रकार का अभिमान।

(ख) **बल**—मैं तपस्या एवं ध्यान के द्वारा नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त हो सकता हूँ इसप्रकार से साधन बल का अभिमान।

(ग) **दर्प**—अपने ज्ञान एवं साधन संपत्ति के कारण मत्तता।

(घ) **काम**—सभी व्यक्ति मुझे ज्ञानी एवं तपस्वी मानकर पूजा करेंगे इस प्रकार की वासना।

(ङ) **क्रोध**—यदि सत्कार (पूजादि की) प्राप्ति की वासना पूर्ण न हो अर्थात् किसी के द्वारा यदि असत्कार हो तो उसके प्रति क्रोध।

(च) **परिग्रह**—देहादि के प्रयोजन के लिए बाह्य वस्तुसंग्रह अथवा बहु शिष्य एवं भक्त बनाना।

यद्यपि जिसकी विशुद्ध बुद्धि उत्पन्न हुई है एवं जो उपर्युक्त साधनों से सम्पन्न है उसके लिए अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह का परित्याग स्वतः ही होना उचित है तथापि जब तक मन आत्मा में लय होकर निरन्तर आत्मसंस्थ नहीं होता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठा नहीं होती है तब तक मूल अविद्या के रहने के कारण ये पंचमहाशत्रु रूपी चित्तवृत्ति प्रसुप्त रूप से (अप्रकट रूप से) अन्तःकरण में रहती हैं। इसलिए ज्ञानी को भी ज्ञाननिष्ठा की पूर्वावस्था तक इनके सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, यह सूचित करने के लिए अहंकार, बल, आदि का भी मूल अज्ञान के साथ त्याग करने के लिए भगवान् ने कहा। ये सब अहंकार, बल, दर्प इत्यादि साधारण

अज्ञानी व्यक्ति के नहीं हैं—साधन की उच्च अवस्था में भी अहंकार आदि के सूक्ष्म संस्कार का उदय हो सकता है, यह स्पष्ट करने के लिए ही ऐसा कहा गया है।

(११) उक्त नव प्रकार के साधनों से सम्पन्न होने पर ज्ञानी निर्मम अर्थात् देह के जीवन में भी ममत्व बुद्धि से रहित होता है अर्थात् रक्षा के लिए भी उसकी कोई चेष्टा नहीं रहती है,

(१२) अतः अहंकार, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष इत्यादि सभी चित्तविक्षेपकर वृत्ति से रहित होने के कारण वह शान्त हो जाता है एवं इस प्रकार के साधन के परिपाक से वह ब्रह्मभाव के लिए (ब्रह्मसाक्षात्कार करने के लिए या ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करने के लिए) अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही होने के लिए कल्प (योग्य या समर्थ) होता है।

जिस क्रम से ब्रह्मभाव प्राप्त हो सकता है अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है इसको कहा गया है अब ब्रह्मभाव के प्राप्त होने के पश्चात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की किस प्रकार की अवस्था होती है उसको कहा जाता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

अन्वय—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, सर्वेषु भूतेषु समः (सन्) पराम् मद्भक्तिम् लभते।

अनुवाद—ब्रह्मभूत (ब्रह्मभाव प्राप्त) सर्वत्यागी यति की आत्मा (अन्तःकरण) सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिए वह न तो [नष्ट हुई वस्तु के लिए] शोक करता है और न अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है।] वह समदृष्टिसम्पन्न होता है अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति समान रूप से बर्ताव करता हुआ मुझ भगवान् की पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है।

भाष्यदीपिका—ब्रह्मभूतः—['बुद्धया विशुद्धया' इत्यादि पूर्व श्लोकों में जिस प्रकार कहा गया है उसी क्रम से] ब्रह्मप्राप्त [जीवन काल में ही श्रवण और मनन के अभ्यास से अशेष अनर्थ की निवृत्ति कर परमानन्दस्वरूप ब्रह्म को 'वह मैं ही

हूँ' ऐसे दृढ़निश्चयवाला यति] **प्रसन्नात्मा**—प्रसन्नचित्त हो जाता है [अर्थात् वह अध्यात्मप्रसाद यानी प्रत्यक् आत्मा में जो प्रसाद अर्थात् परमात्मा का आविर्भावरूप प्रसाद है उसे प्राप्त कर लेता है अथवा शम, दमादि साधनसम्पत्ति के अभ्यास से शुद्धचित्त हो जाता है (मधुसूदन) ।] इस प्रकार ज्ञानी **न शोचति**—नष्ट हुई वस्तु के लिए अथवा किसी प्रकार अपनी गुणहीनता के लिए शोक (अनुताप) नहीं करता है अथवा **न काङ्क्षति**—अप्राप्त वस्तु की इच्छा भी नहीं करता है क्योंकि ब्रह्मविद् पुरुष के लिए ब्रह्म के सिवा किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है अतः ब्रह्मवेत्ता में अप्राप्त विषय की आकांक्षा बन ही नहीं सकती । 'न शोचति न कांक्षति' इस कथन से ब्रह्मभूत पुरुष के स्वभाव का अनुवादमात्र किया गया है । किसी किसी पुस्तक में 'न हृष्यति' अर्थात् हृष्ट अर्थात् आह्लादित नहीं होता है इस प्रकार भी पाठ है । कहने का अभिप्राय यह है कि शोक, इच्छा तथा हर्षविषाद से रहित पुरुष **सर्वभूतेषु समः**—सब भूतों में सम होता है । [निग्रह और अनुग्रह न करने के कारण वह समस्त भूतों के प्रति समान होता है अर्थात् सर्वत्र एक ही आत्मा व्याप्त है, इस प्रकार का निश्चय रहने के कारण अपने ही समान सर्वत्र (सर्वभूतों में) सुख-दुःख का अनुभव करता है । इस वाक्य में आत्मा को समभाव से सर्वत्र देखना नहीं कहा है—परन्तु उसकी पूर्वावस्था का वर्णन किया गया है क्योंकि आत्मसमदर्शन तो 'भक्त्यामामभिजानाति' इस पद से आगे कहा जायगा] **मद्भक्तिं परां लभते**—ऐसा ज्ञाननिष्ठ पुरुष मुझ परमेश्वर की भजनरूप ज्ञानलक्षणा परा (उत्तमा) भक्ति को प्राप्त करता है अर्थात् 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' (गीता ७।१६) इसमें जो चतुर्थ भक्ति कही गई है उसको प्राप्त कर लेता है । [ऐसा ज्ञाननिष्ठ यति मेरी भक्ति अर्थात् मुझ शुद्ध परमात्मा भगवान् में भक्ति यानी उपासना को (जो मेरे आकार की चित्तवृत्तियों की आवृत्तिरूप और श्रवण-मनन के अभ्यास की फलभूता परिपक्व निदिध्यासन संज्ञावाली है) प्राप्त करता है । वह भक्ति परा-श्रेष्ठा अर्थात् अव्यवधान से (अभिन्नबोध से) आत्म-साक्षात्काररूप फलवाली है अथवा 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादि श्लोकों में कही हुई जो चार प्रकार की भक्तियाँ हैं उनमें से अन्तिम ज्ञानलक्षणा भक्ति ही परा भक्ति है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार निश्चल स्थिति का फल बताते हैं—**ब्रह्मभूतः**—ब्रह्म में स्थित हुआ **प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति**—प्रसन्नमनवाला योगी नष्ट हुए पदार्थ का शोक नहीं करता और अप्राप्त पदार्थ की आकांक्षा नहीं करता; क्योंकि उसमें देह आदि के अभिमान का अभाव होता है। इसीलिए **समः.........पराम्**—सब प्राणियों में सम होकर राग द्वेष आदिजनित विक्षेप का अभाव हो जाने के कारण समस्त प्राणियों में मेरी भावनारूप पराभक्ति को प्राप्त होता है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार विशुद्धबुद्धित्व आदि सहकारी साधनों की सम्पत्ति से समनुष्ठित ध्यानयोगनिष्ठा से उत्पन्न हुए सम्यक् ज्ञान से जिसने ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लिया है, ऐसे महात्मा जीवनमुक्त कृतार्थ यति की स्थिति का आधे श्लोक से वर्णन करते हैं—'ब्रह्मभूतः' इत्यादि से **प्रसन्नात्मा**—पूर्वोक्त साधनसम्पत्ति से समनुष्ठित समाधिनिष्ठा से रजः, तमः तथा उनके कार्य राग, द्वेष आदि एवं अहंकार, ममकार आदि अशेष मल के नष्ट हो जाने के कारण प्रसन्न है यानी केवल शुद्धसत्त्वभाव को प्राप्त है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्र को ग्रहण करने से प्रशान्त अर्थात् विपरीत प्रत्यय से रहित है आत्मा (अन्तःकरण) जिसका, वह प्रसन्नात्मा **ब्रह्मभूतः**—समाधिनिष्ठा से उत्पन्न परिपक्व विज्ञान से संयुक्त होकर दृश्यसम्बन्ध को छोड़कर ब्रह्मभूत अर्थात् सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ, इस प्रकार से ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ जीवन्मुक्त ब्रह्मवित्तम यति **न शोचति**—सोचता नहीं है यानी शोक नहीं करता, क्योंकि शोक के हेतु अनर्थ का अभाव है। लोक में जिस किसी अनर्थ का अपने में आरोप कर मूढ़ व्यक्ति के समान शोक नहीं करता। सबको आत्मस्वरूप देखनेवाले विद्वान के प्रति दूसरा अर्थ अनर्थ का हेतु हो नहीं सकता, जिसको कि देखकर वह शोक करे। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' अर्थात् दूसरे से ही भय होता है, इत्यादि श्रुति से द्वैत में ही भय का हेतुत्व सुनने में आता है और लोक में भी अपने से भिन्न ही भय का कारण और दुःख का कारण देखने में आता है। इसलिए जो अपने को ही सर्वत्र, चिदेकरस, प्रशान्त, वृद्धि और क्षय आदि से रहित, आनन्दघन और अद्वितीय देखता है, वह अनर्थ के हेतु दूसरे को नहीं देखता। अतः ब्रह्मवित्तम पुरुष की दृष्टि में शोक का कोई

निमित्त न रहने के कारण वह शोक नहीं करता, यह अर्थ है। यदि कहो कि आभास-रूप से विद्वान् में भी उपाधि है ही, उसके वैकल्य और वैगुण्यरूप शोक के निमित्त रहने पर विद्वान् शोक नहीं करता, यह कैसे कहा जा सकता है? तो वह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विद्वान् को देह में ममता नहीं होती है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है। देह में मैं, मेरा, यों अभिमान करनेवाले को ही उसका वैकल्य और वैगुण्य होनेपर शोक होता है। किन्तु 'ब्रह्म ही मैं हूँ न कि देह', इस प्रकार निरभिमानी, वैकल्य और वैगुण्य के अविषय, सबके आत्मस्वरूप ब्रह्म में ही आत्मभाव की प्राप्ति होने के कारण, ब्रह्मस्वरूप से निरूढ़वृत्तिवाले विद्वान् की दृष्टि में प्रतिबिम्ब के समान उपाधि का अस्तित्व नहीं है, अतः तन्निमित्तिक शोक नहीं हो सकता। श्रुति भी है 'किमिच्छन् कस्य कामाय' अर्थात् ब्रह्मवित् किसकी इच्छाकर या किस प्रयोजन के लिए शरीर के दुःख से दुःखी होवे, 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' अर्थात् ब्रह्म को जानकर धीर हर्ष और शोक का परित्याग करता है, और 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु-पश्यति' अर्थात् एकत्व देखनेवाले विद्वान् को क्या मोह और क्या शोक? अतः उक्त लक्षण से युक्त यति किसी दूसरे पदार्थ की कामना नहीं करता। **न कांक्षति**—सभी पुरुष अप्राप्त अर्थ की कामना करते हैं, इस ब्रह्मवित को प्राप्तव्य दूसरा अर्थ (विषय) है नहीं, जिससे कि वह 'मुझे यह मिले' यों इच्छा करे। 'मैं अन्न हूँ' मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं आनन्द हूँ, मैं आनन्द हूँ, मैं आनन्द हूँ तथा 'मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ' इस न्याय से भोक्ता और भोग्यस्वरूप से अपनी ही स्थिति है और अपने को छोड़कर दूसरी वस्तु का अभाव है। 'मैं ही यह सब हूँ' यों सर्वात्मभाव की प्राप्ति से सभी वस्तुओं की ही स्वात्मरूप से प्राप्ति हो चुकी है। अतः ब्रह्मभूत यति को उनकी कामना ही नहीं हो सकती इसीलिए वह इच्छा नहीं करता। 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' अर्थात् ब्रह्मवित् सर्वज्ञ ब्रह्मरूप होकर सब भोगों को एक साथ भोगता है। इससे ब्रह्मभावापन्न यति को सब कामों की प्राप्ति सुनने में आती है। इसलिए जिसने सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लिया है, वह कामी नहीं हो सकता, और 'काम एवं क्रोधको' इससे काम का परित्याग कर चुका है, अतः ब्रह्मवित् कभी, कहीं, कुछ भी इच्छा नहीं करता, यह अर्थ है। ज्ञानकी सम्यक् प्रकार की सिद्धि के लिए

विशुद्धबुद्धित्व आदि साधनसंपत्ति से ज्ञाननिष्ठा कर रहे यति की ज्ञाननिष्ठा के अत्याग-पूर्वक ब्रह्मप्राप्ति ही सूचित की गई है, निष्ठा से संप्राप्त ज्ञान के स्वरूप, उससे वस्तुतत्त्व के निर्धारण का प्रकार और निर्धारित वस्तु की प्राप्ति-सूचित नहीं की गई है। जिज्ञासु के जानने योग्य उस सबका संक्षेपतः डेढ़ श्लोक से प्रतिपादन करते हैं—**समः सर्वभूतेषु**—ज्ञाननिष्ठा के सहकारी विशुद्ध बुद्धित्व आदि और तद्बुद्धित्व (मैं ही वह ब्रह्म हूँ इस प्रकार के बुद्धित्व) आदि साधनों से भली भाँति युक्त समदर्शनपरायण तथा सम्यक् ज्ञान की सिद्धि के लिए ज्ञान निष्ठा में प्रवृत्त ब्रह्मवित् यति 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वव-स्थितम्' अर्थात् अशरीर को तथा अनित्य नित्यरूप से अवस्थित को 'सर्वभूतेषु मामेकम्' अर्थात् सबभूतों में जिससे एक को, इत्यादि उक्त प्रकार से सब भूतों में (आकाश से लेकर स्थूल तक भूतों में) और भूतों के कार्य ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सब शरीरों में **परां भक्तिं लभते**—सर्वत्र परा ज्ञाननिष्ठा के परिपाक से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित अप्रतिबद्ध तथा परमार्थ की बोधक होने के कारण परा (प्रकृष्टा) मद्भक्ति को (भक्ति शब्द का अर्थ है ज्ञान अर्थात् निष्ठा के परिपाक से उत्पन्न हुआ ज्ञान। सर्वभूतों के आत्मभूत मेरी यानी निर्विशेष, अपरिच्छिन्न सम्पूर्ण उपाधि से रहित, चिदेकरस, परब्रह्म की भक्ति मद्भक्ति, उसको) प्राप्त करता है। नित्यनिरन्तर समाधिनिष्ठा से अन्तःकरण में शुद्ध सत्त्वभाव के प्राप्त होने पर सर्वत्र मेरे स्वरूप-मात्र का ही ग्रहण करने वाले अद्वैतविषयक ज्ञान को ब्रह्मवित् यति प्राप्त करता है, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकोक्त साधन के क्रम के परिपक्व होने पर निर्मम तथा शान्त योगी ब्रह्मभूत होता है अर्थात् निदिध्यासन द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है। अतः ब्रह्म संस्पर्श जनित अत्यन्त सुख प्राप्त होने के कारण वह प्रसन्नात्मा होता है अर्थात् अन्तकरण प्रसन्नता से भरपूर हो जाता है। उस ब्रह्मसुख को प्राप्त होने के पश्चात् जागतिक किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता है एवं इसलिए किसी वस्तु के लिए शोक वा आकांक्षा रहना भी सम्भव नहीं है इसलिए श्रुति में कहा है—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥' अर्थात्

जिसने सर्वभूत में एक ही आत्मा विद्यमान है, ऐसा अपरोक्ष अनुभव किया है, उस एकत्वदर्शी पुरुष के लिए शोक और मोह कैसे रह सकता है ? इस प्रकार एक ही आत्मा का सर्वत्र दर्शन करने के कारण वह सर्वभूतों में सम हो जाता है अर्थात् दूसरे का सुख दुःख अपने सुख दुःख के समान ही मानता है यही परमयोगी का लक्षण है (गीता ६।३२) एवं इस प्रकार होने पर ही योगी ज्ञाननिष्ठ होकर भगवान् में पराभक्ति (श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फलभूत, सर्वप्रकार से द्वैतदृष्टि विवर्जित होकर भगवदाकारा चित्तवृत्ति द्वारा निरन्तर भगद्भावनारूप परा अर्थात् उत्तम ज्ञाननिष्ठारूप भक्ति) को प्राप्त करते हैं गीता के ७।२६ श्लोक में उक्त आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी से विलक्षण ज्ञानी की भक्ति को ही यहाँ पराभक्ति कहा गया है।

प्रश्न होगा ब्रह्मभूत होकर ज्ञानी तो सदा ही समाधि में मग्न रहेंगे, अतः शोक नहीं करना, किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करना, सर्वभूत में समभाव रखना, उनके लिए कैसे सम्भव होता है ? इसके उत्तर में कहा जायगा–यह ठीक है कि ज्ञानी समाधि काल में ब्रह्मानन्द में स्थित रहते हैं किन्तु समाधि से व्युत्थान अवस्था में उन ज्ञानी की अवस्था किस प्रकार की होती है उसे बताना ही यहाँ अभिप्राय है। तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार में भी सर्वत्र ब्रह्म को (आत्मा को) ही देखता है–किसी अवस्था में उससे अलग नहीं होता है। इसलिए भगवान् ने भी कहा 'यो मां पश्यति सर्वत्र' इत्यादि (गीता ६।३०)। भागवत में भी कहा है 'सर्वभूतेषु येनैकम् भगवद्भावमीक्ष्यते। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः' अर्थात् जो सर्व भूत में एकमात्र भगवान् की ही सत्ता देखता है एवं आत्मस्वरूप भगवान् में सर्व भूतों का दर्शन करता है वही भागवतोत्तम अर्थात् भक्त में श्रेष्ठ है अतः भगवान् में वही पराभक्ति को प्राप्त कर चुका है। इसलिये गीता एवं अन्यान्य शास्त्रों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञाननिष्ठा ही पराभक्ति है। अतः जो ज्ञान की परानिष्ठा के विषय में ५० वें श्लोक में कहा गया है, वही इस श्लोक में पराभक्ति रूप से साधन के सहित बतलाया गया है।

पूर्व श्लोकोक्त पराभक्ति समाधिसाध्य है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से जो प्रज्ञा एवं उससे जो ज्ञाननिष्ठा होती है वही पराभक्ति है। पराभक्ति से जो अपूर्वफल मिलता है उसे कहते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

अन्वय—भक्त्या (अहं) यावान् यः च अस्मि तत् अभिजानाति, ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् माम् विशते ।

अनुवाद—पराभक्ति के द्वारा वह मुझे जितना (अर्थात् मैं सर्वव्यापी हूँ) और जो कुछ मैं हूँ (मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ) वह यथार्थरूप से जान लेता है और फिर मुझे तत्त्वतः जानकर (अर्थात् प्रत्यक्षरूप से अनुभव या साक्षात्कार कर) उसके पश्चात् मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ।

भाष्यदीपिका—भक्त्या—भक्ति से (पूर्वोक्त श्लोक में कही हुई ज्ञानलक्षणा पराभक्ति से) यावान् यः च अस्मि—मैं जितना हूँ और जो हूँ उसको अभितः (सर्वप्रकार से) जान लेता है । कहने का अभिप्राय यह है कि मैं जितना हूँ अर्थात् उपाधिकृत विस्तार भेद से मैं सर्वव्यापी हूँ—सब नाम तथा रूप में विद्यमान हूँ और मैं जो हूँ अर्थात् वास्तव में समस्त उपाधि भेद से रहित, उत्तमपुरुष तथा आकाश के समान जो मैं सर्वव्यापी हूँ उस असंग, अद्वैत, अजर, अमर, अभय, निधनरहित (अविनाशी) अखण्ड, चैतन्यैकरस मुझको अभिजानाति—ऐसा ही जान लेता है अर्थात् उक्त लक्षणविशिष्ट मैं और प्रत्यगात्मा एक ही हूँ ऐसा निश्चय कर लेता है ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा—उसके पश्चात् मुझे यथार्थरूप से जानकर अर्थात् मैं ही वह अखण्ड, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप हूँ अर्थात् मेरी आत्मा सर्वभूत की आत्मा है, ऐसा साक्षात्कार करके मुझे तदनन्तरम्—तदनन्तर अर्थात् किसी काल का व्यवधान न रखकर अर्थात् तत्काल ही माम् विशते—मुझमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य की निवृत्ति होने पर सभी उपाधि से शून्य होकर मत्स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) हो जाता है [तत्त्वज्ञान का फल (ज्ञाननिष्ठा का फल) जो विदेह कैवल्य है उसको प्राप्त करता है (आनन्दगिरि) ।]

[मधुसूदन सरस्वती ने 'तदनन्तरम्' शब्द की इस प्रकार से व्याख्या की—तदनन्तर=बलवान् प्रारब्धकर्म के भोग के द्वारा देह का पात होने के अनन्तर (पश्चात्) ज्ञान के अनन्तर ही नहीं] क्योंकि इस अर्थ की प्राप्ति तो 'ज्ञात्वा' शब्द में

त्वा प्रत्यय से ही हो सकती थी अतः तदनन्तरम् इस पद की व्यर्थता प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् ने तदनन्तर शब्द के द्वारा यहाँ 'यस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' अर्थात् उसकी विदेह मुक्ति में तभी तक विलम्ब है जबतक कि उसका देहपात नहीं होता। देहपात होने पर तो तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है इस श्रुति का यही अर्थ दिखाया है। इस विषयपर भाष्यकार का मत इस प्रकार है—

भक्ति से मैं जितना हूँ और जो हूँ, उसको तत्त्व से जान लेता है। अभिप्राय यह है कि मैं जितना हूँ, यानी उपाधिकृत विस्तार भेद से जितना हूँ और जो हूँ, यानी वास्तव में समस्त उपाधि भेद से रहित, उत्तम पुरुष और आकाश की तरह (व्याप्त) जो मैं हूँ, उस अद्वैत, अजन्मा, अजर, अमर, अभय और निधन रहित मुझ चैतन्यमात्र एकरस परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है। फिर मुझे इस तरह तत्त्व से जानकर तत्काल मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। यहाँ 'ज्ञात्वा' 'विशते तदनन्तरम्' इस कथन से ज्ञान और उसके अनन्तर प्रवेशक्रिया यह दोनों भिन्न-भिन्न विवक्षित नहीं हैं। तो क्या है? फलान्तर के अभाव का ज्ञानमात्र ही विवक्षित है। ज्ञान के साथ-साथ ब्रह्म व आत्मा की भेदबुद्धि न रहने के कारण ब्रह्मप्राप्ति (ब्रह्म में प्रवेश) ही ज्ञान का अन्य फल है ऐसा कहा नहीं जाता है क्योंकि ब्रह्म व आत्मा दोनों ही ज्ञानस्वरूप ही हैं। अतः ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी न रहने के कारण कौन किस में ज्ञान के फलरूप से प्रवेश करेगा? अतः ज्ञानमात्र को ही (स्वरूप ज्ञान को ही) यहाँ 'प्रवेश' शब्द के अर्थरूप से कहने का अभिप्राय है। क्योंकि 'क्षेत्रज्ञ (ज्ञानमात्र आत्मा) भी तुम मुझे समझो' ऐसा कहा गया है (गीता १३।२)

पूर्वपक्ष—यह कहना विरुद्ध है कि ज्ञान की जो परानिष्ठा है उससे मुझे जानता है। यदि कहा जाय कि विरुद्ध कैसे है तो बतलाते हैं—जब ज्ञाता को जिस विषय का ज्ञान होता है, वह उसी समय उस विषय को जान लेता है, ज्ञान की बारम्बार आवृत्ति करना रूप ज्ञाननिष्ठा की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए वह ज्ञेय पदार्थ को ज्ञान से नहीं जानता, ज्ञानावृत्तिरूप ज्ञाननिष्ठा से (पराभक्ति से) जानता है यह कहना विरुद्ध है।

उत्तरपक्ष—यह दोष नहीं है, क्योंकि अपनी उत्पत्ति और परिपाक के हेतु यदि विरोध रहित (प्रतिबन्धक रहित) हो तो उससे उत्पन्न तथा परिपक्व ज्ञान का जो

अपने स्वरूपानुभव में निश्चय रूप से पर्यवसान (स्थित हो जाना) है उसी को 'निष्ठा' शब्द से कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति और परिपाक के प्रधान हेतु हैं शास्त्र और आचार्य के उपदेश क्योंकि श्रुति में कहा है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। जो विशुद्ध-बुद्धि, अमानित्वादि (गीता १३।७) सहकारी कारण हैं उनकी सहायता से शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुआ जो 'मैं कर्ता हूँ' 'मेरा यह कर्म है', इत्यादि कारक भेद बुद्धि जनित समस्त कर्मों के संन्यास सहित क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता का ज्ञान है उसका जो अपने स्वरूप के अनुभव में जो (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में) निश्चयरूप से स्थित रहता है उसे 'परा ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं।

वही यह ज्ञाननिष्ठा 'आर्त' आदि तीन भक्तियों की अपेक्षा से (गीता ७।१६) चतुर्थ पराभक्ति कही गई है। उस (ज्ञाननिष्ठारूप) पराभक्ति से भगवान् को तत्व से (यथार्थ रूप से) जानता है जिससे उसी समय ईश्वर और क्षेत्रज्ञविषयक भेदबुद्धि पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठारूप भक्ति से मुझे जानता है यह कहना विरुद्ध नहीं होता (क्योंकि ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्ति आत्मस्थिति या ब्रह्मस्थिति से कोई पृथक् अवस्था नहीं है)। [आचार्य के उपदेशजनित ब्रह्म और जीव के एकत्व-बोध के सहित जब सर्व कर्मों का त्याग हो जाता है तो जीव अपने यथार्थस्वरूप में निश्चय रूप से स्थित हो जाता है एवं वही परमपुरुषार्थ है], ऐसा मान लेने से वेदान्त, इतिहास, पुराण और स्मृतिरूप समस्त निवृत्ति विधायक शास्त्र सार्थक हो जाता है।

'विदित्वा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० उ० ३।५१) 'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' (ना० उ० २।७९) 'न्यास एवात्यरेचयत्' (ना० उ० २।७८) अर्थात् आत्मा को जानकर (तीनों तरह की ऐषणाओं से) विरक्त होकर फिर भिक्षा-चरण करते हैं; पुरुषार्थ का अन्तरंग साधन होने के कारण संन्यास ही इन सब तपों में अधिक कहा गया है, अकेला संन्यास ही उन सबको उल्लंघन कर जाता है, कर्मों के त्याग का नाम संन्यास है। 'वेदानिमम् च लोकममुं च परित्यज्य' (आप० ध० १।२३।१३) 'त्यज्य धर्ममधर्मं च (महा० शां० ३२९।४०) अर्थात् वेदों को तथा

इसलोक और परलोक को परित्याग करके धर्म-अधर्म को छोड़कर इत्यादि शास्त्रवाक्य हैं तथा यहाँ भी (गीताशास्त्र में भी) संन्यास परक बहुत से वचन दिखाए गए हैं। उन सब वचनों को व्यर्थ मानना उचित नहीं है अर्थवादरूप से (स्तुतिवाद रूप से) मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे अपने प्रकरण में स्थित हैं (अर्थात् कोई कर्म विशेष का प्रकरण नहीं कहा गया है)। इसके सिवा अन्तरात्मा का अविक्रियस्वरूप में निश्चय रूप से स्थित हो जाना ही मोक्ष है। इसलिए भी (पूर्वोक्त बात ही सिद्ध होती है)। [मुमुक्षु को मोक्ष के साक्षात् उपायस्वरूप ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करना चाहिए। सर्वकर्म संन्यास से ही ज्ञाननिष्ठा सम्भव होती है, कर्मनिष्ठा से नहीं क्योंकि ज्ञाननिष्ठा व कर्मनिष्ठा परस्पर विरोधी हैं-यही दृष्टान्त से समझाया जा रहा है।] क्योंकि पूर्व समुद्र पर जाने की इच्छा वाले का उसके प्रतिकूल पश्चिम समुद्र पर जाने की इच्छा वाले के साथ समान मार्ग नहीं हो सकता।

अन्तरात्म विषयक प्रतीति को निरन्तर सुरक्षित रखने के आग्रह का (परमात्म विषय में निरन्तर ज्ञानधारा का प्रवाह जिससे सुरक्षित रहे उसके लिए आग्रह का नाम 'ज्ञाननिष्ठा' है। उसका कर्मों के साथ रहना असम्भव है (अर्थात् पूर्व की ओर जाने की इच्छा वाले के लिए पश्चिमी समुद्र की ओर जाने वाले मार्ग की भाँति विरुद्ध है)। प्रमाणवेत्ताओं ने उनका (कर्म और ज्ञान निष्ठा का) पर्वत और राई के समान भेद निश्चित किया है। सुतरां यह सिद्ध हुआ कि सर्व कर्म के संन्यासपूर्वक ही ज्ञाननिष्ठा करनी चाहिए।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर—भक्त्या·········तत्त्वतः**—उस पराभक्ति के द्वारा मुझे तत्त्व से जानता है। किस प्रकार से मुझको जानता है? मैं जितना सर्वव्यापी और जो भी अर्थात् सच्चिदानन्दघनस्वरूप हूँ, वैसे रूप में मुझे जानलेता है। **ततः·········तदनन्तरम्**—उसके बाद इस प्रकार मुझे तत्त्व से जानकर तत्काल ही उस ज्ञान के भी उपरत हो जानेपर मुझमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप हो जाता है।

(२) **शंकरानन्द**–इसप्रकार चिरकाल तक नित्य निरन्तर अभ्यस्त ज्ञानयोग से विपरीत प्रत्ययों के हेतु अनादि अविद्यावासनाओं का और उनके कार्य विपरीत प्रत्ययों का

निःशेष क्षय हो जाने पर सब विकल्पों को छोड़कर सर्वत्र समदर्शनरूप ज्ञान को प्राप्त-कर लेनेवाले ब्रह्मवित् यति के उस ज्ञान से उत्पन्न हुए वस्तुतत्त्व के निश्चय का प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् उस प्रकार के निश्चय से युक्त हुए यति की ब्रह्मप्राप्ति दिखलाते हैं—'भक्त्या' इत्यादि से। **भक्त्या**—भक्ति से (बाहर भीतर सर्वत्र वस्तुमात्र का ग्रहण करानेवाली निर्विकल्प प्रत्यक्दृष्टि से अर्थात् भलीभाँति अधिष्ठान के संदर्शन से जनित ज्ञान से) **मां परम् अभिजानाति**—ब्रह्मवित् यति मुझको (परब्रह्म को) जानता है यानी अभितः (सर्वतः) आभिमुख्य से साक्षात्) प्रत्यक्षीकृत वस्तु के तत्त्व का विकल्प-रहित होकर) निश्चय करता है, अर्थात् सामान्य और विशेषरूप से अधिगत वस्तु के तत्त्व का निर्धारण करता है। निर्धारण के प्रकार को ही कहते हैं—**यावान्**—अव्यक्त, महदादि तथा उनके कार्यरूप उपाधि के योग से मैं जितना हूँ यानी कल्पित उपाधि के योग से मैं जितना हूँ यानी कल्पित उपाधि के भेदों से मैं जैसा हूँ—समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप उपाधियों से विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर; व्यष्टि स्थूल, और सूक्ष्म कारणरूप उपाधियों से विश्व, तैजस प्राज्ञ-तीन गुण रूप उपाधियों से ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर तथा अवान्तर वृत्तियों से देव, तिर्यक्, मनुष्य यों उपाधिभेदों से जिस स्वरूप से मैं प्रतीत होता हूँ, यह अर्थ है। अधिष्ठान स्वयं अविकारी ही रहकर आरोपित नाम और रूपों का अनुकरण करता है। जैसे अविकारी रज्जु ही ग्रहीता के ग्रहणदोष से आरोपित सर्प के शिर, पुच्छ आदि आकार से भासती है, मरु ही आरोपित जल के प्रवाह, तरङ्ग आदि रूप से प्रतीत होता है, इसी प्रकार अधिष्ठानभूत अविकारी परब्रह्म भी आरोपित नाम और रूपों का अनुकरण करता हुआ अनेक सा प्रतीत होता है। इस अर्थ की पोषक-श्रुति और स्मृति भी है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' अर्थात् ईश्वर माया से बहुरूप प्रतीत होता है, 'स एकधा सन् बहुधा विचचार' अर्थात् एक होकर बहुत प्रकार से विचरा' 'एक एव ही भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः' अर्थात् एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है 'स एकधा भवति पञ्चधा सप्तधा भवति नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः' अर्थात् वह एक प्रकार का होता है, तीन प्रकार का होता है पाँच प्रकार का, सात प्रकार का होता है, नव प्रकार का और फिर ग्यारह प्रकार का कहा गया है, 'बहुरूप इवाऽऽभाति मायया बहुरूपा', 'नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'

अर्थात् नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और दोषरहित भी आत्मा अनेक रूपवाली माया से अनेक सा भासता है, 'एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न तु तत्त्वतः' अर्थात् एक होकर भ्रान्तिरूप माया से अनेक होता है—परमार्थतः नहीं। जो इस प्रकार मायापरिकल्पित उपाधिविशेषों से परिच्छिन्न सा, धर्मी सा कर्मी-सा, गुणी-सा प्रतीत हुआ, वही मैं श्रुत्यनुसारी युक्ति और समाहित बुद्धि से परिशील्यमान होकर उपाधि, उसके धर्म, उसके कर्म उसके गुण और उसके विकार से रहित, अपरिच्छिन्न, नित्य, निर्विशेष, मुक्तों से प्राप्त होने योग्य, एक ही अविक्रिय हूँ ऐसा कहते हैं—**यश्चास्मि तत्त्वतः**—'अर्थात् आदेशो नेति-नेति' अर्थात् इसलिए नेति-नेति आदेश है, 'यत्र नान्यत्पश्यन्ति' अर्थात् जहाँ दूसरे को नहीं देखता, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' अर्थात् स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं इत्यादि श्रुतियों के अनुकूल 'नेति-नेति' वाक्यों से भी अबाध्य, अपवाद करनेवाले का आत्मभूत, अहेय, अनुपादेय, निर्विशेष, निराभास, निरधिकार, निरवद्य (शुद्ध), निरञ्जन, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, (अन्त से रहित), नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अखण्ड आनन्दैकरस परतत्त्व जो है, उससे यानी पारमार्थिकस्वरूप से तीन काल में भी दूसरे प्रमाण से बाधित न होनेवाली सत्ता से युक्त, नित्य, शाश्वत, जो मैं एक ही सच्चिदानन्दैकलक्षण अद्वितीय हूँ, उस मुझ परब्रह्म को जानता है। सर्वात्मायं हि सर्वं नैवोतोऽद्वयो ह्ययमात्मैकल एव·········नह्ययमोता नानुज्ञाता असङ्गत्वादविकारित्वादन्यस्य' अर्थात् यह सर्वात्मा है, यह सब है यह ओत नहीं है, यह अद्वय ही है, यह आत्मा अकेला ही है·········यह ओत नहीं है और न अनुज्ञाता है, क्योंकि वह असंग एवं अविकारी है, तथा अन्य का अस्तित्व नहीं है, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अर्थात् एक ही अद्वितीयब्रह्म, 'नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् यहाँ अनेक कुछ नहीं है, 'सर्वं ह्ययमात्मा' अर्थात् सब जो यह आत्मा, 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' अर्थात् भोक्ता, भोग्य और प्रेरक को जानकर सबको तीन प्रकार का कहा है, वह ब्रह्म ही है, ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषतो भाति निरस्तसङ्गं' अर्थात् ज्ञान,—विशुद्ध, विमल, विशोक, निरस्तसंग ब्रह्म अशेषरूप से भासता है, 'इदं सर्वं ब्रह्ममात्रं ब्रह्मण्यारोपितत्वात् शुक्तिरजतवत्' अर्थात् यह सब ब्रह्ममात्र है, ब्रह्म में आरोपित होने से, शुक्ति में रजत के

समान, इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्तियों से तथा समाहित बुद्धि से भलीभाँति विचार कर भ्रम से उत्पन्न हुए विकल्प का त्यागकरके सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार जानता है (निश्चय, करता है, यह अर्थ है। श्रुति, युक्ति, गुरु के कथन और अपने अनुभव से पहले जो अनेक प्रकार का भासता था वह केवल अविक्रिय, निर्विशेष परब्रह्म ही है, यों सामान्य और विशेष से सविकल्प और निर्विकल्पकों से अवगतस्वरूप एक ही वस्तु निर्विशेष है, अन्य नहीं है ऐसा तत्त्व से (परमार्थ चिन्मात्रस्वरूप से) मुझ परब्रह्म को उस प्रकार की प्रत्यक् दृष्टि से सर्वतः सम्यक् विषयीकृत (अर्थात् साक्षात् अनुभव द्वारा) सत्-एकरसरूप से जानकर (अवधारण करके) जैसे रज्जु के स्वरूप को ठीक-ठीक देखने से जो सर्प से भासती थी वह केवल रज्जु ही है, यों हाथ में पकड़ी हुई रज्जु में कैवल्य है, वैसे ही ब्रह्म ही यह अमृत है 'आगे ब्रह्म, पीछे ब्रह्म, दक्षिण से, उत्तर से, नीचे और ऊपर फैला हुआ ब्रह्म ही है, विश्व ब्रह्म ही है यह ब्रह्म वरिष्ठ है, इस प्रकार की ज्ञाननिष्ठा से परिपक्व दृष्टि से सब केवल ब्रह्म ही है, ऐसा ब्रह्मका कैवल्य निश्चय करके, सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' यों सब में और अपने में ब्रह्ममात्रत्व का सम्यक् अनुभव करके यह अर्थ है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' अर्थात् ज्ञान से ही तो कैवल्य प्राप्त होता है, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है इत्यादि श्रुतियों में उक्त रीति से ज्ञान से ही मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं इस प्रकार श्रुति के अनुगत अपने निश्चय को कहते हैं **ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते**—उसके अनन्तर [जब इस प्रकार का वस्तु तत्त्व निश्चयात्मक विज्ञान निरूढ़ अर्थात् अप्रतिबद्ध रूप से उत्पन्न होता है उसी के पीछे ही] जैसे जागरण और स्थूल देह की प्राप्ति, दोनों में ही व्यवधान नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति दोनों में अन्तराल न होने से सम्यक् ज्ञान के उत्तर क्षण में ही ब्रह्मनिष्ठ यति उससे (उस ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से प्रवेश करता है यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मरूप से साक्षात्कृत' निर्विशेष चिदेकरस, आनन्दस्वरूप परब्रह्म में 'यही मैं हूँ' इस प्रकार से अहंबुद्धि को प्रवेश करता है निद्रा से अन्यथा भाव को प्राप्त हुआ पुरुष जागने से निद्रा की निवृत्ति होने पर अपने स्थूल स्वरूप में जैसे अहंबुद्धि, करता है, वैसे ही अपने आत्मा ब्रह्म में 'यही मैं हूँ' इस प्रकार से अहंबुद्धि करता है। जैसे देवदत्त

घर में प्रवेश करता है, वैसे ब्रह्म में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म परिपूर्ण, निरवयव और संकोच एवं विकास से रहित है, प्राप्त करने वाले का स्वरूप से होने से नित्यप्राप्त है, अतः उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते', अर्थात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं लीन हो जाते हैं, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' अर्थात् ब्रह्म होकर ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है, 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' अर्थात् उसको वैसे जानने वाला यहाँ अमृत होता है, इत्यादि उत्क्रमणरहित ब्रह्मस्वरूप से अवस्थित विद्वान् की ही यहीं पर ब्रह्मप्राप्ति सुनने में आती है। अतः गन्तृत्व, गन्तव्य और गमन क्रिया का सम्भव नहीं है किन्तु 'एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते' अर्थात् इस अदृश्य, अनात्म्य अनिरुक्त, अनिलयन में अभयरूप प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुति से अदृश्यत्व आदि लक्षणों से लक्षित, अशेष-विशेषों से रहित, अजर, अमृत, अभय अपूर्व, अनपर, अबाह्य, नित्य आनन्द अखण्डैक-रस, अद्वितीय परब्रह्म में अहंबुद्धि करता है। श्रुति, आचार्य, ईश्वर, और आत्मप्रसाद संपत्ति से कृतार्थ ब्रह्मवित्तम यति सविशेष का त्याग कर निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से सुख-पूर्वक स्थित होता है यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में ज्ञाननिष्ठारूपा पराभक्ति का लक्षण बताया गया है। आत्मा ही प्राणीमात्र को सबसे प्रिय है, इसलिए जहाँ अर्थात् देह में, अन्तः करण की वृत्तियों में अथवा बाह्य पुत्रादि विषय में आत्मबुद्धि होती है वहीं प्रियत्व बोध या प्रेम अज्ञानी को भी स्वतः ही होता है। प्रेमपूर्वक किसी वस्तु का निरन्तर अनुस्मरण करना ही उस वस्तु के प्रति भक्ति है। अतः ज्ञाननिष्ठ पुरुष जब ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होकर 'अहंब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ इसप्रकार ब्रह्म को ही आत्मरूप से साक्षात् अनुभव कर लेता है तो ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति स्वाभाविक हीं है। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा या भक्ति को परा (सर्वोत्कृष्ट) कहा गया है क्योंकि इसके बिना नित्य परमानन्द की प्राप्ति तथा संसाररूप सर्वदुःख की निवृत्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति की अवस्था में ब्रह्मवित् पुरुष की आत्मा में ही पूर्ण रति, आत्मा में पूर्ण तृप्ति एवं आत्मा में ही पूर्ण संतुष्टि

रहने के कारण उसको दूसरा कोई कार्य (कर्तव्यकर्म) नहीं रहता है (गीता ३।१७) क्योंकि भगवान् ने भी कहा 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीता ४।३३) अर्थात् समस्त कार्य तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने के पश्चात् परिसमाप्त हो जाते हैं। उस ज्ञाननिष्ठारूपा पराभक्ति के पहले साधनभक्ति की परिपक्वता होनी चाहिए क्योंकि साधनभक्ति से ही सर्वात्मा परमेश्वर का यथार्थ स्वरूप जानकर उसको आत्मरूप से साक्षात्कार करके उनके साथ एक होने का सम्भव होता है, यही अब भगवान् स्पष्ट करके कहते हैं—

जीव अखण्ड, अद्वय, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म होते हुए भी अज्ञान से देहादि में आत्मबोध करके अपने को खंडित, जन्ममरण के अधीन, अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति मानता है। शक्तिहीन पुरुष अत्यन्त शक्तिमान की शरण लेकर उसकी सहायता से स्वयं भी शक्तिमान हो जाता है। देहादि—उपाधि, व्याधिग्रस्त जीवात्मा भी जब संसार के दुःख से मुक्ति पाने के लिए अथवा अन्य किसी प्रयोजनसिद्धि के लिए ईश्वर को सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ सर्वेश्वर मानकर उसकी शरण लेता है एवं निरन्तर उनका चिन्तन, आराधना इत्यादि करता है तो वह उपाधियुक्त अहं (जीवात्मा) ही सर्व उपाधिरहित अनन्त, अद्वय, अखण्ड, मायाधीश, शुद्धचैतन्यस्वरूप अहं का (अपने आत्मा का) ही भजन या आराधना बिना और कुछ नहीं है। जैसे-जैसे जीव उस आत्मस्वरूप भगवान् का चिन्तन करने लगता है, कातर होकर उनको पुकारता है, शास्त्र उनकी ही आज्ञा है ऐसा मानकर अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों का उनको ही अर्पण करते हुए निष्काम भाव से (उनकी ही प्रीति के लिए) अनुष्ठान करता है वैसे वैसे ही चित्त का अज्ञान एवं अज्ञान का कार्य राग-द्वेषादि रूप मलिनता कट जाती है एवं स्वच्छ अन्तःकरण में शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसको ही चित्तशुद्धि या चित्त का प्रसाद (स्वच्छता) कहा जाता है। उस परमानन्द का आभास ग्रहण करने के पश्चात् तुच्छ क्षणिक विषय का सुख म्लान हो जाता है (अर्थात् फीका पड़ जाता है) एवं आत्मानन्द के लिए पिपासा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। इसी अवस्था में विविदिषा (आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा) तीव्र से तीव्रतर होनेपर मुख्य संन्यास द्वारा (सर्वकर्म के त्याग द्वारा) गुरु की शरण लेकर मुमुक्षु

श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास में रत होता। निदिध्यासन के परिपक्व होने पर (निर्विकल्प समाधि द्वारा) अपने स्वरूप का ज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त होता है। इसी अवस्था में ब्रह्मज्ञ पुरुष जान लेता है कि आत्मा का परिमाण किस प्रकार का है [अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होनेपर सभी द्वैतवस्तु के मिथ्यात्व का निश्चय होता है क्योंकि 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (माण्डुक्यकारिका) अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। अतः वे जान लेते हैं कि समस्त दृश्य प्रपंच मायारचित है एवं अधिष्ठानरूप से वही एकमात्र सत्यवस्तु है जो माया द्वारा नाम-रूपात्मक विश्वरूप से प्रतीत होनेपर भी सभी पदार्थों के अणुपरमाणु में अपने अखण्ड, अद्वय, चैतन्यस्वरूप से ही सर्वत्र विद्यमान है। अतः भगवान् कितना बड़ा है अर्थात् मायाउपाधि से एक, अखण्ड होकर भी कितने विस्ताररूप भेदभाव को प्राप्त हो सकता है वह जान लेता है।] किन्तु यह भी जान लेता है कि यह सर्वात्मा भगवान् का असली स्वरूप नहीं है क्योंकि उपाधिकृत सभी भेदभाव कल्पित या मिथ्या होने के कारण उनका पारमार्थिक स्वरूप उस विश्वरूप से विलक्षण है। सगुण आत्मा (ब्रह्म) का ज्ञान होने के पश्चात् निर्गुण आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। अर्थात् अखण्ड, अद्वय, नित्यशुद्धबुद्ध, मुक्त, असंग, निष्क्रिय, सर्वोपाधिरहित, शुद्ध-चैतन्यस्वरूप ही परमात्मा का यथार्थ (पारमार्थिक) तत्त्व है, यह साक्षात् अनुभव करता है। साधन भक्ति का यही क्रम है अर्थात् साधनभक्ति से ही सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म का (अपर एवं परब्रह्म का) यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर जीव हृदयस्थित समस्त अविद्याग्रन्थि से मुक्त होकर सर्वप्रकार के संशय से रहित होकर बराबर के लिए कर्मपाश से छुटकारा पा लेता है। इसलिए श्रुति में कहा है "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे" ॥ इस प्रकार तत्त्व से (यथार्थ-रूप से) आत्मा को जानकर ('मैं अखण्डानन्द अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से साक्षात्कार करके) उसमें स्थिति लाभकर अर्थात् ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति को प्राप्त कर अनंतर (काल के व्यवधान के बिना ही अर्थात् तत्काल ही) ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधनभक्ति से तत्त्वज्ञान, तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान में स्थिति (ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति) के होने पर ही दर्पण टूट जाने के पश्चात् जिस प्रकार

उसके मध्यस्थित प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही. प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार जीव चैतन्य भी सर्वोपाधि से मुक्त होकर चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

कोई-कोई टीकाकारों ने 'भक्त्या'=पराभक्ति द्वारा, इस प्रकार से अर्थ किया। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि सर्वोत्तमा परा (सर्वोत्कृष्टा) भक्ति या ज्ञाननिष्ठा ही चरम मोक्ष की अवस्था है एवं उस अवस्था में द्वैतभाव के लेशमात्र का भी संभव नहीं है। अतः पराभक्ति के द्वारा भगवान् कितना है, कैसा है इन सबको जानकर भगवान् में प्रवेश करने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता है।

कोई-कोई टीकाकारों ने 'तदनन्तरम्' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—बलवत् प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त होनेपर जब देह का त्याग हो जाता है, उसके पश्चात्—तत्त्वज्ञानी ब्रह्मस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करता है एवं इसका समर्थन करने के लिए 'तस्य तावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये' इस श्रुति वाक्य का उल्लेख करते हैं किन्तु गीता में भगवान् ने कहा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' (गीता ४।३७) अर्थात् ज्ञानी की उत्पत्ति के साथ-साथ ज्ञानी के लिए—संचित प्रारब्ध एवं क्रियमाण सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं अतः जो ज्ञानी शरीरादि से अपने को पृथक्‌करके आत्मस्वरूप में ही स्थित हो गया उसको शरीर के कर्म, धर्म या भोग स्पर्श नहीं कर सकते, यद्यपि अज्ञानी की दृष्टि से (अर्थात् जो लोग ज्ञानी के शरीर को ही उसका आत्मा मानता है उनकी दृष्टि से ही) ज्ञानी प्रारब्ध का भोग कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। 'तस्य तावदेवचिरं' इत्यादि श्रुति वाक्य भी अज्ञानी की दृष्टि की अपेक्षा से ही कहा गया है। क्योंकि श्रुति में अन्यत्र ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न होने के साथ–साथ ही जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ऐसा कहा गया है जैसे–'स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (माण्डुक्य ३।२।९) 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि संस्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' अर्थात् जो 'मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है, जिस समय हृदयस्थित सर्वकर्मों से मुक्त होता है तब यह मरणशील जीव अमृत (मृत्युरहित) हो जाता है क्योंकि इस शरीर में ही—वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

श्लोक में 'तत्त्वतः' शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि माया-उपाधियुक्त ब्रह्म किस प्रकार से विस्तृत है अर्थात् माया से फैला हुआ अनन्त कार्य उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही भास रहा है, उस अधिष्ठान को छोड़कर मायारचित भेद का विस्तार नहीं हो सकता है यह तत्त्व से (यथार्थरूप से) जानने पर जगत के मिथ्यात्व का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। यही 'अहं यावान्' पद का तात्पर्य है। किन्तु यह भी परमात्मा का **परमतत्त्व**—नहीं है क्योंकि जबतक निर्विकल्प समाधि से सर्व-उपाधिरहित केवल, असंग, निर्गुण अखण्ड, अद्वय, चैतन्यस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कारजनित ज्ञान नहीं होता है तबतक परमात्मा (भगवान् या ब्रह्म) कौन है अर्थात् उसका स्वरूप कैसा है? इस सम्बन्ध में तत्त्वतः (यथार्थरूप से) ज्ञान नहीं होता है। अतः निरन्तर भक्तिधारा ही इस प्रकार के समाधिजनित ज्ञान में पहुँचा देती है। इसलिए भगवान् ने पहले कहा 'भक्त्या यच्चास्मि तत्त्वतः अभिजानाति' किन्तु यहीं शेष नहीं है क्योंकि 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान की सिद्धि होनी चाहिए। इसलिए भगवान् ने फिर 'तत्त्वतः' शब्द का प्रयोग करके कहा—'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा'। अतः ब्रह्म का **तात्त्विक**—(यथार्थस्वरूप का) ज्ञान एवं जीव और ब्रह्म के अभिन्नत्व का **तात्त्विक**—ज्ञान ये दोनों ज्ञान होनेपर ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति अर्थात् निरन्तर आत्मस्थिति या ब्राह्मीस्थिति होती है। इस प्रकार की अवस्था के प्राप्त होनेपर घटाकाश उपाधिरहित होकर जिस प्रकार महाकाश में प्रवेश कर लेता है अथवा नदियाँ समुद्र में प्रवेशकर जिस प्रकार समुद्र ही हो जाती हैं, उसी प्रकार जीव भी सर्वोपाधि से शून्य होकर शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् या ब्रह्म में प्रवेश कर **तत्काल ही**—ब्रह्म हो जाता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठा एवं ब्रह्म में प्रवेश करने के लिये किसी काल का व्यवधान नहीं रहता है।

अपने कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा करनारूप भक्तियोग की सिद्धि का फल है ज्ञाननिष्ठा की योग्यता चित्तशुद्धि। जिस भक्तियोग से उत्पन्न हुई ज्ञाननिष्ठा अन्त में मोक्षरूप फल देती है उस भक्ति योग की अब (गीतारूप) शास्त्रार्थ के उपसंहार के प्रकरण में शास्त्र के अभिप्राय को दृढ़निश्चय करने के लिए स्तुति की जाती है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

अन्वय—सदा मद्व्यपाश्रयः सर्वकर्माणि अपि कुर्वन् मत्प्रसादात् शाश्वतम् अव्ययम् पदम् अवाप्नोति ।

अनुवाद—सर्वदा मेरा विशेष भाव से (अत्यन्त श्रद्धापूर्वक) आश्रय लेकर सब प्रकार के कर्म को करते रहने वाला पुरुष मेरी कृपा से नित्य और अव्यय (अपरिणामी-अविनाशशील) पद को प्राप्त कर लेता है ।

भाष्यदीपिका—सदा मद्व्यपाश्रयः—सर्वदा जिसका मैं वासुदेव ही विशेषरूप से (पूर्णरूप से) आश्रय हूँ अर्थात् एकमात्र मेरी जो शरण लिया है [अर्थात् वासुदेव ही सर्वकर्म कराने वाला है एवं वह सर्व कर्म का भोक्ता है इसप्रकार की भावना से [अपने सब भावों को मेरे में ही समर्पण करने वाला जो भक्त है ।] सर्व कर्माणि अपि कुर्वन्—वह वर्णाश्रम धर्मरूप समस्त लौकिक या प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्मों को भी सदा करता हुआ ['अपि' शब्द से नित्य-नैमित्तिक कर्मों के समान शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का भी ग्रहण किया गया है । निषिद्ध कर्म कभी-कभी प्रमाद-वश साधुव्यक्ति भी करता है परन्तु श्लोक में 'मद्व्यपाश्रयः' पद के द्वारा यह सूचित किया गया है कि यदि निषिद्ध कर्म का अनुष्ठान प्रमाद से नहीं किन्तु कर्ता के स्वभाव-वश जान बूझकर भी किया जाय एवं साथ साथ यदि उन सब कर्मों के करने के समय सदा ही मेरा आश्रय (मेरी शरण) लेकर ही रहता रहे तो] मत्प्रसादात्—मुझ ईश्वर के अनुग्रह से (सम्यक् ज्ञान प्राप्त होकर) शाश्वतम्—नित्य (अविनाशी) तथा अव्ययम्—अक्षय (परिणामविहीन) पदम्—वैष्णवपद (ब्रह्मस्वरूपता अर्थात् मोक्ष) ['पद' शब्द का अर्थ है पदनीय अर्थात् समस्त उपनिषदों के तात्पर्य का जो गन्तव्य (लक्ष्य) स्थान है वही मोक्ष] अवाप्नोति—प्राप्त कर लेता है [एकमात्र भगवान् की ही शरण में रहने वाला पुरुष तो प्रतिषिद्ध कर्म करता ही नहीं है और यदि करे तो भी मेरी कृपा से उन कर्मों से प्रत्यवाय उत्पन्न न होने के कारण वह मेरे विज्ञान से ही मोक्ष का भागी हो जाता है, इस प्रकार भगवदेकशरणता की स्तुति के 'सर्वदा समस्त कर्मों को करते रहने पर भी ऐसा अनुवाद (पुनरुक्ति) किया है ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—अपने कर्मों द्वारा परमेश्वर की आराधना से कहे हुए मोक्ष के प्रकार का उपसंहार करते हैं **सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः**—पूर्वोक्त क्रम से मेरे आश्रित हुआ नित्य, नैमित्तिक और काम्य-इन सब कर्मों को करने वाला **मद्व्यपाश्रयः**—एकमात्र मैं ही जिसका आश्रय लेने योग्य हूँ, स्वर्गादिफल जिसके लिए आश्रयणीय नहीं है वह **मत्प्रसादाच्छाश्वत्**—मेरी कृपा से सदा रहने वाले (आदि-रहित) **अव्ययम्**—अविनाशी (नित्य) सर्वोत्कृष्ट वैष्णव **पदम् अवाप्नोति**—पद को प्राप्त होता है।

(२) **शंकरानन्द**—'स्वकर्म से उसका पूजन करके' यहाँ से लेकर 'उसके पीछे प्रवेश करता है' यहाँ तक के ग्रन्थ से ईश्वरार्पण बुद्धि से सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित हुए कर्मों से मुमुक्षु की सत्त्वशुद्धि होती है, शुद्धात्मा को ही ज्ञान होता है, ज्ञान वाले को ही मोक्ष होता है, ऐसे ज्ञान और कर्म के सर्व शास्त्र प्रसिद्ध साध्यसाधन भाव का निर्धारण करने के लिए कर्मों से चित्तशुद्धि, शुद्धात्मा को ज्ञान और उसी को ज्ञान का फल मोक्ष होता है, ऐसा क्रम से प्रतिपादन करके अब केवल मोक्ष की ही कामना वाले आरुरुक्षु गृहस्थ और आरूढ़ यति दोनों के नित्य नियम से कर्तव्य अर्थ के निर्णय के लिए उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले मोक्षरूप फल देने वाला ज्ञान चित्त-शुद्धि के बिना प्राप्त नहीं होता और चित्तशुद्धि ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये अपने कर्मों से ही होती है, कामना से किये गये कर्मों से नहीं होती। अतः आरुरुक्षु को ईश्वर की प्रीति के लिए कर्म ही अवश्य करना चाहिए ऐसा बोधन करने के लिए मेरी प्रसन्नता के लिए कर्म कर रहा यति मेरे प्रसाद से मुक्ति को प्राप्त होता है, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं—**मद्व्यपाश्रयः**—['अग्नि मूर्धा है, नेत्र चन्द्र और सूर्य हैं' इससे उक्त लक्षण वाला जो मैं सर्वभूतों का आत्मभूत, सर्वात्मक परमेश्वर हूँ वही है व्यपाश्रय अर्थात् भाव से (संसार से) मुक्ति के लिए स्वकर्म से आराधनीय जिसका वह मद्व्यपाश्रय है] अर्थात् स्वाराध्य (अपने आराधनीय) अग्नि देवता में, याग में और यागीय चरु, पुरोडाश, स्रुक आदि में सर्वत्र मेरी भावना से युक्त होकर मुमुक्षु **सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः अपि**—विधियों से उक्त सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्तरूप, नित्य और नैमित्तिक रूप कर्मों का मेरी प्रीति के लिए श्रद्धा से और भक्ति से

अनुष्ठान करता हुआ **मत् प्रसादात्**—मेरे प्रसाद से (मेरी भक्ति से) अर्थात् अनेक जन्मों के भली-भाँति अनुष्ठित कर्मों से संतुष्ट किये गये परमेश्वर के प्रसाद से (अनुग्रह से) **अव्ययम् शाश्वतम् पदम् अवाप्नोति**—(सत्त्वशुद्धि और ज्ञान को प्राप्त करके) अव्यय अर्थात् वृद्धि और क्षय से रहित (न्यूनाधिक भाव से रहित) सदा एकरूप शाश्वत (नित्य) मोक्षनामक पद को प्राप्त करता है। कर्म से संतुष्ट हुए ईश्वर के अनुग्रह से मुक्ति को प्राप्त होता है, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—जो मुमुक्षु सर्वकर्म संन्यास का अधिकारी नहीं है वह भी यदि कर्तृत्वाभिमान का त्यागकर सर्वदा सर्व प्रकार से भगवान् का आश्रय करके अर्थात् भगवान् ही इस देह, इन्द्रियादि संघातरूप यंत्र के द्वारा कर्म कर रहे हैं एवं कर्म के प्रेरक भी वे ही हैं, इस प्रकार सर्वात्मभाव से भगवान् की शरण लेकर शास्त्रविहित तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्म भी मोह से या स्वभाववश जानबूझकर करता रहे तो भी वह भगवान् के प्रसाद से (अनुग्रह से) चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्ति को प्राप्त होकर अविनाशी (अक्षय्य) परम पद जो मोक्ष है, उसे प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के शरणागत भक्तको निषिद्ध कर्म का करना प्रायः असम्भव ही है तथापि यदि किसी कारणवश वह किया भी जाय, तो भगवान् के अनन्य भक्त को उससे पाप नहीं होता है और न तो वह चित्तशुद्धि अथवा तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्धक होता है क्योंकि (१) उसका कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा न रहने के कारण भगवान् की अर्चना के लिए किये हुए कर्म के फल द्वारा वह लिप्त नहीं होता है। (गीता १८।१७) (२) भगवान् की शरण में आए हुए अनन्यभक्त को भगवान् स्वयं ही सर्वपाप से मुक्त कर देते हैं एवं (३) भगवान् के अनुग्रह से ही सर्वतो भाव से नित्यमुक्त हुए भक्त के अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान का उदय होता है तथा अज्ञान का पूर्णतया नाश हो जाता है। अतः इस प्रकार भक्त ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति द्वारा मोक्षपद को प्राप्त कर लेगा इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। [सर्वकर्माणि अपि कुर्वाणः' इस वाक्य के अर्थ में स्वामीमधुसूदन सरस्वतीने कहा कि अशुद्धचित्त पुरुषको तबतक ही अपने-अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों को करना पड़ेगा जबतक कि उसकी चित्तशुद्धि न हो और जिसकी चित्तशुद्धि हो चुकी है उसके लिए सर्व कर्मों को त्याग करके संन्यास ग्रहण का विधान है।

अतः स्वकर्म के अनुष्ठान एवं सर्वकर्म का त्याग इन दोनों को छोड़कर मोक्षमार्ग का कोई तृतीय उपाय नहीं है। किन्तु शास्त्र में ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार बतलाया। अतः प्रश्न होगा कि अर्जुन के समान शुद्धचित्त क्षत्रियों के लिए मोक्ष के उद्देश्य से क्या करना उचित है ? सभी कर्मानुष्ठान प्रत्यक्षतः चित्तविक्षेप के हेतु होने के कारण समाधि में विघ्नकर होते हैं। अतः कर्ममात्र ही बन्धन का कारण है। इसलिये कर्मत्याग करना क्या क्षत्रिय के लिए श्रेय नहीं है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि नहीं, शास्त्रविधि का उल्लंघन न कर क्षत्रियादि (जो संन्यास के अधिकारी नहीं हैं वे) भी यदि भगवान् का आश्रयकर अर्थात् भगवान् के हाथ का ही यंत्र बनकर सर्वदा अपने-अपने स्वधर्म विहित कर्म का अनुष्ठान भगवदर्पणबुद्धि से करते रहें तो उस प्रकार के कर्मानुष्ठान के द्वारा आत्मस्वरूप भगवान् के प्रसाद से (कृपा से) नित्य (अविनाशी) एवं अव्यय (क्षयरहीत) मोक्षपद को प्राप्त हो सकते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रियादि सभी के लिए जबतक चित्तशुद्धि नहीं होती तबतक कर्मानुष्ठान का विधान है क्योंकि चित्तशुद्धि होने पर शुद्धचैतन्यस्वरूप सर्वात्मा भगवान् की शरणागति अवश्यंभावी है अर्थात् अन्तःकरण शुद्धि का परिणाम (फल) है भगवदाश्रय या भगवत् शरण। आत्मा, भगवान्, ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। अतः चित्तशुद्धि के द्वारा भगवान् का प्रसाद प्राप्त होने पर सर्वदुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही होने वाली है। इसलिए संन्यास धर्म को ग्रहण न करके भी क्षत्रियादि को अपने-अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करने से ही मोक्ष की योग्यता प्राप्त हो सकती है एवं भगवान् ने भी यह जनकादि राजाओं के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध किया है—कर्मणैव ही संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः (गीता ३।२०) अर्थात् जनकादि राजर्षिगण कर्मानुष्ठान के द्वारा ही संसिद्धि (ब्रह्मस्वरूपता या जीवनमुक्ति) को प्राप्त किये हैं।]

पूर्व श्लोक में कहा है कि भगवान् के प्रसाद से (कृपा से) मोक्ष सिद्ध होता है। अतः सभी मुमुक्षु को उस अनुग्रह की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य है। अत्र प्रश्न होगा कि किस प्रकार से कर्म करने पर उनकी शरण में जीव आ सकता है, इस पर कहते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ ५७ ॥

अन्वय—चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः (सन्) बुद्धियोगम् उपाश्रित्य सततम् मच्चितः भव ।

अनुवाद—विवेकबुद्धि द्वारा समस्त कर्म का मेरे में ही संन्यास कर मत्पर होकर अर्थात् मुझको ही अपना (प्रियतम) मानकर बुद्धियोग का आश्रय करके अर्थात् समत्व बुद्धि रूप योग का आश्रय कर सर्वदा मच्चित्त हो अर्थात् मेरे में ही चित्त स्थिर करके सर्वदा मेरा चिन्तन करो ।

भाष्यदीपिका—चेतसा—विवेक बुद्धि द्वारा [भगवान् के प्रसाद से सम्यक् ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्ति होती है । इस प्रकार के निश्चय को विवेकबुद्धि कहा गया है (आनन्दगिरि)] सर्वकर्माणि—दृष्ट और अदृष्ट, इहलोक एवं परलोक में फल प्राप्ति के लिए जो कुछ कर्म किया जाता है उस समस्त कर्म को मयि संन्यस्य—मुझ ईश्वर में समर्पित करके अर्थात् 'यत्करोषि यदश्नासि (गीता ९।२७।२८) इन श्लोकों में बताए हुए भाव का आश्रय कर मुझ परमेश्वर में समर्पित करके तथा मत्परः (सन्)—मेरे परायण होकर [मैं वासुदेव ही जिसका पर (प्रियतम) या परमगति हूँ वह मत्पर है, ऐसा होकर] बुद्धियोगम् उपाश्रित्य—मुझमें (परमेश्वर में) बुद्धि को समाहित (स्थिर) करना रूप बुद्धियोग का आश्रय लेकर अर्थात् अनन्य शरण होकर ['बुद्धियोग' शब्द का अर्थ है समत्व बुद्धिरूप योग जिसके कि विषय में पहले ही स्थान-स्थान पर कहा गया है एवं जिससे भगवान् के साथ युक्त होना संभव है एवं जो बन्धन के हेतुभूत कर्म को भी मोक्ष का कारण बना देने वाला है । इस प्रकार के बुद्धियोग का आश्रय कर अर्थात् सर्वत्र एक परमात्मा ही समभाव से विराजमान है, इस प्रकार की बुद्धि द्वारा अन्य विषय का आश्रय न करके केवल मेरी ही अनन्यशरणता पूर्वक] सततम् मच्चित्तः भव—निरन्तर मेरे में चित्त वाला हो अर्थात् मुझे वासुदेव में ही जिससे तुम्हारा चित्त रहे (बाह्यविषय अथवा स्त्री आदि में नहीं मेरे में ही चित्त लगाने वाले हो जाओ ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जब कि यह बात है इसलिए **सर्वाणि कर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य**—सब कर्मों को चित्त से मुझ में छोड़कर यानी मुझे समर्पित करके **मत्परः**—मैं ही जिसका परम प्रापणीय पुरुषार्थ हूँ—ऐसा मेरे परायण होकर **बुद्धियोगम् उपाश्रित्य**—निश्चयात्मिका बुद्धि से योग का आश्रय लेकर **सततम् मच्चितः भव**—निरन्तर कर्मों का अनुष्ठान करते समय भी 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस न्याय से जिसका चित्त मुझमें ही लगा है, ऐसे मुझमें चित्तवाले तुम हो।

(२) **शंकरानन्द**—यतः 'तेषामेवाऽनुकम्पार्थं' (उन्हीं के ऊपर अनुग्रह करने के लिए मैं आत्मभावस्थ होकर अज्ञानजनित अन्धकार को प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपक से नष्ट करता हूँ) इस श्लोक से कहा गया बुद्धि का आत्मतत्त्वप्रकाशनरूप जो मेरा प्रसाद है, केवल उसी से मोक्ष प्राप्त होता है, इसीलिए तुम मेरे परायण होओ ऐसा कहते हैं 'चेतसा' इत्यादि से **चेतसा**—कर्मों से सन्तुष्ट ईश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति होती है, इस प्रकार का ज्ञान 'चेतस्' है, उससे यानी विवेक बुद्धि से तुम **मत्परः**—मत्पर (मैं ही परमपुरुषार्थ यानी प्राप्य वस्तु हूँ, इस प्रकार की जिसकी बुद्धि है वह मत्पर है) यानी तीव्र मुमुक्षु होकर मेरे प्रसाद की सिद्धि के लिए 'कर्ता और भोक्ता जनार्दन हैं' इस न्याय से (भावना से) **मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य**—किये गये श्रौत और स्मार्तरूप कर्मों का मुझ में (परमेश्वर में) त्याग कर अर्थात् कर्म और कर्मफलों को मेरे में समर्पित करके **बुद्धियोगम् उपाश्रित्य**—(बुद्धि की केवल मुझ में ही स्थिति बुद्धियोग है, उसका) आश्रयण करके सर्वदा मेरे भजन में परायण होकर अथवा 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' अर्थात् भूत विष्णु हैं, भुवन भी विष्णु हैं' इस न्याय से सर्वत्र परमेश्वर की बुद्धि करना बुद्धियोग है, उसका सदा आश्रय करके अथवा 'न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः' अर्थात् न्याय से उपार्जित धन वाला, तत्त्वज्ञाननिष्ठ, अतिथिप्रिय, इस वचन से गृहस्थ को भी वेदान्त विचार करना चाहिए ऐसा विधान होने से कर्म करते हुए बुद्धियोग का (ज्ञान की सिद्धि के हेतु श्रवण, मनन आदि का) आश्रयण करके यानी सर्वदा वेदान्त विचार में तत्पर होकर **मच्चितः सततम् भव**—सदा मच्चित्त (केवल मुझ में ही यानी सर्वमय परमात्मा में ही जिसका चित्त है, वह मच्चित है) यानी ज्ञान की और उसके फल की सिद्धि के लिए सर्वदा मेरे शरणगत होओ, यह अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—कर्मयोगी किस प्रकार का कर्मानुष्ठान करने पर भगवत् प्रसाद (भगवान् की कृपा) का अधिकारी होता है इसको भगवान् अपने मुख से कहते हैं:—

(१) विवेक बुद्धि—भगवान् की शरण लेना ही मोक्ष का प्रधान साधन है क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान अथवा सर्वकर्मसंन्यास द्वारा यदि सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान, सर्वात्मा भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास उत्पन्न न हो एवं उनकी ही शरण लेने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो तो मोक्ष की आशा करना वृथा है। इसलिए निष्काम भाव से भगवान् की प्रीति के लिए अपने कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान का विधान है क्योंकि उससे चित्तशुद्धि के उत्पन्न होने के पश्चात् विवेक ज्ञान होता है अर्थात् अनित्य, विकारी देहादि तथा विश्वप्रपंच से चैतन्य स्वरूप नित्य, सत्य, आत्मा पृथक् (विलक्षण) है, इस प्रकार विवेक ज्ञान विचार के बल से उत्पन्न होता है। एवं जब यह जान लेता है कि सर्व भूत में आत्मस्वरूप चैतन्य सत्ता ही (जिसको कि भगवान्, ब्रह्म इत्यादि कहा जाता है वही) एकमात्र पारमार्थिक वस्तु है और उससे अतिरिक्त सभी कल्पित या मिथ्या है तो **(२) सर्वकर्म भगवान् में समर्पण**—ठीक-ठीक होने लगता है अर्थात् 'यत्करोषि यदश्नासि' इत्यादि रीति से विवेकी पुरुष के सभी कर्म का अनुष्ठान होता रहता है। जितना ही विवेक पूर्वक भगवान् में सर्व कर्म समर्पण करके सर्वकर्म का अनुष्ठान होता रहता है, इतना ही शुद्धात्मा या भगवान् के लिए रुचि, प्रीति एवं प्रेम यथा क्रम से घनीभूत (दृढ़) होता रहता है एवं तब वह विवेक सम्पन्न कर्मयोगी **(३) मत्पर होता है** अर्थात् अहं पद की लक्ष्य वस्तु जो वासुदेव (श्रीकृष्ण) नामक परब्रह्म भगवान् है, एवं जो कि सबकी आत्मा है उनको ही (पर) (सबसे प्रियतम) रूप से वरण करता है क्योंकि आत्मा सबका प्रियतम है ही। अतः मुमुक्षु (४) 'मत्पर' होकर अपने क्षुद्रअहं को परमअहं में लय करके सर्वात्मभाव से उस शुद्धात्मस्वरूप भगवान् को ही जीवन की **परमगति**—मानता है। इस अवस्थाको प्राप्त होने पर **(५) बुद्धि योग से**—(समत्व बुद्धिरूप योग से) सम्पन्न होना सम्भव है। सुख-दुःख में जय-पराजय में, निन्दा-स्तुति में, लाभ-हानि में सर्वत्र एवं सर्व अवस्था में भगवान् ही समान रूप से विद्यमान हैं, इस प्रकार से जिस समत्व बुद्धि के द्वारा भगवान् में निरन्तर योगयुक्त रहना सम्भव है उसे बुद्धियोग कहा जाता

है । ज्ञान एवं भक्ति दोनों का समावेश होने पर ही बुद्धियोग की प्राप्ति हो सकती है एवं उस प्रकार बुद्धियोग से जो कर्म किया जाता है वही ठीक-ठीक निष्काम कर्म है। अतः बुद्धि योग का आश्रय करके अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त किसी विषय का आश्रय न कर बुद्धि जब अनन्य भाव से भगवान् की शरण लेती है तब वह भक्तयोगी (६) **सतत मच्चित्त**—होता है अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप अहं में ही (भगवान् वासुदेव में ही शब्दस्पर्श आदि अथवा कामिनी कांचनरूप विषय में नहीं) उसका चित्त निरन्तर समाहित रहता है। उक्त प्रकार के क्रम से भगवान् ने अर्जुन को शास्त्रविधिका पालन कर अर्थात् क्षत्रिय के लिए निषिद्ध संन्यास धर्म को न ग्रहण कर अपने विहित युद्धादि धर्म अनुष्ठान करते हुए भगवान् में ही निरन्तर चित्त को समाहित करने के लिए उपदेश दिया क्योंकि सर्वावस्था में उनमे यदि चित्त समाहित रहे तो उनकी कृपा से संसाररूप दुस्तर समुद्र को उनका अनन्य भक्त अनायास ही पार कर लेता है, यह भगवान् स्वयं ही परवर्ती श्लोक में स्पष्ट करेंगे।

'मच्चित्त' होने पर (भगवान् में चित्त निरन्तर समाहित रहने पर) क्या होता है ? उसको बताते है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वय—मच्चित्तः मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि, अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।

अनुवाद—मेरे में चित्त समाहित करो, तुम मेरी कृपा से सर्वप्रकार से दुस्तर सांसारिक दुःख से पार हो जाओगे। और यदि अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे।

भाष्यदीपिका—मच्चित्तः—मेरे में चित्त लगाने वाला अर्थात् सर्व-विषय से चित्त को हटाकर मुझमें समाहित कर **मत्प्रसादात्**—मेरी कृपा से (अपने व्यापार के बिना ही) **सर्वदुर्गाणि**—समस्त कठिनाई को अर्थात् काम, क्रोधादि समस्त संसार दुःख के साधनों को हेतुओं को अथवा जिनको पार करना कठिन है ऐसे

समस्त दुःखों को **तरिष्यसि**—तर जाओगे अर्थात् अनायास सबसे पार हो जाओगे **अथ चेत् त्वम्**—और यदि तुम **अहंकारात्**—अहंकार से अर्थात् मेरे कथन में अविश्वास करके 'मैं पंडित हूँ अतः मैं अपने को तार लूँगा' ऐसे गर्व से **न श्रोष्यसि** नहीं सुनोगे अर्थात् मेरे वचनों द्वारा कही हुई बात को ग्रहण नहीं करोगे उसके अनुसार कार्य न करोगे तो **विनङ्क्ष्यसि**—विनष्ट हो जाओगे अर्थात् मनमाने रूप से संन्यास आदि करने से परमपुरुषार्थ जो मोक्ष है उससे वंचित हो जाओगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उससे जो होगा उसे सुनो—**मच्चित्तः मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि**—मुझमें चित्तवाला होकर सभी दुर्गों को (कठिनता से पार पाने योग्य सांसारिक दुःखों को) मेरी कृपा से **तरिष्यसि**—तर जाओगे। इसके विपरीत आचरण में दोष बताते हैं **अथ चेत् विनङ्क्ष्यसि**—परन्तु यदि तुम अहंकार से (ज्ञातापन के अभिमान से) इस कहे हुए मेरे उपदेश को नहीं सुनोगे तो विनष्ट हो जाओगे अर्थात् परमपुरुषार्थ (मोक्ष) से भ्रष्ट हो जाओगे।

(२) शंकरानन्द—वेदान्त से प्रतिपादित हुए अर्थ के विचार में परायण होकर केवल आपकी ही शरण लेने का क्या फल है ? ऐसा अर्जुन का प्रश्न होने पर श्रीभगवान् कहते हैं कि सुनो, मैं उत्तर देता हूँ—**मच्चित्तः**—(सर्वदा ध्येयरूप से अथवा सर्वत्र विषयरूप से मैं ही परमात्मा जिसके चित्त में हूँ, वह मच्चित्त है) अथवा सर्वात्मा मुझमें जिसका चित्त है, वह मत् चित्त है)। यानी सदा केवल मुझमें ही चित्त लगाकर तुम **मत् प्रसादात्**-मेरे प्रसाद से (मेरे अनुग्रह से) प्राप्त हुए आत्मविज्ञान से **सर्वदुर्गाणि**—सम्पूर्ण दुर्गों को (दुःख से भी जिनका अतिक्रमण नहीं हो सकता वे दुर्ग है) यानि दुःख से भी जिनका सन्तरण नहीं हो सकता ऐसी दुस्तर अविद्या, काम और कर्मों को अथवा सकार्य सहित सत्त्व, रज और तम को, (जो जन्म, जरा और मृत्युरूप दुःख प्रवाह के कारण हैं उनको) **तरिष्यसि**—तर जाओगे। उनको तर कर विदेहमुक्तिरूप सुख को प्राप्त हो जाओगे, यह अर्थ है। इससे यह सूचित होता है कि ईश्वर के लिए कर्म करने वाला पुरुष ही तरता है, दूसरा नहीं तर सकता। द्रव्यसाध्य होने से कर्महिंसा-प्रधान है, इसलिये हिंसाप्रधान कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता। उसमें भी स्वजनबधरूप युद्ध तो बिल्कुल किया ही नहीं जा सकता, इसप्रकार सांख्यमत के अनुसार अहंकारवश

स्वधर्म से विमुख नहीं होना चाहिए, ऐसा कहने के लिये तथा मुमुक्षु की स्वधर्म में प्रवृत्ति दृढ़ करने के लिए ढाई श्लोकों से आक्षेप पूर्वक स्वधर्म निष्ठा को ही अर्जुन को स्वीकार कराते हैं **अथ**—'अथ' शब्द अन्य पक्ष का उपन्यास करने के लिए है **त्वम् चेत् अहंकारात्**—यदि तुम अहंकार से अर्थात् दूसरे शास्त्र के ज्ञान से उत्पन्न हुए अभिनिवेश से **न श्रोष्यसि**—'चेतसा सर्वकर्माणि' इत्यादि कहे गये मेरे वचन को नहीं सुनोगे यानि विधि का उल्लङ्घन कर यदि तुम अपने धर्म-शास्त्र से विहित कर्म न करोगे तो **विनङ्क्ष्यसि**—नष्ट हो जाओगे यानी विनाश को प्राप्त होओगे। 'द्विज वैदिक कर्मों का अनुष्ठान न करने से पतन को प्राप्त होता है', इस न्याय से स्वधर्म के त्याग से पतन को प्राप्त हो जाओगे। विधि का उल्लंघन करना एक दोष है, स्वधर्म का त्याग करना दूसरा दोष है, परधर्म का आश्रयण करना तीसरा दोष है और पुरुषार्थ का भ्रंश चौथा दोष है, इस प्रकार से अनर्थ परम्परा होगी, यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकोक्त क्रम से जब मुमुक्षु का भगवान् में चित्त समाहित रहता है तो वह उनकी कृपा से अतिदुर्गम (अत्यन्त कठिनता से पारपाने योग्य) समस्त सांसारिक दुःखको तर जाता है क्योंकि परमानन्दस्वरूप भगवान् के साथ अभिन्नरूप से युक्त रहने के कारण वह स्वयं आनन्दस्वरूप ही हो जाता है इसलिए श्रुति में कहा है–'रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'॥ अर्थात् सर्वात्मा भगवान् रस (आनंद) स्वरूप है उस आनन्द को प्राप्त करने के बाद स्वयं भी आनन्द ही हो जाता है। अतः जो आनन्दी (आनंदस्वरूप) हो जाता है उसको दुःख का लेशमात्र भी कैसे स्पर्श कर सकता है? यही कहने का अभिप्राय है किन्तु जो अहंकार-वश (जीवत्व बुद्धि से) मैं अपने को दुःख से बचाने में समर्थ हूँ, क्योंकि मैं बुद्धिमान् हूँ, इसप्रकार गर्व से भगवान् की वाणी सुनने के लिए नहीं प्रस्तुत है अर्थात् भगवान् ने जो-जो कर्म बतलाया उनका उल्लंघन कर (मच्चित्त आदि न होकर) अपने मनमाने रूप से शास्त्रविधि की मर्यादा न रखकर प्रयत्न करता है वह विनाश को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर दुर्लभ मनुष्य जीवन को वृथा ही खो देता है।

दूसरे के कहने के अनुसार क्यों कर्म करूं ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि तुमको यह समझना नहीं चाहिए कि कर्म करने में तुम स्वतन्त्र हो अहंकारवश भगवान् के उपदेश का पालन न करने पर और क्या होता है, उसे बताते हैं–

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

अन्वय—अहंकारम् आश्रित्य यत् न योत्स्य इति मन्यसे एष ते व्यवसायः मिथ्या प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यति ।

अनुवाद—यदि अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारा ऐसा निश्चय व्यर्थ ही है क्योंकि तुम्हारी प्रकृति (क्षत्रियस्वभाव) तुम्हें नियुक्त (प्रयुक्त) कर ही देगी ।

भाष्यदीपिका-अहंकारम् आश्रित्य—अहंकार का आश्रय कर 'मैं धार्मिक हूँ अतः गुरु वध आदि निष्ठुर कर्म मैं नहीं करूँगा ऐसा मिथ्या अभिमान करके यदि ऐसा मानते हो कि (निश्चय करते हो) **न योत्स्ये**—मैं युद्ध नहीं करूँगा **एष ते व्यवसायः मिथ्या**—तो यह तुम्हारा ऐसा निश्चय मिथ्या है क्योंकि **प्रकृतिः**—प्रकृति अर्थात् तुम्हारा क्षत्रियस्वभाव [अर्थात् क्षत्रिय जाति का आरम्भक रजोगुणरूप स्वभाव (मधुसूदन) ।] **त्वाम् नियोक्ष्यसि**—तुमको युद्ध में प्रयुक्त कर देगा ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदि तुम ऐसा मानते हो कि मैं भले ही नष्ट हो जाऊँ, परन्तु बन्धुओं के साथ युद्ध नहीं करूँगा, तो उस पर कहते हैं कि—**यद् अहंकारमाश्रित्य......नियोक्ष्यसि**—मेरे उक्त उपदेश का अनादर करके केवल अहंकार का आश्रय लेकर यदि तुम यह मानो (निश्चय करो) कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तुम्हारा निश्चय मिथ्या ही है। क्योंकि तुम अस्वतन्त्र हो । उसका कारण कहते हैं—रजोगुण रूप में परिणत हुई प्रकृति तुमको युद्ध में नियुक्त (प्रवृत्त करेगी ही) ।

(२) **शंकरानन्द**—तथापि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा यदि अर्जुन सङ्कल्प करे तो वह व्यर्थ ही होगा, क्योंकि स्वभाव से भी उसको कर्म तो करना ही पड़ेगा, इस प्रकार से स्वयं श्री भगवान् भी सांख्यमत का अवलम्बन करके कर्म की अवश्य-कर्तव्यता का प्रतिपादन करते हैं—'यद्' इत्यादि से ।

दोषयुक्त कर्म को करना ही नहीं चाहिए, इस प्रकार **अहंकारमाश्रित्य**—अहंकार का (अविवेकजनित पाण्डित्य के अभिमान का) आश्रय करके अर्थात् जो रण में शूर युद्ध करते हैं, इस वेदोक्त धर्म को न जानकर अवैदिक मत का आश्रयण कर **न योत्स्ये इति मन्यसे**—'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा यदि तुम मानते हो **एषः ते व्यवसायः मिथ्या**—तो वह तुम्हारा व्यवसाय (निश्चय) शास्त्र से विरुद्ध (मिथ्या) अर्थात् आकाश में जाने की इच्छा के समान निरर्थक ही है। कैसे मेरा सङ्कल्प निरर्थक ही है ? इस को कहते हैं—**प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यसि**—तेज, शौर्य, धैर्य और दक्षत्व के अभिमान आदि गुणों की उत्पत्ति की हेतु क्षत्रियत्व योनिरूप रजोगुणमयी प्रकृति (क्षत्रियस्वभाव) अस्वतंत्र (अस्वाधीनभूत संस्कार के अधीन) तुम्हें नियुक्त करेगी। अधिक्षेपासहिष्णुस्वरूप (निन्दा न सहन कर सकना रूप) गुण को उत्पन्न करके युद्ध करायेगी, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—अहंकार का आश्रय करके देहाभिमानी पुरुष यदि यह निश्चय करले कि इस कार्य को मैं करूँगा अथवा इस कर्म को नहीं करूँगा तो ये दोनों प्रकार के निश्चय ही वृथा हैं क्योंकि देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि सभी पूर्व जन्मकृत संस्कार से उत्पन्न हुए स्वभाव से (गुणमयी प्रकृति से) प्रेरित होकर ही कर्म करने में बाध्य होते हैं। अतः जबतक शरीर है तब तक प्रकृति अहंकार को (मैं ऐसा करने में समर्थ हूँ इस प्रकार के अभिमान को) चूर्णकर (निष्फल कर) अपने संस्कार के अनुसार अर्थात् गुणों की प्रबलता के अनुसार जीव को विवश करके कर्म में जोड़ देती है। अतः अर्जुन से भगवान् कह रहे हैं कि यदि तुम अहंकार द्वारा यह निश्चय करो कि युद्ध नहीं करोगे एवं गुरु आदि के वध से निवृत्त होओगे तो तुम्हारा ऐसा निश्चय मिथ्या (निष्फल) होगा क्योंकि जिस स्वभाव के वशीभूत होकर तुमने क्षत्रिययोनि को प्राप्त कर लिया है, उस क्षत्रिय जाति में स्वाभाविक ही रजोगुण की प्रबलता रहने के कारण वह रजोगुणरूप स्वभाव ही तुमको युद्ध में प्रवृत्त कर देगा। यदि कहो कि—तब तो स्वभाव या प्रकृति से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है ? इस पर भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि—नहीं, ऐसी शंका करनी नहीं चाहिए क्योंकि इस प्रकृति को जय करने के लिए ही मैंने गीताशास्त्र में निष्काम भाव से मुझे समर्पण

करते हुए अपने-अपने स्वभावजात कर्तव्य कर्म को करने का पुनः-पुनः उपदेश दिया है। बालक को वशीभूत करने के लिए बालक के समान आचरण करना पड़ता है, काँटे को काँटे से निकालना पड़ता है उसी प्रकार प्रकृति को जय करने के लिए प्रकृति या स्वभाव से नियत हुए कर्म का अनुष्ठान करना आवश्यक होता है। प्रकृति की प्रेरणा होने पर भी यदि कोई स्वभावजात कर्म को त्याग दे तो वह स्थिर न रह सकेगा क्योंकि बार-बार मन में उस कर्म को करने के लिए संकल्प होता ही रहेगा। कर्म में कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्ति रहने पर वह बन्धन का कारण होता है क्योंकि उस प्रकार के कर्म का (शुभाशुभ कर्म का) फल कर्मकर्ता को अवश्य भोगना पड़ता है। किन्तु यदि स्वभावजात कर्म की प्रेरणा को न रोककर—न दबाकर उस कर्म को करते समय 'मैं भगवान् की प्रेरणा से कर्म कर रहा हूँ, यह कर्म ही मेरी भगवान् के लिए पुष्पाञ्जलि है, भगवान् की प्रीति के बिना, मुझे किसी फल की आकांक्षा नहीं है, जब इस प्रकार की बुद्धि का आश्रय वही कर्म कर्ता लेता है, तो भुने हुए धान से (बीज से) जिस प्रकार अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्मसमूह भी भगवान् में अर्पित होकर भुन जाते हैं, अतः उससे कोई शुभाशुभ फल कर्म-कर्ता को भोगना नहीं पड़ता। यही कर्मों से कर्मों को नाश करने का उपाय है एवं इससे ही कर्म करते हुए भी चित्त विक्षेपशून्य हो जाता है। अतः अन्तरात्मारूप भगवान् का प्रसाद (प्रसन्नता) स्वतः ही प्राप्त होता है। इसलिए अहंकार का त्याग कर स्वभावजात विहित कर्मों की प्रेरणा को भगवान् की आज्ञारूप से मानकर उसके अनुष्ठान के द्वारा भगवान् की अराधना करने पर उनकी कृपा से प्रकृति या स्वभाव को जय करके संसाररूप सर्व दुःख से जीव तर सकता है। यही ५८—५६ श्लोकों में प्रतिपादित किया गया है।

स्वभाव ही प्राणियों से कर्म करा लेता है, यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। अब उस स्वभाव या प्रकृति का स्पष्टीकरण करते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६० ॥

अन्वय—हे कौन्तेय! यत् मोहात् कर्तुम् न इच्छसि तत् स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः (सन्) अवश' अपि करिष्यसि।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! मोहवश (अज्ञान के कारण) जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते हो उसे अपने स्वभावजात (स्वभाव से उत्पन्न हुए) शौर्यादि कर्म के द्वारा बद्ध होने के कारण तुम अवश होकर ही (अर्थात् इच्छा न करने पर भी) करोगे ।

भाष्यदीपिका—**हे कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! **यत्**—जो कर्म अर्थात् गुरु-बन्धु इत्यादि के वधादि का कारण रूप जो क्षत्रियोचित युद्ध कर्म है वह **मोहात्**—मोह या अविवेक से [अर्थात् 'मैं स्वतन्त्र हूँ, जैसा चाहूँगा वैसा करूँगा' ऐसे भ्रम से (मधुसूदन) ।] **कर्तुम् न इच्छसि**—करना नहीं चाहते हो **तत्**—वही कर्म **स्वेन स्वभावजेन**—अपने क्षत्रिय स्वभाव से जात (उत्पन्न) **कर्मणा**—कर्म द्वारा [पूर्वोक्त क्षत्रिय स्वभावजनित और अपने आगन्तुक कर्मों के द्वारा (मधुसूदन) ।] **निबद्धः (सन्)**—नि (निश्चयरूप से) बद्ध (वशीकृत होकर) **अवशः अपि**—परवश (विवश) होकर [स्वभावजात कर्मों के अधीन और परमेश्वर के अधीन होकर ही (मधुसूदन) ।] **करिष्यसि**—करोगे [इच्छा न होने पर भी जब विवश होकर तुमको युद्ध करना ही पड़ेगा तो युद्ध से निवृत्त होने की वृथा चेष्टा न करो, यही कहने का अभिप्राय है ।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—**स्वभावजेन**—क्षत्रियभाव में कारणभूत जो पूर्वजन्म का कर्मसंस्कार है, उसे स्वभाव कहते हैं. उससे उत्पन्न अपने शूरवीरता आदि **स्वेन कर्मणा निबद्धः**—पूर्वोक्त अपने कर्म से बँधे (जकड़े) हुए **कर्तुम् न इच्छसि यत्**—तुम जिस युद्धरूप कर्म को नहीं करना चाहते हो **अवशः अपि तत् करिष्यसि**—परवश होकर भी करोगे ही ।

(२) **शंकरानन्द**—मैं करता हूँ और मैं नहीं करता हूँ, इस प्रकार से अभिमान करने वाला पुरुष बद्ध ही होता है मुक्त नहीं क्योंकि अमुक्त अशेष कर्मों का त्याग नहीं कर सकता है, इसलिए स्वाभाविक कर्म से बँधे हुए तुम अपने कर्म का त्याग नहीं कर सकते । जिसको तुम अविवेक से त्यागना चाहते हो उसको प्रकृति के वश में होकर करोगे ही । इसलिए प्रकृति से बद्ध पुरुष को प्राप्त हुए कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिए, इस आशय से श्रीभगवान् कहते हैं—**स्वभावजेन**—वर्तमान जन्म में प्रवृत्ति,

निवृत्ति, सुख, दुःख आदि की सिद्धि के हेतु पिछले जन्म के पुण्य पाप रूप कर्म के संस्कार को स्वभाव कहते हैं अर्थात् प्रकृति का गुणविशेष स्वभाव है। उससे जो उत्पन्न होता है वह 'स्वभावज' है। **स्वेन कर्मणा**—स्वाभाविक अपने क्षात्र कर्म से—'शौर्य, तेज धृति इत्यादि से युक्त उक्त कर्म से **निबद्धः**—संसृष्ट अर्थात् बँधे हुए तुम **मोहात् यत् कर्तुम् न इच्छसि**—मोह से (युद्ध आदि में स्वधर्मत्व के अज्ञान से) जिस स्वजाति से प्राप्त कर्म को करना नहीं चाहते यानी मेरा यह कर्तव्य नहीं है, यह समझ कर त्यागना चाहते हो, **तत् एव अवशः करिष्यसि**—उसी कर्म को अवश (अपनी प्रकृति के वश में होकर) तुम करोगे ही, त्याग नहीं सकोगे। इसलिए कर्तव्यरूप से प्राप्त हुए अपने शास्त्रीय कर्म का विद्वान को अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—प्रकृति से अहंकार उत्पन्न होता है एवं अहंकार से विमूढ़ जीव ही अपने को कर्ता मानता है अर्थात् 'मैं ऐसा करूँगा या नहीं करूँगा.' इस प्रकार से अभिमान करता है, किन्तु अहंकार तथा जीवत्व प्रकृति या पूर्वजन्म के संस्कार से उत्पन्न हुए स्वभाव का ही कार्य होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है—वह प्रकृति या स्वभाव के अधीन ही है। अतः जब तक देहादि में आत्मबुद्धि रहती है तबतक स्वभाव से जो अपने में कर्म करने की प्रेरणा (प्रवृत्ति) होती है उससे ही (उस कर्म के द्वारा ही) जीव निश्चयरूप यंत्र के समान बद्ध रहता है एवं इसलिए इच्छा न करके भी विवश होकर ही वह कर्म जीव को करना ही पड़ता है। परन्तु जब इन सब प्रकृति (स्वभाव) से प्रेरित हुए कर्मों को निष्कामभाव से भगवान् की आराधनारूप करके चित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञान से [अर्थात् मैं प्रकृति से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रियादि नहीं हूँ मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ जिसकी अध्यक्षता से अर्थात् जिसको अधिष्ठानरूप से आश्रयकरके जरा प्रकृति चेतनावतीसी होकर विश्वरूप चलचित्र दिखा रही है ऐसे ज्ञान से] जीव अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है तब उस प्रकृति से मुक्त होकर वह स्वतंत्र होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञान के कारण प्रकृति से उत्पन्न हुई मिथ्या देहादि में 'मैं और मेरापन' जबतक रहेगा तबतक उसके (स्वभाव के) वशीभूत होकर कर्म भी करना पड़ेगा और जब ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने पर स्वरूपस्थिति या ब्राह्मीस्थिति होती है तब जीव प्रकृति से मुक्त होकर अपनी स्वरूपसिद्ध

स्वतंत्रता को प्राप्त होता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'अर्थात् आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥' अर्थात् जो सर्वत्र आत्मा को ही देखता है एवं उसको ही जानता है उसकी आत्मा में रति होती है, आत्मा में ही क्रीड़ा करता है एवं आत्मा के साथ युक्त रहता है तथा आत्मा में ही निमग्न रहता है अर्थात् आनन्दी हो जाता है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ पुरुष ही स्वराट् होता है वही अपना स्वराज्य प्राप्त करके पूर्णस्वतन्त्र होता है एवं जैसी कामना करता है वैसे ही सर्वलोक में काम्यवस्तु को प्राप्त कर लेता है और जो आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु देखता है एवं उसमें आसक्त होता है उसका राजा अन्य (अर्थात् प्रकृति) होता है एवं भेदबुद्धि के कारण विनाशशील संसार गति को प्राप्त होकर सभी लोक में अपूर्णकाम होता है अर्थात् जैसा चाहता है वैसा नहीं प्राप्त कर सकता है।

पूर्व श्लोक में प्राणियों के स्वभाव की अधीनता कहकर अब परमेश्वर की अधीनता का स्पष्टीकरण करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! ईश्वरः यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् सर्वभूतानाम् हृद्देशे तिष्ठति ॥

अनुवाद—हे अर्जुन ! यन्त्रारूढ़ के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाता हुआ ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय देश में स्थित हैं।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन ! —हे शुक्ल ! अर्थात् शुद्धान्तःकरणवाले (श्रुति में कहा है—'अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च ऋग्वेद संहिता ६।९।१) अर्थात् तिथि कृष्ण (अस्वच्छ या कलुषित), देखी जाती है फिर तिथि अर्जुन (शुक्ल) देखी जाती है। [इस श्रुति वाक्य के अनुसार अर्जुन और शुक्ल पर्यायवाची शब्द है अर्थात् 'अर्जुन'

शब्द का अर्थ है विशुद्धचित्त। भगवान् के वाक्य से यह सूचित किया जाता है कि 'तुम अर्जुन निर्मल बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण ईश्वर को जान लेने के योग्य हो।] **यन्त्रारूढानि**—यन्त्र पर आरूढ़हुई (चढ़ी हुई) कठपुतली के समान परतन्त्र ['यन्त्रारूढानि' शब्द के पश्चात् 'इव' शब्द का अध्याहार करके व्याख्या करनी चाहिए। जिस प्रकार मायावी सूत्र—संचारादि द्वारा (सुतली से जिसको घुमाया जा सकता है इस प्रकार) यन्त्र पर चढ़े हुए परतंत्र काठ की बनी हुए पुतलियों को भ्रमाता है उसी प्रकार] **सर्वभूतानि**—समस्त प्राणियों को (परतंत्र सभी जीवों को) **मायया भ्रामयन्**—माया से भ्रमाता हुआ (इधर-उधर चलाता हुआ) **सर्वभूतानाम् हृद्देशे**—समस्त प्राणियों के अन्तः करण में **ईश्वरः तिष्ठति**—ईश्वर अर्थात् सबका शासन करनेवाला नारायण अन्तर्यामी रूप से स्थित है। ['यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति।' अर्थात् जो पृथ्वि में स्थित हुआ पृथ्वी के भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है और जो पृथ्वी को, उस के भीतर रहकर, नियमित करता है, तथा 'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।' अर्थात जो कुछ भी जगत् दिखाई या सुनाई देता है उस सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके नारायण स्थित है' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सबका सर्वान्तर्यामी है। वही सर्वव्यापी होकर समस्त प्राणियों के हृद्देश में (अन्तःकरण में) स्थित है। सातों द्वीपों के अधिपति राम जैसे उत्तर—कोशल देश में रहते हैं उसी प्रकार सर्वव्यापक होने पर भी वह उस हृदयरूप स्थान में ही अभिव्यक्त होता है।] कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मायावी (जादूगर) माया से सबकी दृष्टि के अगोचर अपने हाथ में स्थित छुपायित अर्थात् छिपे हुए सूत्र के द्वारा सूत्र से चालित करने योग्य यंत्र पर चढ़ी हुई अत्यन्त परतंत्र कठपुतलियों को भ्रमाता है (इधर-उधर नचाता है) उसी प्रकार सबके हृदय में अधिष्ठित अन्तर्यामी ईश्वर (परमात्मा) भी माया से अर्थात् स्वभाव रूप सूत्र द्वारा (गीता १८।६०) स्वभावज कर्मों से बंधे हुए सभी प्राणियों को भ्रमाता है अर्थात् नचाता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—हे अर्जुन! **सर्वभूतानाम् हृद्देशे ईश्वरः तिष्ठति**—सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर रहता है। क्या करता हुआ?

भ्रामयन् मायया—सब प्राणियों को अपनी शक्तिरूप माया के द्वारा भ्रमण कराता हुआ। जैसे जगत् में काठ के यंत्र पर चढ़े हुए बनावटी प्राणियों को सूत्रधार घुमाता या नचाता है उसी के सदृश ईश्वर प्राणियों को भ्रमण कराता है—यह भाव है। अथवा शरीर ही यंत्र है, उन पर आरूढ़ हुए प्राणी जो देहाभिमानी जीव हैं उनको भ्रमण कराता हुआ स्थित है यह भाव है। इसी का पोषक श्वेताश्वतर उपनिषद का मंत्र है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० उ० ६।११) अर्थात् वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी एवं समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है। वही उन सबके कर्मों का अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतों का निवासस्थान, सब का साक्षी, चेतन सर्वथा विशुद्ध, (निर्लेप) और गुणातीत है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी कहा है 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' अर्थात् जो आत्मा के अन्दर स्थित हुआ आत्मा जीवात्मा पर शासन करता है, जिसको आत्मा (जीवात्मा) नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, यह तेरा अमृत स्वरूप अन्तर्यामी आत्मा है।' इत्यादि।

(२) **शंकरानन्द**—प्रकृति के अधीन पुरुष स्वतंत्र न होने के कारण स्वाभाविक कर्म का त्याग नहीं कर सकता किन्तु उसे करता ही है, ऐसा कहकर अब ईश्वर के अधीन हुआ पुरुष कर्म का त्याग नहीं कर सकता किन्तु उसकी प्रेरणा से प्राप्त कर्म को करता ही है, इस प्रकार से कर्म की अवश्यकर्तव्यता का बोधन करने के लिए श्री भगवान् कहते हैं 'ईश्वर' इत्यादि से **ईश्वरः**—ईशनशील यानी सब लोकों के नियन्ता परमेश्वर जैसे **यंत्रारूढानि**—सूत्रधारी यंत्रारूढ़ लकड़ी की प्रतिमाओं को घुमाता है वैसे ही **सर्वभूतानि**—सर्वभूतों को (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब भूतों को) **मायया**—वासनात्मिका माया से (विक्षेप शक्ति से) **भ्रामयन्**—घुमाता हुआ अर्थात् अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त कराता हुआ **हृद्देशे तिष्ठति**—हृद्देश में (हृदय में) यानी बुद्धिरूपी गुहा में स्थित रहता है 'एष एव साधु कर्म कारयति यम्' अर्थात् यही साधु कर्म कराता है, जिसको 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति'

अर्थात् जो सर्व भूतों में स्थित, सब भूतों के भीतर, जिसको सब भूत नहीं जानते, जिसके सब भूत शरीर हैं, जो सब भूतों के भीतर रहकर नियम में रखता है इत्यादि श्रुति से यंत्रारूढ़ अर्थात् यंत्रों में (यानी शरीर में) आत्मत्व के अभिमान से अधिष्ठित भूतों को (प्राणियों को) घुमाता हुआ (उन-उन कर्मों में प्रवृत्त कराता हुआ) ईश्वर सब भूतों के हृद्देश में स्थित रहता है। इसलिए इसकी प्रेरणा से प्राप्त हुए कर्मों का उससे परतंत्र पुरुष त्याग नहीं कर सकता। अतः जैसे नियुक्त होता हूँ वैसे करता हूँ, इस बुद्धि से मुमुक्षु को कर्तव्य रूप से प्राप्त हुए कर्म का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—गीता में बारम्बार यही कहा गया है कि प्रकृति या स्वभाव ही (जो कि पूर्वजन्मकृत कर्म से उत्पन्न हुए संस्कार हैं वही) जीव से कर्म करा लेता है अर्थात् प्रकृति ही कर्म करती है आतमा नहीं गीता में भी कहा है 'सदृशम् चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' (गीता ३।३३) 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः (गीता ३।२७) स्वभावस्तु प्रवर्तते (गीता ५।१४), 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' (गीता १८।५९), 'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा' (गीता १८।६०)। इन सब वाक्यों का तात्पर्य यह है कि जीवमात्र ही स्वभाव से प्रेरित होकर स्वभाव के ही वशीभूत होकर कर्म करने को बाध्य होता है। अब (६१ श्लोक में) श्रीभगवान् कह रहे हैं कि सर्वभूतों के हृदय में स्थित ईश्वर ही सर्व प्राणियों को माया से भ्रमाता है अर्थात् सर्वकर्म कराते हुए इधर-उधर चलायमान करता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी को ईश्वर ही मायाद्वारा जगतरूप रंगमंच में कठपुतली के समान नचाता है, जैसे जादूगर यंत्रारूढ़ (यंत्र पर चढ़े हुए) कठपुतलियों को अपनी माया से (अपने हाथ में छिपी हुई सुतली के इच्छानुसार संचालन द्वारा) भ्रमाता है (नचाता है)।

प्रश्न—पहले कहा गया है कि स्वभाव या प्रकृति जीव से कर्म करा लेती है और अब भगवान् कह रहे हैं कि उनकी माया के द्वारा ही सब प्राणी नाचते हैं—इन दोनों प्रकार के वाक्यों का सामंजस्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—पूर्व पूर्व जन्मों में जीव जिस प्रकार शुभाशुभ कर्म करता है उन कर्मों के अनुसार शुभाशुभ संस्कार उत्पन्न होता है। यह संस्कार ही परवर्ती जीवन में जीव की प्रकृति या स्वभाव रूप से परिणत होता है एवं उस स्वभावजात कर्म में ही उसकी स्वतः ही प्रवृत्ति होती रहती है। किन्तु स्वभाव या प्रकृति जड़ कर्म से उत्पन्न होने के कारण वह भी जड़ ही है। जड़ वस्तु चेतन के बिना न तो कर्म कर सकती है और न कर्म करा सकती है। इसलिए भगवान् ने कहा कि प्रकृति जो कुछ भी करती है यानी जिस प्रकार चुम्बक-लोहे की सन्निधि में लोह खण्ड समूह इधर-उधर चालित होता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप ईश्वर की सन्निधि में प्रकृति चराचर विश्व की सृष्टि, स्थिति—प्रलय करती है। अतः जब तक जीवत्वबोध अर्थात् देह इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि रहती है तब तक जीव प्रकृति के अधीन रहता है एवं उससे अवश होकर ही जीव को कर्म करना पड़ता है। इस प्रकृति या स्वभाव को ही माया कहा जाता है। जीवस्वरूपतः शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही है तथापि इस प्रकार से जीवत्व भाव प्राप्त होकर प्रकृति या माया के वशीभूत होकर संसार चक्र में भटकता है। माया के समष्टि तथा व्यष्टिरूप से दो प्रकार के भेद हैं (१) गुणमाया (त्रिगुणात्मिका समष्टि माया-गीता ७।१४) और (२) जीवमाया। इसलिए अध्यात्म रामायण में दो प्रकार की माया के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

> प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ।
> चराचरं जगत्कृत्स्नं देहबुद्धीन्द्रियादिकम्॥
>
> आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत्।
> सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता॥
>
> सर्गस्थितिविनाशानां जगद्वृक्षस्य कारणम्।
> लोहितश्वेतकृष्णादिप्रजाः सृजति सर्वदा॥
>
> कामक्रोधादिपुत्राद्या हिंसातृष्णादिकन्यकाः।
> मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभुम्॥
>
> कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान् स्वगुणानात्मनीश्वरे।
> आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा॥

शुद्धोऽप्यात्मा यथा युक्तः पश्यतीव सदा बहिः।
विस्मृत्य च स्वात्मानं मायागुणविमोहितः॥
यदा सद्गुरुणा युक्तो बोध्यते बोधरूपिणा।
निवृत्तदृष्टिरात्मानं पश्यत्येव सदा स्फुटम्॥ (युद्धकाण्ड ६।४९–५५)

अर्थात् हे अनघ! अपने आत्मा को सदा प्रकृति से भिन्न विचारिए। देह, बुद्धि और इन्द्रियों से युक्त सम्पूर्ण चराचर जगत् अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (कीट विशेष) पर्यन्त जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है वह सब प्रकृति है और वही माया भी कहलाती है। वही सर्वदा संसाररूपी वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की कारणरूप श्वेत (सात्त्विक), लोहित (राजस) और कृष्ण वर्ण (तामस) प्रजा उत्पन्न करती है तथा वही अपने गुणों से अहर्निश सर्वव्यापक आत्मदेव को मोहित कर काम क्रोधादि पुत्रों और हिंसा तृष्णादि कन्याओं को उत्पन्न करती है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि अपने गुणों को अपने प्रभु आत्मा में आरोपित कर उसे अपने वशीभूत कर उससे सदा खेलती रहती है। माया से युक्त होकर ही आत्मा मायिक गुणों से मोहित होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और नित्य शुद्ध होता हुआ भी सदा बाह्य विषयों को देखने लगता है। जिस समय सद्गुरु का साक्षात्कार होता है और वे उसे निर्मल ज्ञानदृष्टि से जाग्रत करते हैं उस समय वह बाह्य विषयों से अपनी दृष्टि हटाकर अपने आपको ही स्पष्ट देखता है। वस्तुतः आत्मा सदा ही निर्मल, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अचल, अव्यय है। केवल माया या अज्ञान से ही (अर्थात् अज्ञान आश्रित बुद्धि से ही) आत्मा बद्ध-सा या मुक्त-सा प्रतीत होता है। अतः आत्मा में न तो सृष्टि स्थिति-प्रलय है और न तो बन्धन या मुक्ति है—न तो आत्मा कर्ता है और न कारयिता है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय, बन्ध-मुक्ति, कर्तृत्व-कारयितृत्व ये सभी माया के कार्य हैं, आत्मा में माया का कार्य उपचारित होने पर ही ये सब माया के गुण आत्मा में आरोपित होते हैं। इसलिए अध्यात्म रामायण में कहा है—

अतस्त्वं जगतामीशः सर्वलोकनमस्कृतः।
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शेषोऽयं लक्ष्मणाभिधः॥

आत्मना सृजसीदं त्वमात्मन्येवात्ममायया।
न सज्जसे नभोवत्त्वं चिच्छक्त्या सर्वसाक्षिकः॥
बहिरन्तश्च भूतानां त्वमेव रघुनन्दन।
पूर्णोऽपि मूढदृष्टीनां विच्छिन्न इव लक्ष्यसे॥
जगत्त्वं जगदाधारस्त्वमेव परिपालकः।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते॥
दृश्यते श्रूयते यद्यत्स्मर्यते व रघूत्तम।
त्वमेव सर्वमखिलं त्वद्विनान्यन्न किञ्चन॥
माया सृजति लोकांश्च स्वगुणैरहमादिभिः।
त्वच्छक्तिप्रेरिता राम तस्मात्त्वय्युपचर्यते॥
यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवाय आदयः।
जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत्॥
देहद्वयमदेहस्य तव विश्वं रिरक्षिषोः।
विराट् स्थूलं शरीरं ते सूत्रं सूक्ष्ममुदाहृतम्॥

(युद्धकाण्ड १४।२३-३०) अर्थात् अतः आप समस्त लोकों के वन्दित और सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं। आप साक्षात् विष्णु भगवान् हैं, जानकी जी लक्ष्मी हैं और ये लक्ष्मण जी शेषनाग हैं। आप अधिष्ठानरूप से अपने भीतर ही अपनी माया के द्वारा स्वयं अपने आप से ही इस सम्पूर्ण जगत् को रचते हैं, किन्तु आकाश के समान किसी से भी लिप्त नहीं होते। आप अपनी चित्शक्ति से सबके साक्षी हैं। हे रघुनन्दन! समस्त प्राणियों के भीतर और बाहर आप ही व्याप्त हैं। इस प्रकार पूर्ण होने पर भी आप मूढ़ बुद्धियों को परिच्छिन्न (एकदेशी) से दिखाई देते हैं। हे जगत्पते! आप ही जगत्, जगत् के आधार और उसका पालन करने वाले हैं तथा आप ही समस्त प्राणियों के (कालरूप से) भोक्ता और (अन्नरूप से) भोज्य हैं। हे रघुश्रेष्ठ! जो कुछ भी दिखाई देता है तथा जो कुछ सुना और स्मरण किया जाता है, वह सब आप ही हैं; आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हे राम! आपकी शक्ति से प्रेरित होकर ही माया अपने अहंकारादि गुणों से सम्पूर्ण लोकों को रचती है; इसलिए इन

सब की रचना का आप ही में आरोप किया जाता है। जिस प्रकार चुम्बक की संनिधि से लोहा आदि जड़ पदार्थ चलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी दृष्टि पड़ने से ही माया सम्पूर्ण जगत् की रचना करती है। विश्व की रक्षा करने के इच्छुक आप देहहीन होकर भी दो देहवाले हैं। आपका स्थूल शरीर 'विराट्' और सूक्ष्म शरीर 'सूत्र' कहलाता है।

इस प्रकार माया ही समष्टि सूत्रात्मा हिरण्यगर्भरूप से तथा व्यष्टि जीवरूप से द्विधा विभक्त होकर प्रकट होती है। वस्तुतः माया आत्माश्रित एक भाव (कल्पना) मात्र है। इसलिए इसको स्वभाव अर्थात् आत्मा का भाव कहा जाता है। अध्यात्म रामायण में जीवमाया के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

अनात्मनि शरीरादौ आत्मबुद्धिस्तु या भवेत्।
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते॥

अर्थात् अनात्म शरीरादि में जो आत्मबुद्धि होती है वह माया है एवं उस माया के द्वारा समस्त संसार कल्पित होता है। गीता में भी भगवान् ने इस जीवमाया को ही "पराप्रकृति" कहा है (गीता ७।५)।

अतः जीवरूपी भोक्ता तथा दृश्यरूपी भोग्य दोनों माया के ही व्यापार हैं। आत्म-स्वरूप का अज्ञान ही इसका मूल है। अनात्म वस्तु में मिथ्या अभिमान (कल्पना) ही इसका स्वरूप है। अतः सर्व प्रकार कल्पना एवं मिथ्याभिमान रहित होने पर जो आत्मस्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होता है वही माया या स्वभाव या प्रकृति को अतिक्रमण करने का (तर जाने का) एक मात्र उपाय है अर्थात् इस प्रकार से यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही नैष्कर्म्य सिद्धि का लाभ करके ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त किया जा सकता है, यही सूचित करने के लिए भगवान् ने विशेषरूप से कहा 'भ्रामयन् मायया'। अतः जबतक देहात्मबुद्धि रहती है तब तक ही हृदय में स्थित चैतन्यस्वरूप आत्मा के सान्निध्य से माया (प्रकृति या स्वभाव) अज्ञानी जीव को वशीभूत करके कठपुतली के समान कर्म में प्रवृत्त करती है एवं कर्म फल का भोग कराने के लिए संसार चक्र में भ्रमण कराती है। मायायुक्त अर्थात् माया उपाधि विशिष्ट आत्मा (चैतन्य सत्ता) ही ईश्वर हैं। अतः पूर्व श्लोकों में जो कहा है कि प्रकृति या स्वभाव के वशीभूत होकर

देहाभिमानी जीव स्वभावजात कर्म करने के लिए बाध्य होता है एवं वर्त्तमान श्लोक में जो कहा है कि ईश्वर माया के द्वारा सर्व प्राणी को भमाता है—इन दोनों प्रकार के वाक्यों में कोई विरोध नहीं है (क्योंकि माया स्वभाव, प्रकृति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं)। भगवान् की अनन्य शरण लेकर जो उनको ही अहंकार या जीव भाव का पूर्णतया समर्पण कर देता है वह नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में लय प्राप्त कर समुद्र ही हो जाती हैं उसी प्रकार सर्वात्मा भगवान् में अपने को विलय कर भगवत्स्वरूपता प्राप्त कर माया से तर जाता है। अतः उसको यंत्रारूढ कठपुतली के समान माया से भ्रमित (इतस्ततः चालित) नहीं होना पड़ता, यह भगवान् ने पहले ही कहा है (गीता ७।१४)।

प्रश्न—ईश्वर सर्वव्यापी है किन्तु भगवान् ने ऐसा क्यों कहा कि मैं सर्वभूतों के हृदय में (हृद्देश में) स्थित हूँ ?

उत्तर—हृदय और चित्त (अन्तः करण) पर्यायवाची शब्द हैं। अन्तःकरण सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः निर्मल है। काम-वासना से युक्त होने पर ही यह अशुद्ध (अस्वच्छ) होता है एवं आत्म प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में असमर्थ होता है (जिस प्रकार दर्पण स्वभावतः निर्मल होते हुए भी धूलि इत्यादि से मलिन होने पर वह मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ होता है)। भगवान् की अनन्य भक्ति से अन्तःकरण विषय की कामना-वासना से मुक्त होने पर जब निर्मल होता है, तभी आत्मस्वरूप भगवान् का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के योग्य होता है अर्थात् भगवद्-भक्ति के द्वारा विशुद्ध हुई बुद्धि ही आत्मस्वरूप को जान लेती है एवं जानकर उसमें प्रविष्ट होने में समर्थ होती है (गीता ११।५४)। अतः भगवान् का प्रकाश स्थान हृदय ही है। जिस प्रकार घर में स्थित किसी व्यक्ति को शरीर का प्रतिबिम्ब घर में सर्व स्थान में प्रतिफलित होने पर भी उसमें स्थित निर्मल दर्पण में ही शरीर का प्रति-बिम्ब देखा जाता है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी शुद्ध हृदय में (निर्मल बुद्धि में) प्रकट होते हैं, यही 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वाक्य का तात्पर्य है।

यदि उक्त प्रकार समस्त परतन्त्र प्राणियों को ईश्वर ही प्रेरित करता है तब तो विधिनिषेध रूप शास्त्रों की तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो पुरुषार्थ की आवश्यकता है उसकी भी व्यर्थता प्राप्त होती है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२ ॥

अन्वय—हे भारत! तमेव सर्वभावेन शरणम् गच्छ। तत्प्रसादात् पराम् शान्तिम् शाश्वतम् स्थानम् च प्राप्स्यसि।

अनुवाद—हे भारत! सर्वभावों के द्वारा (मन, वाणी तथा कर्म के द्वारा) उस ईश्वर की ही शरण लो (उनका आश्रय लो) उनकी कृपा से तुम परमशान्ति और नित्यपद (मोक्ष को) प्राप्त करोगे।

भाष्यदीपिका—हे भारत—हे भरत कुल के श्रेष्ठ पुरुष! तुम तो भा अर्थात् सर्वप्रकाशरूप परमात्मा में रत हो, इसलिए तुम्हारे लिए परमशान्ति तथा मोक्ष प्राप्त करना कठिन व्यापार नहीं है इस प्रकार से आश्वासन देने के लिए भगवान्ने अर्जुन को यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया तमेव—पूर्वश्लोकोक्त सर्वभूतों के हृदयस्थित उस अन्तर्यामी ईश्वर की ही सर्वभावेन—समस्त आत्मा (अन्तःकरण) से अर्थात् मन, वाणी और शरीर द्वारा सर्व प्रकार से (सर्वकर्म से) शरणं गच्छ— संसार के समस्त क्लेशों का नाश करने के लिए शरण लो (उनका आश्रय करो) [मधुसूदन सरस्वती ने 'शरणं त्वमेव' इसप्रकार अन्वय किया। अतः इस पद का अर्थ है उस शरण के योग्य ईश्वर को ही संसार समुद्र से पार होने के लिए तुम आश्रय ग्रहण करो।] तत्प्रसादात्—उसके पश्चात् उस ईश्वर के अनुग्रह से [अर्थात् उनकी शरण लेने पर उनके जिस अनुग्रह से उनके स्वरूप का साक्षात्कार या तत्त्वज्ञान प्राप्त होना सम्भव है उस अनुग्रह से] पराम् शान्तिम्—सर्वश्रेष्ठ शान्ति को अर्थात् कार्य सहित अविद्या की उपरति (निवृत्ति) रूप शान्ति को शाश्वतम् स्थानम् च— एवं शाश्वत (नित्य अविनाशी) स्थान को अर्थात् मुझ विष्णु के (परमात्मा के) परम नित्य धाम को (मोक्ष को) [अद्वितीय स्वप्रकाश-परमानन्द रूप से स्थिति को (मधुसूदन)।] प्राप्स्यसि—प्राप्त होओगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जब कि इस प्रकार से सब जीव परमेश्वर के परतंत्र हैं सर्वभावेन तम् एव शरणम् गच्छ—इसलिए अहंकार का त्याग करके

सब भाव से (सर्वथा) उस ईश्वर की ही शरण चले जाओ। **तत् प्रसादात् शाश्वतम्**--उसके पश्चात् उसी के (परमेश्वर के) कृपा प्रसाद से परम (सर्वोत्तम) उपशम रूप शान्ति को और सदा रहने वाले शाश्वत (नित्य परमेश्वर सम्बन्धी) स्थान को प्राप्त होओगे।

(२) **शंकरानन्द**--चित्त की शुद्धि के लिए आरुरुक्षु को कर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा निर्धारण करने के लिए नय से (युक्ति से) और (परम-पुरुषार्थ से च्युति होने के) भय से कर्म करना ही कर्तव्य है ऐसा सम्पादन करके अब केवल मोक्ष की ही कामना करने वाले तथा केवल परमेश्वर की ही शरण होकर अपने कर्म से उसका आराधन कर रहे मुमुक्षु को ही ईश्वर के प्रसाद से ज्ञान और मोक्ष सिद्ध होता है अतः परमेश्वर की प्रीति के लिए कर्म करते हुए उसी की शरण में तुम जाओ, ऐसा श्रीभगवान् कहते हैं--

हे भारत! अपने कर्म से उसके आराधन में परायण होकर तुम सर्वभावेन--सर्वभाव से (नारायण ही यह सब है, इस प्रकार सर्वत्र आत्मभाव ही सर्वभाव है, उससे) यानी सर्वत्र परमेश्वरत्व बुद्धि से **स्वकर्मणा तम् एव शरणं गच्छ**--सर्वात्म स्वरूप उस परमेश्वर की शरण में जाओ यानी हे जगत्प्रभो, संसार रूप समुद्र में डूब रहे मेरा उद्धार करो इस भावना से संसाररूप दुःख की निवृत्ति के लिए उसी का आश्रय ग्रहण करो **तत् प्रसादात्**--केवल उसी की शरण लेकर उसके प्रसाद से (उसी ईश्वर की कृपा से) यानी अनुग्रह से भली-भाँति उत्पन्न हुए आत्मविज्ञान से **पराम् शान्तिम् प्राप्स्यसि**--परा (दृश्य के अवलम्बन से रहित होने के कारण प्रकृष्ट अथवा परमानन्द के अनुभव की हेतु होने के कारण परा) शान्ति को (वृत्ति की उपरति को अथवा सर्वत्र समदृष्टि को) प्राप्त होओगे। **शाश्वतम् स्थानम् प्राप्स्यसि**--शाश्वत यानी नित्य स्थान को (सर्वदा चिदानन्दैकरसरूप से तथा अविक्रिय स्वरूप से जो स्थित रहता है, वह 'स्थान' है, उसको) यानी स्वस्वरूप कूटस्थ, असङ्ग, चिदात्मक परब्रह्म को प्राप्त होओगे। विदेह मुक्ति रूप सुख को प्राप्त होओगे, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**--पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर ही माया के द्वारा सर्वभूतों के हृदय में स्थित होकर सर्वप्राणियों को कठपुतली के समान

नचाता है जब तक जीव माया या अज्ञान से उत्पन्न हुए शरीरादि में 'मैं और मेरा' इस प्रकार अभिमान करता है तब तक ही उसको माया के वशीभूत होकर भ्रमण करना पड़ता है। जब देहादि में आत्मबुद्धि छोड़कर शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में अहंबुद्धि ('नाऽहं जीवः, ब्रह्मैवाऽहं' इस प्रकार की बुद्धि) होती है तभी जीव माया एवं उसके कार्य से निर्मुक्त होकर स्वतंत्र हो सकता है। किन्तु माया से मुक्त होना सहज बात नहीं है। इसलिए पहले जिस अहंकार (देहादि में आत्माभिमान) के कारण माया के वशीभूत होता है उस अहंकार की निवृत्ति के लिए यथार्थ अहं की (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की) सर्वभाव से अर्थात् मन, वाक्य एवं शरीर से किए हुए सर्वकर्मों के द्वारा शरण लेने की (आश्रय ग्रहण करने की) आवश्यकता है मन जब आत्मस्वरूप भगवान् का चिन्तन करता है, वाक्य जब उनका ही गुणगान करता है और शरीर तथा इन्द्रियों से जो कुछ कर्म किये जाते हैं उन्हें जब भगवान् को ही मुमुक्षु समर्पण करता है तो चित्त विषयचिन्तन एवं विषयवासना से रहित होकर निर्मल होता है। इस प्रकार विशुद्ध चित्त में विवेक विचार के उत्पन्न होने पर वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा तत्त्वज्ञान (अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान) का उदय होता है अर्थात् जीवत्व बुद्धि का नाश कर वह मुमुक्षु साक्षात् अनुभव करता है कि 'मैं देहादि नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ'। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव के पश्चात् माया से संपूर्णतया मुक्त होने से आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है। आत्मस्वरूप का प्रकाशन ही आत्मा का प्रसाद (प्रसन्नता) है। आत्मस्वरूप भगवान् की इस प्रकार प्रसन्नता से ही सर्वदुःख की निवृत्तिरूप परमशान्ति तथा शाश्वत (नित्य) स्थान (अर्थात् अखण्ड, अद्वय, स्वप्रकाश, परमानन्द मोक्ष पद में स्थिति) को प्राप्त होकर विद्वान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

काय, मन, वाक्य से सर्वात्मा भगवान् की शरण लेने को 'ईश्वर प्रणिधान' कहा जाता है। पातंजल योगशास्त्र में कहा है—'समाधिरीश्वरप्रणिधानाद्वा' अर्थात् यम, नियम, आसन आदि अष्टाङ्गयोग से जिस निर्विकल्प समाधि के द्वारा कैवल्य (मोक्षपद) प्राप्त होता है वही निर्विकल्प समाधि ईश्वर प्रणिधान से भी प्राप्त होती है। चैतन्यस्वरूप आत्मा ही परमात्मा, ब्रह्म, भगवान्, नारायण महामाया इत्यादि

बहु नामों से अभिहित होता है। आत्मरूप अधिष्ठान में ही माया के अनन्त नाम रूपात्मक विश्वप्रपंच फैला हुआ है। अतः इन सबकी सत्ता आत्मा से पृथक् नहीं है 'मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले। रज्जौ भुजंगवद्भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन'। इसलिए आत्मा से भिन्न दूसरी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व न रहने के कारण सर्वव्यापी आत्मा ही विश्वरूप से भासित हो रहा है ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानी भक्त सृष्ट प्रपंच के अणुपरमाणु में भगवान् को देखता है। सूर्य की प्रत्येक किरण में जिस प्रकार सूर्य की ही मूर्ति देखी जाती है उसी प्रकार भक्त भी भगवान् में प्रतीत हुई प्रत्येक वस्तु में भगवान् का ही अस्तित्व एवं साक्षात् मूर्ति देखता है एवं उनको सर्वत्र स्वीकार करके अपने पृथक् अस्तित्व को क्रमशः विलय कर देता है। इसप्रकार भगवान् को सर्वत्र सभी मूर्ति में (अर्थात् नाम रूप में) देखने पर दृश्यरूपी 'सः एवंद्रष्टारूपी 'अहं' क्रमशः एक होते हुए 'सोऽहं' रूप में परिणत होता है। आत्मस्वरूप भगवान् के प्रसाद (कृपा) के बिना इस प्रकार की अवस्था का प्राप्त होना असम्भव है अर्थात् ब्रह्मरूप आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर (जीवात्मा के) ऊपर कृपा करके जब उसका उद्धार करने के लिए उसको अपने में समेट लेता है तब ही जीव के लिए शुद्धात्मा के साथ पूर्णरूप से मिलन (एक हो जाना), सम्भव है। 'तत्प्रसादात्' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य यह है कि 'सोऽहं' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) इस प्रकार के अनुभव के पश्चात् सर्वभावना से विमुक्त होने पर निर्विकल्प समाधि से केवल परमानन्द सत्ता ही रह जाती है। तब वह मुक्त पुरुष ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होकर **आनन्दी**--ही हो जाता है (तै० उ०) **स्वराट्**--होता है (छा० उ०) एवं यही शाश्वत स्थान (कैवल्य या मोक्षपद) है एवं यही सर्वदुःखातीत परमशान्ति है जिसके लिए प्रत्येक जीव कोटि-कोटि जन्मों से भ्रमण कर रहा है।

अब सम्पूर्ण गीता के अर्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

अन्वय—इति मया गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम् ते आख्यातम्; एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने तुम्हें गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान का उपदेश किया है। इस पर विशेष प्रकार से (पूरी तरह से) विचार करके तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो।

भाष्यदीपिका—**इति**–इस प्रकार **मया**–मुझ सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा **गुह्यात् गुह्यतरम्**—गोपनीय कर्मयोग से भी अत्यन्त गोपनीय (रहस्ययुक्त) **ज्ञानं**–सर्वकर्मों के संन्यास द्वारा केवल आत्मा को विषय करनेवाला मोक्ष का साधनरूप ज्ञान **ते**–अत्यन्त प्रिय तुम्हारे लिए **आख्यातम्**–कहा गया है [अर्थात् इस प्रकार सर्वज्ञ ईश्वर मैंने अत्यन्त प्रिय तुमको गुह्य से अर्थात् संन्यास में समाप्त होनेवाले परम रहस्य (गोपनीय) कर्मयोग की अपेक्षा, उसका (कर्मयोग का) फलभूत होने के कारण अत्यन्त गुह्य (रहस्यतम या अत्यन्त गोपनीय) ज्ञान अर्थात् केवल आत्माको विषय करनेवाला तथा मोक्ष का साक्षात् साधन जो तत्त्वज्ञान है उसे कहा है (मधुसूदन)।] **एतत् अशेषेण विमृश्य**—अतः उपर्युक्त शास्त्र को अर्थात् ऊपर मेरे द्वारा कहे हुए समस्त अर्थको (गीताशास्त्र को) अशेषतया (पूर्णरूप से) [समस्त गीताशास्त्र की एकवाक्यता अर्थात् पूर्वापर संगति रखकर जिससे कोई संशय या विरोधभाव न रहे इस प्रकार विशेषरूप से (पूर्णरूप से)] विचार (भली प्रकार आलोचना) करके **यथा इच्छसि**—जैसी तुम्हारी इच्छा हो (तुम जैसा चाहो) **तथा कुरु**—वैसा ही करो [गीताशास्त्र में कहे गये मेरे सब उपदेश की एकवाक्यता पूर्वक समझकर अपने अधिकार के अनुसार तुम जैसा चाहो वैसा करो।] अभिप्राय यह है कि इसे बिना ही विचारे मनमाने ढंग से चाहे-जो मत करो (मधुसूदन)।]

'यथा इच्छसि तथा कुरु' इस वाक्य पर श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार अभिमत प्रकट किया—यहाँ इतनी बात कही गई है कि अशुद्ध अन्तःकरणवाले मुमुक्षुको मोक्ष के साधन ज्ञान की प्राप्ति की योग्यता के प्रतिबन्धक-रूप से विद्यमान पाप का क्षय करने के लिए फलाशा के त्यागपूर्वक भगवदर्पणबुद्धि से वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। फिर अन्तःकरण के शुद्ध होने से जिज्ञासा उत्पन्न होने पर ज्ञान के साधन वेदान्त वाक्यों के विचार के लिए गुरु के समीप जाकर मुमुक्षु ब्राह्मण को समस्त कर्मों का संन्यास (त्याग) करना चाहिए। तब एकमात्र भगवान् की शरण में रहकर

एकान्तसेवनादि ज्ञान के साधनों का अभ्यास करने से श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति होने से मोक्ष होता है। किन्तु जो संन्यास के अनधिकारी मोक्षकामी क्षत्रिय आदि हैं उन्हें अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् भी भगवान् की आज्ञा के पालन और लोकसंग्रह के लिए किसी न किसी प्रकार कर्म करते हुए ही एकमात्र भगवान् की शरण लेने से, अथवा पूर्वजन्म में किए हुए संन्यासादि के परिपाक से, अथवा हिरण्यगर्भ के समान संन्यास की अपेक्षा न रखते हुए ही भगवान् के अनुग्रहमात्र से यहीं पर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति हो जाने से या आगामी जन्म में ब्राह्मण-योनि को प्राप्त होकर संन्यासादिपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होने से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा विचार करने पर मोह के लिए अवकाश नहीं रहता–ऐसा इसका भाव है।

टिप्पणी (१) **श्रीधर**–अब सब गीतोक्तज्ञान का उपसंहार करते हुए कहते हैं– **इति ते मया गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम् आख्यातम्**—इस प्रकार तुझे मुझ सर्वज्ञ परम कृपालु ईश्वर के द्वारा ज्ञान कहा गया–ज्ञान का उपदेश किया गया। वह ज्ञान कैसा है? गुप्त रखने के योग्य (रहस्यमय मंत्र, योग आदि गुह्य) ज्ञान से भी अत्यन्त गोप्य है। **एतत् अशेषेण विमृश्य तथा...... ...कुरु**—मेरे द्वारा इस उपदिष्ट गीताशास्त्र को पूर्णरूप से (भली भाँति) पूर्वापर से विचार करके उसके पश्चात् जैसा चाहो वैसा करो। भाव यह है कि इसकी भली-भाँति आलोचना करने पर तुम्हारा मोह निवृत्त हो जाएगा।

(२) **शंकरानन्द**—'स्वकर्म से उसका पूजन करके मानव सिद्धि को प्राप्त होता है' यहाँ से लेकर 'सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस प्रकार को मुझ से तुम सुनो' यहाँ तक के ग्रन्थ से कर्मों से समाराधित ईश्वर के प्रसाद से चित्तशुद्धि, उससे ज्ञान और उससे मोक्ष होता है, इस प्रकार उक्त के अर्थ का ही दृढ़ीकरण के लिए पुनः संक्षेप से उपन्यास करके अब उपक्रान्त शास्त्र का उपसंहार करते हैं। **इति**—'मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं है' यहाँ से लेकर 'शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।' यहाँ तक **ज्ञानम्**—ज्ञान का (ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान की उत्पत्ति के कारण इस गीताशास्त्र का) **गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम्**—जो कि गुह्य की अपेक्षा अर्थात् अणिमा आदि सिद्धि के हेतुभूत गोपनीय मणि' मंत्र आदि की भी अपेक्षा प्रयत्नपूर्वक

संवरणीय (गोपनीय) होने के कारण गुह्यतर यानी परमरहस्यभूत ज्ञानशास्त्र है उसे **मया आख्यातम्**—मैंने (सर्वज्ञ परमकारुणिक अवाप्तसर्वकाम ईश्वर ने) तुमसे (मेरे शरणागत शुद्धात्मा मुमुक्षु तुमसे) प्रतिपादन किया यानी ज्ञान और उसकी सिद्धि के साधनों का प्रकाशन करनेवाले सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र का तुम्हें उपदेश दिया **एतत् अशेषेण विमृश्य**—ज्ञान और उसकी साधन सम्पत्ति के बोधक इस सम्पूर्ण गीताशास्त्र का पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा) और प्रमाण यानी न्यायशास्त्र में पारंगत तुम अशेष रूप से विचार कर यानी साधन, साधन की सिद्धि के प्रकार, साध्य, साध्य की सिद्धि के प्रकार तथा अपने अधिकार का भली-भाँति विचार कर यानी सत्त्व शुद्धि का अभाव होने पर साधन रूप कर्म में या उसका सद्भाव होने पर (अर्थात् चित्तशुद्धि होने पर) आत्मविज्ञाननिष्ठा में अपनी योग्यता का ही निश्चय कर **यथा इच्छसि तथा कुरु**—जैसा तुम चाहो (जैसा तुम करना चाहो) वैसा करो अपनी तृप्तिके समान अपने अधिकार का ज्ञान अपने से ही होता है। और एक का अधिकार दूसरे की बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः अपने अधिकार का अपने आप ही निश्चय करके कर्म में या ज्ञान में, जिसमें अधिकार हो उसमें स्थित रहो यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—(१) गीताशास्त्र में अधिकारी भेद कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग इत्यादि मोक्ष के साधनरूप से भगवान्ने बताये हैं। अब उन सब उपदेशों का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उपयुक्त शिष्य के बिना जो साधन किसी को बतलाना शास्त्र में मना है, गोपनीय (गुह्य) कर्मयोग से लेकर उससे भी अधिक रहस्ययुक्त अतः अतिशय गोपनीय (गुह्यतर) मोक्ष का साक्षात् साधन जो ज्ञान है उसका तुमसे मैंने वर्णन किया अर्थात् युक्ति से तथा शास्त्र प्रमाण से उसे बतलाया। इस प्रकार मेरे कहे हुए गीताशास्त्र को अशेषतः (पूर्णरूप से) विमर्शन (आलोचना) करके किस साधन में अपना अधिकार है वह निर्णय कर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसे अपने अधिकार के अनुसार अनुकूल साधन का अनुष्ठान करो अर्थात् मेरे द्वारा उपदिष्ट मार्ग को त्यागकर मनमाने ढंग से किसी कर्म में प्रवृत्त न होओ।

कहने का अभिप्राय यह है कि सर्व दुःख की निवृत्ति पूर्वक नित्य परमानन्द प्राप्ति के लिए ही सभी प्राणियों की शाश्वत पिपासा रहती है। अतः परमानन्द प्राप्ति

तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही प्रत्येक जीव का एक मात्र उद्देश्य है। जीव स्वरूपतः आनन्दस्वरूप होने पर भी अज्ञान से ही संसार रूप मोह में पतित होता है। इसलिए भगवान् ने कहा 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता ५।१५)। अतः ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति का एवं परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान उपाय है। इसलिए ज्ञान को गुह्यतर (अतिशय गोपनीय) कहा है। सब साधन आत्म-ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाता है (गीता ४।३३)। परन्तु पूर्व जन्म के संस्कार के अनुसार साधारण जीव का अन्तःकरण राग-द्वेष के वशीभूत होकर अशुद्ध, मलिन (अस्वच्छ) रहता है एवं इस कारण से ही आत्मज्ञान उस मलिन अन्तःकरण में प्रतिभासित नहीं हो सकता। अतः अन्तःकरण की मलिनता को दूर करने के लिए कर्मयोग की आवश्यकता होती है। चित्त में राग-द्वेष रहने पर विषयभोग की) इच्छा का त्याग करना असम्भव है क्योंकि विषयवासना ही राग-द्वेष का मूल कारण है। अतः किसी प्रकार की कामना न करके (फलाकांक्षारहित होकर) भगवान् की प्रीति के लिए यदि अपना-अपना स्वभावज कर्म शास्त्रविधि के अनुसार किया जाय तो अन्तःकरण धीरे-धीरे वासनारूप संस्कार से मुक्त होकर राग-द्वेष से भी रहित होता है। भोग की इच्छा एवं राग-द्वेष चित्त के विक्षेप का कारण होते हैं। अतः निष्काम कर्म योग से चित्त जब राग द्वेषजनित विक्षेप से रहित होता है अर्थात् दर्पण के समान स्थिर स्वच्छ होता है तभी वह आत्मस्वरूप भगवान् की कृपा से एवं प्रसन्नता से आत्मज्ञान का प्रकाश ग्रहण करने में समर्थ होता है। यही कर्मयोग का रहस्य है एवं इस प्रकार रहस्ययुक्त होने के कारण यह गुह्य (गोपनीय) है। क्योंकि जो विषय भोग में अतिशय डूबा हुआ है जिसको संसार में दुःख-बोध नहीं हुआ है अतः मनुष्य जीवन का क्या लक्ष्य है, यह जिसकी विचार करने की सामर्थ्य नहीं है वह मूढ़ व्यक्ति मोक्षमार्ग के उपदेश का अनधिकारी है। अतः मोक्ष का प्रथम साधन जो कर्मयोग है उसके सम्बन्ध में सर्व साधारण को उपदेश देना शास्त्र में निषिद्ध है, इस लिए भी यह गुह्य (गोपनीय) है।

(२) निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर विविदिषा संन्यास, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेकर वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के

द्वारा माया एवं माया के कार्य से आत्मा को पृथक् अनुभव करना इत्यादि के सम्बन्ध में भी गीता में स्थान-स्थान पर भगवान् ने उपदेश दिया ।

(३) अनात्म से आत्मतत्त्व को विवेक करके (पृथक् करके) जब मुमुक्षु जान जाता है कि मेरे हृदय में जो अन्तर्यामी मायाधीश चैतन्यस्वरूप ईश्वर है, वही मेरा यथार्थ मैं (आत्मा) है एवं वही परमानन्दघन है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं जन्म-जन्म भर भ्रमण कर रहा हूँ तब ईश्वर के लिए यथार्थ प्रेम तथा भक्ति उत्पन्न होती है क्योंकि सभी के लिए आत्मा ही सबका प्रियतम है। इसी अवस्था में ही शरीर, मन एवं प्राण आदि सभी उस आत्मा में समर्पित होने के लिए लालायित होते हैं, यही ईश्वरप्रणिधान है।

(४) इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान से चित्त आत्मा में समाधिस्थ हो जाता है एवं जीव और ईश्वर चैतन्यरूप से एक ही है इस प्रकार का तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है ।

(५) पुनः पुनः अभ्यास के फल से तत्त्वज्ञान में निष्ठा (निरन्तर स्थिति) के प्राप्त होनेपर सब साधन का त्याग हो जाता है। इसको ही गीता में 'नैष्कर्म्य सिद्धि' कहा गया है। इसी अवस्था में किसी प्रकार द्वैत ज्ञान के न रहने के कारण जीव परमानन्दस्वरूप ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। यही जीवनमुक्ति की अवस्था है।

कर्मयोग से लेकर ज्ञाननिष्ठा तक सभी मोक्ष का साधन तथा उस साधन की योग्यता (अधिकार) को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार साधन सम्पत्ति से संपन्न होना पड़ता है, वह भी भगवान् ने स्पष्टरूप से स्थान-स्थान पर बताया। जिस प्रकार एक ही खाद्य सबके लिए समानरूप से उपयोगी नहीं होता है, उसी प्रकार विशेष-विशेष साधन पद्धति का आश्रय भी अपनी-अपनी योग्यता (अधिकार) के अनुसार करना पड़ता है। इस कारण से भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैंने तो प्रारम्भ से अन्त तक यथा-क्रम संसार समुद्र से पार होने के लिए सभी साधनतत्त्व का स्पष्टरूप से वर्णन किया। अब तुम मेरे उपदिष्ट मार्ग को पूर्णरूप से विचार कर अपनी योग्यता के अनुसार साधन का (कर्मयोग या श्रवणादि का) अभ्यास करो जिससे ज्ञाननिष्ठा में पहुँच कर कृतकृत्य होने में समर्थ होओगे। यहाँ 'यथेच्छसि' पद का तात्पर्य यह नहीं है कि भगवान् ने अर्जुन को शास्त्रविधि का उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार करने का उपदेश

दिया। जबतक देह में आत्मबुद्धि न रखे तबतक अर्जुन क्षत्रिय होने के कारण सर्वकर्म त्यागकर संन्यास आश्रम का अधिकारी नहीं है यह, भी भगवान् ने बारम्बार स्पष्ट किया और शास्त्रविधि का उल्लंघन करने से न तो किसी कर्म से सिद्धि होती है और न तो इहलोक में सुख और न तो परागति ही प्राप्त होती है। यह भी बताया अतः सर्व प्रकार से फलाकांक्षारहित होकर अहंकार को भगवान् में समर्पण करके अर्थात् कर्तृत्व अभिमान का भी त्याग करके क्षत्रिय धर्मोचित युद्धकर्म जय पराजय में समबुद्धि से रंगमंच में नाट्यकार के समान ही अर्जुन को करना चाहिए यही 'विमृश्य एतदशेषेण' पद के द्वारा सूचित किया गया है।

गुह्य कर्मयोग की अपेक्षा गुह्यतर ज्ञान का पूर्व श्लोक में उल्लेख किया गया है। अब कर्मयोग एवं उसका फलभूत ज्ञान–इन दोनों से भी जो गुह्यतम है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट रहस्ययुक्त जो साधन है उसे कहने के लिए भगवान् प्रतिज्ञा कर रहे हैं जिससे अर्जुन गीताशास्त्र के सार को समझकर परमशान्ति के मार्ग में अग्रसर हो सके–

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अन्वय—सर्वगुह्यतमम् परमम् मे वचः भूयः शृणु। मे दृढम् इष्टः असि इति ततः ते हितम् वक्ष्यामि।

अनुवाद—अब तुम फिर मेरा सबसे गुह्यतम (अत्यन्त रहस्ययुक्त) वचन सुनो। तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ।

भाष्यदीपिका—सर्वगुह्यतमम्—सब गुह्यों में अत्यन्त गुह्य (रहस्ययुक्त) **परमं मे वचः**—सर्वापेक्षा उत्तम मेरे वचन तुम **भूयः**—पुनः (फिर) **शृणु**—सुनो अर्थात् यह वचन मैंने अनेक बार तुमको कहा है, उनको तुम फिर से सुनो [पहले तो मैंने गुह्य कर्मयोग की अपेक्षा गुह्यतर ज्ञान का वर्णन किया है। अब तुम कर्मयोग और उसका फल ज्ञान इनसे भी अत्यन्त गुह्यरहस्य, जो गुह्यतम और परम (सबसे श्रेष्ठ) है, ऐसा मेरा वचन (वाक्य) पुनः अर्थात् उसको कह चुकने पर भी तुमपर कृपा करने के लिए पुनः मैं कह रहा हूँ। अतः उसे सावधानता से सुनो (मधुसूदन)।]

यह बात मैं किसी प्रकार के लोभ, पूजा या प्रसिद्धि प्राप्त करने के अथवा अन्य किसी स्वार्थ के लिए तुमसे नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार पुनः-पुनः कहने का केवल अभिप्राय यही है कि **मे दृढम् इष्टः असि**—तुम मेरे दृढ़ अव्यभिचार रूप से अर्थात् ऐकान्तिक अथवा अतिशय इष्ट (प्रिय) हो इति—यह समझकर अतः उस इष्टता के कारण ही **ते हितम् वक्ष्यामि**—(तुम्हारे न पूछने पर भी) मैं तुम्हारे यह हित की बात (परम कल्याण की बात अर्थात् परम ज्ञानप्राप्ति का साधन) कहूँगा क्योंकि यह साधन सब हितों में उत्तम हित है।

टिप्पणी (१) **श्रीधर**—अत्यन्त गम्भीर गीता शास्त्र पर पूर्णतया भली-भाँति आलोचना न कर सकने वाले अर्जुन को कृपा पूर्वक स्वयं ही उसका सार संग्रह करके 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा बतलाते हैं। **सर्वं गुह्यतमम् इत्यादि**—सम्पूर्ण गुप्त रखने योग्य उपदेश से भी अति गुह्य मेरे वचन को जो पहले जगह-जगह कहा हुआ होने पर भी फिर आगे कहा जाएगा, उसे तुम सुनो। बार-बार कहने में कारण बताते हैं—**मे त्वम् दृढम् इष्टः असि**—तु मेरे अत्यन्त दृढ़ इष्ट (प्रिय) हो। ततः यह मानकर उसी कारण से **ते हितम् वक्ष्यामि**—तुम्हारे हित की बात कहता हूँ अथवा तुम मेरे इष्ट हो अतः मेरे द्वारा कहे जाने वाले वचन अति दृढ़ हैं (अर्थात् सब प्रमाणों से सम्पन्न हैं) ऐसा निश्चय करके उसके बाद कहता हूँ—यह भाव है। 'दृढमिति' के स्थान में 'दृढमतिः' ऐसा पाठ भी कितने ही लोग मानते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार आरुरुक्षु और आरूढ़ के कर्तव्य अंश का निर्धारण करके अब ज्ञान और उसके फल की सिद्धि का चित्तशुद्धि ही असाधारण कारण है चित्तशुद्धि के सिद्ध होने पर ज्ञान की सिद्धि अत्यन्त सुलभ हो जाती है, चित्त-शुद्धि का अभाव होने पर ज्ञान, ज्ञाननिष्ठा और संन्यास फल नहीं देते तथा मुमुक्षु को दृढ़ साधन से युक्त ही होना चाहिए, अतः आरुरुक्षु को चित्तशुद्धि के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म का ही भली-भाँति अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार से दृढ़तर उपदेश देने के लिए श्री भगवान् उपदेष्टव्य वस्तु की स्तुति करते हैं जिससे कि श्रद्धा से उसी में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो—**सर्वगुह्यतमम्**—सम्पूर्ण जो गुह्य यानी गोप्य अणिमा आदि सिद्धि के साधन मन्त्र तथा औषधि आदि हैं उनसे केवल मोक्ष-सुख का ही साधन

होने से वह ज्ञान यानी ज्ञानशास्त्र गुह्यतर है। उसकी सिद्धि का कारण होने से केवल ईश्वर की शरण लेकर किये गये कर्तव्य का (आचरण का) गुह्यतमं यानी अत्यन्त रहस्य है **मे परमम् वचः भूयः शृणु**—उसका बोधक मेरा वचन भी सर्व गुह्यतमं ही है। **किञ्च परम्**—अर्थात् परम पुरुषार्थ का साधन होने से उत्कृष्ट मेरे वाक्य को (वचन को) जो कि 'मत्कर्म परमो भव', और 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि तत् तत् स्थान में उक्त होने पर भी दृढ़ता के लिए पुनः मेरे द्वारा कहा जा रहा है, तुम सुनो। श्रद्धा से सुनकर उसमें परायण होओ, यह अर्थ है। यदि यह वचन सब की अपेक्षा अत्यन्त गोप्य है तो इसका उपदेश कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं ? **मे इष्टः असि**—जैसे पिता का अंश होने के कारण पुत्र पिता को प्रिय होता है वैसे ही मेरे अंश होने के कारण तुम भी मेरे इष्ट (प्रिय) हो, **ततः ते हितम् वक्ष्यामि**—इसीलिए तुम्हें इस वक्ष्यमाण लक्षण दृढ़ हित साधन को अर्थात् जिसका फल हित साधन के लिए कभी व्यभिचारी (अन्यथा) नहीं होता है उस वचन को (यद्यपि यह पहले तत् तत् स्थान में कहा जा चुका है तथापि दृढ़ता के लिए) मैं कहूँगा यानी उसका उपदेश करूँगा, तुम सुनो, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—पहले कहा जा चुका है कि भगवान् में आत्मबुद्धि होने पर ही यथार्थ प्रेम या भक्ति सम्भव होती है। चैतन्य स्वरूप भगवान् में आत्म-बुद्धि ही ज्ञान है। इसलिए भगवान् ने चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त को ही श्रेष्ठ माना क्योंकि भगवान् ज्ञानी की आत्मा है एवं ज्ञानी भगवान् की आत्मा है, इस कारण ज्ञानी भगवान् को प्रिय है एवं भगवान् ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय है (गीता ७।१७–१८)। इस प्रकार ज्ञानी की भक्ति 'एकभक्ति' है अर्थात् उसकी भक्ति दृढ़ (अव्यभि-चारिणी) है एवं इसलिए ही ज्ञानी भक्ति जो कि तुच्छ विषय की प्राप्ति करने के लिए अथवा रोगादि से मुक्त होने के लिए भगवान् का भजन नहीं करता है परन्तु आत्म-रूप से निरन्तर प्रेम करता है वह भक्त भगवान् का दृढ़ इष्ट (अतिशय प्रिय) होगा इस विषय में आश्चर्य की क्या बात है। जो अत्यन्त प्रिय होता है उसके हित (कल्याण) के लिए स्वतः ही आन्तरिक चेष्टा रहती है इस कारण से भगवान् अत्यन्त प्रिय भक्त अर्जुन को परमकल्याण रूप मोक्ष प्राप्त कराने के लिए पुनः उपदेश देंगे इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः अर्जुन द्वारा भगवान् से न पूछे जाने पर भी स्वतः

प्रवृत्त होकर परम (सर्वश्रेष्ठ) सर्वगुह्यतम (ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना साधन है उसमें से सबसे रहस्ययुक्त अर्थात् सर्वोत्कृष्ट) ज्ञान प्राप्ति का जो साधन है जिसका स्वल्प मात्रा से भी अनुष्ठान करने पर संसार रूप महाभय से अनायास तरने में समर्थ होता है (गीता २।४०), जिसको स्वयं भगवान् पहले राजविद्या एवं राजगुह्य कह चुके हैं— (गीता ९।२), जिस उपाय का अवलम्बन करने पर भगवान् स्वयं ही सर्व पाप से मुक्त कर देता है एवं अन्तर्हृदय में ज्ञान द्वीप प्रज्वलित कर अज्ञान अन्धकार को नाश कर देता है (गीता १०।११) एवं जिस उपाय का आश्रय करने पर आहारादि या रक्षणादि के लिए साधक को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती है क्योंकि भगवान् स्वयं ही उसके लिए योग क्षेम वहन कर लेता है (गीता ९।२२) जिस उपाय का अवलम्बन करने पर साधक के नाश (मोक्ष पद से विच्युति) की संभावना नहीं है (गीता ९।३१) उस परम शान्ति एवं संसार रूप सर्व दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के मुख्य साधनरूप भक्तियोग को पुनः कहने के लिए श्री भगवान् ने प्रतिज्ञा की जिससे अर्जुन उनकी ही शरण लेकर (अन्य साधन का त्याग कर) अनायास ही परमपद को प्राप्त कर सके। जिसकी साधारण देहाभिमानी व्यक्ति की विचारशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं है तथा जो अष्टाङ्ग योग का साधन करने में भी असमर्थ है उसके लिए अव्यक्त की उपासना अत्यन्त दुःखकर होती है यह भी भगवान् पहले कह चुके हैं (गीता १२।५)। फिर ज्ञान तथा ध्यान योग्य इत्यादि में अपनी सामर्थ्य के ऊपर ही निर्भर करना पड़ता है। अतः किंचित् असावधानता होने पर ही उस-उस मार्ग से स्खलित होने की सम्भावना रहती है। किन्तु भक्तियोग 'सुसुखम्' है (अत्यन्त सुखकर है गीता ९।२) सबके लिए सहज साध्य है क्योंकि भगवान् की कृपा के बल से भक्त तर जाता है। अतः शरणा गति ही उसका प्रधान साधन है, इसलिए भक्तियोग, सांख्ययोग (ज्ञानयोग) तथा अष्टाङ्ग योग से भी अति गुह्य (रहस्ययुक्त) है क्योंकि भक्त अन्तर्यामी भगवान् का वचन सुनकर उसके अनुसार कर्म करने पर ही परमानन्दस्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है—अपनी बुद्धि के बल से नहीं। भगवान् का अनन्य भक्त ही उनको दृढ़ रूप से प्रिय होता है एवं भगवान् भी अन्तर्हृदय में स्थित होकर इस प्रकार सर्वगुह्यतम परम (सर्वश्रेष्ठ) वचन अपने प्रिय भक्त के हित (परमकल्याण) के लिए सुनाता है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

वह गुह्यतम हित बचन क्या है ? उसी बात को कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

अन्वय—मन्मनाः मद्भक्तः मद्याजी भव माम् नमस्कुरु माम् एव एष्यसि (अहं) ते सत्यम् प्रतिजाने, मे प्रियः असि ।

अनुवाद्—तुम मेरे में ही मन रखने वाले हो, मेरे ही भक्त और मेरा ही पूजन करने वाले हो जाओ, तथा मुझे ही नमस्कार करो, इससे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे—यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो ।

भाष्यदीपिका—मन्मना—(भव) मच्चित्त हो (मुझमें चित्त को समाहित करो) [मुझ भगवान् वासुदेव में ही जिसका मन है ऐसे मन्मना हो जाओ अर्थात् सर्वदा मेरा चिन्तन करो । प्रश्न होगा कि भय से कंस एवं द्वेष से शिशुपाल आदि भी तुम्हारा सर्वदा चिन्तन करते थे, इसलिए कहते हैं (मधुसूदन)] **मद्भक्तः**— (भव) मेरा ही भजन करने वाला हो [प्रेम से मेरे में अनुरक्त हो अर्थात् तुम्हारे अनुराग का विषय मैं ही हूँ इस प्रकार से निश्चय कर । सर्वदा मन को मुझे ही विषय करने वाला बनाओ (मधुसूदन) ।] प्रश्न होगा कि आपको विषय करने वाला अनुराग ही कैसे होगा ? इस पर कहते हैं **मद्याजी**—मेरा ही पूजन करने वाला हो अर्थात् मेरी प्रीति के लिए अपने सभी स्वभावजात कर्म से मेरा यज्ञ (तथा पूजन) करो [जिसका स्वभाव मेरा यजन पूजन करने का है वह मद्याजी है । ऐसा होकर सर्वदा मेरी पूजा में तत्पर रहने वाले बनो] यदि पूजन की सामग्री न हो तो **माम् नमस्कुरु**—काय (देह), मन तथा वाक्य से प्रणत होकर मुझे नमस्कार करो (विनम्र भाव से मेरी आराधना करो) [नमस्कुरु यह अर्चन—वन्दनादि अन्य भगवद् धर्म के भी उपलक्षण हैं— 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्—अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' । अर्थात् भगवान् विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ प्रकार की भक्ति है ।] इस प्रकार करता हुआ अर्थात् मुझ वासुदेव में ही अपने साध्य, साधन और प्रयोजन को समर्पण करके **माम्**

एव एष्यसि—तुम मुझे ही (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता को ही) प्राप्त होओगे [इस प्रकार सर्वदा भागवत् धर्म के अनुष्ठान द्वारा मुझ में अनुराग हो जाने से मुझमें ही मन रखने वाले होकर तुम वेदान्तवाक्यादि के श्रवण से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा मुझ भगवान् वासुदेव को ही प्राप्त हो जाओगे (मधुसूदन) ।] क्योंकि भागवत से ऊपर उद्धृत श्लोक में यह स्पष्टकिया है कि जिसकी नौ प्रकार के लक्षणविशिष्ट भक्ति भगवान् के प्रति रहे तो उसे श्रेष्ठ अध्ययन माना गया है अर्थात् वेद वेदान्तादि शास्त्र में जो परम-तत्त्व का निर्णय किया गया है वह उसको स्वतः ही अधिगत (आयत्त) हो जाता है । अतः वेदान्त वाक्य जनित ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञान को इस प्रकार भक्त भगवत् कृपा से अनायास ही प्राप्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है (गीता १८।६१) ।

हे अर्जुन ! इस विषय में मैंने जो कुछ कहा है उसमें संशय न करो ते **सत्यम् प्रतिजाने**—मैं तुमसे (तुम्हारे प्रति) सत्य (यथार्थ) प्रतिज्ञा करता हूँ अर्थात् इस विषय में सच्ची ही प्रतिज्ञा मैं करता हूँ क्योंकि **मे प्रियः असि**—तुम मेरे प्रिय हो [अपने प्रिय को धोखा देना उचित है ही नहीं । कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार से भगवान् को सत्यप्रतिज्ञ जानकर तथा भगवान् की भक्ति का फल निःसन्देह-ऐकान्तिक मोक्ष है, यह समझकर मनुष्य को एकमात्र भगवान् की शरण में तत्पर हो जाना चाहिए ।

[मधुसूदन सरस्वती ने अन्त में इस प्रकार से व्याख्या की—अथवा 'सत्यन्ते' (सति अन्ते) पद का अर्थ है प्रारब्ध कर्मों का अन्त होने पर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे । किन्तु इस अनुवाद की अपेक्षा विश्वास की दृढ़ता के लिए पहले किया हुआ व्याख्यान ही अच्छा है । इससे पहले जो 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' श्लोकों द्वारा कहा था उनकी व्याख्या की गई है क्योंकि यहाँ 'अस्मद्' शब्द से भगवान् ने अपनी ईश्वरता प्रकट की है ।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—उक्त वचन को ही कहते हैं—**मन्मनाः इत्यादि**—(मुझमे चित्त लगाने वाला हो) मेरा ही भक्त हो, मेरा यजन करने वाला (मेरा पूजन करने के स्वभाव वाला) हो, मुझे ही नमस्कार करो । इस प्रकार वर्तते हुए तुम मेरी कृपा से प्राप्त हुए ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलोगे (मुझे ही प्राप्त हो जाओगे) इसमें

संशय मत करो। **प्रियः असि मे**—तुम मेरे प्रिय हो, अतः जिस प्रकार सत्य हो उसी प्रकार मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—'कहूँगा' यों जिसकी प्रतिज्ञा की थी उसी गुह्यतमं कर्मयोग का श्रीभगवान् अर्जुन के साथ उपदेश करते हैं—'मन्मनाः' इत्यादि से। **मद्याजी**—मेरा ही यजन करना जिसका स्वभाव है ऐसे होओ। **मन्मनाः**—जिसका मुझमें ही मन लगा रहता है वह मन्मना है यानी मेरे में ही चित्त लगाने वाले होओ। **मद्भक्तः**—मुझको ही जो भजता है वह मद्भक्त है यानी मेरा ही भजन करने वाले होओ। **माम् नमस्कुरु**—मुझको नमस्कार करो अथवा **मद्याजी**—(वेदोक्त उपासना से लेकर अश्वमेध पर्यन्त अपने कर्मों से मेरा ही आराधन करने का जिसका शील है वह मद्याजी है) अर्थात् स्वकर्मों से मेरा ही यजन करो। मेरी प्रीति के लिए ही सब कर्मों का अनुष्ठान करो, यह अर्थ है—केवल पुत्र आदि की कामना से परमेश्वर का आराधन कर रहे पुरुष को परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता। अतः पुरुष को कामना से रहित ही होना चाहिए इस आशय से कहते हैं **मन्मनाः**—मोक्षस्वरूप मुझमें ही जिसका मन है वह 'मन्मना' है अतः केवल मोक्ष की ही कामना वाले होओ, पुत्र की, पशु की, राज्य की, स्वर्ग की या मेरे लोक की कामना वाले मत होओ। स्वकर्मों से परमेश्वर की आराधना कर रहे पुरुष की यज्ञों में 'अग्नये स्वाहा' इस प्रकार अग्नि आदि में अन्य देवतात्व की बुद्धि होने पर परमेश्वर की भक्ति विच्छिन्न हो जाती है, इसलिए सर्वत्र मेरी बुद्धि करनी चाहिए इस आशय से कहते हैं **मद्भक्तः**—'ब्रह्मा नारायण है और शिव नारायण हैं, 'वही अग्नि है, वह वायु है, वह सूर्य है, वही चन्द्रमा है' इत्यादि से परमेश्वर ही सभी देवतास्वरूप हैं, ऐसा जानने में आता है। अतः सर्व देवात्मक मुझको ही जो भजता है वह 'मद्भक्त' है। इस प्रकार मेरे भक्त होओ अर्थात् अग्नि आदि सब में मेरी बुद्धि से सर्वात्मक मुझको ही भजो। यद्यपि फलों में कामना के त्याग से और अग्नि आदि में ईश्वरत्व की बुद्धि से राग, द्वेष आदि दोष नहीं होते, तथापि मैं ब्राह्मण हूँ, याजक हूँ, पण्डित हूँ इत्यादि अभिमान रूप चित्त की निर्मलता का प्रतिबंधक कालुष्य (मलिनता) तो रहता ही है, उसकी निवृत्ति करने के लिए कहते हैं। **माम् नमस्कुरु**—'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति'

अर्थात् भगवान् (ईश्वर) ही जीव रूप से प्रविष्ट हुआ है अर्थात् वासुदेवः सर्वम् सब वासुदेवरूप हैं' इस न्याय से देहाभिमान की निवृत्ति के लिए सर्व भूतात्मक मुझको ही सर्वत्र प्रणाम करो। केवल दारु पाषाण आदि रूप मुझको नहीं, यह अर्थ है। **माम् एव एष्यसि**—इस प्रकार से साधन सम्पत्ति के द्वारा स्वकर्म से मेरे आराधन में तत्पर तुम मेरे प्रसाद से चित्तशुद्धि को प्राप्तकर आत्मतत्त्वविज्ञान को प्राप्त होकर मुझको ही (त्रिविध परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म को ही) प्राप्त होओगे अर्थात् मेरे भाव को प्राप्त होओगे **सत्यम् ते प्रतिजाने**—सत्य कहता हूँ, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। मैं इस अर्थ में तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ **यतः प्रियः असि मे**—यतः उत्तम भक्ति के कारण तुम मुझे प्रिय हो, इसलिए तुम्हारी मद्भावापत्ति की प्राप्ति में (भगवान् की प्राप्ति में) संशय नहीं है, ऐसी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक स्वकर्मों से केवल मेरा ही आराधन कर रहा उक्त साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु सत्त्वशुद्धि से उत्पन्न हुए आत्मविज्ञान से मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है, ऐसी भगवान् के द्वारा प्रतिज्ञा करने से किस प्रामाणिक ब्राह्मण को जो योनि एवं बीज की शुद्धि से सम्पन्न हो, विश्वास न होगा। इसलिए केवल मोक्ष की ही कामना वाले आरुरुक्षु को कामना रहित होकर ईश्वर की प्रीति के लिए कर्म अवश्य करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मेरा यथार्थ स्वरूप है एवं मैं ही सर्वप्राणी की आत्मा अर्थात् यथार्थ 'अहं या मैं' हूँ। मन जब मुझको छोड़कर विषय में लिप्त होता है तो संसार में बद्ध होता है और जब वह विषय को छोड़कर आत्मस्वरूप मुझमें लौट कर आता है एवं मेरे साथ एक हो जाता है तभी माया से उत्पन्न हुए संसार से मुक्त होता है। इसलिए जिसका मन (अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त) मुझे समर्पित होने पर उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती अर्थात् जैसे नदियाँ समुद्र में लय होकर समुद्र ही हो जाती हैं, उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण मुझमें विलीन हो जाता है (मन्मना हो जाता है) तो वही परमानन्दस्वरूप मुझको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। यदि कोई इस प्रकार मन्मना (मच्चित्त) होने में असमर्थ हो तो उसको मद्भक्त होना पड़ेगा। प्रेमपूर्वक निरन्तर मुझे स्मरण

करना ही मद्भक्ति है। 'शुद्धचैतन्यस्वरूप सर्वभूतों' की आत्मा वासुदेव ही सब कुछ कर रहा है अर्थात् वही चल रहा है, खा रहा है, सो रहा है इस प्रकार जिसका मन निरन्तर चिन्तन करता है एवं भगवान् के बिना दूसरे किसी भाव या वस्तु का चिन्तन नहीं करता है तभी वह यथार्थ भगवद्भक्त होता है एवं इस प्रकार अनन्यभक्ति से भगवान् को देखना, जानना तथा उनके अन्दर प्रवेश करके भगवत् स्वरूपता (ब्रह्म स्वरूपता) को प्राप्त होना सहज है, यह तो गीताशास्त्र में मैंने (भगवान् ने) पहले ही स्पष्ट किया (गीता ११।५४)। इस प्रकार भक्ति से भक्त अपने शरीर को भगवान् के हाथ का यंत्र ही मानता है। अतः अहंकार या कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण इस प्रकार से अनन्य भक्ति मन्मना होने का साधन है। यदि ऐसा भगवद्भक्त (मद्भक्त) होने की सामर्थ्य किसी की न रहे तो भगवान् कह रहे हैं कि 'मद्याजी' होओ अर्थात् सर्वकर्म से निरन्तर भगवान् के (शुद्ध आत्मा के) यजन, पूजन में निरन्तर तत्पर होओ। भगवान् ने स्वयं भी कहा है—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' अर्थात् जिस अन्तर्यामी परमेश्वर से प्राणियों की प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है एवं जिससे समस्त विश्व व्याप्त है उस भगवान् की अपने कर्म द्वारा भली-भाँति अर्चना—पूजा करके मनुष्य सिद्धि को (चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति की योग्यता को) प्राप्त होता है। यदि इस प्रकार का पूजन भी किसी के लिए असम्भव हो तो भगवान् उसके लिए कह रहे हैं—मुझे नमस्कार करो अर्थात् मैं ही सर्वत्र नाम रूप में विराजमान हूँ, बुद्धि द्वारा ऐसा निश्चय कर अर्थात् ऐसी भावना से मुझे ही निरन्तर नमस्कार करो—वेद में आश्वलायन ऋषि ने भी नमस्कार को ही यज्ञ कहा है—"यो नमस्कारस्वोऽध्वरः इति यज्ञो वै नाम इति हि ब्राह्मणं भवतीति च'। भागवत में भी नमस्कार या प्रणाम को भगवत्प्राप्ति का एक श्रेष्ठ साधन बताया है।

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

[अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे। 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टि को और लोकलज्जा को छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधे को भी पृथ्वी पर गिराकर साष्टांग दण्डवत् प्रमाण करे। जब तक समस्त प्राणियों में मेरी भावना (भगवद् भावना) न होने लगे तबतक इस प्रकार से मन, वाणी और शरीर के सभी संकल्पों और कर्मों द्वारा मेरी उपासना करता रहे। मेरी प्राप्ति के जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणी व पदार्थों में मन, वाणी और शरीर की सभी वृत्तियों से मेरी ही भावना की जाय (भागवत ११।२६ १६–१७–१९)। नमस्कार ही भगवान् की यथार्थ पूजा का श्रेष्ठ साधन है अर्थात् उक्त प्रकार से सर्वरूप एवं सर्वभाव को भगवद् रूप से जो नमस्कार करने में समर्थ होता है वही 'मद्याजी' होता है अर्थात् भगवान् की सच्ची पूजा कर सकता है। भगवान् का निरन्तर यजन करना ही जिसका स्वभाव होता है वही तो मद्भक्त (यथार्थ भगवद् भक्त) हो सकता है तथा जो भगवान् का अनन्य भक्त होता है उसके पास पृथक् रूप से मन नहीं रह सकता है क्योंकि उसका मन स्वतः ही भगवान् में निमग्न हो जाता है अर्थात् वह 'मन्मना' होता है। अतः नमस्कार, यजन, भक्ति तथा भगवत्चित्त होना मोक्ष के साधन का क्रम है। जो इस कर्म के अनुसार चलता है अर्थात् जिसकी सारी भावना की लक्ष्यवस्तु भावना ही हैं तथा जो भगवान् की कही हुई वाणी का ठीक-ठीक पालन करता है वही भगवान् को प्रिय होता है एवं भगवान् को (परमानन्दस्वरूप मोक्ष पद को) निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रिय भक्त को भगवान् कभी धोखा नहीं दे सकता। इस बात को ही) स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं कि मैं इस विषय में सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि उक्त चारों प्रकार के साधनों में से अपने अधिकार के अनुसार किसी साधन का अवलम्बन कर यदि कोई मोक्ष के लिए प्रयत्न करे तो वह यथा काल में मुझे ही (सर्वदुःख शून्य परमानन्दस्वरूप मोक्ष को ही) प्राप्त कर लेता है, इस विषय में संशय न करो।

कर्म योग-निष्ठा के परमरहस्य ईश्वर-शरणागति का उपसंहार करके उसके पश्चात् कर्मयोग निष्ठा का फल जो सम्यग् दर्शन समस्त वेदान्त शास्त्र में कहा गया है उस यथार्थ ज्ञान को कहना है, इसलिए भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६ ॥

अन्वय—सर्वधर्मान् परित्यज्य एकम् माम् शरणम् व्रज, मा शुचः, अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि।

अनुवाद—सब धर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक न करो।

भाष्यदीपिका—सर्वधर्मान् परित्यज्य—समस्त धर्मों को अर्थात् जितने भी धर्म हैं उन सबको [वर्ण धर्म, आश्रय धर्म, सामान्य धर्म को एवं इसी प्रकार विद्यमान अथवा अविद्यमान सभी धर्मों को (मधुसूदन)] त्याग कर अर्थात् अनादर कर। यहाँ नैष्कर्म्य कर्माभाव का प्रतिपादन करना है (गीता १८।४९)। अतः धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण किया जाता है क्योंकि श्रुति स्मृतियों से भी यही सिद्ध होता है,—यथा 'नाविरतो दुश्चरितात्' अर्थात् जो बुरे चरित्रों से विरक्त नहीं हुआ (क० उ० १।२।२४), 'त्यज धर्ममधर्मं च' अर्थात् धर्म और अधर्म दोनों को छोड़ो (महा० शान्ति० ३२९।४०)। अतः सब धर्मों को छोड़कर अर्थात् सर्वकर्मों का संन्यास (त्याग) करके **माम् एकम् शरणम् व्रज**—सर्वभूतों में समभाव से स्थित मैं ही एकमात्र सर्वभूत की आत्मा, सर्वव्यापी सर्वत्र सम, अच्युत (अविकारी) गर्भ, जन्म, जरा और मरण से रहित, समस्त धर्मों का अधिष्ठाता और फलदाता एक अद्वितीय ईश्वर हूँ–इस प्रकार से निश्चय करके मेरी शरण में जाओ अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त विश्वप्रपंच में जो कुछ प्रतीत होता है वह माया से रचित होने के कारण मिथ्या है। अतः उनके अधिष्ठानरूप से विद्यमान नित्य सत्य मुझ परमेश्वर से (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा से) अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा निश्चय कर मुझे ही निरन्तर चिन्तन करो। [जिन्हें दूसरों की अपेक्षा है वे धर्म हों अथवा न हों, उनसे क्या लेना है ? अतः अन्य साधन की अपेक्षा के बिना केवल मुझ भगवान् की कृपा से ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा,

ऐसे निश्चय से परमानन्दमूर्ति अनन्त श्री वासुदेव भगवान् का ही भावना पूर्वक प्रतिक्षण भजन करो। 'यही परमतत्त्व है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है' इस प्रकार के विचार-पूर्वक प्रेम के प्रकर्ष से सब प्रकार के अनात्म की चिन्ता से शून्य होकर तैलधार के समान अविच्छिन्न मनोवृत्ति से निरन्तर मेरा चिन्तन करो-ऐसा इसका तात्पर्य है। **अहं त्वा**—इस प्रकार से निश्चय बुद्धिवाले तुमको मैं **सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि**—अपना स्वरूप प्रत्यक्ष कराके समस्त धर्माधर्मरूप पापों से मुक्त कर दूँगा। मैंने पहले ही कहा है कि अपने अनन्य भक्त के हृदय में स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानदीपक को प्रज्वलित करके मैं स्वयं अज्ञानजनित अन्धकारका नाश करता हूँ (गीता १०।११) अतः **मा शुचः**—शोक न करो अर्थात् किसी प्रकार की चिन्ता न करो।

[यहाँ 'एक मेरी ही शरण में जाओ' इतने से ही समस्त धर्मों की शरणता का त्याग प्राप्त हो जाने पर भी 'समस्त धर्मों का त्याग करो' ऐसा अनुवाद 'यज्ञायाज्ञीये साग्निरेवं कृत्लोद्गेयमित्यत्र न गिरा गिरेति ब्रूयात्' इस उक्ति के समान यह सूचित करने के लिए है कि भगवत्शरण लेने वाले को समस्त धर्मों की कार्यकारिता प्राप्त है। इस प्रकार समस्त धर्मों का कार्यकारित्व मेरा ही होने के कारण जो एकमात्र मेरी ही शरण में आ गया है उसे धर्म की अपेक्षा नहीं है-ऐसा इसका तात्पर्य है। इससे इस बात का निराकरण हो जाता है कि 'समस्त धर्मों का त्याग कर' ऐसा कहने पर अधर्मों का त्याग प्राप्त नहीं होता, इसलिए यहाँ धर्मपद का निरूपण करता है।' यहाँ कर्म त्याग का विधान नहीं किया गया है, अपितु कर्म रहते हुए भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ के लिए समानरूप से उसके अनादरपूर्वक एकमात्र भगवत्शरणता मात्र का विधान किया गया है। उन ब्रह्मचारी आदि का अपने धर्म में आदर होना सम्भव है, अतः 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह उक्ति उसका निवारण करने के लिए है। जिसका परिणाम अनर्थ है, उस अधर्म में तो किसी का भी आदर नहीं होता। इसलिए उसके परित्याग को बताने वाला वचन तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि वह तो अन्य शास्त्रों से भी प्राप्त है ही। अतः यही बात युक्ति-संगत है कि वर्णाश्रमधर्म की अभ्युदय में कारणता प्रसिद्ध, है अतः वह मोक्ष का भी हेतु होगा-ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए ही यह वचन है। यहाँ समस्त धर्माधर्म के त्याग का ही विधान नहीं किया गया है, क्योंकि संन्यास शास्त्र और प्रतिषेधशास्त्र से

वह प्राप्त हो है। यह श्लोक भी संन्यासशास्त्र ही हैं, ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि यहाँ तो एक भगवान् की शरण लेने का विधान करना अभीष्ट है। अतः सर्वधर्मान् परित्यज्य' यह अनुवादमात्र ही है।

समस्त शास्त्रों का परम रहस्य तो ईश्वर की शरण लेना ही है; अतः उसी में भगवान् ने गीता शास्त्र की परिसमाप्ति की है, क्योंकि उसके बिना तो संन्यास का भी अपने फल में पर्यवसान नहीं होता है। तथा संन्यास के अनधिकारी क्षत्रिय अर्जुन को संन्यास का उपदेश करना भी उचित नहीं था। यदि ऐसा माना जाय कि अर्जुन के व्याज से दूसरे लोगों को उपदेश किया गया है तो 'वक्ष्यामि ते हितम्' अर्थात् तुम्हारे, हित की बात कहूँगा 'त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यः' अर्थात् तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा, 'मा शुचः' अर्थात् शोक न करो, ऐसे उपक्रम और उपसंहार नहीं होने चाहिए थे। अतः संन्यास धर्मों में भी अनादर पूर्वक एकमात्र भगवत्शरणतामात्र में ही भगवान् का तात्पर्य है। क्योंकि तुम समस्त धर्मों का अनादर करके एक मेरी ही शरण में आ गये हो, अतः मैं समस्त धर्मों का करने वाला होने के कारण प्रायश्चित्त के बिना ही तुम्हें बन्धुवधादि निमित्तों से होने वाले, संसार के हेतुभूत समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा; क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् धर्म से पाप दूर होता है, ऐसी श्रुति है किन्तु धर्मस्थानीय तो मैं ही हूँ (अर्थात् सभी धर्मों की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ)। इसलिए शोक न करो-युद्ध में प्रवृत्त हुए मेरे बन्धुओं के वध के कारण होने वाले प्रत्यवाय से कैसे निस्तार होगा ऐसा सोचकर शोक मत करो।

भगवान् भाष्यकार ने यहाँ विस्तार पूर्वक समस्त दूषित मतों का खण्डन किया है मैं तो केवल ग्रन्थ की व्याख्या ही करना चाहता हूँ। इसलिए मैं इसके लिए प्रयत्न नहीं करता। साधन के अभ्यास का परिपाक होने से 'मैं उसी का हूँ' 'वह मेरा ही है' और 'मैं वही हूँ' इस तरह तीन प्रकार की भगवत्शरणता होती है। इन सबका विशेष वर्णन हमने भक्ति रसायन में किया है। यहाँ तो ग्रन्थविस्तार से डरने के कारण केवल दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। इनमें पहली शरणागति मृदु है जैसे 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। समुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तरङ्गः।' अर्थात् हे नाथ! भेद न रहने पर भी मैं आपका हूँ आप मेरे नहीं है क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का

होता है समुद्र कभी तरङ्ग का नहीं होता। दूसरी शरणागति मध्यम है जैसे 'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते। अर्थात् कृष्ण! तुम बलात्कार से हाथ छुड़ाकर चले गये—इसमें क्या अद्भुत काम किया? यदि तुम मेरे हृदय से निकल जाओगे तब तो मैं तुम्हारा पुरुषार्थ समझूँगा। तीसरी शरणागति अधिमात्र (सबसे बढ़कर) है—'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः। इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात्' ॥ अर्थात् यह सब और मैं वह एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर भगवान् वासुदेव ही हैं, ऐसी जिनकी हृदयस्थित श्री अनन्त में अविचल बुद्धि है उन्हें दूर से ही छोड़कर चले जाना' यह दूत के प्रति यमराज का वाक्य है। अम्बरीष, प्रह्लाद, गोपी आदि भी इसी भूमिका के उदाहरण होने योग्य हैं।

इस गीताशास्त्र में साध्यसाधन भाव को प्राप्त तीन निष्ठाओं का वर्णन करना अभीष्ट रहा है और अनेक प्रकार से उन्हीं का वर्णन किया गया है। उनमें से सर्व कर्म संन्यास में परिणत होने वाली कर्मनिष्ठा का तो 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' यहाँ उपसंहार किया है। संन्यास पूर्वक श्रवणादि के परिपाकसहित ज्ञाननिष्ठा का 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इस स्थान में उपसंहार हुआ है तथा भक्ति निष्ठा इन दोनों की साधन और दोनों ही की फलभूता है, इसलिए उसका अन्त में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् व्रज' इस श्लोक से उपसंहार हुआ है। भाष्यकार ने तो कहा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इसके द्वारा सर्व कर्मसंन्यास का अनुवाद करके 'मामेकं शरणं व्रज, इससे ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार किया है। श्रीभगवान् के अभिप्राय का वर्णन करने में हम बेचारे क्या हैं?

वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्याऽऽगमगिरां रहस्यं तद्व्याख्यामनतिनिपुणः को वितनुताम्। अहं त्वेतद्बाल्यं यदिह कृतवानस्मि कथमप्यहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम् ॥ अर्थात् परमपुरुष श्रीभगवान् की गीता नाम की यह वाणी वेदवाणी की रहस्यभूता है। इसकी व्याख्या कौन अत्यन्त निपुणताहीन पुरुष कर सकता है? मैंने जो इस विषय में किसी प्रकार यह बालकपन किया है वह भी अकारण ही स्नेह करने वाले महापुरुषों के कौतुक के लिए ही है।]

शांकर भाष्य में

(शास्त्र के उपसंहार का प्रकरण)

यह विचार करना चाहिए कि इस गीता शास्त्र में निश्चय किया हुआ, परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म, अथवा दोनों ?

पूर्वपक्ष—यह संदेह क्यों होता है ?

उत्तरपक्ष—'जिसको जानकर अमरता प्राप्त कर लेता है', 'तदनन्तर मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है' इत्यादि वाक्य तो केवल ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति दिखला रहे हैं। तथा 'तेरा कर्म में ही अधिकार है' 'तू कर्म ही कर' इत्यादि वाक्य कर्मों की अवश्य-कर्तव्यता दिखला रहे हैं।

इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों की कर्तव्यता का उपदेश होने से ऐसा संशय भी हो सकता है कि सम्भवतः दोनों समुचित (मिलकर) ही मोक्ष के साधन होंगे।

पूर्वपक्ष—परन्तु इस मीमांसा का फल क्या होगा ? [किसी विषय पर संशय रहने पर उस विषय के विचार द्वारा यदि संशय की निवृत्ति कर कोई फल प्राप्त न हो तो उस विचार का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इसलिये मीमांसा का फल क्या होगा, इसे जानने की इच्छा होना स्वाभाविक ही है।]

उत्तरपक्ष—यही कि इन तीनों में (ज्ञान, कर्म तथा ज्ञान-कर्म समुच्चयों में) से किसी एक को ही परम कल्याण का साधन निश्चय करना। अतः इसकी विस्तारपूर्वक मीमांसा कर लेनी चाहिए।

(सिद्धान्त का प्रतिपादन)

केवल आत्मज्ञान ही परम कल्याण (मोक्ष) का हेतु (साधन) है क्योंकि अज्ञान जनित भेद प्रतीति का निवर्तक होने के कारण कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति ही उसकी अवधि है अर्थात् आत्मज्ञान का अन्तिम उद्देश्य है कैवल्य की (मोक्ष की) प्राप्ति।

आत्मा में क्रिया, कारक और फलविषयक भेदबुद्धि अविद्या के कारण सदा से प्रवृत्त हो रही है। 'क्रिया अर्थात् कर्म मेरे हैं,' कारक अर्थात् मैं उनका कर्ता हूँ', 'फल अर्थात् मैं अमुक फल के लिये यह कर्म करता हूँ' यह भावना अविद्या (देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि) से अनादिकाल से प्रवृत्त हो रही है।

'यह केवल, (एकमात्र) अकर्ता, क्रियारहित और फल से रहित आत्मा मैं हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है' (अतः मेरी काम्यवस्तु कुछ भी नहीं है) ऐसा आत्मविषयक ज्ञान इस अविद्या का नाशक है क्योंकि यह उत्पन्न होते ही कर्म-प्रवृत्ति की हेतुरूप भेदबुद्धि का (मैं, मेरा, तू , तेरा इत्यादि बुद्धि का) नाश करनेवाला है।

मोक्ष न तो केवल कर्म से मिलता है और न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से ही क्योंकि ज्ञान (आत्मसाक्षात्कार-जनित तत्त्वज्ञान) के बिना मोक्ष अन्य किसी उपाय से भी सम्भव नहीं है।

मोक्ष अकार्य यानी स्वतःसिद्ध है, इसलिये कर्मों को उसका साधन मानना नहीं बन सकता। क्योंकि कोई भी नित्यप्राप्त (स्वतःसिद्ध) वस्तु कर्म या ज्ञान से उत्पन्न नहीं हो जाती ['मोक्ष' शब्द का अर्थ है आत्मज्ञान। आत्मा सदा ही विद्यमान है। अतः उसके उत्पन्न करने के लिये किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। आत्मा का जो अज्ञानरूप आवरण है उसका नाश करने के लिये ही साधन का उपदेश दिया गया है।]

पूर्व पक्ष—तब तो केवल ज्ञान भी व्यर्थ ही है ?

उत्तर पक्ष—यह बात नहीं है क्योंकि अविद्या का नाशक होने के कारण उसका (ज्ञान का) मोक्ष प्राप्तिरूप अन्तिम फल प्रत्यक्ष है। अर्थात् जैसे दीपक के प्रकाश का रज्जु आदि वस्तुओं में होने वाली सर्पादि की भ्रान्ति को और अन्धकार को नष्ट कर देना ही फल है और जैसे उस प्रकाश का फल सर्प विषयक विकल्प को हटाकर, केवल रज्जु को प्रत्यक्ष करके, समाप्त हो जाता है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकार के नाशक आत्मज्ञान का भी फल केवल आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष कराके ही समाप्त होता देखा गया है।

जिनका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी जो लकड़ी को चीरना अथवा अरणी मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न करना आदि क्रियायें हैं, उनमें लगे हुए कर्ता आदि कारकों की, जैसे अलग-अलग टुकड़े हो जाना, अथवा अग्नि प्रज्वलित हो जाना आदि फल से

अतिरिक्त किसी अन्य फल देने वाले कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जिसका फल प्रत्यक्ष है, ऐसी ज्ञाननिष्ठारूप क्रिया में लगे हुए ज्ञाता आदि कारकों की भी आत्म केवल्य रूप फल से अतिरिक्त फलवाले किसी अन्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः ज्ञाननिष्ठा (ज्ञान में स्थिति) कर्म सहित नहीं हो सकती।

यदि कहो कि भोजन और अग्निहोत्र आदि क्रियाओं के समान अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति लौकिक भोजनादि क्रियायें करता है, वह वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मों का भी अनुष्ठान करता है उसी प्रकार इसमें (ज्ञान व कर्म में) भी समुच्चय हो सकता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिसका फल कैवल्य (मोक्ष) है उस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् (परिपूर्ण मोक्षानन्द के प्राप्त होने पर) जागतिक या स्वर्गादिरूप कर्म फल की इच्छा नहीं रह सकती। जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर कूप-तलाब आदि की जल के लिये चाह नहीं रहती उसी प्रकार मोक्ष जिसका फल है ऐसे निरतिशय ज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् क्षणिक सुखरूप फलान्तर की या उसकी साधनभूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रह सकती। क्योंकि जो मनुष्य राज्य प्राप्त करा देने वाले कर्म में लगा हुआ है उसकी प्रवृत्ति, सामान्य (तुच्छ) क्षेत्र-प्राप्ति ही जिसका फल है, ऐसे कर्म में नहीं होती और उस कर्म के फल की इच्छा भी नहीं होती।

सुतरां यह सिद्ध हुआ, कि परम कल्याण का साधन न तो कर्म है और न ज्ञान कर्म का समुच्चय ही है। तथा कैवल्य (मोक्ष) ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञान को कर्मों की सहायता भी उपेक्षित नहीं है, क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है इसलिये उसका कर्मों से विरोध है। [अज्ञानजनित द्वैत (नानात्व) बुद्धि से ही कर्म की उत्पत्ति है। अद्वैतज्ञान के उत्पन्न होने पर क्रिया-कारक फलरूप भेद नहीं रहता है क्योंकि वह ज्ञान अज्ञाननाशक है। जैसे प्रकाश एवं अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते उसी प्रकार ज्ञान के सहित अज्ञान का साहित्य (समुच्चय) होना असम्भव है। अतः ज्ञान का फल जो मोक्ष है उसके लिए साक्षात् रूप से कर्म की अपेक्षा नहीं है।]

यह प्रसिद्ध ही है कि अन्धकार का नाशक अन्धकार नहीं हो सकता। इसलिए अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता अर्थात् केवल ज्ञान ही परम कल्याण का साधन है।

पूर्वपक्ष—यह सिद्धान्त ठीक नहीं, क्योंकि नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है और मोक्ष नित्य है। भाव यह है कि—पहले जो यह कहा गया कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है, वह ठीक नहीं, क्योंकि वेदशास्त्र में कहे हुए नित्य कर्मों के न करने से नरकादि की प्राप्तिरूप प्रत्यवाय होगा, अतः पापरूप प्रतिबन्धक रहने के कारण केवल ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सिद्धि हो नहीं सकती।

यदि कहो कि ऐसा होने से तो कर्मों से कभी छुटकारा ही नहीं होगा, अतः मोक्ष के अभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा, तो ऐसा दोष नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य-सिद्ध है। (क) नित्य कर्मों का आचरण करने से तो प्रत्यवाय न होगा, (ख) निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग कर देने से अनिष्ट (बुरे) शरीरों की प्राप्ति न होगी, (ग) काम्य-कर्मों का त्याग कर देने के कारण इष्ट (अच्छे) शरीरों की प्राप्ति न होगी, तथा (घ) वर्तमान शरीर को उत्पन्न करने वाले कर्मों का, फल के उपभोग से क्षय हो जाने पर, इस शरीर का नाश हो जाने के पश्चात् , दूसरे शरीर की उत्पत्ति का कोई कारण (बीज) न रहने से तथा शरीर सम्बन्धी आसक्ति आदि के न करने से, जो स्वरूप में स्थित हो जाना है वही कैवल्य है, अतः उपर्युक्त प्रतिबन्ध का अभाव होने पर बिना प्रयत्न के ही कैवल्य सिद्ध हो जायगा।

उत्तर पक्ष—किन्तु भूतपूर्व अनेक जन्मों के किये हुये जो स्वर्ग-नरक आदि की प्राप्तिरूप फल देने वाले अनेक अनारब्ध संचित कर्म है, उनके फल का उपभोग न होने के कारण उनका तो नाश नहीं होगा, अतः देहान्तर प्राप्ति के कर्म रूप बीज तो रह जायेंगे ही, ऐसा कहें तो ?

पूर्व पक्ष—यह बात नहीं है, क्योंकि नित्य कर्म के अनुष्ठान में होने वाले परिश्रमरूप दुःख भोग को, उन कर्मों के फल का उपभोग माना जा सकता है। अथवा प्रायश्चित की भाँति नित्य कर्म भी पूर्वकृत पाप का नाश करने वाले मान लिए जायेंगे तथा प्रारब्ध कर्म का फल सुख-दुःखरूप भोग से नाश हो जायेगा, फिर नये कर्मों का आरम्भ न करने से 'कैवल्य' बिना यत्न के सिद्ध हो जायगा।

उत्तर पक्ष—(१) यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० उ० ३।८) अर्थात् 'उस (परमात्मा)

को जानकर ही मनुष्य मृत्यु से तरता है; मोक्षप्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है' इस प्रकार मोक्ष के लिये विद्या के अतिरिक्त अन्य मार्ग का अभाव बतलानेवाली श्रुति है। तथा जैसे चमड़े की भाँति आकाश को लपेटना असम्भव है उसी प्रकार से अज्ञानी की मुक्ति (अर्थात् ज्ञान के बिना दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति) असम्भव बतलाने वाली भी श्रुति है—

"यथा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यतीति ॥'

फिर पुराण तथा स्मृतियों में भी यही कहा गया है कि ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

(२) इसके सिवा नित्यकर्म के अनुष्ठान से पाप का ही क्षय होता है, पुण्य का नहीं अतः (उस सिद्धान्त में) जिनका फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे पूर्वकृत पुण्यों के नाश की उत्पत्ति न होने से भी, यह पक्ष ठीक नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार पूर्वकृत संचित पापों का होना सम्भव है, उसी प्रकार संचित पुण्यों का होना भी सम्भव है ही; अतः देहान्तर को उत्पन्न किये बिना उन पुण्य कर्मों का क्षय सम्भव न होने से (इस पक्ष के अनुसार) मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा।

(३) इसके सिवा, पुण्य-पाप के कारणरूप राग-द्वेष और मोह आदि दोषों का बिना आत्मज्ञान के मूलोच्छेद होना सम्भव न होने के कारण भी, पुण्य-पाप का उच्छेद होना सम्भव नहीं [राग-द्वेषादि सभी अज्ञान के कार्य हैं। अज्ञान ज्ञान से नष्ट हो सकता है। अतः तत्वज्ञान के उत्पन्न न होने तक पुण्य-पाप रहेंगे ही]

(४) तथा 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा श्रुति में नित्य कर्मों का पुण्यलोक की प्राप्तिरूप फल बतलाये जाने के कारण और 'अपने कर्मों में स्थित वर्णाश्रमावलम्बी मृत्यु के पश्चात् स्वर्गादि लोक में पुण्यफल का भोग करके जब अब शिष्ट कर्मों का फल-भोग करने के लिये विशिष्ट जाति में जन्म लेता है' इत्यादि स्मृति वाक्यों के द्वारा भी यही बात कही जाने के कारण कर्मों का क्षय (मानना) सिद्ध नहीं होता।

(५) तथा जो यह कहते हैं कि "नित्यकर्म दुःखरूप होने के कारण पूर्वकृत पापों का फल ही है, उनका अपने स्वरूप से अतिरिक्त और कोई फल नहीं है, क्योंकि श्रुति में उनका कोई फल नहीं बतलाया गया तथा उनका विधान जीवन निर्वाह आदि के लिये किया गया है", उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कर्म फल देने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए, उनका फल होना असम्भव है और नित्य कर्म के अनुष्ठान का परिश्रम, अन्य कर्म का फल विशेष है (पूर्वजन्मकृत पापों का फल विशेष है), यह बात भी सिद्ध नहीं की जा सकेगी।

तुमने जो यह कहा कि पूर्वजन्मकृत पापकर्मों का फल, नित्यकर्मों के अनुष्ठान में होने वाले परिश्रम रूप दुःख के द्वारा भोगा जाता है, सो ठीक नहीं। क्योंकि मरने के समय जो कर्म भविष्य में फल देने के लिये अंकुरित नहीं हुए उनका फल दूसरे कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए शरीर में भोगा जाता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है।

यदि ऐसा न हो तो स्वर्गरूप फल का भोग करने के लिये अग्नि होत्रादि कर्मों से उत्पन्न हुए जन्म में (देवादि जन्म में) नरक के कारणभूत कर्मों का फल भोगा जाना भी युक्तिविरुद्ध नहीं होगा।

(६) इसके सिवा वह (नित्यकर्म के अनुष्ठान में होनेवाला परिश्रमरूप दुःख) पापों का ही फलरूप दुःखविशेष है यह सिद्ध न हो सकने के कारण भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःख के साधनरूप फल देने वाले, अनेक (संचित) पापों के होने की सम्भावना होते हुए भी, नित्यकर्म-अनुष्ठान के परिश्रम मात्र को ही उन सबका (पूर्व जन्मकृत अनन्त पापकर्मों का) फल मान लेने पर, शितोष्णादि द्वंद्वों की अथवा रोगादि की पीड़ा से होने वाले दुःखों को पापों का फल नहीं माना जा सकेगा (क्योंकि नित्यकर्मों के अनुष्ठान का परिश्रमरूप दुःख ही यदि सभी पापों का फल है तो और कोई पाप अवशिष्ट न रहने के कारण शीत-उष्णादि दुःख निर्निमित्त अर्थात् किसी कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा)। तथा यह हो भी कैसे सकता है, कि नित्यकर्म के अनुष्ठान का परिश्रम ही पूर्वकृत पापों का फल है, सिर पर पत्थर आदि ढ़ोने का दुःख उसका (पूर्वकृत पापों का) फल नहीं ?

इसके सिवा, नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होने वाला परिश्रमरूप दुःख, पूर्वकृत पापों का फल है, यह कहना प्रकरण-विरुद्ध भी है।

पूर्वपक्ष—कैसे ?

(७) **उत्तरपक्ष**—जो पूर्वकृत पाप, फल देने के लिये अंकुरित नहीं हुए हैं, उनका क्षय नहीं हो सकता ऐसा प्रकरण है; उसमें तुमने, फल देने के लिये उद्यत हुए पूर्वकृत पापों का ही फल, नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होने वाला परिश्रमरूप दुःख बतलाया है, जो कर्म फल देने के लिये प्रस्तुत नहीं हुए हैं, उनका फल नहीं बतलाया।

यदि तुम मानते हो कि पूर्वकृत सभी पापकर्म, फल देने के लिए प्रवृत्त हो चुके हैं, तो फिर नित्यकर्मों के अनुष्ठान का परिश्रमरूप दुःख ही उनका फल है, यह विशेषण देना अयुक्त (युक्ति-विरुद्ध) है। और नित्यकर्म विधायक शास्त्र को भी व्यर्थ मानने का प्रसंग आ जाता है क्योंकि फल देने के लिये अंकुरित हुए पापों का तो उपभोग से ही क्षय हो जायगा (उनके लिये नित्यकर्मों की क्या आवश्यकता है)।

(८) इसके अतिरिक्त (वास्तव में) वेदविहित नित्यकर्मों से होने वाला परिश्रम रूप दुःख यदि कर्म का फल हो तो वह उन (विहित नित्यकर्मों) का ही फल होना चाहिए; क्योंकि वह व्यायाम आदि के परिश्रमरूप दुःख के समान उनके (नित्यकर्मों के) ही अनुष्ठान से होता हुआ परिश्रमरूप दुःख दिखलायी देता है, अतः यह कल्पना करना कि 'वह किसी अन्य कर्म का फल है' युक्तियुक्त नहीं है।

नित्यकर्मों का विधान भी जीवनादि के लिये किया गया है, इसलिये भी नित्य-कर्मों को प्रायश्चित्त की भाँति पूर्वकृत पापों का फल मानना युक्तियुक्त नहीं है। जिस पाप कर्म के लिये जो प्रायश्चित्त विहित है, वह उस पाप का फल नहीं है [प्रायश्चित यदि किसी पाप विशेष का फल होता तो सभी उस-उस पाप कर्म के फलरूप प्रायश्चित करते थे, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है—कोई तो प्रायश्चित करता है और कोई नहीं करता है। वस्तुतः प्रायश्चित पाप कर्मों का फल नहीं है। वह तो पापों के फल की निवृत्ति करने के लिये ही किया जाता है।] तथापि यदि ऐसा माने, कि प्रायश्चितरूप दुःख (जिसके लिये प्रायश्चित किया जाय) उस पाप रूप निमित्त का ही फल होता है, तो जीवनादि के लिये किये जाने वाले नित्यकर्मों का परिश्रमरूप दुःख भी, जीवन आदि हेतुओं का ही फल है ऐसा सिद्ध होगा (पूर्वकृत पापों का फल नहीं) क्योंकि नित्य तथा प्रायश्चित ये दोनों ही किसी न किसी निमित्त से किये जानेवाले हैं, इनमें कोई भेद नहीं है।

(९) इसके सिवा दूसरा दोष यह भी है कि नित्यकर्म के परिश्रम की और काम्य अग्निहोत्रादि कर्म के परिश्रम की समानता होने के कारण, नित्यकर्म का परिश्रम ही पूर्वकृत पाप का फल है, काम्य कर्मानुष्ठान का परिश्रमरूप दुःख उसका फल नहीं है, ऐसा मानने के लिये कोई विशेष कारण नहीं है। अतः वह काम्य कर्म का परिश्रमरूप दुःख भी, पूर्वकृत पाप का ही फल माना जायगा।

ऐसा होने से 'नित्यकर्मों का फल नहीं बतलाया गया है और उनके अनुष्ठान का विधान किया गया है, इस विधान की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण, नित्यकर्मों के अनुष्ठान से होनेवाला दुःख, पूर्वकृत पापों का ही फल है', इस प्रकार की जो अर्थापत्ति की कल्पना की गयी थी, उसका खण्डन हो गया क्योंकि वह अनुपपन्न (युक्तिविरुद्ध) है।

(१०) [दुःख के लिये कोई कार्य नहीं करता है। वेद में जब नित्यकर्म का विधान है तो उसका फल दुःख ही होगा, (अन्य कोई फल नहीं होगा) ऐसा हो नहीं सकता। नित्यकर्म का फल अवश्य ही दूसरा कुछ होगा, यह अनुमान से सिद्ध होता है।] इस तरह प्रकारान्तर से नित्यकर्मों के विधान की अनुपपत्ति होने से और नित्यकर्मों का अनुष्ठान सम्बन्धी परिश्रमरूप दुःख के सिवा दूसरा फल होता है, ऐसा अनुमान होने से भी यह पक्ष खण्डित हो जाता है।

(११) इसके सिवा ऐसा मानने में विरोध होने के कारण भी (यह पक्ष कट जाता है)। नित्यकर्मों का अनुष्ठान करते हुए दूसरे कर्मों का (पूर्वजन्मकृत संचित पापों का) फल भोगा जाता है, ऐसा मान लेने से यह कहना होता है कि वह उपभोग भी नित्यकर्म का फल है। और साथ ही यह भी प्रतिपादन करते जाते हो, कि नित्यकर्म का फल नहीं है; अतः यह कथन परस्पर विरुद्ध होता है।

(१२) इसके अतिरिक्त, (तुम्हारे मतानुसार) काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करते हुए तन्त्र से (शास्त्रविधि के अनुसार) नित्य अग्निहोत्रादि भी उन्हीं के साथ अनुष्ठित हो जाते हैं। अतः उस परिश्रमरूप दुःखभोग से ही काम्य अग्निहोत्रादि का फल भी क्षीण हो जायगा क्योंकि वह उसके अधीन है [अर्थात् काम्य अग्निहोत्र से भी परिश्रम समान होने के कारण वह पूर्वकृत पाप के ही अधीन (यानी फलस्वरूप) है]।

यदि ऐसा माने कि काम्य अग्निहोत्रादि का स्वर्गादिप्राप्तिरूप दूसरा ही फल होता है तो उनके अनुष्ठान में होनेवाले परिश्रमरूप दुःख को भी नित्यकर्म के परिश्रम से भिन्न मानना आवश्यक होगा। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण यह नहीं हो सकता। क्योंकि काम्यकर्मों के अनुष्ठान से होनेवाले परिश्रमरूप दुःख से, केवल नित्यकर्म अनुष्ठान में होनेवाले परिश्रमरूप दुःख का. भेद नहीं है।

(१३) इसके सिवा दूसरी बात यह भी है कि जो कर्म न विहित हो और न प्रतिषिद्ध हो, वही तत्काल फल देनेवाला है, शास्त्रविहित या प्रतिषिद्ध कर्म तत्काल फल देनेवाला नहीं होता। यदि ऐसा होता तो स्वर्ग आदि लोकों का प्रतिपादन करने में और अदृष्ट फलों के बतलाने में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती। नित्य या काम्य अग्निहोत्रादि के कर्मत्व में किसी प्रकार का भेद न होने पर तथा अङ्ग और इति कर्तव्यता आदि की कोई विशेषता (आधिक्य-न्यूनता) न होने पर भी, केवल नित्य अग्निहोत्रादि का फल तो अनुष्ठानजनित परिश्रमरूप दुःख के उपभोग से क्षय हो जाता है और फलेच्छुकतामात्र की अधिकता से काम्य अग्निहोत्रादि का स्वर्गादि महाफल होता है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

सुतरां नित्यकर्मों का अदृष्ट फल नहीं होता यह बात कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अविद्यापूर्वक होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्मों का, अशेषतः नाश करनेवाला हेतु, विद्या (तत्त्वज्ञान) ही है, नित्यकर्म का अनुष्ठान नहीं।

क्योंकि सभी कर्म अविद्या और कामनामूलक हैं। ऐसा ही हमने सिद्ध किया है, कि अज्ञानी का विषय कर्म है (अर्थात् अज्ञान जबतक है तबतक कर्मानुष्ठान सम्भव है) और ज्ञानी का विषय सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा है।

'उभौ तौ न विजानीतः' 'वेदाविनाशिनं नित्यम्', 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्', 'तत्त्ववित्तु' 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादि वाक्यों के अर्थ से यही सिद्ध होता है, कि अज्ञानी ही 'मैं कर्म करता हूँ' ऐसा मानता है (ज्ञानी नहीं, क्योंकि देहादि में आत्मबुद्धि न रहने के कारण कर्तृत्वाभिमान भी नहीं रहता)।

आरुरुक्षु के लिये कर्म कर्तव्य बतलाये हैं और आरूढ़ के लिये अर्थात् योगस्थ पुरुष के लिये उपशम कर्तव्य बतलाया है (गीता ६।४) तथा (ऐसा भी कहा है कि) 'तीनों प्रकार के अज्ञानी भक्त भी उदार हैं, पर ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।' (गीता ७।१८)

कर्म करनेवाले सकाम अज्ञानी लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्त नित्ययुक्त होकर चिन्तन करते हुए (सर्वकर्म के त्यागपूर्वक) आत्मस्वरूप, आकाश के सदृश (सर्वव्यापी) मुझ निष्पाप परमात्मा की उपासना किया करते हैं। 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। (गीता १०।१०) अर्थात् उनको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म करनेवाले अज्ञानी भगवान् को प्राप्त नहीं होते (देहात्माभिमान से ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होता है एवं वही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान का प्रतिबन्धक है)।

भगवान् के लिये कर्म करनेवाले युक्ततम होने पर भी कर्मी होने के नाते अज्ञानी हैं, वे चित्तसमाधान से लेकर कर्मफलत्याग पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन बतलाये हुए साधनों से युक्त होते हैं (गीता १२।८-११)।

तथा जो अनिर्देश्य अक्षर के उपासक हैं (गीता १२।३-४) वे 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि से लेकर, बारहवें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त बतलाये हुए साधनों से सम्पन्न और तेरहवें अध्याय से लेकर तीन अध्यायों में बतलाये हुए (१३ वें अध्याय में अमानित्वादि, १४ वें अध्याय में प्रकाशम् च प्रवृत्तिम् च एवं १५ वें अध्याय में असंगत्वादि) ज्ञान के साधनों से भी युक्त होते हैं एवं सर्वकर्मों के संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा के अधिकारी होते हैं।

अधिष्ठानादि पांच जिसके कारण हैं, ऐसे समस्त कर्मों का जो संन्यास करनेवाले हैं, जो आत्मा के एकत्व तथा अकर्तृत्व को जानने वाले हैं, जो ज्ञान की परानिष्ठा में स्थित हो गये हैं, जो भगवत्स्वरूप और आत्मा के एकत्वज्ञान की शरण हो चुके हैं ऐसे भगवान् के तत्त्व को जाननेवाले परमहंस परिव्राजकों को इष्ट-अनिष्ट और मिश्र ऐसा त्रिविध कर्मफल नहीं मिलता अर्थात् सर्व कर्मफल से वे मुक्त होकर मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। इनसे अतिरिक्त जो संन्यास न करनेवाले कर्मपरायण अज्ञानी हैं, उनको

कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यही गीताशास्त्र में कहे हुए कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विभाग है [अर्थात् जो देहाभिमानी अज्ञानी हैं उनको चित्तशुद्धि के लिये कर्म करना अवश्य कर्तव्य है और जो चित्तशुद्धि को प्राप्त करके तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार कर चुके हैं उनके सर्वकर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है क्योंकि वे आत्मसंस्थ होकर आत्मा में ही रमण करते हैं अतः उनका कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहता है (गीता ३।१७) इस प्रकार से कर्तव्य एवं अकर्तव्य (कर्म एवं अकर्म) का विभाग किया गया है ।]

पूर्वपक्ष—सभी कर्मों को अविद्यामूलक मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

उत्तरपक्ष—नहीं, ब्रह्म इत्यादि निषिद्ध कर्मों की भांति (सभी कर्म अविद्यामूलक हैं) । नित्यकर्म यद्यपि शास्त्रप्रतिपादित हैं तो भी वे अविद्यायुक्त पुरुष के ही कर्म हैं ।

जैसे प्रतिषेध—शास्त्र से कहे हुए भी अनर्थ के कारणरूप ब्रह्महत्यादि निषिद्ध कर्म अविद्या और कामनादि दोषों से युक्त पुरुष के द्वारा ही हो सकते हैं क्योंकि दूसरी तरह (अर्थात् अविद्या और कामना आदि के न रहने पर) उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । उसी प्रकार नित्यनैमित्तिक और काम्य आदि कर्म भी, अविद्या एवं कामना से युक्त मनुष्य से ही हो सकते हैं ।

पूर्वपक्ष—परन्तु आत्मा को शरीर से पृथक् समझे बिना नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों में प्रवृत्ति का होना असम्भव है [क्योंकि इन सब कर्मों के फल का भोग परलोक में होता है । शरीर से विलक्षण आत्मा (भोक्ता) परलोक में रहेगा, इस प्रकार का ज्ञान न रहने पर नित्यादि कर्म में प्रवृत्ति हो नहीं सकती ।]

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा जिसका कर्ता नहीं है ऐसे चलन रूप कर्म में (अज्ञानियों की) 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है [शरीर से पृथक् आत्मा परलोक में रहेगा, इस प्रकार का बोध रहने पर भी पारमार्थिक आत्मज्ञान (आत्मा अकर्ता, अजन्मा, अभोक्ता, अविकारी अद्वितीय है—इस प्रकार आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान) न रहने के कारण 'मैं कर्म का कर्ता, भोक्ता हूँ' इत्यादि मिथ्याज्ञान के द्वारा प्रयुक्त होकर ही अज्ञानी कर्म करते हैं । जिस प्रकार से चलनादि क्रियाओं का कर्ता शरीरादि हैं-आत्मा नहीं, तथापि शरीरादि संघात में 'मैं,

मेरा' बुद्धि करके "मैं कर्ता, भोक्ता हूँ", इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान से मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः समस्त कर्मों में प्रवृत्ति अविद्यापूर्वक ही होती है।]

यदि कहो कि शरीर आदि में जो अहंभाव है वह गौण है, मिथ्या नहीं है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से उनके कार्य में (चलनादि में) भी गौणता सिद्ध होगी [कर्म गौण होने पर उससे कर्म कर्ता के किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती अतः कर्म में प्रवृत्ति कैसे होगी ?]

पूर्वपक्ष—जैसे 'हे पुत्र ! तू मेरा आत्मा ही है' इस श्रुति-वाक्य के अनुसार, अपने पुत्र में 'अहंभाव' होता है तथा संसार में भी जैसे 'यह गौ मेरा प्राण ही है' इसप्रकार प्रिय वस्तु में 'अहंभाव' होता देखा जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरादि संघात में भी अहंभाव गौण ही है। यह प्रतीति मिथ्या नहीं है। मिथ्या प्रतीति तो वह है कि जो स्थाणु और पुरुष के भेद को न जानकर स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होती है। [गौण अहंभाव में जिस वस्तु में अहंभाव होता है उससे अपने में भेदबुद्धि रहती है परन्तु मिथ्या अहंभाव में अधिष्ठान और अध्यस्त का विवेक (भेद-ज्ञान) नहीं रहता है, यही कहने का अभिप्राय है।]

उत्तरपक्ष—(यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि) गौण प्रयोग लुप्तोपमा शब्द द्वारा (उपमा शब्द का लोप कर) अधिकरण की स्तुति करने के लिये होता है, इस लिये गौण प्रतीति से मुख्य के कार्य की सिद्धि नहीं होती।

(क) जैसे कोई कहे कि 'देवदत्त सिंह है या बालक अग्नि है, तो उसका यह कहना, 'देवदत्त सिंह के सदृश क्रूर और बालक अग्नि के समान पिङ्गल (गौर) वर्ण', इसप्रकार की समानता के कारण देवदत्त और बालकरूप अधिष्ठान की स्तुति के लिये ही है। क्योंकि गौण शब्द या गौण ज्ञान से कोई सिंह का कार्य (किसी को भक्षण कर जाना) या अग्नि का कार्य (किसी को जला डालना) सिद्ध नहीं किया जा सकता परन्तु मिथ्या प्रत्यय का कार्य (जन्म-मरणरूप अनर्थ), मनुष्य अनुभव कर रहा है। [किन्तु यदि कोई कहे कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' तो मनुष्य या ब्राह्मण के साथ अपनी उपमा करके स्तुति के लिये ऐसा कहा नहीं जाता परन्तु अपने में मनुष्य या

ब्राह्मण का कार्य (धर्म) आरोपित करके ही ऐसा कहता है। अतः मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार का बोध मिथ्या प्रत्यय है—गौण प्रत्यय नहीं है। गौण प्रत्यय में देवदत्त या बालक सिंह के प्राणीभक्षण या अग्नि के दाहकरण रूप अनर्थ कार्य में लिप्त नहीं होता है किन्तु 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि मिथ्या प्रत्यय जब तक रहेगा तब तक मनुष्य का जन्म, मरण, सुख-दुःख, जरा-व्याधि इत्यादि सभी अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है।]

(ख) इसके सिवा गौण प्रतीति के विषय को मनुष्य ऐसा जानता भी है कि वास्तव में यह देवदत्त सिंह नहीं है और यह बालक अग्नि नहीं है।

(यदि उपर्युक्त प्रकार से शरीरादि संघात में भी आत्मभाव गौण होता तो) शरीरादि के संघात रूप गौण आत्मा द्वारा किये हुए कर्म, अहंभाव के मुख्य विषय आत्मा के किये हुए नहीं माने जाते। क्योंकि गौण सिंह (देवदत्त) तथा गौण अग्नि (बालक) द्वारा किये हुए कर्म मुख्य सिंह एवं अग्नि के नहीं माने जाते। तथा उस क्रूरता और पिङ्गलता द्वारा कोई मुख्य सिंह एवं मुख्य अग्नि का कार्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे केवल स्तुति के लिये कहे हुए होने से हीनशक्ति हैं।

(ग) जिनकी स्तुति की जाती है वे (देवदत्त और बालक) भी यह जानते हैं कि 'मैं सिंह नहीं हूँ', 'मैं अग्नि नहीं हूँ' तथा 'सिंह का कर्म मेरा नहीं है,' अग्नि का कर्म मेरा नहीं है।' इसप्रकार (यदि शरीर आदि में गौणभावना होती तो) संघात के कर्म मुझ मुख्य आत्मा के नहीं हैं—ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिए थी, ऐसी नहीं कि 'मैं कर्ता हूँ', 'मेरे कर्म हैं' [देहादि में आत्मभाव गौण होता तो देहादि से आत्मा की भिन्नत्वबुद्धि सदा ही विद्यमान रहती थी एवं देहादि के व्यापार में कर्तृत्व या ममत्वबुद्धि कभी नहीं रहती थी।] सुतरां यह सिद्ध हुआ कि शरीर में आत्मभाव गौण नहीं, मिथ्या है।

(घ) जो ऐसा कहते हैं कि अपने स्मृति, इच्छा एवं प्रयत्न इन कर्म हेतुओं के द्वारा आत्मा कर्म किया करता है (आत्मा स्वयं किसी कर्म को नहीं करता), उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि ये सब मिथ्या प्रतीति पूर्वक (देहादि में मिथ्या अहंबुद्धि-पूर्वक) ही होनेवाले हैं। अर्थात् स्मृति, इच्छा और प्रयत्न आदि सब मिथ्या प्रतीति से

होनेवाले, इष्ट-अनिष्टरूप अनुरूप अनुभूत कर्मफलजनित संस्कारों को, लेकर ही होते हैं [देहादि संघात में मिथ्या आत्मबुद्धि कर वह देहादि के अनुकूल को यह मेरा इष्ट है, एवं प्रतिकूल को यह मेरा अनिष्ट है, इस प्रकार आत्मा में इष्टत्व-अनिष्टत्वका आरोप करके इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के त्याग के लिये जीव कर्म में प्रवृत्त होता है। उसके पश्चात् उन इष्ट एवं अनिष्ट के फलभोग से जो संसार उत्पन्न होता है उसी के अनुसार स्मृति, इच्छा तथा प्रयत्न के उत्पन्न होने पर आत्मा में कर्म की प्रवृत्ति होती है। अतः स्मृति आदि मिथ्या अहंबुद्धि के कार्य होने के कारण उनका मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है।] जिस प्रकार इस वर्तमान जन्म में धर्म, अधर्म और उनके फलों के अनुभव (सुख दुःख) शरीरादि संघात में आत्मबुद्धि और राग-द्वेषादि द्वारा किये हुए होते हैं वैसे ही भूतपूर्व जन्म में और उससे पहले के जन्मों में भी थे। इस न्याय से यह अनुमान करना चाहिए कि यह बीता हुआ तथा आगे होने वाला (जन्म-मरणरूप) संसार अनादि एवं अविद्याकर्तृक ही है। [यह अविद्या ज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो सकती है।]

इससे यह सिद्ध होता है, कि ज्ञाननिष्ठा में सर्वकर्मों के संन्यास से संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है; [शरीरादि संघात में आत्मबुद्धि करके धर्माधर्मरूप कर्म का कर्तृत्व आत्मा में आरोपित करके उस-उस कर्म के फल का भोग करने के लिये पुनः शरीर का परिग्रह कर जीव को संसार चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। देहादि में आत्माभिमान ही अज्ञान है, यह अब अन्वय व्यतिरेक द्वारा समझा रहे हैं—]. क्योंकि देहाभिमान अविद्यारूप है। अतः उसकी निवृत्ति (ज्ञाननिष्ठाद्वारा) हो जाने पर शरीरान्त की प्राप्ति न होने के कारण (जन्म-मरणरूप) संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शरीरादि संघात में जो आत्माभिमान है वह अविद्यारूप है क्योंकि संसार में भी 'मैं गौ आदि से अन्य हूँ तथा गौ आदि वस्तुयें मुझसे अन्य हैं' ऐसा जानने वाला कोई भी मनुष्य उनमें ऐसी बुद्धि नहीं करता कि 'यह मैं हूँ।'

न जाननेवाला ही स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति के समान अविवेक के कारण शरीरादि संघात में 'मैं हूँ' ऐसा आत्मभावकर सकता है; परन्तु जिसने देहादि से आत्मा को पृथक् जान लिया है, ऐसा जाननेवाला नहीं कर सकता।

तथा पुत्र में जो 'हे पुत्र ! तुम मेरा आत्मा ही है' ऐसी आत्मबुद्धि है, वह जन्य-जनक सम्बन्ध के कारण होनेवाली गौण बुद्धि है। उस गौण आत्मा से (पुत्र से) भोजन आदि की भाँति कोई मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता। [जैसे पुत्र के भोजन करने से पिता तृप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार गौण आत्मा से मुख्य आत्मा का कोई भी कार्य नहीं हो सकता।] जैसे कि गौण सिंह तथा गौण अग्निरूप देवदत्त और बालक द्वारा, मुख्य सिंह एवं मुख्य अग्नि का कार्य नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्ष—स्वर्गादि अदृष्ट पदार्थों के लिये कर्मों का विधान करनेवाली श्रुति का प्रमाणत्व होने से, यह सिद्ध होता है कि शरीर-इन्द्रिय आदि गौण आत्माओं के द्वारा मुख्य आत्मा के कार्य किये जाते हैं।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका आत्मत्व अविद्याकर्तृक है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि गौण आत्मा नहीं है (किन्तु मिथ्या हैं)।

पूर्वपक्ष—तो फिर (इनमें आत्मभाव) कैसे होता है ?

उत्तरपक्ष—मिथ्या प्रतीति से ही सङ्गरहित आत्मा को सङ्गित मानकर, इनमें (देहेन्द्रियादि में) आत्मभाव किया जाता है; क्योंकि उस मिथ्याप्रतीति के रहते हुए ही उनमें आत्मभाव की सत्ता है, उसके (मिथ्याप्रतीति के) अभाव से आत्मभावना का (देहादि में आत्मभाव का) भी अभाव हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि मूर्ख अज्ञानियों का ही अज्ञानकाल में 'मैं बड़ा हूँ, मैं गोर हूँ' इस प्रकार से शरीर-इन्द्रिय आदि के संघात में आत्माभिमान देखा जाता है। परन्तु 'मैं शरीरादि संघात से अलग हूँ' ऐसा समझने वाले विवेकशीलों की, उस समय शरीरादि संघात में अहंबुद्धि नहीं होती।

सुतरां मिथ्या प्रत्यय (बुद्धि) के अभाव से देहात्मबुद्धि का अभाव हो जाने के कारण, यह सिद्ध होता है कि शरीरादि में आत्मबुद्धि अविद्याकृत हो है, गौण नहीं।

जिनकी समानता और विशेषता अलग-अलग समझ ली गयी है ऐसे सिंह और देवदत्त में या अग्नि और बालक आदि में ही गौण प्रत्यय (प्रतीति) या गौण शब्द का प्रयोग हो सकता है; जिनकी समानता तथा विशेषता का पृथक ज्ञान नहीं है उनमें

गौण शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। [वह गौण नहीं है—वह मिथ्या है क्योंकि एक वस्तु को यथार्थरूप से ग्रहण न करके दूसरी वस्तुरूप से भ्रान्ति से ग्रहण किया जाता है। देह तथा आत्मा की समानता एवं विशेषता के पृथक्ज्ञान के अभाव के कारण देह को ही अज्ञान से आत्मा माना जाता है। अतः देहात्मबुद्धि गौण नहीं है—वह मिथ्या है।]

तुमने जो कहा कि श्रुति को प्रमाणरूप मानने से यह पक्ष सिद्ध होता है, [अर्थात् 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (हे पुत्र ! तुम मेरा आत्मा ही हो) इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा पुत्र में जो आत्मबुद्धि की जाती है वह तो गौण ही है। अतः देहादि में आत्मबुद्धि भी गौण ही होगी, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं–] वह भी ठीक नहीं; क्योंकि उसकी प्रमाणता अदृष्टविषयक है अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध न होने वाले अग्निहोत्रादि के, साध्य, साधन और सम्बन्ध के विषय में ही श्रुति की प्रमाणता है; प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध हो जानेवाले विषयों में नहीं। क्योंकि श्रुति की प्रमाणता अदृष्ट विषयको दिखलाने के लिये ही है (अर्थात् अप्रत्यक्ष विषय को बतलाना ही उसकाकाम है)।

सुतरां देहादि-संघात में, प्रत्यक्ष ही मिथ्याज्ञान से होनेवाली अहंप्रतीति को, गौण मानना नहीं बन सकता। ['आत्मा वै पुत्रनामासि' इस वाक्य का आश्रयकर पिता पुत्र से अपने को पृथक् जानकर श्रुतिप्रमाण से पुत्र में आत्मबुद्धि करता है। वह स्वर्गादि अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) फल के लिये किया जाता है। अतः इसप्रकार से पुत्र में आत्मबुद्धि गौण ही है।]

किन्तु 'अग्नि ठण्डी है या अप्रकाशक है' ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियाँ भी प्रमाणरूप नहीं मानी जा सकतीं। यदि श्रुति ऐसा कहे कि 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिए कि श्रुति का कोई और ही अर्थ है अभीष्ट है क्योंकि अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं।

पूर्वपक्ष—मिथ्या प्रत्यय (ज्ञान) युक्त पुरुष द्वारा ही कर्म अनुष्ठित होता है, ऐसा मानने से वास्तव में कर्ता का अभाव हो जाने के कारण वैदिक कर्मों का अनुष्ठान

असम्भव हो जायगा। अतः तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने के पश्चात् अज्ञान नष्ट हो जाने पर श्रुति की अप्रमाणिकता (अनर्थकता) ही सिद्ध होती है, ऐसा कहें तो ?

उत्तरपक्ष—नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या में उसकी सार्थकता सिद्ध होती है। [ज्ञानोदय के पहले कर्मकाण्ड सम्बन्धी श्रुतिवाक्य की व्यावहारिक प्रामाणिकता है किन्तु तात्त्विक प्रामाणिकता श्रुति के ब्रह्मकाण्ड में ही है क्योंकि श्रुति ब्रह्मविद्यारूपी यथार्थज्ञान को उत्पन्न करती है। अतः वेदाध्ययन विधि की सार्थकता भी सिद्ध होती है।]

पूर्वपक्ष—कर्मविधायक श्रुति की भांति ब्रह्मविद्याविधायक श्रुति की अप्रमाणिकता का प्रसङ्ग आ जायगा, ऐसा माने तो ?

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं, क्योंकि उसका कोई बाधक प्रत्यय नहीं हो सकता। अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्याविधायक श्रुति द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर देहादि संघात में आत्मबुद्धि बाधित हो जाती है, वैसे आत्मा में ही होने वाला आत्मभाव का बोध किसी के द्वारा किसी भी काल में किसी प्रकार से भी बाधित नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह आत्मज्ञान स्वयं ही फल है, उससे भिन्न किसी अन्य फल की प्राप्ति नहीं है, जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है (इससे अन्यथा नहीं हो सकता)।

इसके सिवा (वास्तव में) कर्मविधायक श्रुति भी अप्रमाणिक नहीं है, क्योंकि वह पूर्व-पूर्व (स्वाभाविक) प्रवृत्तियों को रोक-रोक कर उत्तरोत्तर नयी-नयी (शास्त्रीय) [पापकर्मों में अप्रवृत्ति एवं शास्त्रीय याग यज्ञादि कर्मों में] प्रवृत्ति को उत्पन्न करती हुई (अन्त में अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा साधक को) अन्तरात्मा के सम्मुख करने वाली प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अतः उपाय (कर्मविधायक श्रुति) मिथ्या होते हुए भी उपेय (परमात्मा) की सत्यता से, उसकी सत्यता ही है, जैसे कि विधिवाक्य के अन्त में कहे जानेवाले अर्थवाद (प्रशंसा) वाक्यों की सत्यता मानी जाती है [अर्थात् स्तुतिपरक वाक्य स्वयं कल्पित (मिथ्या) होने पर जिसकी स्तुति की जाती है उस उपेय वस्तु के सत्य होने के कारण उसमें अर्थवाद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।]

लोकव्यवहार में भी (देखा जाता है कि) उन्मत्त और बालक आदि को दूध आदि पिलाने के लिये चोटी बढ़ने आदि की (दूध पीने से तुम्हारे केशों की वृद्धि

होगी, इसप्रकार की) बात कही जाती है। [दुग्धपान का फल है शक्तिवृद्धि तथापि केशवृद्धि के लोभ से दुग्धपान में प्रवृत्त होकर बालकादि जिस प्रकार स्वास्थ्य एवं शक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं; उसी प्रकार कर्मविधायक श्रुति मायिक (मिथ्या) स्वर्ग सुखादि के लोभ को दिखाकर शास्त्रीय कर्मों में प्रवृत्त करा के भी उसका कर्ता चित्तशुद्धि को प्राप्त होकर परमार्थ सत्य आत्मवस्तु का साक्षात् लाभ कर सकता है। अतः उपाय मिथ्या (अविद्याजनित) होने पर भी परम्पराक्रम से उसका अन्तिम फल सत्यवस्तु की प्राप्ति होने के कारण श्रुतिविहित कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।]

तथा आत्मज्ञान होने से पहले, देहाभिमाननिमित्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रमाणत्व की भांति प्रकारान्तर में स्थित (कर्म विधायक) श्रुतियों की साक्षात् प्रमाणता भी सिद्ध होती है क्योंकि श्रुतिविहित कर्म का फल प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

तुम जो यह मानते हो, कि आत्मा स्वयं क्रिया न करता हुआ भी सन्निधिमात्र से कर्म करता है, यही आत्मा का मुख्य कर्तापन है। जैसे राजा स्वयं युद्ध न करते हुए भी सन्निधिमात्र से ही अन्य योद्धाओं के युद्ध करने से राजा युद्ध करता है, ऐसा कहा जाता है तथा 'वह जीत गया, हार गया' ऐसा भी कहा जाता है। इसी प्रकार सेनापति भी केवल वाणी से ही आज्ञा करता है फिर भी राजा एवं सेनापति का उस क्रिया के फल से सम्बन्ध होता देखा जाता है। तथा जैसे ऋत्विक् के कर्म यजमान के माने जाते हैं, वैसे ही देहादि संघात के कर्म आत्मकृत हो सकते हैं क्योंकि उनका फल आत्मा को ही मिलता है।

तथा जैसे भ्रामक (भ्रमण करने वाला चुम्बक) स्वयं क्रिया नहीं करता, तो भी वह लोहे का चलाने वाला है, इसलिये उसी का मुख्य कर्तापन है वैसे ही आत्मा का मुख्य कर्तापन है। ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से न करने वाले को कारक मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा।

यदि कहो कि कारक तो अनेक प्रकार के होते हैं, तो भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं; क्योंकि राजा आदि का मुख्य कर्तापन भी देखा जाता है। अर्थात् राजा अपने निजी व्यापार द्वारा भी युद्ध करता है तथा योद्धाओं से युद्ध कराने तथा उन्हें धन देने से भी

निःसंदेह उसका मुख्य कर्तापन है, उसी प्रकार जय-पराजय आदि फल भोगों में भी उसकी मुख्यता है। वैसे ही यजमान का भी प्रधान आहुति स्वयं देने के कारण और दक्षिणा देने के कारण निःसंदेह मुख्य कर्तृत्व है।

इससे यह निश्चित होता है कि क्रिया रहित वस्तु में जो कर्तापन का उपचार है वह गौण है। यदि राजा एवं यजमान आदि में स्वव्यापाररूप मुख्यकर्तापन न पाया जाता तो उनका सन्निधिमात्र से भी मुख्य कर्तापन माना जा सकता था अथवा जैसे कि लोहे के चलने में चुम्बक का सन्निधिमात्र से मुख्य कर्तापन माना जाता है। परन्तु चुम्बक की भांति तथा यजमान का स्वव्यापार (अपनी क्रिया) उपलब्ध न होता हो— ऐसी बात नहीं है ! सुतरां सन्निधिमात्र से जो कर्तापन है वह भी गौण ही है (मुख्य नहीं है)।

ऐसा होने से (कर्तापन गौण होने से) उसके फल का सम्बन्ध भी गौण ही होगा, क्योंकि गौण कर्ता द्वारा मुख्य कार्य नहीं किया जा सकता। अतः यह अज्ञानी के द्वारा मिथ्या ही कहा जाता है कि 'निष्क्रिय आत्मा देहादि की क्रिया से कर्ता-भोक्ता हो जाता है।'

[देहात्माभिमानी पुरुष को ही कर्म के कर्तृत्व बुद्धि रहती है। अतः आत्मा में देहादि के द्वारा किये हुए कर्मों का कर्तृत्व अज्ञान-निमित्त आरोपित होता है—यह दृष्टान्त के द्वारा समझाया जा रहा है।] परन्तु भ्रान्ति के कारण सब कुछ हो सकता है। जैसे कि स्वप्न एवं माया में होता है। परन्तु शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अज्ञान-संतति की विच्छेद हो जाने पर सुषुप्ति तथा समाधि आदि अवस्थाओं में कर्तृत्व, आदि अनर्थ उपलब्ध नहीं होता।

इससे यह सिद्ध हुआ, कि यह संसार भ्रम है अर्थात् मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक ही है, वास्तविक उसकी (संसार की) कोई सत्ता नहीं है। अतः पूर्ण तत्त्वज्ञान से ही उसकी (संसार भ्रम की) आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अब उससे भी गुह्यतम् बात कहते हैं **सर्वधर्मान् शुचः**—मेरी भक्ति से ही सब कार्य सिद्ध हो जाएगा, इस दृढ़ विश्वास से विधि की

दासता का त्याग करके एकमात्र मेरे शरणागत हो जाओ ऐसा बर्ताव करते समय कर्मत्याग निमित्तक पाप होगा–इस प्रकार का शोक मत कर क्योंकि एकमात्र मेरे शरण हुए तुझ भक्त को मैं समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा।

(२) शंकरानन्द—इसप्रकार आरुरुक्षु को मोक्ष के लिए केवल मात्र ईश्वर की शरण लेकर कर्मयोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा निर्धारण करके आरूढ़ को तो आविर्भूत आत्मविज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए सर्वकर्म संन्यास पूर्वक ज्ञाननिष्ठा ही होना चाहिए, ऐसा निर्धारण करने के लिए कहते हैं– 'सर्वधर्मान्' इत्यादि। यदि शंका हो कि कर्म प्रकरण के अन्तर्गत होने से यह बचन कर्मी पुरुष के लिए ही है, अकर्मी पुरुष के लिए नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि 'सर्वधर्मान्' (सम्पूर्ण धर्मों को) इससे सम्पूर्ण कर्मों के संन्यास का श्रवण है। आरुरुक्षु मुमुक्षु गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास करना योग्य नहीं है क्योंकि 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम्' जो इसमें दोषदृष्टि करते हुए मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करते उनको सर्वज्ञान से विमूढ़ नष्ट और अचेतस् जानो अर्थात् 'सर्वकर्मबहिष्कृतः' सम्पूर्ण कर्मों से वे वहिष्कृत होते हैं तथा 'तद्विहीनः पतत्येव ह्यवलम्बनरहितान्धवत्' अर्थात् उनसे रहित पुरुष अवलम्बनरहित अंधे के समान गिर जाते हैं' इत्यादि स्मृति बचनों से सम्पूण कर्मों के परित्याग में दुर्ब्राह्मणत्व (ब्राह्मण के मूढ़त्व), पतितत्व आदि दोष प्राप्त होते हैं। यदि शंका हो कि 'केवल मेरी ही शरण में जाओ', इससे जो ईश्वर भजनात्मक कर्म विहित है उसका त्याग न करने के कारण उक्त दोष नहीं हो सकते तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि 'स्वकर्म से उसका पूजन करके' इस स्मृति से नामकीर्तन आदि रूप कर्म, श्रुति और स्मृति से विहित नहीं है। इसलिए वह स्वधर्म नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में विहित का त्याग करने से और अविहित का अनुष्ठान—करने से दोष का प्रसंग हो जायगा। फिर विगुण भी स्वधर्म श्रेष्ठ है ऐसा कहा है (गीता १८।४७) 'तुम नियत कर्म करो, न करने से करना श्रेष्ठ है, (गीता ३।८)। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, (गीता २।४७), कर्मों का आरम्भ किये बिना, (गीता ३।४), केवल संन्यास से ही सिद्धि को प्राप्त नहीं होता (गीता ३।४), इसलिए असक्त होकर सदा कर्तव्य कर्म करो (गीता ३।१९), 'मत्कर्मकृत् मत्परमः', (११।५५) यज्ञ, दान और

तपरूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए' किन्तु उनका अनुष्ठान करना ही चाहिए, उपनयन और वेदाध्ययन और फलवाले कर्म' 'विवाह आदि में अग्नि का आधान कर कर्मों का आरम्भ किया जाता है', 'पाणिग्रहण आदि गृह्य कर्म करे', 'सूर्य के उदय होने पर प्रातः हवन करें' 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' इत्यादि करोड़ों श्रुतियों और स्मृतियों से ब्राह्मण आदि को वैदिक कर्मों का हि अपने धर्मरूप से अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा, विधान है। यदि कहो कि 'सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर इसमें लक्षण से सब कर्मों के फल का त्याग ही कहा जाता है कर्म का परित्याग नहीं, इसलिए यह वचन कर्मप्रकरण का ही अङ्ग है तो यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि 'वाच्य' अर्थ से सम्बन्ध और 'वाच्य' अर्थ की अनुपपत्ति से लक्षणा होती है' इस न्याय से यहाँ अर्थ की अनुपपत्ति नहीं है, इसलिए लक्षणा नहीं हो सकती मुख्य अर्थ की अन्य गति न होने पर ही लक्षणा होती है किन्तु जो विषय चल रहा है उसमें गति का अभाव नहीं है। अतः लक्षणा नहीं हो सकती दूसरी गति कैसे है? ऐसा यदि कहो तो कहते हैं— हे अनघ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं। ऐसा मैंने पूर्व में कहा है, ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की (गीता ३।३) इत्यर्थक वचन से योगियों की यानी आरुरुक्षु कर्मियों की कर्मयोग से निष्ठा और सांख्य यानी आरूढ़ संन्यासी ब्रह्मज्ञानियों की ज्ञानयोग से निष्ठा इन दो निष्ठाओं का उपक्रम करके तुम नियत कर्म करो (गीता ३।८) इससे कर्मयोग का आरम्भ करके 'प्रतिज्ञा करता हूँ' तुम मेरे हो (गीता १८।६५) यहाँ तक के ग्रंथ से आरुरुक्षु के नियम से कर्तव्यरूप कर्मयोग का अङ्गसहित और फलसहित निर्धारण करके तदनन्तर सांख्य ब्रह्मवित् सर्व कर्मसंन्यासी आरूढ़ों की 'जो आत्मा में रतिमान् हो' (गीता ३।१७) यहाँ से लेकर 'सब कर्मों को मन से' (गीता ५।१३) उसी योगारूढ़ का 'योगी सदा एकान्त में स्थित होकर आत्मा का योग करे' (गीता ६।१०—१५) 'नित्य ध्यानयोग में परायण' (गीता १८।५२) 'ब्रह्मता को प्राप्त होता है' तदनन्तर मुझे तत्वतः जानकर मुझमें प्रवेश करता है (गीता १८।५५) यहाँ तक के ग्रंथ से सर्वकर्म सन्यास पूर्वक नियम से कर्तव्यरूप से फलसहित ज्ञाननिष्ठा का निर्धारण करके अन्त में उसी कही हुई लक्षण वाली निष्ठा का अंगसहित और फलसहित 'सर्वधर्म' (१८।६६) इत्यादि से उपसंहार करते हैं।

इसलिए यह वचन कर्म प्रकरण का अङ्ग यानी और कर्मपरक नहीं हो सकता। यदि शङ्का हो कि आरूढ़ यति को भी सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करना युक्त नहीं है, किन्तु थोड़ा सा स्मार्तरूप कर्म करना ही चाहिए तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि तीसरे अध्याय में श्रीभाष्यकार ने इस शङ्का का परिहार किया है, अतः वहीं पर देख लेना चाहिए। ग्रंथ के विस्तार के भय से यहाँ इसका विचार नहीं किया जाता। पिछले सैकड़ों जन्मों में श्रद्धा और भक्ति से भली-भाँति अनुष्ठित श्रौत और स्मार्तरूप कर्मों से कर्मानुष्ठान का केवल ईश्वर प्रसाद ही प्रयोजन है। पापसमूह के निःशेष निवृत्त हो जाने के कारण विशुद्ध अन्तकरण से युक्त हुए तुम आत्मस्वरूप को भली-भाँति जानकर उत्पन्न हुए ज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए ज्ञाननिष्ठा का सम्पादन करने की कामना वाले होकर पहले प्रयोजनरहित, असत् विषय वाले तथा निष्ठा के प्रतिबन्धक होने के कारण दोषयुक्त सम्पूर्ण धर्मों का (श्रौत और स्मार्तरूप सब कर्मों का) साधन सहित त्याग करो। यदि शङ्का हो कि शास्त्रोक्त कर्म असत् विषय वाले और निष्प्रयोजन नहीं हो सकते क्योंकि 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' अर्थात् ब्राह्मण यज्ञ से और दान से जानने की इच्छा करते हैं. इससे यज्ञ दान आदि का फलवत्व सुनने में आता है और 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' अर्थात् अपने कर्म से उसका अर्चन करके (गीता १८।४६) इससे कर्म ईश्वराराधनरूप हैं। अतः उनमें सद्विषयत्व और फलवत्व है ही, तो यह कहना यद्यपि ठीक है कि कर्मों में ईश्वराराधनात्मकत्व और चित्तशुद्धैकप्रयोजनत्व है तथापि वे अज्ञानी के विषय हैं, क्योंकि वे कर्तृत्व आदि कारक बुद्धि भेद से ही प्रवृत्त होते हैं। आत्मा के एकत्व को देखने वाले विद्वान् के लिए कर्म उपयोगी नहीं हो सकते, क्योंकि परस्पर विरोधी ज्ञान और कर्म का साहित्य (एक साथ अनुष्ठित) नहीं हो सकता। इसलिए चित्तशुद्धि और उसके फल ज्ञान को प्राप्त कर चुकने वाले तथा उनसे किसी फल को न देख रहे ब्रह्मवित् के लिए उनका परित्याग करना ही युक्त है 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' अर्थात् सत्य और असत्य का, सुख और दुःख का, वेदों का तथा इस लोक और परलोक का त्याग कर आत्मा का अन्वेषण करे 'स्वाध्याये च सर्वकर्माणि संन्यस्य' अर्थात् स्वाध्याय और सम्पूर्ण कर्मों का त्याग इस श्रुति से विद्वान् के लिए सम्पूर्ण कर्मों का

परित्याग सुना जाता है। यदि शङ्का हो कि कर्म से ईश्वर प्रसन्न होते हैं, अतः उनकी प्रीति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिए तो यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि कर्मों की अपेक्षा ब्रह्मनिष्ठा से परमेश्वर की प्रीति अधिक होती है भाव यह है कि यह ब्रह्मवित् 'जीवेशावाभासेन करोति' अर्थात् जीव और ईश्वर को माया आभास करती है इस श्रुति से दर्शित मेरे आभासिक, मायिक, असत्य स्वरूप का त्यागकर माया और मायाकार्य के सम्बन्ध से रहित, नित्य, निरन्तर, निराभास, निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अनाद्यन्त, सच्चिदानन्दैकरस, प्राणान्तर से अबाध्य, परिपूर्ण, अद्वैत, केवल मद्रूप परब्रह्म की ही उपासना करता है। इसलिए यथार्थदर्शी, सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, ब्रह्मवित् में परमेश्वर की अधिकतर प्रीति सम्भव है। जैसे यह मेरे वैभव को सम्हालता है ऐसा सोचकर अनन्त शूर, वीर, योद्धा में राजा की प्रीति होती है वैसे ही 'प्रिया हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ–महं स च मम प्रियः' अर्थात् ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है, इस उक्त वचन के अनुसार ब्रह्मवित् में परमेश्वर की परम प्रीति का होना युक्त है। जैसे पिता की पुत्र आदि में गुण की अधिकता होने पर प्रीति अधिक देखने में आती है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर के निर्गुण, नित्य अमायिक स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा से और श्रद्धा से नियमपूर्वक केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि में प्रवृत्त सत्यनिष्ठ सद् मुमुक्षुओं में ईश्वर की परम प्रीति होती है) यदि शङ्का हो कि 'सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर' इस बचन से केवल धर्म का ही परित्याग विहित है, अधर्म का परित्याग विहित नहीं है; इसलिये अधर्म में प्रवृत्ति तो होगी ही यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि 'कलञ्जभक्षण नहीं करना चाहिए' इत्यादि से पहले ही (पूर्वाश्रम में परित्यक्त कलञ्जभक्षण आदि अधर्म की उत्तर काल में (अन्त्याश्रम में) प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे कि ब्रह्मचर्य में ही परित्यक्त वासी अन्न के भोजन में गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए अधर्म में प्रवृत्ति को रोकने के लिये 'सर्वधर्मान्' में अधर्मपद की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि 'त्यज' धर्ममधर्मं च,' 'न तेषां धर्माधर्मौ' धर्म और अधर्म का परित्याग करो, उनके धर्म और अधर्म नहीं हैं, इस बचन के अनुसार 'सर्वधर्म' पद से अधर्म को भी ग्रहण किया जाता है। इसलिए **सर्वधर्मान् परित्यज्य**—धर्म और अधर्म का तुम त्याग

करो। यद्यपि संन्यास ग्रहण करना अर्जुन के लिए उपयोगी नहीं है, तथापि श्रीभगवान् तमः और तेज के समान परस्पर विरोधी ज्ञान और कर्म का एक आश्रय नहीं हो सकता है, ऐसा निर्धारण करके मुमुक्षु ब्राह्मण को उद्देश्य करके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' ऐसा कहते हैं। इसलिये सब धर्मों का त्यागकर (विधि से संन्यासकर) **माम् एकम्**—केवल मेरी 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' यह आत्मा ब्रह्म है', 'वही तुम हो' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन है स्थूल नहीं, अणु नहीं ह्रस्व नहीं तथा 'सभी यह ब्रह्म हैं' इत्यादि श्रुतियों से आरोपित जगत् का अपवाद कर सब में ब्रह्ममात्रत्व का निरूपण किया गया है तथा 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है', एक ही भूतात्मा', 'एक एव रुद्रो न, द्वितीयाय तस्थुः अर्थात् एक ही रुद्र है, अतः दूसरे भाव के लिए स्थित नहीं हुए, इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के एकत्व का अवधारण है। अतः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य नित्य शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, अखण्डचिदेकरस, अद्वितीय मुझ परब्रह्म की **शरणं व्रज**—शरण में जाओ यानी 'सब यह और 'मैं ब्रह्म ही हूँ,' इस प्रकार प्रत्यग् दृष्टि से अनुसंधान करो। केवल साधक के लिए हो अभ्यास दशा में 'विशुद्ध बुद्धि से युक्त, धैर्य से मन को रोककर और शब्द आदि विषयों का त्यागकर (गीता १८।५१–५३) इत्यादि देशकाल, दृष्टिस्थापन आदि का नियम है किन्तु 'सब यह और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार प्रत्यग्-दृष्टि से अपने को और सब को, आरोपित नाम, रूप आदि का ग्रहण किये बिना केवल ब्रह्मरूप ही देखनेवाले ब्रह्मवित्तम के लिए उक्त नियम नहीं है, इसलिए चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते अथवा अन्यथास्थित होते हुए तुम सर्वदा सर्वत्र केवल मुझ परब्रह्म का अनुसंधान करो **त्वाम् अहम् सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि**—इस प्रकार देखे गये, छुये गये, सुने गये, माने गये, और जाने गये, सभी पदार्थों को सर्वदा केवल ब्रह्मस्वरूप ही देखनेवाले तुमको स्वात्मरूप से भलीभाँति जाना गया, (चक्षु की वृत्ति का रूप जैसे विषय होता है वैसे ही बाहर-भीतर सर्वत्र उपलभ्यमान होकर), मैं परमात्मा सब पापों से (यहाँ पाप शब्द से पुण्यपापात्मक कर्मों का ग्रहण किया जाता है), अर्थात् पाप के कार्य जन्म-मृत्यु और जरारूप बन्धनों से मुक्त कर दूँगा ! अथवा पापपद से पाप-कर्म और उनके कारणभूत अविद्या और कामों का ग्रहण किया जाता है, सब पापों से

अर्थात् जरा, जन्म और मृत्युरूप दुःखप्रवाह के हेतु अविद्या, काम और कर्मों से सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) छुड़ा दूँगा। 'नित्य कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, परिपूर्ण ही मैं हूँ' यों नित्य कूटस्थ असङ्ग, चिन्मात्रस्वरूप अपने आत्मा के याथात्म्यप्रकाश से आरोपित देह, इन्द्रिय आदि सम्पूर्ण दृश्य, उनके धर्म, उनके कर्म, उनकी अवस्था के सम्बन्ध से रहित, आकाश के समान असङ्ग, अविक्रिय, परिपूर्ण, एकरस आत्मा को ही सदा सर्वत्र ग्रहण कराकर सर्वत्र स्वमात्रग्रहण से केवल (अपने स्वरूप के ग्रहण से) वासनात्मिका अविद्या, काम और कर्म सभी का निर्मूलन करके विपरीत भाव का निःशेष विनाशकर 'पूर्ण, चिदानन्द अद्वितीय ही मैं हूँ, यों अप्रतिबद्ध वृत्ति को प्रवाहित कर सर्वदा 'मैं मुक्त हूँ,' इस प्रकार मुक्त आत्मा की ही भावना करा दूँगा। इस प्रकार अविद्या और उसके कार्यबन्ध (प्रपञ्च) से रहित निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप से स्थित आत्मा को साक्षात् प्रत्यक्ष करके जीवित अवस्था में ही मुक्त तुम **मा शुचः**—शोक मत करो 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् एकत्व देखनेवाले को क्या शोक, और क्या मोह, इस श्रुति से स्वात्मा में एकत्व देखनेवाले विद्वान् को शोक नहीं होता, ऐसा जानने में आता है। इसलिए सबको आत्मस्वरूप ही देखते हुए मुक्त हुए तुम शोक मत करो। अपने से भिन्न अनर्थ के कारण दूसरे पदार्थ को देखनेवाले मूढ़तम पुरुष को ही शोक होता है। 'मैं ही यह सब हूँ' इसप्रकार से सबको स्वस्वरूप देखनेवाले विद्वान् को शोक का कोई कारण नहीं हो सकता। अतः तुममें शोक के कारण का अभाव होने से तुम शोक मत करो, यह अर्थ है। अथवा 'अशोच्यों' का तुम शोक करते हो (गीता २।११) इससे उपक्रान्त शोक के अपनोदन का 'मा शुचः' इससे श्रीभगवान् उपसंहार करते हैं। अद्वैत आत्मा के अकर्तृत्व को देख रहे तुमको शोक करना युक्त नहीं है। इसप्रकार उपक्रान्त शोक के अपनोदन का अनुवाद (पुनरुक्ति) ही किया जाता है, न कि विद्वान् में शोक की सम्भावना कर उसका अपनोदन किया जाता है, क्योंकि वहाँ क्या शोक और क्या मोह, इत्यादि श्रुति से विरोध होगा और 'न शोचति न कांक्षति' अर्थात् न सोचता है न आकांक्षा करता है (गीता १८।५४) इत्यादि उक्त अपने वचन का व्याघात हो जायेगा। इसलिए उपसंहारार्थक ही यह वचन है, ऐसा मानना युक्त है। इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप

से विज्ञात निर्विशेष परब्रह्म का ही अनुसंधान कर रहे विद्वान् के उक्त अनुसन्धान का फल सम्यक् ज्ञान और उसके फल विदेहकैवल्य को जानकर तदन्तर ही प्रवेश करता है, (गीता १८।५५) इत्यादि से पहले ही निरूपण किया जा चुका है। अतः फिर उसका यहाँ निरूपण करना योग्य नहीं है। यतः ज्ञान और कर्म के साध्यसाधनभाव का ही यहाँ सर्वज्ञ ईश्वर ने निरूपण किया है अतः (इससे) कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड मोक्षकारणत्व सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—६४ वे श्लोक में भगवान् ने सर्वगुह्यतम एवं परम (श्रेष्ठ) वचन अपने प्रिय अर्जुन को परम कल्याणरूप मोक्षपद की प्राप्ति के लिए कहने की प्रतिज्ञा की। ६५–६६ तक श्लोकों में भगवान् की प्राप्ति के लिए जो उपाय बतलाया गया है, वह उस प्रतिज्ञा के अनुसार ही है। ६५ वें श्लोक में कहा गया है भगवान् को सर्वत्र सर्वभाव से नमस्कार करने पर क्रमशः मद्याजी (भगवान् की पूजा में तत्पर), मद्भक्त (भगवान् का अनन्य भक्त अर्थात् निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान् का स्मरण करनेवाला) होने पर चित्त का जब भगवान् में ही विलय होता है तो भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है। ऐसा भगवान् का उपदेश सुनकर अर्जुन के मन में शंका हो सकती है कि प्रायश्चित्त आदि के द्वारा पाप की निवृत्ति न होने पर भगवान् का दृढ़भाव से भजन करना असम्भव है यह तो पहले ही कहा गया है (गीता ७।२८)। अतः अपने वर्णाश्रमधर्म का त्याग करके किस प्रकार पापों से मुक्त होकर भगवान् को प्राप्त कर सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि जब पूर्व श्लोकोक्त क्रम से भक्त मन्मना (मच्चित्त) हो जाता है तो मेरे स्वरूप का ज्ञान वह अनायास ही प्राप्त कर लेता है एवं इस प्रकार का तत्त्वज्ञान होने पर जीवबुद्धि का नाश होने के कारण अखण्ड, अद्वितीय एकमात्र मैं ही (सर्वउपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा ही) शेष रहता हूँ। तब (उसी अवस्था में) मेरी ज्ञानीभक्त साक्षात् अनुभव करता है कि सर्वात्मा मेरे बिना धर्माधर्म, पाप-पुण्य सभी माया से कल्पित हैं। अतः सर्वधर्म का वह परित्याग कर देता है। वस्तुतः जो मन्मना (मच्चित्त) हो गया है उसकी दृष्टि में द्वैतवस्तु की सत्ता न रहने के कारण वह स्वयं इच्छापूर्वक त्याग नहीं करता है। सभी मायिक वस्तु स्वतः ही परित्यक्त हो जाती हैं। भक्त और भगवान् एक होने के कारण

एकमात्र मेरी अर्थात् अहंपद की लक्ष्यवस्तु चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा की ही शरण लेनी पड़ती है अर्थात् मत्परायण होना पड़ता है ['शृणाति हिनस्ति अविद्यादीन् क्लेशादीन् शरणम् आश्रयः परायणमिति' (नीलकण्ठ) अर्थात् अविद्यादि पंचक्लेश को जो नाश करता है उसे शरण कहा जाता है]। अतः 'शरण' शब्द का अर्थ है भगवदाश्रय या भगवत्परायण। कहने का अभिप्राय यह है कि मन्मना होने पर तत्त्वज्ञान के द्वारा वह धर्माधर्म से मुक्त होकर एक, अखण्ड, अद्वितीय, आत्मा की ही शरण लेता है अर्थात् अविद्यादि क्लेश से रहित होकर आत्मपरायण अथवा आत्मसंस्थ होता है। यह आत्मसंस्थिति या ब्राह्मीस्थिति ही ज्ञान की पराकाष्ठा अवस्था है एवं वही परम वैष्णवपद (मोक्षपद) है। सिद्ध का जो स्वाभाविक लक्षण है वही साधक के लिए साधन है। अतः भगवान् ने जब तक देहाभिमान था तबतक अर्जुन को अपने वर्णाश्रमोचित सर्वधर्म को छोड़कर एकमात्र उनकी ही शरण लेने के लिए नहीं कहा क्योंकि—

(१) ऐसा मानने पर अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए जितना उपदेश भगवान् ने दिया उनके साथ वर्तमान उपदेश का विरोध होगा।

(२) जबतक अपना धर्मपालन कर चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है तबतक एकमात्र भगवान् ही सत्यवस्तु है एवं उसके अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है, इस प्रकार का निश्चित बोध उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः कर्माधिकारी अर्जुन के लिए साधन की अपक्व अवस्था में अन्य समस्त चिन्ता छोड़कर एकमात्र भगवान् की शरण लेने का उपदेश देना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। अतः 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् मैं ही एक (अद्वितीय) हूँ, उसकी तुम शरण लो इस वाक्य का कोई तात्पर्य नहीं रहता है।

(३) गीताशास्त्र में भगवान् का यह अन्तिम उपदेश है। अतः अन्तिम अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् ही और कोई साधन या कार्य अवशिष्ट नहीं रहता है। यही कहने का यहाँ अभिप्राय है। अतः स्थितप्रज्ञ या आत्मसंस्थ की अवस्था को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर अर्जुन यथाक्रम से किस प्रकार साधन का अनुष्ठान कर अन्तिम लक्ष्य स्थान में पहुँचने में समर्थ होगा वही यहाँ निर्देश करने का अभिप्राय है।

(४) यदि ज्ञान के उदय के पहले ही सर्वधर्म को त्याग देना ही भगवान् के उपदेश का अभिप्राय हो तो पूर्व श्लोक के साथ भी संगति नहीं रहती है। अतः ऐसा मानने पर यह शास्त्ररीति के विरुद्ध होगा। अतः पूर्व श्लोकोक्त मन्मना अर्थात् भक्त का चित्त भगवान् के साथ एकीभूत होने पर सम्यग्दर्शन की जो अन्तिम अवस्था होती है उसे **साधनरूप से**—बतलाना ही यहाँ भगवान् का अभिप्राय है।

तत्त्वज्ञान के पश्चात् ही अर्थात् ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य (एकता) का अनुभव होने पर ही एक, अखण्ड, अद्वितीय, आत्मा की शरण होती है, उसके पहले नहीं। इस प्रकार से आत्मा में स्थित होने पर देहादि द्वैतवस्तु के प्रतीत होने पर भी ज्ञानी के लिए वह स्वप्नदृश्य या माया मरीचिका के समान ही भासित होती है। अतः देहादि से किए हुए संचित एवं प्रारब्ध तथा क्रियमाण शुभाशुभ कोई भी कर्म अथवा कर्मफल आत्मनिष्ठ ज्ञानी को स्पर्श नहीं कर सकते हैं इसलिए श्रुति में कहा है 'अशरीरं वावसन्तं नैनं पुण्यपापे स्पृशतः' अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जब शरीर से पृथक् हो जाता है अतः उसको पुण्य या पाप स्पर्श नहीं कर सकता है अर्थात् सर्व पापों से वह मुक्त होता है। श्रुति ने फिर कहा—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजो अविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः'। गीता में भी कहा है 'ज्ञानग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गीता ४।३७)। अतः यहाँ सर्व पाप शब्द का अर्थ है संसाररूप पाप क्योंकि पाप का फल दुःख ही होता है। धर्म या अधर्म (शुभ या अशुभ) कर्मों के फलरूप से दुःखमय संसारगति ही प्राप्त होती है। संसार में पूर्व पुण्य के फल से जो कुछ सुख मिलता है वह भी अनित्य, परिणामी एवं भययुक्त रहने के कारण दुःख में ही पर्यवसित (समाप्त) होता है। गीता में भी कहा है 'अनित्यं असुखं लोकम्' अर्थात् यह लोक अनित्य एवं सुखशून्य अर्थात् दुःखमय है (गीता ९।३३)। दुःख पाप का फल है, अतः जो शुभाशुभ कर्म से दुःखमय संसार को प्राप्त होता है वह आध्यात्मिक दृष्टि से पाप ही है। इसलिये 'सर्वपापों से मुक्त करूँगा' इस वाक्य का

अर्थ है कि जिन शुभाशुभ कर्मों के फलरूप से संसार प्रवाह चला आ रहा है उस सर्व पापमय (दुःखमय) जन्ममरण के प्रवाह से मुक्त कर देता हूँ अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति को मेरा शरणागत अर्थात् आत्मनिष्ठ ज्ञानी भक्त स्वतः ही प्राप्त होता है। स्मृति भी कहती है–"नैव धर्मं न चाधर्मो न चैव शुभाशुभी। यो स्यादेकासने लीनस्तूष्णी किंचिदचिंतयत्"। अर्थात् जो विद्वान् सब चिन्ता छोड़कर एकमात्र आत्मारूप आसन में लीन होकर नीरव (निष्पद) हो गया है उसको न धर्म रहता है और न तो अधर्म रहता है, न शुभ रहता है और न तो अशुभ रहता है। 'अहं मोक्षयिष्यामि' पद का तात्पर्य यह है कि सूर्य का आविर्भाव होने पर ही अन्धकार का स्वतः ही विनाश होता है (सूर्य ने अन्धकार का नाश किया है यह केवल बातमात्र है) उसी प्रकार आत्मा में स्थित विद्वान् स्वतः ही सर्वपाप के प्रतीकरूप संसार समुद्र से मुक्त हो जाते हैं—यह तो आत्मा का स्वतःसिद्ध स्वभाव ही है। अतः सूर्य के द्वारा अन्धकार के नाश की भाँति निष्क्रिय नित्यशुद्ध आत्मा सर्व-पाप से मुक्त कर देता है यह भी अज्ञानी को समझाने के लिए एवं उत्साह देने के लिए बातमात्र है।

अर्जुन अपने कर्तृत्व-अभिमान से युद्ध में स्वजन (कुटुम्ब), गुरु इत्यादि के बध की आशंका करके शोक कर रहा था अब भगवान् समस्त गीताशास्त्र का उपसंहार करके कह रहे हैं कि अज्ञान के कारण ही अर्थात् अपने स्वरूप को यथार्थ भाव से न जानने के कारण ही अज्ञानी व्यक्ति शोक करता है। गीताशास्त्र में ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिए जो जो साधन मैंने बताया है उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हुए जब देहाभिमान का त्यागकर एवं अहंकार से शून्य होकर एकमात्र मेरी ही शरण लोगे अर्थात् अखण्ड, अद्वितीय, आत्मस्वरूप वासुदेव के साथ एक हो जाओगे तब साक्षात् जानोगे कि त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न हुए देहादि से किए हुये पाप-पुण्यरूप कोई भी कर्म तुमको लिप्त नहीं कर सकते। युद्धादि सर्वकर्म होते हुए भी तुम समस्त पापों से स्वरूपतः मुक्त ही हो यह मैं पहले भी कह चुका हूँ (गीता १८।१७) अतः स्वधर्म पालन द्वारा चित्तशुद्धि एवं परमतत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए तुम युद्ध करो किन्तु वृथा शोक न करो क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मेरे साथ एक होकर जब

यह ज्ञान होगा कि 'मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ, मुझसे अतिरिक्त कोई द्वितीय वस्तु नहीं है', तो शोक का कोई अवकाश नहीं रहेगा क्योंकि श्रुति में भी यही कहा है—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० उ० ७) अर्थात् जिसने साक्षात् अनुभव किया है कि एक आत्मा ही सर्वभूतों में विद्यमान है उस एकत्वदर्शी पुरुष को शोक और मोह कैसे हो सकता है ?

इस १८वें अध्याय में समस्त गीताशास्त्र के अर्थ का उपसंहार करके फिर विशेष रूप से अन्तिम श्लोक में (१८।६६ श्लोक में) गीताशास्त्र के अभिप्राय को दृढ़ करने के लिए संक्षेप से उपसंहार करके अब गीता शास्त्रसंप्रदाय की विधि [किस प्रकार से शास्त्रसंप्रदाय (गुरुशिष्य का क्रम) रक्षित हो सकता है उस सम्बन्ध में विधि] श्रीभगवान् बताते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

अन्वय—अतपस्काय ते इदं कदाचन न वाच्यम् तथा न अभक्ताय (वाच्यम्) न च अशुश्रूषवे वाच्यम् , यः च माम् अभ्यसूयति तस्मै अपि न वाच्यम् ।

अनुवाद—जो तपस्वी न हो, जो गुरु तथा ईश्वर का भक्त न हो, सेवापरायण न हो और मुझसे द्वेष रखता हो उस पुरुष से तुम्हें यह शास्त्र कभी नहीं कहना चाहिए ।

भाष्यदीपिका—**अतपस्काय**—तपरहित (असंयत इन्द्रिय) पुरुष को **ते**—तुम्हारे हित के लिए अर्थात् संसारबन्धन का छेदन करने के लिए मेरे द्वारा कहा हुआ **इदम्**—यह गीताशास्त्र अर्थात् गीता नाम का सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ का रहस्य **कदाचन न वाच्यम्**—किसी भी अवस्था में नहीं सुनाना चाहिए ['कदाचन' शब्द 'अभक्ताय' अशुश्रूषवे एवं 'यो मां अभ्यसूयति' इन तीनों के साथ सम्बन्धयुक्त है अर्थात् उनको भी किसी अवस्था में नहीं सुनाना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है ।] **न अभक्ताय वाच्यम्**—तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो अर्थात् गुरु या देवता में भक्ति न रखनेवाला हो उसे कभी (किसी अवस्था में भी) नहीं सुनाना चाहिए **न च अशुश्रूषवे वाच्यम्**—भक्त और तपस्वी होकर जो शुश्रूषु (सुनने का इच्छुक) न हो

[अथवा शुश्रूषा अर्थात् सेवा करनेवाला (गुरु तथा ईश्वर की परिचर्या करनेवाला) न हो तो उसे नहीं सुनाना चाहिए। 'च' शब्द 'वाच्यम्' और 'कदाचन' इन पदों को आकर्षित करने के लिए है (मधुसूदन) ।] **न च यः माम् अभ्यसूयति**—तथा मुझ वासुदेव को असर्वज्ञत्वादि गुणोंवाला प्राकृत मनुष्य मानकर जो मेरे ईश्वरत्व को न जानने के कारण मेरे में आत्मप्रशंसादि दोषों का आरोप करके अर्थात् गीताशास्त्र में मैंने सर्वत्र आत्मप्रशंसा करते हुए अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपन्न करना चाहा है इस प्रकार से दोषारोपण करके तथा मेरे ईश्वरत्व को सहन न करके मुझसे द्वेष रखता हो अथवा मुझ में दोषदृष्टि करता हो तो वह भी इस गीताशास्त्र को सुनने के लिए अयोग्य है। अतः उसे भी यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिए। [तपस्वी, भक्त और सेवापरायण होने पर भी भगवान् में द्वेष रखनेवाले पुरुष को इसे कभी न सुनाना चाहिए, यह कहने का अभिप्राय है।] यहाँ 'च' शब्द 'न वाच्यम् कदाचन' इस वाक्य की अनुवृत्ति के लिए है। तात्पर्य यह है कि यह गीताशास्त्र भगवान् में भक्ति रखनेवाले तथा तपस्वी, शुश्रूषायुक्त [सेवापरायण अथवा सुनने के इच्छुक] तथा दोषदृष्टि से रहित—इन चारों प्रकार के गुणों से विशिष्ट पुरुष को ही सुनाना चाहिए। [एक-एक विशेषण न होनेपर भी वह सुनने के अयोग्य है, इसे बताने के लिए चार 'न' शब्द दिये गये हैं।]

अन्य श्रुतियों में मेधावी को या तपस्वी को इन दोनों का विकल्प देखा जाता है। इसलिए यह समझना चाहिए कि शुश्रूषा और भक्तियुक्त (सेवापरायण तथा गुरु भक्ति और भगवान् में अनुरागयुक्त) तपस्वी को अथवा इन तीनों गुणों से युक्त मेधावी को यह शास्त्र सुनाना चाहिए किन्तु शुश्रूषा और भक्ति से रहित तपस्वी और मेधावी किसी को भी नहीं सुनाना चाहिए [अर्थात् मेधा और तप का विकल्प होनेपर भी भगवदनुरक्ति, गुरुभक्ति औरशुश्रूषा ये तीनों उसमें अवश्य ही रहने चाहिए जो इस शास्त्र के सुनने में योग्य है क्यों कि ये तीनों तो नियम ही हैं—ऐसा भगवान् का मत है (मधुसूदन) ।]

कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् में दोषदृष्टि रखने वाला तो यदि सर्वगुण-सम्पन्न हो तो भी उसे नहीं सुनाना चाहिए। अतः दोषदृष्टिशून्य गुरुशुश्रूषा और भक्तियुक्त पुरुष को ही सुनाना चाहिए—यही शास्त्र-संप्रदाय की विधि है। श्रुति भी

इसीलिए कहती है—'विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा सेवधिष्टेऽहमस्मि। असूकायऽनृजवेऽयताय मा मा ब्रूयाद् वीर्यवती तथा स्याम्' ॥ अर्थात् ब्रह्मविद्या उपदेष्टा ब्राह्मण के पास जाकर कहने लगी—तुम लोग मुझे गुप्त रखो, इससे तुम लोगों का इष्ट (कल्याण) सिद्ध होगा। यदि जीवों के प्रति दया कर इसका प्रकाश करना चाहो तो जो असूया (दोषदृष्टियुक्त) है सरलताशून्य है, तथा तपस्या से हीन है उससे कभी कहना नहीं चाहिये क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति को कहने से उपदेश वीर्ययुक्त नहीं होगा। अर्थात् फल देने वाला नहीं होगा श्रुति ने फिर कहा—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति' (श्वे० उ० ६।१।२३) अर्थात् देवता और गुरु में जिसकी परम भक्ति है उसकी बुद्धि में ही वेद का अर्थ (ब्रह्मविद्या) प्रकाशित होता है।

टिप्पणी (१) **श्रीधर**—इस प्रकार गीतार्थ-तत्त्व का उपदेश करके उसका सम्प्रदाय चलाने के सम्बन्ध में नियम बताते हैं। **इदं ते नातपस्काय वाच्यम्**—यह गीता के अर्थ का तत्व तुझे तपरहित मनुष्य के प्रति अर्थात् स्वधर्मानुष्ठान से हीन के प्रति नहीं कहना चाहिए तथा **न अभक्ताय**—अभक्त के प्रति, गुरु और ईश्वर में भक्ति शून्य के प्रति भी कभी नहीं कहना चाहिए और **न च अशुश्रूषवे**—शुश्रूषु न हो, सुनाना न चाहे अथवा सेवा करने वाला न हो, उससे भी नहीं कहना चाहिए एवं **यो माम् अभ्यसूयति**—जो मुझ परमेश्वर की असूया करता हो अर्थात् मनुष्य मानकर दोषारोपण द्वारा मेरी निन्दा करता हो उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार आरुरुक्षु और आरूढ़ दोनों के आत्यन्तिक संसार दुःख की निवृत्ति के लिए नियमपूर्वक अंश का विभागशः दिग्दर्शन कराकर, उसके फल का भी उपपादन कर ज्ञान और कर्म मोक्ष के साधन हैं इसके अवधारण से सम्पूर्ण वेदान्त और सम्पूर्ण गीता भी निर्विशेष ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं ऐसा सूचन करके 'इति ते ज्ञानम्' इत्यादि से उपक्रान्त शास्त्र का उपसंहार करके अब शास्त्रप्रवर्तकों का इस मोक्षशास्त्र के सम्प्रदाय प्रवर्तन उपयोगी नियम कहते हैं इदम् इत्यादि से। **इदं ते अतपस्काय न वाच्यम्**—इस मोक्षशास्त्र का तुम्हें अतपस्क को ('ऋत तप है, सत्य तप है' इत्यादि श्रुति से उक्त तप का जो आचरण नहीं करता, वह अत

परक है उसको) अर्थात् वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान से विहीन पुरुष को कभी भी उपदेश देना नहीं चाहिए, **न अभक्ताय कदाचन**—स्वधर्मनिष्ठ होने पर भी अभक्त को (अर्थात् जिसकी 'देव में पराभक्ति' इस न्याय से उक्त गुरु और देव की भक्ति से जो रहित है वह अभक्त है उसको) कभी भी उपदेश देना नहीं चाहिए, तपस्वी और भक्तिमान् होने पर भी **न च अशुश्रूषवे वाच्यम्**—अशुश्रूषु से (गुरु शुश्रूषा न करने वाले से) यह मोक्षशास्त्र कभी भी नहीं कहना चाहिए। चकार से मेधावी से अर्थात् ग्रंथ और उसके अर्थ धारण की शक्ति वाले से ही कहना चाहिए, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त होने पर भी मेधाशून्य पुरुष से कभी नहीं कहना चाहिए। तथा चार विशेषणों से युक्त होने पर भी **न च माम् यः अभ्यसूयति**—जो मुझको (वासुदेव को) प्राकृत पुरुष मानकर मेरी निन्दा करता है, उससे कभी भी नहीं कहना चाहिए, अथवा जो मेरा (निर्विशेष परब्रह्म का) तिरस्कार करता है यानी ब्रह्म का निर्विशेषत्व केवलत्व, सजातीय आदि भेदरहितत्व और अद्वितीयत्व अयुक्त है, विदेहकैवल्य भी लोकशास्त्र से विरुद्ध और विदेहकैवल्यरूप परब्रह्म की प्राप्ति भी अयुक्त ही है, इसप्रकार से अद्वैत को (अद्वैत शास्त्र को) न सहता हुआ जो उसकी निन्दा करता है, वह चाहे चारों वेदों को जानने वाला, सौ यज्ञों को करने वाला तथा सगुण की भक्ति करने वाला ही क्यों न हो किन्तु यदि अद्वैत द्वेषी हो तो उसको तनिक भी इस शास्त्र का उपदेश करना नहीं चाहिए, क्योंकि अद्वैतशास्त्र ही उपदेष्टव्य है। अतः अद्वैत में प्रीति करने वाले पुरुष को ही उपदेश देना चाहिए, ज्ञानशास्त्र और उसके अर्थ सहन न कर सकने वाले पुरुष को नहीं देना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है। 'च' कार से मुमुक्षु को जैसे आरोग्यकामी के लिए दिव्य औषधि का उपदेश होता है वैसे ही मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष को ही ज्ञानशास्त्र का उपदेश देना चाहिए, अन्य को नहीं यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—भाष्यदीपिका में इस श्लोक का तात्पर्य स्पष्ट किया गया है।

अब इस शास्त्रपरम्पराको चलानेवाले के लिये फल बताते हैं अर्थात् जो योग्य शिष्य को गीताशास्त्र का उपदेश देता है उसको क्या फल प्राप्त होगा ? यह कहा जाता है—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

अन्वय—यः मयि पराम् भक्तिम् कृत्वा मद्भक्तेषु इदम् परम् गुह्यम् अभिधास्यति सः माम् एव असंशयः एष्यति ।

अनुवाद—जो पुरुष परमभक्ति [अर्थात् परमगुरु परमेश्वर की इस कर्म से (शिष्यको उपदेश देने रूप कर्म से) मैं शुश्रूषा (परिचर्या) कर रहा हूँ इस प्रकार से निश्चित बुद्धि के द्वारा ।] इस परम गुह्य गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में (ग्रन्थरूप से या अर्थरूप से) स्थापित करेगा अर्थात् उन भक्तों को सुनाएगा वह निःसंदेह मुझे ही प्राप्त होगा ।

भाष्यदीपिका—**यः**—जो अर्थात् सम्प्रदायप्रवर्तक जो अध्यापक **मयि**—मुझमें (वासुदेव परमेश्वर में) **पराम् भक्तिम् कृत्वा**—परा भक्ति करके [अर्थात् यह मेरे द्वारा परमगुरु श्रीभगवान् की सेवा ही की जा रही है ऐसा निश्चय करके] **मद्भक्तेषु**—मुझमें भक्ति रखनेवाले पुरुषों में (भक्तों में) [पूर्व श्लोक में भगवद्भक्ति के साथ तपस्या या मेधा तथा शुश्रूषा (सेवा) एवं अनुसूया (दोषदृष्टिशून्यता) इन सब गुणों से जो सम्पन्न है उसको ही गीताशास्त्र का उपदेश किया गया है किन्तु यहाँ भक्ति का पुनः ग्रहण होने से यह सूचित हुआ है कि अन्य सब गुणों से रहित होने पर भी यदि कोई व्यक्ति गुरु तथा भगवान् के प्रति भक्तियुक्त हो तो वह गीताशास्त्र सुनने के लिये योग्य पात्र (अधिकारी) है ।] **इदम् परम् गुह्यम्**—परमकल्याण (मोक्ष) जिसका फल है एवं रहस्ययुक्त अर्थवाला होने के कारण जो गुह्य गोपनीय है अतः जिसको अनधिकारी को सुनाना नहीं चाहिए इस उपर्युक्त कृष्णार्जुन-संवादरूप गीताग्रन्थ को जो **अभिधास्यति**—अभितः अर्थात् ग्रन्थतः और अर्थतः स्थापित करेगा अर्थात् जैसे मैंने तुमको सुनाया है ऐसा ही सुनाएगा (ग्रन्थ का पाठ करके अथवा अर्थकी व्याख्या करके सुनाएगा उसको क्या फल होता है इसको बतलाते हैं— **मामेव एष्यति असंशयः**—वह मुझे ही प्राप्त हो जायगा अर्थात् निःसन्देह (शीघ्रही संसार से) मुक्त हो जायगा, इसमें संशय नहीं करना चाहिए ।

नारायणी टीका—प्रश्न होगा कि जो साधारण पण्डितलोग भक्तों को गीता पाठ करके सुनाते हैं एवं केवल शब्दार्थ की व्याख्या करके सुनाते हैं क्या वे भी उस प्रकार के कर्मों के द्वारा ही भगवान् को निःसन्देह प्राप्त करलेंगे ? ऐसी भावना जिससे न हो इसलिए भगवान् ने कहा 'भक्तिं मयि परां कृत्वा' (मुझमें परा भक्ति कर)। पराभक्ति का लक्षण, साधन एवं फल भगवान् ने इस अध्याय में ५१ से लेकर ५५ वें श्लोक तक स्पष्टरूप से वर्णन किया है। ज्ञाननिष्ठा लक्षण पराभक्ति से युक्त न होकर किसी के लिए ब्रह्मस्वरूप सर्वात्मा भगवान् को प्राप्त होना अर्थात् उसके साथ एक हो जाना एवं संसार से मुक्ति पाना असम्भव है। जो यथायोग्य साधनसम्पत्ति से सम्पन्न होकर ब्रह्मभूत होकर सर्व शोक एवं कामना से रहित हुआ है वही आनन्दस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करनेपर प्रसन्नात्मा एवं सर्वभूतों में समदर्शी होकर ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति को प्राप्त होता है। (गीता १८। ५२-५५) इस पराभक्ति से पर (निर्गुण) तथा अवर (सगुण) ब्रह्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है एवं उसके पश्चात् वह ज्ञाननिष्ठ परमभक्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा में प्रवेश करके ब्रह्म ही हो जाता है। यह स्पष्ट है कि गीतोक्त साधनसंपत्ति से सम्पन्न होकर जिसकी उक्त प्रकार से अपरोक्षानुभूति नहीं हुई है वह किसी को परमकल्याण (मोक्ष) के साधनरूप एवं गुह्य (अति रहस्ययुक्त) गीताग्रन्थ का पाठ करके सुनाने में एवं उसके अर्थ की व्याख्या करने में अधिकारी नहीं है। इस प्रकार से अधिकारी पुरुष ही भगवद्भक्त के हृदय में गीता का यथार्थ अर्थ स्थापित कर सकता है—केवल शब्दार्थ जाननेवाले साधारण पण्डित के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान् ने 'सुनाया है' इस प्रकार से शब्द का व्यवहार न करके कहा 'अभिधास्यति' अर्थात् जो गीता के तात्पर्य को मेरे भक्त के हृदय में इस प्रकार से स्थापित करता है (बैठा देता है) कि श्रोता को किसी भी प्रकार का संशय न रहे। यदि प्रश्न हो कि पराभक्ति द्वारा जब भगवान् में प्रवेश कर जाता है तो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के लिए शास्त्र की व्याख्या करना कैसे सम्भव होता है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि निरन्तर ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करने के पहले ही ऐसा सम्भव होता है। आत्मा सबसे प्रियतम होने के कारण आत्मनिष्ठ पुरुष की स्वतः ही आत्मा के सम्बन्ध में बोलने की या दूसरे भक्त को सुनाने की प्रवृत्ति होती हैं। इसलिए भगवान् ने कहा 'परस्परं बोधयतः कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च' (गीता १०।९) अतः

भगवद्भक्त को गीता की व्याख्या सुनाने में पराभक्तिसम्पन्न ज्ञाननिष्ठ पुरुष की हानि नहीं होती है वरन् अपने स्वरूप का निरन्तर वर्णन करते हुए जैसे दूसरे को परम कल्याण में पहुँचा देता है उसी प्रकार से आत्मा को भी आत्मस्वरूप शुद्धचैतन्य स्वरूप भगवान् में ही प्रविष्ट कराकर शान्त हो जाता है। 'एव' शब्द निश्चय के अर्थ में अर्थात् निश्चय रूप से वह मुझे ही प्राप्त करता है अर्थात् मेरे साथ एक हो जाता है, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इन दोषों से रहित अपने भक्त अधिकारियों के प्रति गीताशास्त्र का उपदेश करनेवाले के लिए फल बतलाते हैं-**यः इमम्**……… **अभिधास्यति**—(जो इस परम गोप्य गीताशास्त्र का) मेरे भक्तों में प्रचार करेगा-मेरे भक्तों के प्रति इसका उपदेश देगा, **मयि पराम् भक्तिम् कृत्वा**-वह मुझमें पराभक्ति करता है। **असंशयः माम् एव एष्यति**—इसलिए निःसन्देह हुआ मुझको ही प्राप्त होता है-यह भाव है।

(२) **शंकरानंद**—तपस्विता, भक्तिमत्ता, शुश्रूषुता, अद्वैत में प्रीतिमत्ता और मुमुक्षुता-ये अधिकारी की शुद्धात्मता में और ज्ञानशास्त्र के उपदेश की योग्यता में लिङ्ग हैं,। इस प्रकार से अधिकारी के लक्षण को कहकर उक्त लक्षणों से लक्षित ज्ञानशास्त्र का उपदेश करनेवाले अधिकारी पुरुष का फल कहते हैं-'यः' इत्यादि से।

यः—जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यति **मद्भक्तेषु**—मद्भक्तों में (संसार, मोक्ष, स्थिति, और बन्ध के हेतु मुझ परमेश्वर का ही मोक्ष की इच्छा से अपने कर्मों से आराधन करते हुए जो यति मेरा भजन करते हैं, वे मद्भक्त हैं उनमें) 'तपस्वी भक्त को' यों पहले कहकर 'मेरे भक्तों में', इस प्रकार फिर भक्ति का ग्रहण कर 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' अर्थात् मुमुक्षु मैं उस प्रसिद्ध आत्मबुद्धि के प्रकाशक देव की शरण में जाता हूँ, 'अमृतस्यैव सेतुः' अर्थात् अमृत का यह सेतु है, 'शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः' अर्थात् शिव के प्रसाद के विना सिद्धि नहीं होती, मोक्ष केवल ईश्वर के प्रसाद से ही प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियों से मुमुक्षुओं को केवल ईश्वर की ही शरण लेनी चाहिए क्योंकि परमेश्वर की ही शरण में रहकर किया गया श्रवण आदि फल देता है। इसलिए ईश्वर में ही दृढ़ भक्ति करनी चाहिए, यह बतलाने

के लिए है—मेरे भक्तों में यानी मेरी केवल शरण में रहनेवालों में और पूर्वोक्त विशेषणों से युक्तों में। यहाँ विषयसप्तमी है अर्थात् आत्मतत्त्व के जिज्ञासु मेरे भक्तों के उद्देश्य से यह अर्थ है, **परमं गुह्यम् अभिधास्यति**—परम-(परम पुरुषार्थ के साधन) गुह्य (गोप्य) यानी अयोग्य अधिकारियों के प्रति न कहने योग्य गीता नामक ज्ञानमय शास्त्र का अभिधान करेगा यानी केवल परम करुणा से ही उपदेश करेगा, शुश्रूषा आदि की अपेक्षा रखकर नहीं। ग्रन्थ और इसके अर्थ का जिस प्रकार से ग्रहण कर सकें उसी प्रकार व्याख्यान करेगा, यह अर्थ है। यदि कहो कि विदेहकैवल्य को चाहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ यति के लिए शिष्यों को गीताशास्त्र का उपदेश देना युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा करना ज्ञाननिष्ठा का और उसके फल का प्रतिबन्धक है 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्व-मेति' अर्थात् ब्रह्म में भलीभाँति अवस्थित पुरुष ही अमृतत्व को प्राप्त होता है। 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि अर्थात् प्रमाद निश्चय मृत्यु है, मैं कहता हूँ इत्यादि श्रुति और स्मृति से ब्रह्मवित्तम के लिए मुक्त के प्रतिबन्धक बहिर्मुखत्व का निषेध किया जाता है तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि इस विषय में आप से प्रश्न होगा कि क्या तत्त्व का उपदेष्टा साधक है या सिद्ध है अथवा संसिद्ध है ? पहला पक्ष तो युक्त नहीं है क्योंकि साधक को आत्मयाथात्म्य (आत्मा के यथार्थ स्वरूप का) विज्ञान नहीं है, अतः वह वाक्यार्थ के उपदेशमात्र के सिवा संशयरहित तत्त्व का उपदेश नहीं कर सकता। जैसे शास्त्र, लक्षण और स्वरूप से वज्रमणि को जाननेवाले पुरुष का ही उक्त मणि का तत्त्वोपदेश युक्तियुक्त होता है, केवल शास्त्र या अध्ययन करने वाले, केवल लक्षण सुननेवाले, ऊपर-ऊपर से देखनेवाले पुरुष का युक्तियुक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मतत्त्व के उपदेश के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसी प्रकार तीसरा पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि सातवीं भूमिका में चढ़कर प्रपञ्च को भूलकर पर प्रयत्न से शरीर कर्म को करनेवाला संसिद्ध यति उपदेश नहीं कर सकता। अतः परिशेष से सिद्ध की ही उपदेश-योग्यता है। यदि कहो कि सिद्ध का भी बाहर की प्रवृत्ति से ज्ञान रुक जाएगा तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि मुमुक्षु शिष्यों को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थ का उपदेश देने से आत्मज्ञान दृढ़ ही होता है। इसलिए मुमुक्षु शिष्यों के लिए सिद्ध यति को उपदेश देना ही चाहिए अन्यथा आचार्य के अभाव का, शास्त्र की निरर्थकता का और

मुमुक्षुओं की अगति का प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए 'स्वयं तीर्ण होकर दूसरों को तारता है' इस न्याय से सिद्ध स्वयं मुक्त होकर दूसरे शरणागत मुमुक्षुओं को बन्ध से छुड़ाता है, वही विद्वान् की ज्ञानसम्पत्ति का ऐहिक फल है। यदि शङ्का हो कि यद्यपि यह कहना ठीक है फिर भी मूढ़ों को उपदेश देने की प्रवृत्ति से द्वैतवासना बढ़ती है, उससे विपरीत प्रत्यय की वृद्धि होती है, उससे सर्वात्मत्वज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है और उससे मोक्ष रुक जाता है। अतः विद्वान् आत्महानि का अङ्गीकार करके कैसे उपदेश करेगा? इस पर कहते हैं **भक्तिम् मयि पराम् कृत्वा**—पुङ्खानुपुङ्ख के समान यानी जैसे बाण के पिछले भाग में एक के पीछे एक पर लगा रहता है वैसे ही शाखापशाखा एक के पीछे एक लगे हुए विषयों में परायण होने पर भी योगी ब्रह्म के अवलोकन में ही मन को स्थिर करनेवाला होता है। जैसे कि सङ्गीत और ताल के अनुसार नृत्य में परायण होने पर भी नटी सिर पर रखे हुए कुम्भ के रक्षण में तत्पर रहती है, इस न्याय से दूसरे को उपदेश देने में प्रवृत्त होने पर भी सिद्ध यति मुझमें (सर्वात्मा अद्वितीय परब्रह्म में) आरोपित हुए सम्पूर्ण दृश्य को चिरकालतक नित्य निरन्तर समाधि के अभ्यास के बल से सन्मात्र-रूप से ग्रहण करता है। इसलिए परा (प्रकृष्टा) उत्तम भक्ति को (सर्वत्र सन्मात्र को ग्रहण करने वाली प्रत्यग् दृष्टि को) प्राप्त करके सदा सर्वत्र सबको केवल ब्रह्मरूप ही देखने वाला विद्वान् (जिसका द्वैतभाव पूर्णरूप से निवृत्त हो चुका है वह) **माम् एव एष्यति असंशयः**—मुझ अद्वितीय निर्विशेष परब्रह्मको ही प्राप्त होगा, उत्क्रमण या लोकान्तर या देशान्तर या देहान्तर को प्राप्त नहीं होगा इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए। यदि परोपदेश में प्रवृत्त हुए ब्रह्मवित् सिद्ध यति की ब्रह्मप्राप्ति में सन्देह हो तो उसका निरसन कर उसकी भी दृढ़ता के लिए 'असंशयः' शब्द कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि सिद्ध ब्रह्मवित् यति कहीं परोपदेश में प्रवृत्त होने पर भी स्वयं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि का परित्याग न करता हुआ ब्रह्मभाव को ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

(३) नारायणी टीका—भाष्यदीपिका में नारायणी टीका संनिविष्ट हुई है।

पूर्व श्लोकोक्त प्रकार से गीताशास्त्र के विद्यादान में क्या फल होता है अब वह बताते हैं—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

अन्वय—मनुष्येषु तस्मात् कश्चित् मे प्रियकृत्तमः न च । तस्मात् अन्यः प्रियतरः भुवि भविता न च ।

अनुवाद—मनुष्यों में उससे बढ़कर मेरा प्रिय करने वाला कोई नहीं है। संसार में उससे बढ़कर मुझे कोई प्रिय नहीं है (तथा न तो हुआ है) न होगा ही।

भाष्यदीपिका—**मनुष्येषु**—मनुष्यों में **तस्मात्**—भक्तों में शास्त्र सम्प्रदाय को स्थापित करने वाले (गीताशास्त्र की परम्परा चलाने वाले) उक्त परा भक्तियुक्त मेरे भक्त से बढ़कर **कश्चित्**—अन्य कोई **मे प्रियकृत्तमः**—अतिशय प्रियकारी [क्योंकि मेरे प्रति अत्यधिक प्रेमयुक्त होकर मेरे स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने के लिए मेरे भक्तों में गीताशास्त्र का तात्पर्य सुनाकर मुझे ही भक्त हृदय में वह दृढ़रूप से प्रतिष्ठित कर देता है। अतः मेरा अतिशय प्रियकर्म करने के कारण वह मेरा प्रियकारी है अतः उससे बढ़कर] **न**—वर्तमान में नहीं है **च**—न कोई पहले था। तथा **तस्मात्**—उस व्यक्ति से बढ़कर **अन्यः प्रियतरः**—प्रियतर (अधिक प्रीति का विषय) **भुवि**—इस लोक में (संसार में) **भविता च न**—(कोई दूसरा) नहीं होगा। ['च' शब्द से सूचित कर रहे हैं कि उससे प्रियतर कोई पहले नहीं था और न तो इस समय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—उससे अर्थात् मेरे भक्तों के प्रति गीताशास्त्र की व्याख्या करने वाले पुरुष की अपेक्षा **मनुष्येषु**—मनुष्यों के मध्य **तस्मात् कश्चिद् मे प्रियकृत्तमः न च**—अन्य कोई भी मेरा अत्यन्त प्रिय करने वाला (मुझे परितुष्ट करने वाला) वर्तमान काल में नहीं है और कालान्तर भविष्य में भी नहीं होगा। **भविता न च ……भुवि**—मेरे लिए भी उससे बढ़कर प्रियतर दूसरा कोई मनुष्य इस समय भूतल पर नहीं है और न कोई कालान्तर (भविष्य) में ही कोई प्रियतर होगा, यह भाव है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार केवल करुणा से ही मुमुक्षुओं को गीताशास्त्र और उसके अर्थ का उपदेश कर रहे यति पुरुष की श्रीभगवान स्तुति करते हैं

'न च' इत्यादि से। **तस्मात्**—जो ब्रह्मवित् यति पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुमुक्षुओं को गीता और उसके अर्थ का उपदेश देता है उससे **प्रियकृत्तमः मे मनुष्येषु कश्चित् न**—(उस गीताशास्त्र के उपदेष्टा यति से) अन्य दूसरा कोई मेरा प्रियकृत्तम [प्रिय का (इष्ट का) यानी मेरी प्राप्ति के अन्तरंग साधन, श्रवण, मनन, ध्यान आदि का जो प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक अनुष्ठान करते हैं वे प्रियकृत् (प्रियकारी) हैं। उन सभी की अपेक्षा उत्तमप्रियकृत्, प्रियकृत्तम है] मनुष्य में यानी स्तोत्र, मंत्र, जप, पूजा आदि बहिरंग साधन करने वालों में कोई नहीं है। बहिरंग साधन करने वालों की अपेक्षा अन्तरंग साधनों का अनुष्ठान करने वाले मेरे अधिक प्रियकारी (प्रियकृत) हैं। उन सबकी अपेक्षा गीता के अर्थ का उपदेष्टा सबसे प्रियकारी (प्रियकृत्तम) है क्योंकि यह तो स्वयं तीर्ण होकर दूसरों के तारण के लिए प्रवृत्त हुआ है (वह केवल अपने तरण में ही प्रवृत्त नहीं है), इसलिए यही प्रियकृत्तम है, दूसरा इस समय कोई प्रियकृत्तम नहीं है, यह अर्थ है, **तस्मात् मे अन्यः प्रियतरः भुवि न च भविता**—भविष्य में भी उससे अर्थात् मेरे भक्तों को गीताशास्त्र का उपदेश देने वाले पुरुष की अपेक्षा अन्य प्रियतर (प्रियकृत्तर) भूमि पर यानी भूलोक में नहीं होगा। संसाररूप दुःखसागर में डूबे हुए मेरे भक्त मुमुक्षुओं का, केवल दया से ही ज्ञानशास्त्र के अर्थ के उपदेश से जो ब्रह्मवित् यति भली-भाँति उद्धार करता है वही तीनों कालों में मेरा (परमेश्वर का) प्रियकृत्तम है, यह तात्पर्य (अर्थ) है।

(२) **नारायणी टीका**—यदि किसी को संशय हो कि ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात् अनुभव करने के पश्चात् ही जब मुक्ति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं अतः निर्विकल्प समाधि में निष्ठा (निरन्तर स्थिति) ही मोक्ष का अंतरंग साधन है तो समाधि अर्थात् निरन्तर ब्रह्मस्थिति को छोड़कर पराभक्तिसम्पन्न ब्रह्मवेत्ता पुरुष की दूसरे भक्तों को शास्त्र व्याख्या सुनाने के लिए प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हुआ पुरुष परमानन्दस्वरूप मुझको तो स्वतः ही प्राप्त होता है किन्तु जो केवल स्वयं तो उस आनन्द में निमग्न रहता है, किन्तु दूसरे के लिए उस आनन्द रस को बाँटने में कार्पण्य करता है वह मुक्त होने पर भी परमयोगी नहीं माना जाता है क्योंकि मैंने पहले ही कहा है कि जो सर्व

प्राणियों के सुख या दुःख को अपने ही सुख दुःख के समान (अभिन्न रूप से) अन्तर में अनुभव करता है वही मेरे मत में परम योगी है (गीता ६।३२) । अतः जो स्वयं तत्त्वज्ञान एवं परमानन्द का अनुभव कर दूसरे को भी उस आनन्दरस को पिलाता है एवं सबके परम कल्याण के लिए मेरे द्वारा गीताशास्त्र का सम्प्रदाय परम्परारूप से चलाता है वही मनुष्यों में सबसे मेरा अधिक प्रिय कार्य करने वाला होता है अर्थात् उससे बढ़कर प्रियतम कार्य करने वाला और कोई नहीं है, और न तो पहले हुआ है । फिर सभी तत्त्वज्ञानी पुरुषों के लिये मैं ही (शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमेश्वर ही) यथार्थ आत्मरूप से निश्चित होने के कारण उनको प्रिय हूँ एवं वे भी मेरे प्रिय हैं । किन्तु जो पराभक्ति युक्त तत्त्वज्ञ महात्मा मेरे द्वारा कहे हुए गीता शास्त्र में प्रतिपादित परमतत्त्व के सम्बन्ध में मेरे भक्तों को ज्ञान देता है वह इस संसार में प्रिय से भी प्रिय होगा अर्थात् उससे बढ़कर प्रियतर दूसरा नहीं होगा ।

प्रश्न होगा कि तुमने गीताशास्त्र में स्वयं ही कहा है कि आत्मज्ञाननिष्ठ पुरुष को कोई कार्य नहीं रहता है (गीता ३।१७) नवद्वारविशिष्ट इस देह में स्थित ब्रह्मनिष्ठ पुरुष न कुछ करता है न कराता है (गीता ५।१३), 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' (गीता ६।२५) अर्थात् आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित होकर कुछ भी चिन्तन न करो किन्तु फिर गीताशास्त्र के सम्प्रदाय को स्थापित करने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष को प्रियतम कह रहे हो । क्या इनमें विरोध नहीं है ? इसके उत्तर में कहा जायगा—नहीं, ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की दृष्टि में (पराभक्तियुक्त ज्ञाननिष्ठ पुरुष की दृष्टि में) आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता (अस्तित्व) नहीं है । समाधि से व्युत्थान होने पर सर्वकर्म ही आत्मा की लीलारूप से गृहीत होते हैं—उस अवस्था में वक्ता, श्रोता एवं वचन सभी ब्रह्ममय हो जाते हैं । आत्मा सबसे प्रियतम होने के कारण उनके चिन्तन में जिस प्रकार आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार उनके स्वरूप के सम्बन्ध में बोलने से भी वैसा ही आनन्द होता है । प्रियतम आत्मा के प्रति अहैतुक भक्ति के कारण ही जिस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को परम योगी कहा गया है (गीता ६।३२) उसको स्वतः ही दूसरे भक्तों को आत्मा के सम्बन्ध में [जैसे गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने अर्जुन को सुनाया वैसे ही] सुनाने के लिए एवं तात्पर्य को उनके

अन्तर्हृदय में स्थापित करने (बैठाने) के लिए प्रवृत्ति होती है। इसमें उनको आत्मस्वरूप से किसी प्रकार की च्युति न होने के कारण कोई हानि नहीं होती है क्योंकि वक्ता आत्मा है, श्रोता भी आत्मा है एवं आत्मा ही वक्तव्य विषय है, अतः व्याख्या करते हुए भी वह ब्रह्म कर्म समाधि के द्वारा ब्रह्म में ही स्थित रहता है (गीता ४।२४)। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की गीताशास्त्र सम्प्रदाय के प्रवर्तन की (चलाने की) प्रवृत्ति भी इच्छापूर्वक या किसी प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं होती है बल्कि यह तो परमयोगी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का स्वभाव ही है क्योंकि आत्मारूप हरि का गुण ऐसा ही है। इसलिए भागवत में कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयः निर्ग्रन्थाऽपि उरूक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकिं भक्तिम् इत्थंभूतगुणो हरिः॥

पूर्ववर्ती दो श्लोकों में गीताशास्त्र सम्प्रदाय के प्रवर्तन करनेवाले विद्वान को क्या फल प्राप्त होता है, यह कहा गया है। अब जो इस गीताशास्त्र का अध्ययन करता है उसको क्या फल होता है, यह कहा जा रहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

अन्वय—यः च आवयोः इमम् धर्म्यम् संवादम् अध्येष्यते तेन ज्ञानयज्ञेन अहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः।

अनुवाद—जो पुरुष हमारे इस धर्ममय संवाद का (श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का) अध्ययन करेगा उसके द्वारा मेराज्ञान यज्ञ से पूजन होगा (अतः उसको ज्ञानयज्ञ का फल मिलेगा) ऐसी मेरी मति (विचार) है।

भाष्यदीपिका—यः च—फिर जो मनुष्य **आवयोः**—हम दोनों के **इमम् धर्म्यम् संवादम्**—सम्वादरूप (कथोपकथनरूप) इस धर्मयुक्त गीताग्रन्थ को [जो धर्म से अनपेत अर्थात् व्याप्त है उसे 'धर्म्य' कहा जाता है। अतः 'धर्म्य' शब्द का अर्थ है धर्म सम्मत अतः पुण्यजन्य] **अध्येष्यते**—अध्ययन करेगा अर्थात् जपरूप से पाठ करेगा **तेन**—उस अध्ययन करनेवाले के द्वारा **ज्ञानयज्ञेन**—चौथे अध्याय में

कहे हुए द्रव्य यज्ञादि की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ से [विधियज्ञ, जपयज्ञ, उपांशुयज्ञ और मानसयज्ञ—इन चार यज्ञो में ज्ञानयज्ञ मानस है, इसलिए श्रेष्ठतम है। 'अतः उस ज्ञानयज्ञ की समानता से गीताशास्त्र के अध्ययन की स्तुति करते हैं (अर्थात् यह अर्थवाद है) अथवा यह फलविधि है अर्थात् इसका देवतादि की उपासनारूप ज्ञान यज्ञ के समान फल होता है। देवतादि की उपासना से जिस प्रकार देवतादि में आत्म-भाव होता है, उसी प्रकार गीताशास्त्र के अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञ द्वारा परमेश्वर की ही उपासना होने के कारण उसका भी फल परमेश्वर में आत्मभाव (ऐक्यभाव अर्थात् सर्वात्मभाव) होगा। वही ज्ञाननिष्ठा या मोक्ष है। अतः यह सिद्ध होता है कि मोक्ष ही गीता के अध्ययन का फल है।] इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि **अहम् इष्टः इति मे मतिः**—उस अध्ययन से मैं (ज्ञानयज्ञ द्वारा) पूजित होता हूँ [अर्थात् जिस प्रकार देवता की उपासना करके उपासक देवता को प्राप्त होता है उसी प्रकार से गीताशास्त्र के अध्ययन रूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा मुमुक्षुभक्त मुझे प्राप्तकर मुक्त हो जाता है यह मेरा मत (सिद्धान्त) है एवं यही मैं पहले भी कह चुका हूँ (गीता ७।२३)। साधारण मनुष्य यद्यपि गीता के अर्थको न समझते हुए ही उसका पाठ करता है। और क्योंकि मैं ही द्रष्टा श्रोता रूप से सबके हृदय में स्थित हूँ अतः उसे सुननेवाले मुझको तो ऐसी बुद्धि ही होती है कि यह मेरा ही प्रकाशन कर रहा है। अतः इसके (गीता के) जपमात्र से ही वह ज्ञानयज्ञ के फलरूप मोक्ष को प्राप्तकर लेता है। ऐसी स्थिति में जो अन्तकरण की शुद्धि और ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अर्थ का ध्यान रखते हुए पाठ करता है उसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है ? (मधुसूदन)]

कहने का अभिप्राय यह है कि किसी को नाम से पुकारने पर जैसे वह व्यक्ति नाम सुनता हुआ ही पुकारनेवाले के पास उपस्थित होता है उसी प्रकार गीता भगवान् का हृदय होने के कारण ('गीता मे हृदयम् पार्थ' इस प्रकार की उक्ति से गीताको भगवान् का हृदय माना जाता हैं इसके कारण) जो मेरे गीतारूपी हृदय को पकड़कर अर्थात् गीता मेरा हृदय (सर्वस्व) है ऐसा समझकर अध्ययन करता है एवं मुझको ही सुनाता है उसके निकट मेरा स्वरूप प्रकट होगा, इस विषय में कोई संशय नहीं है। अतः भगवान् की उक्ति को स्तुतिवाद न मानकर फलविधि मानना ही युक्तिसंगत है।

इसलिए भाष्यकारने भी पहली व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर फलदृष्टि की विधि से पुनः व्याख्या की।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पाठ करने वाले के लिए फल बतलाते हैं। **आवयोः इमम् धर्म्यम् संवादम्**—हम कृष्ण और अर्जुन दोनों के इस धर्ममय संवाद का जो **यः अध्येष्यते**—अध्ययन करेगा (जपरूप से पाठ करेगा), **तेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टः स्याम् इति मे मतिः**—उस पुरुष के द्वारा मैं सर्वयज्ञों में श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा, यह मेरी मान्यता है। भाव यह है कि यद्यपि वह गीता के अभिप्राय को न समझता हुआ ही केवल जप करता है तो भी उसे सुनने वाले मुझ परमेश्वर का यह भाव होता है कि वह मुझे ही प्रकट करता है। जैसे जगत् में कोई इच्छा करके ही बिना किसी उद्देश्य से कभी किसी के नाम का उच्चारण करता है तब वह सुनने वाला यह समझ कर कि यह मुझे ही बुला रहा है उसके पास चला आता है, वैसे ही मैं भी उसके निकट हो जाता हूँ। इसी कारण अजामिल तथा क्षत्रबन्धु आदि के किसी तरह नामोच्चारणमात्र से ही मैं उन पर प्रसन्न हो चुका हूँ, वैसे ही इस पर भी प्रसन्न हो जाऊँगा—यह भाव है।

(२) शंकरानन्द—जो मुमुक्षु श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन गीता का पारायण करता है, उसका फल कहते हैं, 'अध्येष्यते' इत्यादि से। **आवयोः संवादम् धर्म्यम् इमम् यः च अध्येष्यते**—तुम्हारे और मेरे—तुम्हारे और—हम दोनों के संवाद (संलापरूप) इस धर्म्य (धर्म के यानी मोक्ष के कारण ज्ञान की सिद्धि का हेतु होने से धर्म से युक्त) ग्रंथ का अर्थात् गीताशास्त्र का जो मुमुक्षु ब्राह्मण आदि श्रद्धा से और भक्ति से अर्थज्ञान पूर्वक अध्ययन करेगा अर्थात् नित्य नियम से पढ़ेगा, **तेन ज्ञानयज्ञेन अहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः**—उसके (अर्थज्ञान पूर्वक गीता में प्रवृत्ति करने वाले मेरे भक्त के) द्वारा मैं परमेश्वर सदा ज्ञानयज्ञ से (आत्मैकत्वविषयक ज्ञानरूप यज्ञ से) इष्ट यानी आराधित होऊँगा। अर्थज्ञानपूर्वक गीता का पठन होता है और ब्रह्म ही उसका अर्थ है, अतः उसके अनुसंधान से कैवल्य लक्षण जो फल है उसको गीता का पढ़ने वाला क्रम से प्राप्त करता है, यह मेरा मत है।

(३) नारायणी टीका—इस श्लोक की नारायणी टीका के लिये इससे अगले श्लोक (७१ वें श्लोक) की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

वक्ता और अध्ययन का फल बतलाकर अब श्रोता का फल बताते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—यः नरः श्रद्धावान् असूयः च सन् शृणुयाद् अपि मुक्तः पुण्यकर्मणाम् शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ।

अनुवाद—जो मनुष्य श्रद्धायुक्त एवं अनसूय (दोषदृष्टि रहित) होकर इस गीताशास्त्र को सुनता है वह भी पापों से मुक्त होकर पुण्यकर्माओं को (अग्निहोत्रादि पुण्यकर्म करने वाले पुरुषों को) जो शुभ (स्वर्गादि) लोक प्राप्त होते हैं उन लोकों को प्राप्त होता है ।

भाष्यदीपिका—**यः नरः**—जो मनुष्य **श्रद्धावान्**—श्रद्धायुक्त **अनसूयः च**—और दोष दृष्टि रहित होकर ['यह जोर जोर से क्यों पढ़ता है अथवा असम्बद्ध-रूप से क्यों पढ़ता है' इस प्रकार की दोष दृष्टिरूपा असूया से रहित होकर (मधुसूदन) ।] **शृणुयात् अपि**—इस गीताग्रन्थ को केवल सुनता ही है ['अपि' शब्द का यह तात्पर्य है कि फिर सुनने के पश्चात् अर्थ जानने वाले की तो बात ही क्या है ?] **सः अपि**—वह व्यक्ति भी अर्थात् वह अर्थबोध के विना केवल अक्षरों को सुनने वाला भी **मुक्तः**—पापों से मुक्त होकर **पुण्यकर्मणाम्**—अग्निहोत्र, अश्वमेधादि पुण्य कर्म करने वालों के **शुभान् लोकान्**—शुभ अर्थात् प्रशस्त (मंगलकर-श्रेष्ठ) लोकों को **प्राप्नुयात्**—प्राप्त होता है [फिर अर्थबोध सहित सुनने वाले ज्ञानवान् के विषय में तो कहना ही क्या है ?]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—दूसरे के पाठ करते समय जो कोई दूसरा सुनता है उसके लिए भी फल बताते हैं । **श्रद्धावान्**..........**नरः**—जो श्रद्धायुक्त मनुष्य केवल सुनता ही है, श्रद्धावान् होते हुए भी 'यह उच्चस्वर से गीता का पाठ क्यों करता है ? या शृङ्खलारहित पाठ क्यों करता है' ऐसी दोषदृष्टि करता है, तो इस दोषदृष्टि को हटाने के लिए कहते हैं कि 'अनसूय' होकर अर्थात् परदोषदर्शन रहित

होकर जो सुनता है **सः अपि…कर्मणाम्**—वह भी समस्त पापों से मुक्त होकर अश्वमेधादि पुण्यकर्म करनेवालों के लोकों को प्राप्त होता है।

(२) **शंकरानन्द**—वक्ता और अध्येता का फल कहकर अब श्रोता का फल कहते हैं। विचार और अध्ययन में अनधिकारी जो भी कोई मनुष्य यानी केवल मनुष्याकृति, वह चाहे मूढ़ हो, वृद्ध हो या स्त्रीजन हो चाहे जो भी कोई हो श्रद्धावान् (वक्ता में, गीता में परमेश्वर में श्रद्धा और भक्ति से सम्पन्न) तथा असूया आदि दोषों से रहित होकर नित्य इस गीताशास्त्र को सुनता है, **यः नरः श्रद्धावान् अनसूयः च शृणुयात् सः अपि……'पुण्यकर्मणाम्**—वह श्रोता भी ज्ञान या अज्ञान से किये गये पापों से मुक्त होकर पुण्यकर्मवालों के (अश्वमेध आदि यज्ञ करनेवालों के) जो लोक हैं उन शुभ (अत्यन्त सुख देनेवाले) लोकों को प्राप्त होता है, अर्थात् नित्य गीता का केवल श्रवण ही करने से सत्य आदि पुण्य लोकों को प्राप्त होता है, यह मेरा मत है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोकों का तात्पर्य यह है—

भगवान् के निष्कपट भक्त के बिना दूसरा कोई तपस्वी अथवा सेवापरायण व्यक्ति हो तो भी उसको परमकल्याण का साधन एवं अतिरहस्ययुक्त (गुह्य) गीताशास्त्र को सुनाना नहीं चाहिए।

(१) **गीताशास्त्र के वक्ता का फल**—जिसने गीताशास्त्र में कही हुई साधन-सम्पत्तियों से सम्पन्न होकर चित्तशुद्धि के द्वारा यथाक्रम पराभक्ति या ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त होकर शुद्धात्मा के (भगवान् वासुदेव के) स्वरूप को साक्षात् जान लिया है वही ब्रह्मनिष्ठ पुरुष गीताशास्त्र का वक्ता होने के योग्य (अधिकारी) है क्योंकि गीता स्वयं ब्रह्मविद्या (परा विद्या) है। श्रुति में कहा है 'अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु० उ०) अर्थात् पराविद्या उसको ही कहते हैं जिससे अक्षर (अविनाशी) अखण्ड, अद्वय आत्मस्वरूप को जाना जाता है। अतः सर्वात्मा ब्रह्म का (वासुदेव का) जिसने समाधियोग से साक्षात् अनुभव नहीं किया है वह ब्रह्मविद्यारूप गीताशास्त्र की व्याख्या कैसे कर सकता है! जो ब्रह्मज्ञ पुरुष भगवद्भक्तको भगवान् का रूप मानकर गीताशास्त्र सुनाता है अर्थात् ब्रह्म होकर ब्रह्मको ब्रह्मविद्यारूप गीताशास्त्र सुनाता है

वह तो कहने के समय ही मुक्त है एवं उसके पहले भी भगवान् को प्राप्तकर ज्ञाननिष्ठा से मुक्त ही हो गया था। अतः आगे भी वह मुक्त ही रहेगा इसमें क्या संशय है ?

(२) **अध्येताका फल**—जो स्वयं जपरूप से गीताशास्त्र का अध्ययन करता है वह ज्ञानयज्ञ के द्वारा भगवान् की पूजा करता है। गीता भगवान् का हृदय है। अतः गीता-अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञ द्वारा भगवान् के हृदय की (आत्मा की) तृप्ति (प्रसन्नता) होती है। अतः भगवान् की कृपा से इसप्रकार से ज्ञानयज्ञ करनेवाला भक्त चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञाननिष्ठा को एवं उसके पश्चात् सर्वपापरूप संसार से मोक्ष को प्राप्त करता है। किन्तु यदि कोई भगवान् को विशेष देवतारूप से मानकर गीता के अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञ के द्वारा उसकी पूजा करता है तो वह अपने इष्टस्वरूप (पूज्य देवता के स्वरूप) को प्राप्त कर लेता है (गीता ७।२३)। यही भगवान् की तृप्ति के लिए गीता अध्ययन एवं विशेष देवता की तृप्ति के लिए गीता अध्ययन में विलक्षणता है—

(३) **श्रोता का फल**—यदि कोई गीताशास्त्र के अर्थ-बोध के बिना केवल अक्षर को ही श्रद्धावान् एवं दोषदृष्टि रहित होकर सुनता है तो वह भी सर्व पापों से मुक्त होकर अग्निहोत्रादि पुण्यकर्म करने वालों को जो शुभलोक प्राप्त होता है उसी लोक को अपनी वासना के अनुसार प्राप्त हो जाता है। फिर अर्थबोध के साथ सुननेवाले के विषय में तो कहना ही क्या है अर्थात् यदि इस प्रकार से सुननेवाला मुमुक्षु हो तो श्रवणरूप पुण्यकर्मों से वह चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके केवल अधर्मरूप पापों से ही नहीं परन्तु समस्त पापरूप ससांर-गति से मुक्त होकर परम शुभलोक जो विष्णुपद (परमानन्द स्वरूप मोक्षपद) है उसे प्राप्तकर सकता है। श्लोक में 'मुक्त' शब्द काय ही तात्पर्य है।

शिष्य अर्जुन भगवान् के द्वारा कहे हुए गीताशास्त्र का अर्थ ग्रहण करने में समर्थ हुआ कि नहीं ? इसे जानने के लिए भगवान् प्रश्न कर रहे हैं क्योंकि यदि यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने में शिष्य असमर्थ हो तो गुरु का कर्तव्य है कि वह दूसरे उपाय को स्वीकार करके किसी भी प्रकार से शिष्य को कृतार्थ करे अर्थात् दयालु गुरु को शिष्य की ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त उस को उपदेश देना चाहिए। इस प्रकार से आचार्य का कर्तव्य प्रदर्शित करने के लिए भी भगवान् अर्जुन से पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! त्वया एकाग्रेण चेतसा कच्चित् एतत् श्रुतम् ? हे धनंजय ! कच्चित् ते अज्ञानसम्मोहः प्रनष्टः ।

अनुवाद—हे अर्जुन ? क्या मेरे कहे हुए इस गीताशास्त्र को तुमने एकाग्र चित्त से सुना ? हे धनंजय ? क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?

भाष्यदीपिका—**हे पार्थ**—हे अर्जुन [तुम मेरी परमभक्त पृथा के (कुन्ती के) पुत्र हो एवं स्वयं भी मेरे शिष्य हो, अतः मेरा अन्य भक्त दूसरे पुरुष से गीताशास्त्र को सुनकर जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो तुम मेरे परमभक्त एवं शिष्य होने के कारण मुझसे इस गीताशास्त्र को सुनकर मोक्ष प्राप्त कर लोगे इस विषय में क्या संशय रह सकता है ? यही सूचित करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' कहकर सम्बोधित किया ।] **त्वया एकाग्रेण चेतसा**—तुमने एकाग्रचित्त द्वारा अर्थात् अन्य विषय की ओर न जानेवाले चित्त से अर्थात् मेरे द्वारा कहे हुए उपदेश में चित्त समाहित कर **कच्चित्**—क्या [यह पद प्रश्न के लिए है । स्नेह-पूर्वक जब प्रश्न किया जाता है तब 'कच्चित्' शब्द का प्रयोग होता है ।] **एतत् श्रुतम्**—यह गीताशास्त्र श्रुति एवं अवधारित हुआ है ? [जिस गीताशास्त्र को मैंने तुम्हे सुनाया तो क्या तुमने उसको एकाग्रचित्त से सुना ? एवं सुनकर उसका अवधारण (बुद्धि में यथार्थ रूप से धारण किया यह कहने का अभिप्राय है ।] **हे धनंजय**—हे अर्जुन ! [तुमने जब मेरा शिष्यत्व वरण किया है तो तुम मेरी कृपा से अवश्य ही मोक्षरूप धन की जय कर लोगे एवं जब तक उस जय को प्राप्त न करो तब तक तुम्हारे देहरूप रथ का सारथि होकर मैं यथार्थ मार्ग में तुम्हे चालित करूँगा ही, इस प्रकार का आश्वासन देने के लिए भगवान् ने पहले 'पार्थ' कहकर अब फिर 'धनंजय' शब्द से सम्बोधित किया ।] **कच्चित्**—क्या **ते**—तुम्हारा **अज्ञान-सम्मोहः**—अज्ञान से उत्पन्न हुई स्वाभाविक अविवेकता (बुद्धि की विकलता-विपर्यय) **प्रनष्टः**—प्रकृष्ट रूप से (अर्थात् जिससे उस प्रकार मोह का पुनः उदय (उत्पत्ति) न हो सके इसप्रकार से) नष्ट हो गया ? [जिस मोह का नाश करने के लिए मुझे

उपदेश देने का परिश्रम हुआ है एवं तुम्हें भी इस शास्त्र का श्रवण करने के लिए परिश्रम स्वीकार करना पड़ा, तो क्या तुम्हारा वह मोह सर्वप्रकार से (अर्थात् मूल अविद्या सहित) नष्ट हो गया ? यदि अभी मोह बाकी हो तो फिर उपदेश करूँगा–यही भगवान् के प्रश्न का तात्पर्य है ।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—यदि पूर्ण बोध न हुआ हो तो फिर दुबारा उपदेश दूँगा–इस आशय से कहते हैं—**कच्चित्……धनंजय**—यहाँ 'कच्चित्' शब्द प्रश्न के अर्थ में है । भाव यह है कि—हे अर्जुन ! क्या तुमने इस गीताशास्त्र को एकाग्रचित्त से सुना ? हे धनंजय ! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित अत्यन्त मोह (अर्थात् तत्वज्ञान के अभाव से उत्पन्न हुआ विपरीत भाव) प्रनष्ट अर्थात् भली-भाँति नष्ट हो गया है ? अन्य अर्थ स्पष्ट है ।

(२) शंकरानन्द—शास्त्रार्थ के भलीभाँति ज्ञात हो जाने पर शिष्य कृतार्थ ही हो जाएगा । यदि शिष्य को उसका परिज्ञान न हुआ हो तो दूसरे प्रकार से उसका बोधन कराकर उसके अज्ञान, विपरीत ग्रहण आदि दोषों को दूर करके उसे कृतार्थ कर देना चाहिए, यह आचार्य का धर्म है । ऐसा उपदेश देनेवाले आचार्यों का सूचन करने के लिए अपने बोधित अर्थ का अर्जुन ने ग्रहण किया है या नहीं किया है ? इसे जानने की इच्छा से श्रीभगवान् अर्जुन से पूछते हैं—**हे पार्थ ! त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रुतम् कच्चित् किम्**—तत्त्व के जानने की इच्छावाले तुमने मेरे द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्व प्रकाशक वाक्यों को एकाग्र (सावधान) चित्त से सुन लिया क्या ? मेरे द्वारा कहे गये सम्पूर्ण विषय को सावधान होकर तुमने ग्रहण किया या नहीं, यह तुम मुझसे कहो । इस प्रकार उपदेश को पूछकर उसके कार्य को पूछते हैं, **कच्चित् ते अज्ञानसम्मोहः प्रनष्टः**—तुम्हारा अज्ञानसम्मोह [यानी आत्मतत्त्व को ढाँकने-वाली अन्धकार के समान आवरणरूप अविद्या, उससे जनित सम्मोह (यानी विपरीत ग्रहण)] नष्ट हुआ क्या ? अर्थात् नाश को प्राप्त हुआ ? मेरे द्वारा कहे गये वचन से उत्पन्न ज्ञान से तुम्हारा बुद्धिभ्रम नष्ट हुआ अथवा नहीं ? यह अर्थ है ।

(३) नारायणी टीका—[शब्दार्थ भाष्यदीपिका में स्पष्ट किया गया है ।] जिसको सद्गुरु भाग्यवश प्राप्त होता है उससे परमदयालु गुरु अन्त में ऐसा ही प्रश्न

करता है क्योंकि उत्तम गुरु का लक्षण यह है कि जबतक शिष्य गुरु के उपदेश का तात्पर्य एकाग्रचित्त से सुनकर भी समझ नहीं सकता अथवा समझकर भी उसका पालन नहीं कर सकता तबतक सद्गुरु शिष्य को पुनः पुनः सहज से सहज भाषा में उपाय बतलाते जाते हैं एवं उसको पालन करने की शक्ति देते रहते हैं। शिष्य की अटूट (अचल) श्रद्धा एवं एकाग्रचित्त से (अन्य विषय में चित्तको प्रचलित न करके केवल गुरु के वाक्य में ही चित्त समाहित रखकर) गुरु का उपदेश सुनना, समझना एवं अक्षरशः पालन करना और गुरु के पक्ष से "शरणागत शिष्य का उद्धार करूँगा। ही" इस प्रकार का दृढ़संकल्प रहना—इन दोनों का जब नदी एवं समुद्र के समान संगम होता है तभी परिच्छिन्न जीव परमब्रह्मरूप गुरु में विलय को प्राप्त होकर सर्वपरिश्रम से (सर्वदुःख से) मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप हो जाता है। गुरु—शिष्य (शुद्ध सत्त्वमय आत्मा श्रीकृष्ण एव जीव अभिमानी अर्जुन) के सम्वाद का यही रहस्य है।

इस प्रकार से पूछे जाने पर भगवान् के उपदेश से अपने लिए पुनः उपदेश का प्रयोजन नहीं है, यह सूचित करने के लिए अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् मोहः नष्टः स्मृतिः लब्धा गतसन्देहः स्थितः (अस्मि) तव वचनम् करिष्ये।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा हे अच्युत ! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया अर्थात् संसार का अनर्थहेतु जो अज्ञान है वह नष्ट हो गया मैं आत्मतत्त्वविषयक स्मृति (आत्मज्ञान) को प्राप्त हो गया, मेरा सम्पूर्ण सन्देह दूर हो गया, मैं स्थित हूँ, अर्थात् मेरी बुद्धि स्थिर हो गई। अतः (निःसंदेह होकर) आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं स्थिरबुद्धि हूँ [एवं जब तक जीवित रहूँगा तब तक आपके वचनों का पालन करूँगा।]

भाष्यदीपिका—**अर्जुन उवाच**—अर्जुन ने कहा हे **अच्युत**—तुम कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हो, अतः मुझसे तुमने अपने नित्यशुद्ध, स्थिर, अचल,

सनातन स्वरूप में पहुँचाने के लिए जो कुछ कहा है वह मैंने एकाग्रचित्त से सुना है एवं सुनते-सुनते मेरी चित्तवृत्तियाँ भी तदाकारा होकर उस अच्युत परमशान्तिपद का संस्पर्श प्राप्त की है। अतः मैंने अपने अनुभव से यह निश्चय कर लिया है कि तुम मेरा आत्मा ही हो इस प्रकार से कृतज्ञता का प्रकाशन करने के लिए अर्जुन ने भगवान् को 'अच्युत' शब्द से सम्बोधित किया **त्वत्प्रसादात्**—तुम्हारी कृपा से अर्थात् मेरी कोई सामर्थ्य नहीं थी किन्तु केवल तुम्हारे अनुग्रह के बल से ही **मोहः नष्टः**—मेरा अज्ञानजन्य मोह (जो कि समस्त संसाररूप अनर्थ का कारण था और समुद्र के समान दुस्तर था वह) नष्ट (च्छिन्न) हो गया क्योंकि तुम्हारी कृपा से **स्मृतिः लब्धा**—मैंने आत्मतत्त्व विषयक ऐसी स्मृति भी कर ली है जिसके प्राप्त होने पर समस्त अज्ञान की ग्रन्थियाँ विच्छिन्न हो जाती हैं। [अतः सर्वप्रकार के संशयरूप प्रतिबन्धक से शून्य आत्मज्ञान को तुम्हारी कृपा से प्राप्त करके मेरा मोह नष्ट हो गया है, ऐसा कहने का तात्पर्य है।] इस मोहनाश विषयक प्रश्नोत्तर से यह बात निश्चित रूप से दिखलाई गई है कि जो यह अज्ञानजनित मोह का नाश और आत्मविषयक स्मृति का लाभ है, बस इतना ही समस्त शास्त्रों के अर्थज्ञान का फल है। इसी प्रकार (छान्दोग्य) श्रुति में भी 'मैं आत्मा को न जानने वाला शोक करता हूँ' इस प्रकार का प्रकरण उठाकर आत्मज्ञान होने पर समस्त ग्रन्थियों का विच्छेद बतलाया है। तथा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' अर्थात् हृदय की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् वहाँ एकता का अनुभव करने वाले को कैसा मोह और कैसा शोक ? इत्यादि मंत्रवर्ण भी हैं। **स्थितोऽस्मि गतसंन्देहः**—अब मैं तुम्हारे उपदेश द्वारा सर्वसंशय से मुक्त हुआ हूँ एवं तुम्हारी आज्ञा का सर्वप्रकार से पालन करने के लिए स्थित हूँ अर्थात् दृढ़संकल्प हूँ तव **वचनं करिष्ये**—मैं जीवन पर्यन्त तुम्हारे वचन का (परमगुरु श्रीभगवान् की आज्ञा का) पालन करूँगा। अभिप्राय यह कि मैं तुम्हारी कृपा से कृतार्थ हो गया हूँ, मेरा कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है (तुम्हारे हाथ के यंत्ररूप से जैसा कराओगे वैसा ही करूँगा) [इस प्रकार से भगवान् के अर्जुन को उपदेश देने के प्रयास की सफलता कहकर अर्जुन ने उन्हें पूर्णतया सन्तुष्ट किया। इस श्लोक से 'तद्धास्य विजज्ञौ' इस श्रुति के समान

गीताशास्त्र का अध्ययन करने वाले को भगवान् की कृपा से अवश्य ही मोक्षरूप फल में परिणत होने वाला ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा कहकर शास्त्र के फल का उपसंहार किया गया है (मधुसूदन) ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—कृतार्थ हुआ—अर्जुन बोला—**नष्टः मोहः**·········**वचनं तव**—(हे अच्युत !) मेरा आत्मविषयक मोह नष्ट हो गया, क्योंकि आपकी कृपा से 'मैं यह हूँ' इस प्रकार स्वरूप को पहचान लेना रूप स्मृति को मैं पा चुका हूँ । इसलिए मैं स्थित हूँ अर्थात् युद्ध करने के लिए तैयार खड़ा हूँ, मेरा धर्म विषयकसन्देह चला गया है । अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

(२) **शंकरानन्द**—उस प्रकार से प्रश्न करने वाले भगवान् के प्रति कार्य के कथन से कारण की सिद्धि उक्तप्राय ही हो जाएगी, ऐसा मानकर भगवान् के उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान का फल कहने के लिए अर्जुन बोले **मे मोहः हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् नष्टः**–जन्म जरा, और मरणरूप, दुःख के प्रवाह का कारण, सम्पूर्ण अनर्थ का हेतु दुरन्त मोह जो स्वकीय अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार के समान था, हे अच्युत (कूटस्थ भगवान्) आपके प्रसाद से (आपके उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान से) वह नष्ट हो गया । अर्थात् स्वरूप से अदर्शन को प्राप्त हो गया । इस प्रकार भगवान् के द्वारा उपदिष्ट वाक्यों के और उनके अर्थों के ग्रहण को कार्य के प्रकाशन द्वारा बतलाकर अर्जुन भगवान् के प्रसाद से सिद्ध अपने अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति का फल कहते हैं **स्मृतिः लब्धा**—अविद्याकृत् कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी संसार से निर्मुक्त, नित्य, कूटस्थ, असङ्ग, चिद्रूप, निष्कल, निष्क्रिय, शान्ति स्वरूप जो आत्मा सम्पूर्ण वेदान्तों में प्रसिद्ध है, वही मैं हूँ, ऐसी स्वात्मतत्वविषयक स्मृति प्राप्त हुई । जैसे प्रमाद से विस्मृत हुए पदार्थ की आप्त के वाक्य से स्मृति होती है वैसे ही आप के प्रसाद से सम्पूर्ण हृदयग्रंथियों के निर्मूलन के कारण मुझको स्मृति प्राप्त हुई है । इसलिए मैं **गतसन्देहः**—[स्वतत्वनिर्धारण के विषय में गत यानी अभाव को प्राप्त हुए हैं संदेह (स्वजनों का वधरूप दोष किया जा सकता है या नहीं, मेरे द्वारा किये गये कर्मों से लेप है या नहीं, आत्मा कर्ता है या नहीं इत्यादि दो कोटि वाले संशय) जिससे वह गतसन्देह है ।] 'गतसन्देह' इससे विपरीत भाव की और उसके कारण की

निःशेष निवृत्ति सूचित हुई। विपरीत भाव और उसके कारण का सद्भाव होने पर सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए सन्देह के नाश से सम्पूर्ण विकल्पों का नाश सिद्ध होता है। इस प्रकार आपके उपदेश से उत्पन्न हुए विज्ञान से सम्पूर्ण अनर्थों के बीजभूत मोह के कारणसहित नष्ट हो जाने से आत्मयाथात्म्य विज्ञान को प्राप्त करने वाला मैं गतसन्देह होकर, **स्थितः अस्मि**--अक्षोभ्य स्वभाव से (अविचलित आत्मस्वरूप में) स्थित हूँ। अविद्या, उसके धर्म, उसके कर्म, उसकी अवस्था से निर्मुक्त अविक्रत्य आत्मस्वरूप ही हूँ। यद्यपि इससे अन्य दूसरा कुछ भी मुझको ज्ञातव्य नहीं है तथापि, **ते वचः करिष्ये**--मेरे गुरुभूत आप ईश्वर के वचनों का पालन करूँगा यदि शंका हो कि अविद्या के सम्बन्ध से निर्मुक्त अर्जुन ने 'आपका वचन पालन करूँगा' ऐसा जो कहा, वह युक्त नहीं है क्योंकि मुक्त का कोई कर्तव्य रहता ही नहीं है। 'हमें ईश्वर के इस वचन का पालन करना चाहिए, इस बुद्धि से कर्म करना अज्ञानों का धर्म है, तत्त्वज्ञानी का धर्म नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञ को यह ईश्वर है और मैं इसका वचन पालन करूँगा ऐसा भेदज्ञान नहीं हो सकता, मैं ही यह सब हूँ इस प्रकार सबको आत्मस्वरूप जानने वाले विद्वान के लिए तो 'यह ईश्वर है, उसके इस वचन का मैं पालन करूँगा, ऐसा भेद ज्ञान नहीं हो सकता अथवा उसके कार्य शेष की भी कल्पना नहीं हो सकती, अर्थात् उसका कार्य विद्यमान नहीं है। इससे विद्वान् के कृत्य का निषेध किया है और यह भी सूचित किया गया है कि तत्त्वज्ञ का कुछ कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है। यदि है तो वह तत्त्ववित् नहीं है। जिनका कर्तव्य अवशिष्ट है वे अज्ञ (अतत्त्वज्ञ) हैं। इसलिए ज्ञानवत्ता और कर्मशीलता एक में नहीं हो सकती जैसे कि परस्पर विरुद्ध सम्राट्पन और भिक्षुपन एक में नहीं होते। इसी प्रकार यदि अर्जुन का कर्तव्य अवशिष्ट है तो उसका ज्ञानी होना ही असम्भव है। अर्जुन ने कहा मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई अतः अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति कण्ठतः ही कही गयी है। इसलिए अर्जुन ज्ञानी ही है। यदि शंका हो कि यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि 'आपका वचन पालन करूँगा' यह भी कण्ठतः ही कहा गया है। इसलिए उसमें अज्ञानित्व का भी सम्भव है। और यदि कहो कि 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' इत्यादि वचन के अनुसार हितबुद्धि और दया से 'मेरा यजन

करो' इस प्रकार से भगवान् के द्वारा कहे गये हित वचन का करना तत्त्वज्ञ अर्जुन के लिए भी युक्त है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि वह आरुरुक्षु का विषय है। अतः आरूढ़ अर्जुन के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिए 'मेरा यजन आरुरुक्षु को करना चाहिए' इस बुद्धि से भगवान् द्वारा कहा गया कर्माचरण आरूढ़ अर्जुन के लिए अयुक्त ही है, तो यह जो तुमने कहा, वह यद्यपि ठीक ही है कि आरूढ़ ब्रह्मवित् के लिए कर्मानुष्ठान अनुपयुक्त ही है तथापि आधिकारिक होने से कर्मानुष्ठान अर्जुन के लिए युक्त ही है, जैसे जनक, अश्वपति आदि मुक्त अधिकारियों का लोकसंग्रह करने की इच्छा से कर्माचरण है, वैसे ही आधिकारिक अर्जुन का लोकहित के लिए कर्माचरण अविरुद्ध ही है। लोकसंग्रह को देखते हुए तुम्हें कर्म करना योग्य है, 'जो श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है' (गीता ३।२१) इससे पूर्व जो भगवान् ने कहा है उसको मन में रखकर 'मैं आपका वचन पालन करूँगा' ऐसा कहा गया है, इन्द्र का अंश होने से अर्जुन का इन्द्र आदि के समान आधिकारिक होना, तत्त्वज्ञ होना और लोकहित के लिए कर्मी होना अविरुद्ध है। इसलिए ठीक ही कहा है '**करिष्ये वचनं तव**'--अथवा भगवान् के प्रसाद से, विशेषतः मोह नष्ट हो जाने से, और आत्मस्मृति प्राप्त करने से, आरूढ़ भाव को प्राप्त हुए अर्जुन अपने उत्पन्न हुए ज्ञान के परिपाक की सिद्धि के लिए समाधि करने की इच्छा से भगवान् द्वारा कहे गये 'बाह्य सब का त्याग करके मुझ परब्रह्म का ही सदा अनुसंधान करो' इस अर्थ के अवबोधक, अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में जाओ, इस हृदयस्थित अन्तिम वचन का अर्जुन अनुवाद करते हैं--'करिष्ये वचनं तव'। यह उपदेश समीप होने से, परम सिद्धान्त होने से और विद्वानों का कृत्य होने से विद्वान् अपना आगे का कर्तव्य कहता है--'करिष्ये वचनं तव'। अतः प्रकृति में (जो प्रसङ्ग चल रहा है उसमें) कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**--अच्युत भगवान् को अर्थात् जो अपने चैतन्य स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते उनकी कृपा से बिना अति बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपना उद्धार कर नहीं सकता। इसलिये 'अच्युत' शब्द से भगवान् को अर्जुन ने सम्बोधित किया। शुद्ध बुद्धि युक्त अर्जुन ने भी विषाद में निमग्न होकर अपने स्वधर्म का पालन

निःशेष निवृत्ति सूचित हुई। विपरीत भाव और उसके कारण का सद्भाव होने पर सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए सन्देह के नाश से सम्पूर्ण विकल्पों का नाश सिद्ध होता है। इस प्रकार आपके उपदेश से उत्पन्न हुए विज्ञान से सम्पूर्ण अनर्थों के बीजभूत मोह के कारणसहित नष्ट हो जाने से आत्मयाथात्म्य विज्ञान को प्राप्त करने वाला मैं गतसन्देह होकर, **स्थितः अस्मि**--अक्षोभ्य स्वभाव से (अविचलित आत्मस्वरूप में) स्थित हूँ। अविद्या, उसके धर्म, उसके कर्म, उसकी अवस्था से निर्मुक्त अविकृत्य आत्मस्वरूप ही हूँ। यद्यपि इससे अन्य दूसरा कुछ भी मुझको ज्ञातव्य नहीं है तथापि, **ते वचः करिष्ये**--मेरे गुरुभूत आप ईश्वर के वचनों का पालन करूँगा यदि शंका हो कि अविद्या के सम्बन्ध से निर्मुक्त अर्जुन ने 'आपका वचन पालन करूँगा' ऐसा जो कहा, वह युक्त नहीं है क्योंकि मुक्त का कोई कर्तव्य रहता ही नहीं है। 'हमें ईश्वर के इस वचन का पालन करना चाहिए, इस बुद्धि से कर्म करना अज्ञानी का धर्म है, तत्त्वज्ञानी का धर्म नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञ को यह ईश्वर है और मैं इसका वचन पालन करूँगा ऐसा भेदज्ञान नहीं हो सकता, मैं ही यह सब हूँ इस प्रकार सबको आत्मस्वरूप जानने वाले विद्वान के लिए तो 'यह ईश्वर है, उसके इस वचन का मैं पालन करूँगा, ऐसा भेद ज्ञान नहीं हो सकता अथवा उसके कार्य शेष की भी कल्पना नहीं हो सकती, अर्थात् उसका कार्य विद्यमान नहीं है। इससे विद्वान् के कृत्य का निषेध किया है और यह भी सूचित किया गया है कि तत्त्वज्ञ का कुछ कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है। यदि है तो वह तत्त्ववित् नहीं है। जिनका कर्तव्य अवशिष्ट है वे अज्ञ (अतत्त्वज्ञ) हैं। इसलिए ज्ञानवत्ता और कर्मशीलता एक में नहीं हो सकती जैसे कि परस्पर विरुद्ध सम्राट्पन और भिक्षुपन एक में नहीं होते। इसी प्रकार यदि अर्जुन का कर्तव्य अवशिष्ट है तो उसका ज्ञानी होना ही असम्भव है। अर्जुन ने कहा मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई अतः अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति कण्ठतः ही कही गयी है। इसलिए अर्जुन ज्ञानी ही है। यदि शंका हो कि यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि 'आपका वचन पालन करूँगा' यह भी कण्ठतः ही कहा गया है। इसलिए उसमें अज्ञानित्व का भी सम्भव है। और यदि कहो कि 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' इत्यादि वचन के अनुसार हितबुद्धि और दया से 'मेरा यजन

करो' इस प्रकार से भगवान् के द्वारा कहे गये हित वचन का करना तत्त्वज्ञ अर्जुन के लिए भी युक्त है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि वह आरुरुक्षु का विषय है। अतः आरूढ़ अर्जुन के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिए 'मेरा यजन आरुरुक्षु को करना चाहिए' इस बुद्धि से भगवान् द्वारा कहा गया कर्माचरण आरूढ़ अर्जुन के लिए अयुक्त ही है, तो यह जो तुमने कहा, वह यद्यपि ठीक ही है कि आरूढ़ ब्रह्मवित् के लिए कर्मानुष्ठान अनुपयुक्त ही है तथापि आधिकारिक होने से कर्मानुष्ठान अर्जुन के लिए युक्त ही है, जैसे जनक, अश्वपति आदि मुक्त अधिकारियों का लोकसंग्रह करने की इच्छा से कर्माचरण है, वैसे ही आधिकारिक अर्जुन का लोकहित के लिए कर्माचरण अविरुद्ध ही है। लोकसंग्रह को देखते हुए तुम्हें कर्म करना योग्य है, 'जो श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है' (गीता ३।२१) इससे पूर्व जो भगवान् ने कहा है उसको मन में रखकर 'मैं आपका वचन पालन करूँगा' ऐसा कहा गया है, इन्द्र का अंश होने से अर्जुन का इन्द्र आदि के समान आधिकारिक होना, तत्त्वज्ञ होना और लोकहित के लिए कर्मी होना अविरुद्ध है। इसलिए ठीक ही कहा है **'करिष्ये वचनं तव'**—अथवा भगवान् के प्रसाद से, विशेषतः मोह नष्ट हो जाने से, और आत्मस्मृति प्राप्त करने से, आरूढ़ भाव को प्राप्त हुए अर्जुन अपने उत्पन्न हुए ज्ञान के परिपाक की सिद्धि के लिए समाधि करने की इच्छा से भगवान् द्वारा कहे गये 'बाह्य सब का त्याग करके मुझ परब्रह्म का ही सदा अनुसंधान करो' इस अर्थ के अवबोधक, अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में जाओ, इस हृदयस्थित अन्तिम वचन का अर्जुन अनुवाद करते हैं—'करिष्ये वचनं तव'। यह उपदेश समीप होने से, परम सिद्धान्त होने से और विद्वानों का कृत्य होने से विद्वान् अपना आगे का कर्तव्य कहता है—'करिष्ये वचनं तव'। अतः प्रकृति में (जो प्रसङ्ग चल रहा है उसमें) कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—अच्युत भगवान् को अर्थात् जो अपने चैतन्य स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते उनकी कृपा से बिना अति बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपना उद्धार कर नहीं सकता। इसलिये 'अच्युत' शब्द से भगवान् को अर्जुन ने सम्बोधित किया। शुद्ध बुद्धि युक्त अर्जुन ने भी विषाद में निमग्न होकर अपने स्वधर्म का पालन

करने से विमुख होकर जब नित्य, सत्य, आत्मस्वरूप भगवान् को जीवन के सारथि रूप से वरण करके क्या करना है और क्या नहीं करना है, यह जानने के लिए उनकी शरण ली एवं शिष्यत्व ग्रहण किया तो उन अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (शुद्धबुद्धि को) उपदेश देकर उसका भ्रम नष्ट किया तथा साधन तत्त्व निम्नस्तर से उच्चतमस्तर में पहुँचा कर शरणागत बुद्धि को किस प्रकार से कृतकृत्य कर देता है वही अब अर्जुन के मुख से प्रकट हो रहा है—

शुद्ध आत्मा की कृपा के बिना अशुद्ध आत्मा (अन्तःकरण आदि उपाधियुक्त जीव) मोह से (अविवेक से) अर्थात् देहात्माभिमान से मुक्त नहीं हो सकता है क्योंकि बाहर के गुरु का बचन भी तब तक कार्यकारी नहीं हो सकता जब तक कि बुद्धि शुद्ध होकर उसको स्वीकार न कर ले। इसलिए भगवान् ने पहले कहा 'उद्धरे-दात्मनात्मानम्' (गीता ६।५)। अर्जुन कृतकृत्य होकर भगवान् के प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करते हुए कहते हैं कि तुम्हारी कृपा से 'मैं देहादि से विलक्षण शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म या भगवान् वासुदेव ही हूँ', इस प्रकार से अपने स्वरूप के ज्ञान (आत्मज्ञान) की स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। देहादि में आत्मबुद्धि कर मैं अपने स्वरूप को इतने दिन तक भूल गया था एवं वह देहात्मबुद्धि रूप मोह ही मेरे ज्ञान को इतने दिन तक आवृत करके रखे हुए था। इसलिए तुमने मुझे पहले ही बताया कि 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः' (गीता ५।१५)। अब मुझे अपने स्वरूप का ज्ञानलाभ होने से मेरे अज्ञान की निवृत्ति हो गई है अतः अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह (देहात्म-बुद्धि रूप अविवेकता भी नष्ट हो गई है अर्थात् जो संसारगति का मूल कारण है एवं जिसका अतिक्रम करना अतीव दुष्कर है वह मोह नष्ट हो चुका है। इसलिए मुझे इसमें कोई संशय नहीं है कि मैं नित्य सर्वगत स्थाणु, अचल, सनातन, नित्यबुद्ध मुक्त स्वभाव हूँ। अतः मेरी अज्ञानजनित जो हृदयग्रन्थि थी अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा की माया या प्रकृति के संयोग से बुद्धि में जो गांठ बना था वह सम्पूर्ण रूप से छिन्न हो गयी। अब यह देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि का संघात (जिनमें कि मैं देही रूप से स्थित हूँ वह संघात) तुम नटराज रूप से अपने नाट्य में जिस प्रकार के वचन द्वारा प्रेरित करोगे (नचाओगे) वैसे ही कठपुतली के समान यह करेगा अर्थात्

यावज् जीवन तुम्हारी इच्छानुसार नाचेगा) इस प्रकार अर्जुन ने आत्मा में स्थित होकर (तात्त्विक दृष्टि से) कहा 'नष्टो मोहः' इत्यादि। किन्तु जब तक शरीरपात न हो तबतक शरीर को भगवान् के हाथ में यंत्ररूप से अवश होकर कर्म करना पड़ेगा ही, अतः लोकदृष्टि में अर्जुन कर्म कर रहा है यह भी प्रतीत होता रहेगा। इसलिये लोकदृष्टि की अपेक्षा से अर्जुन ने कहा 'करिष्ये वचनं तव' (क्योंकि ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी को कोई कार्य नहीं रहता है, यह पुनः पुनः गीताशास्त्र में कहा गया है)। इस प्रकार कहकर गीता का गुह्यतम उपदेश 'मामेकं शरणं व्रज' वही पालन करने के लिए अर्जुन ने प्रतिज्ञा की। इस प्रकार गीताशास्त्र के श्रवण का फल है जीवन-मुक्त अवस्था की प्राप्ति इसका सूचित किया गया है। [कोई-कोई ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत में वर्णित अर्जुन के परवर्ती जीवन की आलोचना करके उक्त प्रकार की व्याख्या युक्तियुक्त नहीं मानते हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि गीता ब्रह्मविद्या है। आत्मस्वरूप की स्थिति लाभकर जो मोह से निर्मुक्त हो गया एवं सर्व प्रकार के संशय से रहित होकर आत्मस्वरूप में स्थित हो गया उसके लिए और कौन कार्य अवशिष्ट रह सकता है ? अतः उनको जीवनमुक्त कहना शास्त्रसंमत ही है। जीवनमुक्त पुरुष जो कुछ शरीरादि से कर्म करता है वह बालक जिस प्रकार दर्पण के सामने खड़ा होकर अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है उसी प्रकार उसके सब कर्म भी लीलारूप से किये जाते हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान से नहीं। ब्रह्मविद्या प्राप्त होने पर शुद्ध बुद्धिरूप अर्जुन आत्मारूपी श्रीकृष्ण को अपनी कृतकृत्यता ऐसे ज्ञापन करता है और पुनः उपदेश की प्रयोजनता नहीं यह भी साथ साथ सूचित करता है। ऐतिहासिक अर्जुन और श्रीकृष्ण आध्यात्मिक अर्जुन एवं श्रीकृष्ण से सर्वथा पृथक् हैं, इस तत्त्व को भूल जाने पर गीता का रहस्य जानना असम्भव है। सद्गुरु के द्वारा ब्रह्मविद्या के उपदेश की परिणति (सफलता) कैसी होती है वही अर्जुन के वचन से स्पष्ट किया गया है]।

शास्त्र का अभिप्राय समाप्त हुआ। अब कथा का सम्बन्ध [अर्थात् संजय ने धृतराष्ट्रको जो श्रीकृष्ण अर्जुनसम्वाद सुनाया वह किस प्रकार से संजय ने जाना वह] बताने के लिए संजय ने कहा—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—संजयः उवाच इति अहम् महात्मनः वासुदेवस्य पार्थस्य च इमम् रोमहर्षणम् अद्भुतम् संवादम् अश्रौषम् ।

अनुवाद—संजय ने कहा हे महाराज ! इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत (विस्मयकारक) और रोमांचकर संवाद सुना ।

भाष्यदीपिका—**संजयः उवाच**—संजय ने कहा इति—यहाँ तक जो कुछ कहा हुआ है अर्थात् प्रथम अध्याय में 'दृष्ट्वा तु पांडवानीकम्' से लेकर 'करिष्ये वचनं तव' (गीता १८।७३) तक जैसा कहा गया है वैसा ही अहम्-मैं (संजय) **महात्मनः वासुदेवस्य**—महात्मा अर्थात् शुद्धबुद्धि एवं सर्वज्ञ वासुदेव भगवान् **पार्थस्य च**—तथा कृतार्थ पृथापुत्र अर्जुन के **इमम्**—यह **रोमहर्षणम्**—रोमांच करने वाला [सुनने के समय विस्मयरस अतिशय परिपुष्ट किया गया था यह दिखाया गया है (मधुसूदन) ।] रोमहर्षण क्यों हुआ था इसको बताते हैं अद्भुतम्-विस्मयकारक [क्योंकि लोकों में इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ।] **संवादम्**-संवाद (गुरु शिष्य में प्रश्न-उत्तर रूप से परस्पर परमतत्त्व संबन्ध में आलोचना) **अश्रौषम्**—सुना ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस प्रकार धृतराष्ट्र के प्रति श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का वर्णन करके प्रस्तुत कथा के सम्बन्ध में परिचय देता हुआ-संजय बोला-**इत्यहम् इत्यादि**—(इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव का और पृथापुत्र महात्मा अर्जुन का) रोमांचकारी अद्भुत संवाद सुना । अन्य अर्थ स्पष्ट है ।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार अर्जुन की अविद्या और अविद्या के कार्यरूप भ्रम को दूर करने के लिए उपक्रान्त ज्ञानशास्त्र की और उसके अर्थ की परिसमाप्ति को जानकर श्रवण और उसके अर्थ के अनुभव से उत्पन्न हुए आत्मानन्दरस के अतिरेक से (आधिक्य से) अपने गुरु का अनुग्रह और अपनी तृप्ति को प्रकट करने के लिए

और कथासंदर्भ का अवतरण करने के लिए संजय बोले–**तस्य वासुदेवस्य महात्मनः**– श्रुति में कहा है कि 'जो सब भूतों का अधिवास है और जो सब भूतों में रहता भी है' वह वासुदेव है। इसप्रकार श्रुतिवाक्य से लक्षित होने के कारण वासुदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ही हैं। उन वासुदेव महात्मा (महानुभाव) का और **पार्थस्य च**—पार्थ का अर्जुन **इमम् अद्भुतम् संवादम् अश्रौषम्**–यह उक्त प्रकार का संवाद यानी प्रश्नप्रति-वचनरूप यह गीता ग्रन्थ, जो अद्भुत (अत्यन्त विस्मयकर) और रोमहर्षण (पहले श्रुत न होने से, अतिगम्भीर होने से, अमेयार्थक होने से, अलौकिक होने से और अद्भुत रस सम्पन्न होने से रोमांच करनेवाला) है, उसको सुना यानी उन दोनों का संवाद मैं सुन चुका हूँ।

(३) **नारायणी टीका**—संजय के कहने का अभिप्राय यह है कि परमगुरु वासुदेव श्रीकृष्ण एवं शुद्धबुद्धि युक्त अर्जुनरूपी शिष्य (जीव) में जो साध्य साधन के सम्बन्ध में गूढ़ तत्त्व का आलोचन हुआ था वह मैंने सुना एवं विश्वरूप इत्यादि भी मैंने देखा। इसप्रकार श्रवण और दर्शन दोनों ही अद्भुत हैं अर्थात् विस्मयकारक हैं। फिर इस संवादको सुनने के समय एवं विश्वरूप दर्शन करने के समय मेरा शरीर रोमांचित हो रहा था क्योंकि इस प्रकार का संवाद सुनना एवं विश्वरूप को देखने का सौभाग्य कोटि कोटि पुरुषों में किसी विरलेको ही मिलता है।

संजय ने धृतराष्ट्र को जिस स्थान में बैठकर गीता शास्त्रोक्त संवाद सुनाया वह हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र युद्ध स्थान से बहुत दूर था। अतः संजय के लिए श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का श्रवण कैसे सम्भव हुआ था वह अब स्पष्ट किया जाता है—

> **व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।**
> **योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥**

अन्वय—स्वयम् कथयतः योगेश्वरात् कृष्णात् एतत् परम् गुह्यम् योगम् अहम् व्यासप्रसादात् साक्षात् श्रुतवान्।

अनुवाद—अर्जुन को स्वयं योगेश्वर कृष्ण जब उपदेश दे रहे थे तब भगवान् व्यास की कृपा से (दिव्यदृष्टि सम्पन्न होकर) मैंने साक्षात्‌रूप से यह परम गुह्य (गोपनीय) योग सुना है।

भाष्यदीपिका—**स्वयम् कथयतः**—स्वयं जिस समय अर्जुन को कह रहे थे उस समय **योगेश्वरात् कृष्णात्**—योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से [समस्त योगों के (परमतत्त्वप्राप्ति के उपायों के) जो ईश्वर (श्रीकृष्ण) हैं (सर्वात्मा ब्रह्म हैं) जिनके अनुग्रह के बिना कोई भी ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि योग के साधन करने में समर्थ नहीं होता है और न तो उनकी कृपा के बिना साधन की सिद्धि ही हो सकती है, इस प्रकार योगेश्वर कृष्ण जिनका कि ज्ञान तथा ऐश्वर्य कभी तिरस्कृत नहीं होता है उनसे अर्थात् उनके अपने मुख से] **एतत्**—यह [यहाँ 'इमम्' इस पुलिङ्ग पाठ की व्याख्या भगवान् भाष्यकार ने की है क्योंकि 'योग' शब्द का विशेषण होने के कारण 'इमम्' इस प्रकार पुलिङ्ग पाठ ही युक्त है किन्तु प्राचीन पाठ में 'एतत्' इस नपुंसक लिङ्ग शब्द का प्रचलन है] **परम् गुह्यम्**—परम अर्थात् अत्यन्त रहस्ययुक्त-गोपनीय [परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय होने के कारण यह 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ है एवं योग्य शिष्य के बिना इसे सुनने का अधिकार नहीं है इसलिए यह 'गुह्य' अर्थात् गोपनीय है] **योगम्**—इस संवाद का विषय योग होने के कारण अर्थात् परमात्मा के साथ योग (एकत्व) अनुभव के अव्यभिचारी उपायरूप ज्ञान, कर्म व भक्ति इस संवाद के विषय होने के कारण इसे योग कहा जाता है। अथवा यह संवाद ही योग है अर्थात् इस संवाद को सुनने के साथ-साथ भगवान् में चित्त स्वतः ही युक्त हो जाता है इसलिए इसको योग कहा गया है। **अहम्**-मैं (संजय) **व्यासप्रसादात्**—भगवान् व्यास के अनुग्रह से दिव्य चक्षु को प्राप्त होकर **साक्षात्**-साक्षात्रूप से (दूसरे के मुख से नहीं) **श्रुतवान्**—सुना अर्थात् भगवान् को स्वयं कहते हुए साक्षात् इस संवाद को (अपने कान से) सुना। इस प्रकार कह कर संजय अपने भाग्य की प्रशंसा करते हैं।

टिप्पणी--(१) **श्रीधर**—अपने लिए इसका सुनना कैसे सम्भव हुआ-यह बताते हैं—**व्यासप्रसादात्**·········**परम्**—भगवान् व्यासजी ने मुझे दिव्य नेत्र और श्रोत्र आदि दिया। अतः व्यासजी की कृपा से इस गुप्त उपदेश को मैं सुन पाया हूँ। वह क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं—**योगम्**—परमयोग है, उसका परत्व प्रकट करते हैं—**योगेश्वरात् स्वयम्**—स्वयं उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से मैंने यह गीताशास्त्र सुना है।

(२) **शंकरानन्द**—कैसे सुना ? ऐसी आकांक्षा होने पर, अपने गुरु के प्रसाद से, ऐसा कहते हैं—**एतत् परम् गुह्यम् व्यासप्रसादात्**—व्यास के प्रसाद से (वेदों का, शास्त्रों का और पुराणों का विस्तार करने से व्यास कहलाते हैं, उन अपने गुरु श्रीकृष्णद्वैपायन के प्रसाद से यानी अनुग्रह से अर्थात् अनुग्रह से उत्पन्न हुई ज्ञानशक्ति से) ही इस (विधेय अर्थात् जिसका विधान किया जा रहा है उस गुह्य के प्राधान्य से 'एतत्' शब्द का नपुंसक लिंग से निर्देश है) मोक्ष का ही एकमात्र साधन होने से परम (अत्यन्त) गुह्य (गोपनीय) अर्थात् रहस्ययुक्त **योगम्**—योग को (ज्ञानयोग को) मैंने सुना है, किसके मुख से सुना है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं **योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः**—हठ आदि योगों का और उनकी फलसिद्धि का कारण होने से योगेश्वर। अथवा योग का मायायोग यानी सृष्टि आदि, उसका) कर्ता होने से योगेश्वर। अथवा योग अर्थात् आत्यन्तिक संसार दुःख की निवृत्ति का कारण ज्ञानयोग, उसकी सिद्धि जिसके प्रसाद से होती है, वह योगेश्वर है। योगेश्वर से साक्षात् स्वमुख से कह रहे श्रीकृष्ण से ही **श्रुतवान्**—इस ज्ञानयोग को मैंने सुना है। अहो मेरा भाग्य, अहो गुरु का प्रसाद, यों संजय ने अपनी तृप्ति को प्रकट किया, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—भाष्यदीपिका में अर्थ स्पष्ट किया गया है। किन्तु इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति के द्वारा सर्व इन्द्रियों को सम्यक्प्रकार से जय करके कामादि महा शत्रुओं से मुक्त होकर रजः एवं तमोगुण से रहित होकर जीव जब शुद्ध सत्त्वगुण सम्पन्न होता है तो उसे संजय कहा जाता है। इस प्रकार की अवस्था में ही अनात्मवस्तु से (प्रकृति से) शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का (पुरुष का) पूर्ण विभाग हो जाता है। व्यास शब्द का अर्थ विभाग (इसलिए वेदों के विभाग का कर्ता होने के कारण कृष्ण द्वैपायन को भी व्यास कहते हैं] शुद्धसत्त्वगुण में प्रतिष्ठित होने पर अतिमन (Supermind) कार्य शुरू हो जाता है। इसको ही दिव्य इन्द्रिय (दिव्य चक्षु, दिव्यकर्ण इत्यादि) कहा जाता है यह अतिमनरूप उपाधियुक्त चैतन्य सर्वज्ञ होता है। इसलिए पातंजलियोग शास्त्र में कहा है—'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' अर्थात् केवल प्रकृति पुरुष का विभाग ज्ञान (ऐसा कि

सत्त्वगुण से भी पुरुष पृथक् है इस प्रकार का विभाग ज्ञान) होनेपर आत्मा का सर्वशक्तिमत्त्व एवं सर्वज्ञत्व प्रकट होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चित्त में रजः एवं तमोगुण रहित शुद्धसत्त्वगुण का उदय होने पर पुरुष और प्रकृति का विभाग पूर्णतया स्पष्ट होता है। इस विभाग-ज्ञान को ही व्यास कहा जाता है। अतः जिस चित्तवृत्ति से इन्द्रियादि को वशीभूत करके सत्त्वगुण प्रकट होता है उस वृत्ति को उक्त विभागज्ञान से अर्थात् व्यास की कृपा से **अतिमन की** अवस्था में पहुँचकर सब कुछ जानने की शक्ति प्राप्त होती है। अतः काल या देश का व्यवधान उसको जानने में या सुनने में प्रतिबन्धक नहीं होता है। शुद्ध सत्त्वगुण सर्वप्रकाशक होने के कारण वह जिसकी उपाधि है अथवा वही जिसका शरीर है उस सर्वज्ञ ईश्वर श्रीकृष्ण की वाणी को साक्षात्-रूप से सुनने की तथा उसकी विश्वरूप लीला को देखने की शक्ति भी स्वतः ही रहती है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण जो योगेश्वर हैं अर्थात् उनके साथ योग (ऐक्यबोध) प्राप्त करने के जितने उपाय हैं उनको बताने में जो समर्थ हैं उन योगेश्वर श्रीकृष्ण से जो योग (उपाय) पर (श्रेष्ठ) एवं गुह्य अर्थात् शुद्धबुद्धिरूप अर्जुन के बिना दूसरे से गोपनीय है। वह योग भगवान् श्रीकृष्ण (शुद्धचैतन्य उपाधियुक्त आत्मा) ने स्वयं जैसा अर्जुन से कहा वैसा ही सुन लिया। यही साधनराज्य का अपूर्व रहस्य है। शुद्ध सत्त्वगुण में चित्त के चले जाने पर अतिमन की अवस्था प्रकट होने पर जो अन्तरात्मा एवं शुद्धबुद्धि का संवाद चलता है वह सुना जाता है एवं उसका श्रोता संजय (सब इन्द्रियों तथा मन बुद्धि को वशीभूत करनेवाला) बुद्धिवृत्ति अन्ध (अज्ञान से व्याप्त) मन को यानी संसाररूप राष्ट्र को धारण करके रखा है उस धृतराष्ट्ररूपी मन को सुनाकर (समझाकर) पुनः संसाररूप राज्य-प्राप्ति की कामना से (आशा से) निवृत्त कर देता है।

संजय और कह रहा है—

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

अन्वय—हे राजन्! केशवार्जुनयोः इमम् पुण्यम् अद्भुतम् सम्वादम् संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि।

अनुवाद—हे राजन्! श्रीकृष्ण अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद को स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ।

भाष्यदीपिका—हे राजन्—हे धृतराष्ट्र [मैंने जो गीताशास्त्र तुमको सुनाया उसकी तुम्हें उपेक्षा करना उचित नहीं है यही 'राजन्' शब्द के द्वारा धृतराष्ट्र को सतर्क करने का अभिप्राय है] **केशवार्जुनयोः इमम् पुण्यम् अद्भुतं संवादम्**—केशव और अर्जुन के इस परमपवित्र (सुनने मात्र से पापों का नाश करनेवाले) तथा अद्भुत (आश्चर्यजनक) संवाद को **संस्मृत्य संस्मृत्य**—[यहाँ संस्मृत्य संस्मृत्य यह द्विरुक्ति सम्भ्रम के अर्थ में है अर्थात् क्षिप्रता प्रकाश करने के लिए है (मधुसूदन)।] बारम्बार स्मरण करके [केवल सुनते समय ही नहीं किन्तु इस संवाद को स्मरण (याद) करके भी] **मुहुः मुहुः**—बार-बार अर्थात् प्रतिक्षण **अहम् हृष्यामि**—मैं हर्षित हो रहा हूँ अर्थात् मैं अभी भी स्मरण करता हूँ एवं स्मरण करते करते प्रतिक्षण रोमांचित हो जाता हूँ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—राजन् इत्यादि—(राजन्! इस श्रीकेशव और अर्जुन दोनों के अद्भुत पुण्यमय संवाद को स्मरण कर करके मैं बार-बार) हर्षित रोमाञ्चित होता हूँ अथवा हर्ष को प्राप्त होता हूँ। अन्य सब स्पष्ट है।

(२) शंकरानंद—तुमने सुनकर क्या किया? ऐसी आकांक्षा होनेपर संतुष्ट हूँ, ऐसा कहते हैं—'राजन्' इत्यादि से। **पुण्यम्**—पुण्यकर यानी पावन अर्थात् श्रवण और पठन से, ज्ञान या अज्ञान से किये गये सब पापों के नाशक **केशवार्जुनयोः संवादम्**—केशव और अर्जुन के संवादका–उक्त लक्षणवाले **इमम्**—इस गीतानामक सुने गये ग्रन्थ का **मुहुर्मुहुः संस्मृत्य संस्मृत्य हृष्यामि**—बार-बार स्मरण कर मैं हर्ष को प्राप्त होता हूँ। सैकड़ों पिछले जन्मों में मैंने कौन-सा पुण्य किया था, कौन-सा तप किया था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सा हवन किया था अथवा किसका दर्शन किया था, यह मैं नहीं जानता, जिससे कि दोनों का संवादरूप यह गीताशास्त्र मैंने सुना, यह अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—इस अद्भुत श्रीकृष्ण अर्जुन के संवाद को अन्य किसी से सुनने पर भी विस्मय एवं हर्ष उत्पन्न होता है फिर जो संजय होकर अन्तर

राज्य में केशव (क + ईश + व) अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वररूप सृष्टि-स्थिति प्रलयकर्ता परमात्मा एवं शुद्धबुद्धि जीवात्माका संवाद साक्षात् सुन लेता है उसके लिए उस अद्भुत एवं पुण्य (सर्वपाप का विनाश करनेवाले संवाद को एक क्षण के लिए भी भूल जाना असम्भव है। अतः संजय कह रहा है कि मैं तो उस संवाद को स्मरण करते बार-बार (प्रतिक्षण) हर्ष से (आनन्द से) रोमांचित हो रहा हूँ। परमानन्दस्वरूप परमात्मा एवं उसकी वाणी के स्मरणमात्र से ही जब आनन्द से रोमांच होता है तब यह स्पष्ट होता है कि वह संजयरूप बुद्धिवृत्ति भी स्मरण करते-करते परम आनन्द में ही डूबकर उनके साथ एक हो जाएगी—जीव की कृतकृत्यता का यहीं अन्तिम लक्षण है।

विश्वरूपदर्शन करने के समय जो ध्यानमूर्ति भगवान् ने अर्जुन को दिखायी थी उसे स्मरणकर संजय कहते हैं—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७ ॥

अन्वय—हे राजन् हरेः अत्यद्भुतम् रूपम् संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः भवति अहम् पुनः-पुनः हृष्यामि च।

अनुवाद—राजन् ! भगवान् के अतिअद्भुत रूप का स्मरण करते हुए (जितना ही स्मरण करता हूँ उतना ही) मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं बार-बार हर्षित हो जाता हूँ।

भाष्यदीपिका—हे राजन्—हे राजा धृतराष्ट्र ! **हरेः—**सर्वदुःख हरण करनेवाले विश्वात्मा वासुदेव के **तत् अत्यद्भुतम् रूपम्—**वह अत्यन्त विस्मयकर विश्वरूप जिसके सम्बन्ध में एकादश अध्याय में कहा गया है **संस्मृत्य संस्मृत्य—**स्मरण करते-करते अर्थात् जितना स्मरण करता हूँ उतना ही **मे—**मुझे (उस रूप का) चमत्कारित्व एवं असाधारणत्व समझ करके **महान् विस्मयः** (**भवति**)—अत्यन्त विस्मय अर्थात् आश्चर्य हो रहा है **अहम् पुनः पुनः हृष्यामि च—**और इस कारण से मैं बारम्बार (प्रतिक्षण) हर्षित हो रहा हूँ (हर्ष से रोमांचित हो रहा हूँ)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—तत् च······पुनः पुनः—'तत्' शब्द विश्वरूप का निर्देश करता है। अन्य सब स्पष्ट है अर्थात् हे राजन्, हरि के अत्यन्त

अद्भुत विश्वरूप को बार-बार याद करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

(२)—**शंकरानन्द**—विश्वरूप संदर्शन से उत्पन्न हुई तृप्ति का वर्णन करते हैं–'तच्च' इत्यादि से **हरेः तत् च अत्यद्भुतम्**—हरि के (अपने साक्षात्कारमात्र अविद्या और उसके कार्य को जो हरते हैं–अपने में ही छिपा लेते हैं–वे हरि हैं। उनके यानी सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर के 'अनन्तभुजावाले और शशि-सूर्यरूप नेत्रवाले' इत्यादि उक्त लक्षणवाले उस रूप का (विश्वरूप) भी जो अति अद्भुत यानी महा आश्चर्य करनेवाला है, **संस्मृत्य-संस्मृत्य पुनः पुनः हृष्यामि**—बार-बार स्मरण कर हर्षित होता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, इसप्रकार की भावना से संतोषसागर में मग्न होता हूँ, यह अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—भाष्यदीपिका में अर्थ स्पष्ट है।

नर नारायणरूपी अर्जुन–श्रीकृष्ण संवाद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए इस संवाद का परम उत्कृष्ट फल है–अर्जुन की निश्चित जय, यह स्पष्ट करने के लिए अर्थात् सर्वेश्वर विश्वात्मा श्रीकृष्ण एवं धनुर्धर अर्जुन दोनों ही जब विपक्ष में स्थित हैं तो अब अपने लिए विजय आदि की सम्भावना त्याग दीजिए, ऐसा कहते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

अन्वय—यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थः धनुर्धरः तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः (इति) मम मतिः।

अनुवाद—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है वहाँ अवश्य श्री (राजलक्ष्मी), विजय, भूति (ऐश्वर्य) एवं निश्चला नीति प्राप्त होती है–यह मेरा निश्चय है।

भाष्यदीपिका—[हे राजन् और अधिक क्या कहूँगा!] **यत्र**—जिस युधिष्ठिर के पक्ष में **योगेश्वरः कृष्णः**—सब योगों के ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। समस्त योग और उनके बीज उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं, अतः भगवान् योगेश्वर हैं [ज्ञान योग,

कर्मयोग इत्यादि सभी प्रकार के योग तथा उस योगसमूह के बीज (मूल) जो शास्त्रीय-ज्ञान, वैराग्यादि हैं वे सभी भगवान् के अधीन हैं क्योंकि जो उनके अनुग्रह से वंचित हैं उनके लिए उस योगानुष्ठान अथवा योगफल की प्राप्ति असम्भव है। अतः सभी योग एवं उनके फल भगवान् के अधीन रहने के कारण सर्वज्ञ शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहते हैं।] **यत्र पार्थः धनुर्धरः**—तथा जिस पक्ष में गाण्डीव धनुषधारी पृथापुत्र (नररूपी) अर्जुन है **तत्र**—उस नर-नारायण द्वारा (अर्जुन-श्रीकृष्ण द्वारा) अधिष्ठित युधिष्ठिर के पक्ष में **श्री**—राजलक्ष्मी **विजयः**—उसी पाण्डव पक्ष में विजय [शत्रु की पराजय से होनेवाला उत्कर्ष (मधुसूदन)] **भूतिः**—उत्तरोत्तर राजलक्ष्मी का (ऐश्वर्य की) विशेष विस्तार (वृद्धि) और **ध्रुवा नीतिः**—वहीं ध्रुवा (अचल) नीति (न्याय) है ['ध्रुवा' शब्द को सभी के साथ अर्थात् श्री, विजय, भूति तथा नीति इन सबके साथ युक्त करके अन्वय करना होगा (मधुसूदन)। किन्तु भाष्यकार ने केवल नीति शब्द के विशेषण रूप से ध्रुवा शब्द को ग्रहण करके व्याख्या की] **इति**—ऐसा **मम मतिः**—मेरा मत (दृढ़ निश्चय) है [अतः हे राजन्! पुत्र की विजय की वृथा आशा को त्याग करके भगवान् से अनुगृहीत हुए एवं लक्ष्मी आदि के भागी पाण्डवों से सन्धि ही कर लीजिए, ऐसा कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)।]

मधुसूदन सरस्वती ने अपनी गूढ़ार्थ दीपिका के अन्त में ऐसा कहकर श्रीमद्भगवद्गीता की टीका समाप्त की—

(१) वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अर्थात् जिनके हाथ वंशी से विभूषित हैं और शरीर की कान्ति नवीन मेघ की सी है, जो पीला वस्त्र धारण किए हुए हैं, जिनके ओठ अरुण बिम्ब फल के समान है, मुख पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर है और नेत्र कमल के समान हैं उन श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ मैं और कोई तत्त्व नहीं जानता।

(२) काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम्।
आदिमध्यान्तषट्केषु तस्मै भगवते नमः॥

अर्थात् आरम्भ के, मध्य के और अन्त के छः-छः अध्यायों में जिन्हों ने गीता नाम का तीन काण्डोंवाला शास्त्र रचा है उन श्रीभगवान् को नमस्कार है।

(३) श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते।
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ॥
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशंकराख्यैः पुन-
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥

अर्थात् महर्षि व्यासने भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द मधु से मधुर गीता नाम का परम रहस्य महाभारत में प्रसिद्ध किया है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजी ने उसके प्रत्येक पद की व्याख्या की है। फिर उसी को मधुसूदन मुनि ने अपने ज्ञान की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है।

(४) इह योऽस्ति विमोहयन्मनः परमानंदघनः सनातनः।
गुणदोषभृदेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥

अर्थात् जो सनातन परमानन्दघन प्रभु मन को तरह तरह से मुग्ध करनेवाले हैं वे ही हमारे गुण या दोषों के भी निर्वाहक हैं, क्योंकि स्वयं यह जीव तो तृण के समान तुच्छ है।

(५) श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रासादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥

अर्थात् अपने गुरुदेव श्रीरामानन्द[1], विश्वेश्वर[2], माधव सरस्वती[3] की कृपा प्राप्त करके मैंने यह सुबोध व्याख्या की है और इसे उन्हीं के चरणकमलों में समर्पित किया है।

टिप्पणी (१) **श्रीधर**—इसलिए आप अपने पुत्रों को राज्य मिलने आदि की शङ्का छोड़ दीजिए—इस अभिप्राय से कहता है—**यत्र**—जहाँ—जिन पाण्डवों के पक्ष में **योगेश्वरः कृष्णः**—योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और **यत्र धनुर्धरः पार्थः**—जिस पक्ष में गाण्डीवधनुषधारी पृथापुत्र अर्जुन है **तत्र श्रीः…… मम**—वहीं निश्चित श्री (राज्य लक्ष्मी) और वहीं निश्चित विजय है, वहीं निश्चित भूति (उत्तरोत्तर अतिशय

वृद्धि) और वहीं ध्रुव (निश्चित) नीति (न्याय) भी है। 'ध्रुव' शब्द का सबके साथ सम्बन्ध है। ऐसी मेरी मति अर्थात् निश्चय है। इसलिए अब भी आप पुत्रों के सहित श्रीकृष्ण की शरण में जाकर पाण्डवों को प्रसन्न करके और सर्वस्व उन्हें सौंपकर पुत्रों के प्राणों की रक्षा करें–यह भाव है।

(२) **शंकरानन्द**—इससे अधिक क्या वक्तव्य है, मेरा निश्चय सुनो ऐसा कहते हैं–'यत्र' इत्यादि से। **योगेश्वरः कृष्णः**—योगेश्वर अर्थात् योग का [तेज, बल, पौरुष, विद्या, राज्य, जय, धन, धान्य, पुत्र और पौत्र आदि अभ्युदयों के संघटन, उनका] ईश्वर। अथवा 'विद्याविद्ये ईशते सोऽन्यः' अर्थात् विद्या, अविद्या दोनों को जो नियम रखता है, वह अन्य है इस श्रुति से जिनसे युक्त होता है, वे योग हैं यानी विद्या और अविद्या, उनको नियम में रखने का जिसका शील है, वह योगेश्वर। अथवा जिनमें चित्त समाहित होता है, वे योग हैं यानी कर्मसाध्य और उपास्तिसाध्य इस लोक और परलोक के सुख विशेष, उनके देने में समर्थ ईश्वर योगेश्वर। अथवा योग–ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग–उन दोनों के फल की सिद्धि ईश्वर के अधीन है, अतः ईश्वर योगेश्वर हैं। श्रुति कहती है 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' अर्थात् संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्ध का हेतु ईश्वर है, इस प्रकार के लक्षण वाले परमात्मा श्रीकृष्ण **यत्र**—जहाँ–जिस पक्ष में स्थित हैं और **धनुर्धरः पार्थः यत्र**—धनुर्विद्यापारंगत अतिरथ गाण्डीवधनुषधारी अर्जुन–जहाँ (जिस पक्ष में) स्थित है, **तत्र**—वहाँ (उस पक्ष में) ही **ध्रुवा नीतिः**—ध्रुवा (अव्यभिचारिणी) नीति यानी शास्त्र द्वारा दिखलाई गई मर्यादा स्थित है। वहीं पर धर्म स्थित है यह अर्थ है। 'यतो धर्मस्ततो जयः' अर्थात् जहाँ धर्म तहाँ जय, इस न्याय से **विजयः**—विजय भी वहीं स्थित है **ध्रुवा श्रीः**—श्री ध्रुवा (निश्चल) राजलक्ष्मी वहीं स्थित है **ध्रुवा भूतिः**—हाथी, घोड़ा, धन, धान्य आदि सम्पत्ति–वहीं (उसी पक्ष में) ध्रुवा (निश्चल) स्थित है **ऐसी मम मतिः**—ऐसी मेरी मति (मेरा निश्चय) है। इसलिए तुम अपने पुत्रों की जय की आशा का त्याग करो, यह अर्थ है। गुरु, भाई आदि की हिंसारूप घोर कर्म करके मैं पापी होऊँगा, इससे नरक में जाऊँगा ऐसे अनात्मकर्तृक (जिसका कर्ता भोक्ता मानकर मोह से शोक करते हुए, मोहसागर में डूब रहे अर्जुन का उद्धार

आत्मा के याथात्म्यज्ञान के बिना दूसरे उपाय से सिद्ध हो सकता और आत्मा का याथात्म्यज्ञान शोधित तत् और त्वं पदार्थों के एकत्व के प्रतिपादन के बिना सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए दोनों का शोधन करना चाहिए। 'मैं कभी नहीं था ऐसा नहीं है' (गीता २।१२) यहाँ से लेकर प्रथम षट्क से (१–६ अध्यायों से) त्वं पदार्थ का शोधन करके, दूसरे षट्क से (७–१२ अध्यायों से) तत्पदार्थ का शोधन करके और तीसरे से (१३–१८ अध्यायों से) उन दोनों के एकत्व का प्रतिपादन करके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा अविद्या और उसके कार्य के सम्बन्ध से रहित (सर्वसंसार धर्म से निर्मुक्त) आत्मतत्व का बोध कराकर, उस बोध के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिए ज्ञाननिष्ठा का उपदेश करके, उससे परिपक्व ज्ञान से 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः'। अर्थात् भक्ति से मुझको जानता है, जितना और जो मैं तत्त्वतः हूँ मुझे तत्त्वरूप से जानकर, उसके पीछे मुझमें प्रवेश करता है, (गीता १८।५५), इससे आत्म-याथात्म्य का अवधारण और इससे ब्रह्मप्राप्ति का प्रतिपादन किया। इसलिए सम्पूर्ण गीता का प्रतिपाद्यविषय प्रत्यगभिन्न परब्रह्म ही है, उसका ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, ऐसा सिद्धान्त हुआ। इसी प्रकार सम्पूर्ण गीता के श्रवण करने वाले अर्जुन की अनुभवारूढ़ उक्ति भी 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' अर्थात् मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई (गीता १८।७३) यों ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति और उसके फल आत्मलाभ का बोधन करती है इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही मोक्ष का परम कारण है, इस अर्थ की पोषक श्रुति भी है–'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' अर्थात् केवल ज्ञान से ही कैवल्य होता है, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् उसी को जानकर पुरुष मृत्यु को लांघता है, मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है, 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' (अर्थात् यह तुमसे सांख्य में जैसा कहा है), यों ज्ञानयोग का उपदेश करके, अपने द्वारा उपदेश किये गये ज्ञान के सम्पादन में पुरुष की बुद्धि की मन्दता देखकर 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' अर्थात् योग में इस बुद्धि को सुनो, इससे कर्मयोग का उपक्रम करके, 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' बुद्धि की शरण लो, 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मों की निवृत्ति में ज्ञानयोग ही समर्थ है, इससे ज्ञानयोग का फिर प्रस्ताव करके 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' अर्थात् ज्ञानयोग से सांख्यों की, कर्मयोग से योगियों की, यों उन दोनों के विषयभेद की व्यवस्था करके

राजस, तामस त्याग की निन्दा के सहित सात्त्विक त्याग का ही श्रेष्ठत्व कहकर और उसकी भी परमेश्वर की प्रीति के लिए ही कर्तव्यता है ऐसा निश्चय करके कर्मनिष्ठा से परिशुद्ध चित्तवाले ज्ञान को प्राप्त हुए पुरुष की ज्ञाननिष्ठा का विधान किया। इसलिए कर्मयोग ज्ञानयोग का साधन ही है, न कि साक्षात् मोक्ष का कारण है, यही सिद्धान्त हुआ। इस गीता में ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों का ही उपक्रम और उपसंहार देखने से दूसरे योग की प्रधानता प्रतीत नहीं होती। अमानित्व, अद्वेष्टृत्व, शुद्धबुद्धि आदि जैसे ज्ञान और अज्ञान के फल की सिद्धि के साधन हैं, वैसे मुमुक्षुत्व, निष्ठावत्त्व; सात्त्विक श्रद्धा भक्तिमत्त्व आदि कर्मफल की सिद्धि के साधन हैं, ऐसा सिद्ध है। सब निर्दोष है।

(३) **नारायणी टीका**—गीता के पहले श्लोक में अन्तःकरण में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति पक्षीय चित्तवृत्तियों का जो सनातन युद्ध अनादि काल से चला आ रहा है उसको सूचित कर अब गीता के अन्तिम श्लोक में निवृत्ति की ही जय अवश्यंभावी है अर्थात् निवृत्तिपक्षीय वृत्तियाँ ही जीवन की लक्ष्यवस्तु जो परमानंदस्वरूप मोक्षपद है (जिसको कि प्रत्येक प्राणी का अपना स्वरूप या स्वराज्य कहा जाता है) उसको प्राप्त करा देती हैं, यह कहकर गीता का उपसंहार किया गया है। संयत चित्तरूपी संजय अन्ध (अविवेक से उत्पन्न हुए कामरूपी दुर्योधन के प्रति अत्यन्त आसक्त) मनरूपी धृतराष्ट्रको सुना रहा है कि जब शुद्धबुद्धि रूपी अर्जुन धनुः धारण करके योगेश्वर कृष्ण नामक परमात्माको जीवन का सारथि बनाकर युद्ध कर रहा है 'योग' शब्द का अर्थ है भगवान् के साथ युक्त होने का उपाय। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी उपाय वेदादि शास्त्र में निर्धारित किए गये हैं उनमें तब-तक किसी की भी सफलता नहीं होती है जबतक कि आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण की कृपा या अनुग्रह प्राप्त नहीं होता है क्योंकि आत्मा ही जब उन सब उपायों का अवलम्बन करके अपने को अपनी माया से मुक्त करने के लिए एवं स्वरूप में स्थित होने के लिए दृढ़संकल्प होता है तभी योग की सिद्धि प्राप्त हो सकती है यह गीता में (१८।६१–६२ में) भगवान् ने स्वयं ही स्पष्ट किया है। 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है सदानन्द (विष्णु पुराण)। यह सदानन्द या परमानन्द ही प्रत्येक जीवन की लक्ष्यवस्तु हैं। वह प्राप्त होनेपर ही जीव कृतकृत्य

होकर अपना स्वरूप या स्वराज्य प्राप्त करलेता है। इनके अनुग्रह से ही जीव परा भक्ति द्वारा इनको प्राप्त हो सकता है। इसलिए सर्वात्मा श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा जाता है किन्तु इनको प्राप्त करने के लिए जीवको पहले पार्थ (पृथा के पुत्र अर्जुन) होना चाहिए। [प्रथ-विख्यात होना + अ + आ = पृथा अर्थात् जिस मोक्ष अवस्था को प्राप्तकर पूर्णकाम तथा कृत्यकृत्य होकर पृथ्वी में सबके हृदय में चिरदिन के लिए विशेषरूप से ख्याति प्राप्त हो सकती है, उस मोक्ष पद के लिए तीव्र संवेगसंपन्न पिपासु को ही पार्थ कहा जाता है]। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ है शुद्धबुद्धि। शुद्धबुद्धि ही जब मोक्ष के लिए तीव्रसंवेगसंपन्न हो जाती है तब उसे 'पार्थ' कहा जाता है। वही पार्थ जब धनुर्धर हो जाता है अर्थात् प्रणवरूपी धनु में जीवात्मारूपी शर को चढ़ाकर परम ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण को लक्ष्यकर अनुसंधान करता है एवं जीवात्मारूप शर को अति सावधानता से अर्थात् पूर्ण रूप से समाहित हुए चित्त से विद्ध करने के लिए उद्यत होता है तब उसी जीव को 'धनुर्धर पार्थ' कहते हैं। श्रुति ने भी ब्रह्मस्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिए यही उपाय बतलाया है धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरम् ह्युपासनिशितं संधयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि। प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डकोपनिषद् २।२।३-४)।

उक्त प्रकार से जिस निवृत्ति पक्ष में योगेश्वर कृष्ण एवं धनुर्धर पार्थ परस्पर सखारूप में सम्मिलित हैं उस पक्ष में ही श्री (राजलक्ष्मी) अर्थात् स्वराज्य प्राप्ति) होती है क्योंकि श्रुति ने कहा है 'जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा के साथ एक होकर आत्मा को ही देखता है, जानता है एवं स्मरण करता है वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानन्द होकर स्वराट् होता है, एवं सर्वलोकों में कामाचार (पूर्णकाम) हो जाता है' (छा० उ० ७।२५।२) यही यथार्थ श्री है क्योंकि जागतिक श्री या राजलक्ष्मी प्राप्त होने से एक न एक दिन मृत्युपाश से बद्ध होकर उससे पृथक् होना पड़ेगा किन्तु जो आत्मानन्दरूप श्री को (स्वाराज्य को) प्राप्त कर लेता है उसकी श्री शाश्वत (चिरंतन) ही रहेगी अतः उसी पक्ष में विजय (दुःखमय संसाररूप महाशत्रु पर विशेषरूप से जय) की प्राप्ति होती है क्योंकि अविद्यारूप मूल का पूर्णतया नाश होने के कारण उस

महाशत्रु के पुनः आविर्भाव की सम्भावना नहीं रहती है। उसी पक्ष में भूति भी है। 'भूति' शब्द का अर्थ है उत्तरोत्तर वृद्धि। जिसकी प्राप्ति होनेपर सभी वृद्धि समाप्त हो जाती है उसे ब्रह्म (सबसे बृहद्) कहते हैं। उस ब्रह्म के साथ जब जीव सब वृत्तियों की निवृत्ति के द्वारा एक हो जाता है तभी भूति की (वृद्धि की) पराकाष्ठा होती है। इसलिए श्रुति भी कहती है ' सा निष्ठा सा परा गतिः '। अतः निवृत्ति पक्ष में ही पूर्ण भूति की प्राप्ति की सम्भावना है—अन्यत्र नहीं। फिर उसी निवृत्ति पक्ष में ध्रुवा नीति भी है। जो लक्ष्य वस्तु में या सिद्धान्त में पहुँचा देता है उसे नीति [नी (ले जाना) कर्म-वाच्य में ति प्रत्यय] कहते हैं एवं जो वस्तु स्थिर, अविचल, अविनाशी, अविकारी है उसे ध्रुव कहा जाता है। निवृत्ति की वृत्तियों को ही पाण्डव (शुद्ध) कहा जाता है एवं शुद्ध वृत्तियों में अर्थात् निवृत्ति परायण वृत्तियों में विक्षेप का अभाव रहने के कारण बुद्धि जीवनयुद्ध में सदा ही स्थिर रहती है। इस लिए निवृत्ति या पाण्डव पक्ष का राजा है युधिष्ठिर या स्थिरबुद्धि बुद्धि की स्थिरता ही निर्विकल्प समाधि के द्वारा ध्रुव (अचल) ब्रह्म के साथ ऐक्य संपादन कर देती है। अतः निवृत्ति पक्ष में नीति (लक्ष्यस्थल में लेजाने का उपाय या साधन) भी ध्रुव (अव्यभिचारी अर्थात् स्थिर) होना अवश्यम्भावी है यही भगवान् का निश्चित मत है अर्थात् वेदादि सर्व शास्त्रों का परम सिद्धान्त है। अतः हे धृतराष्ट्र ! (हे अन्ध विषयासक्त मन) इस प्रकार युद्ध में कामरूपी दुर्योधन की (गीता ३। ४३) जय की आशा न करो। तुम भी पाण्डव पक्ष के साथ सन्धि करके (निवृत्ति मार्ग में स्थित हुई शुद्ध बुद्धि के साथ युक्त होकर) अपने आत्मराज्य में परम शान्ति एवं आनन्द का भोग करो, यही इस अन्तिम श्लोक के कहने का तात्पर्य है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

परिशिष्ट

नारायणी टीका

[अष्टादश अध्याय (मोक्षसंन्यासयोग) का तात्पर्य]
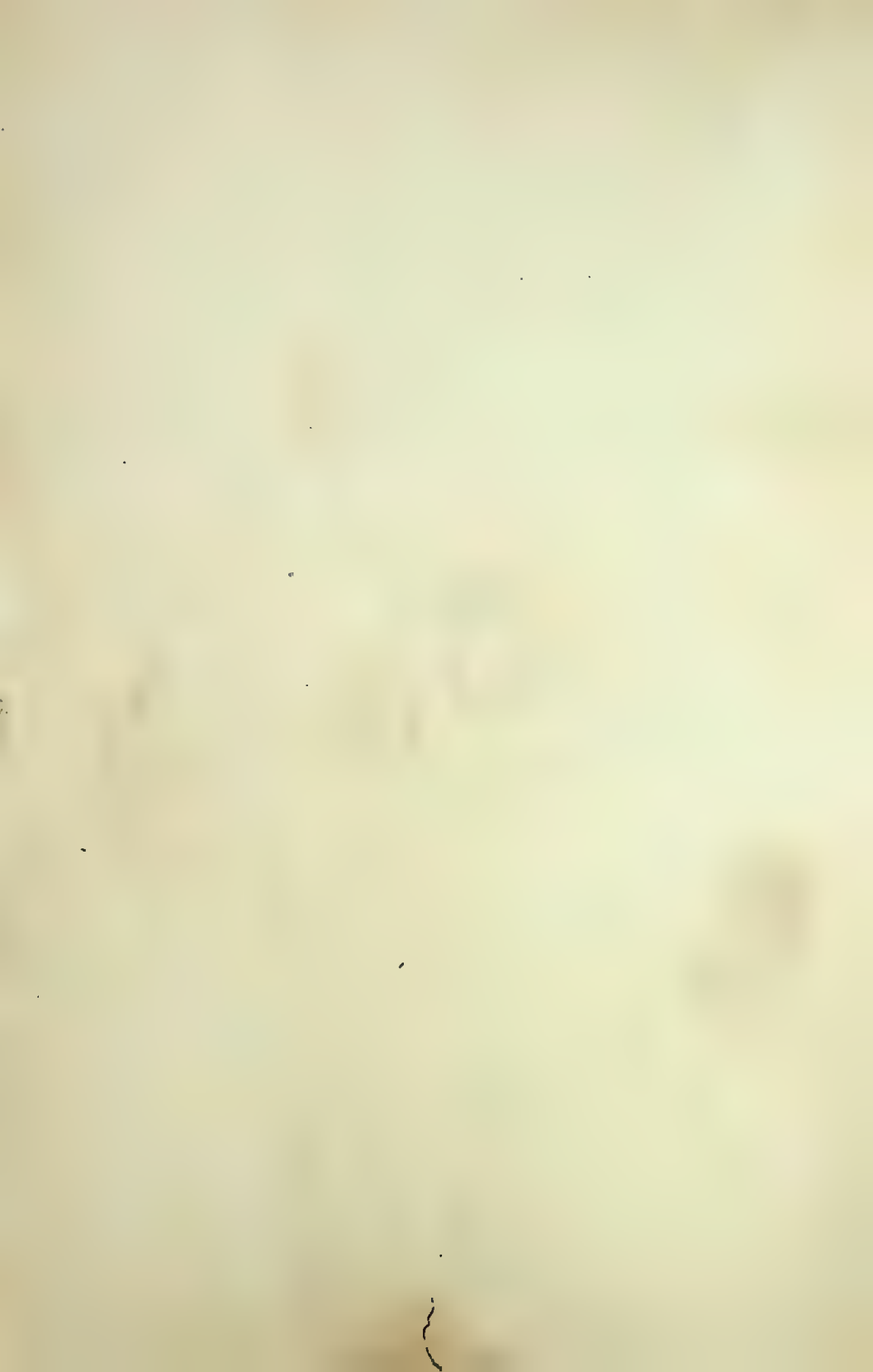
नारायणी टीका

अष्टादश अध्याय का तात्पर्य

संन्यास एवं त्याग के तत्त्व का निर्णय (१८।१-२) ।

गीताशास्त्र का उपदेश करते हुए भगवान् ने स्थान-स्थान पर कभी-कभी सर्वसंन्यास (कर्म त्याग) करने का उपदेश दिया तथा कभी-कभी सर्व कर्मों का फलत्याग करके विहित कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए कहा। अर्जुन के मन में इस संन्यासतत्त्व एवं त्याग के सम्बन्ध में संशय रहने के कारण संन्यास के यथार्थ स्वरूप को पृथक् कर स्पष्टतया कहने के लिए अर्जुन ने प्रार्थना की (१८।१) ।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा कि काम्यकर्मों के त्याग को पण्डित लोग संन्यास कहते हैं एवं जो कर्मों के रहस्य का विचार करने में कुशल हैं वे विचक्षण (कर्मनिपुण) लोग सर्वकर्म करते हुए उनके फल के त्याग को त्याग कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कामना अर्थात् किसी प्रकार से भी प्रयोजनसिद्धि की अभिलाषा न रहने पर किसी की कर्म में प्रवृत्ति होना असम्भव है किन्तु वह कामना (फल की वासना) ही संसार का बीज है। अतः परम कल्याण मोक्ष प्राप्त करने के लिए काम्य कर्म का न्यास (त्याग) अर्थात् बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले सभी कर्मों का त्याग ही संन्यास (सम्यक् त्याग) है एवं इसप्रकार का संन्यास ही मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति का उपाय है ऐसा सूक्ष्मदर्शी कवि (पण्डित लोग) कहते हैं। अबुद्धि पूर्वक किए जाने वाले अर्थात् स्वतः प्रवृत्त आहार शौच इत्यादि काम्यकर्म नहीं है। अतः उनके बिना अन्य संन्यास है तथा कर्मों से फल प्राप्ति की वासना का त्याग ही त्याग हैं, यही कहने का अभिप्राय है। किन्तु जो लोग कर्म का रहस्य जानते हैं वे कहते हैं कि जब तक देहात्मबुद्धि रहती है तब तक पूर्व स्वभाव या प्रकृति से प्रेरित होकर उसको कर्म अवश होकर करना ही पड़ता है। अतः यथाप्राप्त कर्म का अनुष्ठान यदि फल की वासना का त्याग करके ईश्वर-अर्पण

बुद्धि से करे तो उसकी चित्तशुद्धि होने पर जब भगवान् के (आत्मा के) स्वरूप को जानने की इच्छा (विविदिषा) उत्पन्न होगी एवं आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के लिए इच्छा उत्पन्न होगी तो काम्य एवं नित्य नैमित्तिक आदि सभी कर्म स्वतः ही उससे त्यक्त हो जायेंगे। अतः कर्मफल त्याग यथार्थ संन्यास का एक साधन है, त्याग और संन्यास में यही भेद है। यदि प्रश्न हो कि काम्यकर्म तो दूर की बात है नित्य कर्म से भी यदि किसी प्रकार फल की आशा न रहे तो उस कर्म में कर्माधिकारी पुरुष की कैसे प्रवृत्ति होगी? इसके उत्तर में कहा जाएगा कि चित्तशुद्धि तथा विविदिषारूप प्रयोजनसिद्धि ही उन कर्मों में प्रवृत्ति की हेतु होगी किन्तु विषयभोग की वासना नहीं रहेंगी। अतः अज्ञानी पुरुष को सर्व कर्मों का संन्यास न कर फलत्याग करके यथाविहित कर्म का अनुष्ठान करने का विधान शास्त्रों में किया गया है (१८।२)

कर्माधिकारी अज्ञानी पुरुष के लिए यज्ञ, दान तपरूप वैदिक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए (१८।३–७)।

सांख्य मतावलम्वी पण्डित लोग कहते हैं कि चाहे ज्ञानी हो और चाहे अज्ञानी हो, सबको ही कर्मों का त्याग करना उचित है क्योंकि सभी कर्म हिंसादि दोषों से युक्त होने के कारण संसारबन्धन के हेतु है। किन्तु दूसरे पण्डित लोग कहते हैं कि चित्तशुद्धि एवं विविदिषा के लिए कर्माधिकारी (अज्ञानी) पुरुष को यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म कभी नहीं त्यागना चाहिए (१८।३)

इस विषय पर भगवान् कहते हैं कि अज्ञानी पुरुष के त्याग तीन प्रकार के होते हैं अतः इस विषय पर मेरा निश्चय क्या है? उसको तुम सुन लो (१८।४)। इस विषय पर मेरा निश्चय यह हैं कि यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्म यदि संग अर्थात् कर्तृत्वाभिमान एवं फल का त्याग कर किया जाय अर्थात् 'ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर मैं उस प्रकार से कर्म कर रहा हूँ एवं यह उनकी प्रीति के लिए ही है (दूसरी कोई वासना पूर्ण करने के लिए नहीं) इस प्रकार के भाव से यदि यथाविहित कर्म किया जाय तो वह ज्ञान के प्रतिवन्धक रूप राग, द्वेषादि मल का नाश कर चित्तको

पवित्र (विशुद्ध) कर देता है जिससे ज्ञान लाभ करने की योग्यता प्राप्त होती हैं (१८।५–६)। क्योंकि शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि पंचमहायज्ञ रूप नित्य तथा नैमित्तिक कर्म का त्याग करने पर अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा मोक्ष–प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है (१८।५–७)।

त्याग तीन प्रकार के हैं (१८।७–१०)

(१) मोहपूर्वक (अर्थात् नित्य कर्म करने से क्या लाभ होगा इस प्रकारके अज्ञान से) कर्मों का जो त्याग होता है उसे **तामस**—त्याग कहा जाता है (१८।७) (२) कर्म करने से शरीर को क्लेश होगा इसप्रकार भय के कारण कर्ममात्र ही दुःखकर है ऐसी बुद्धि से कर्मों का जो (विहित कर्मों का) त्याग होता है वह **राजस**—त्याग हैं। राजस एवं तामस त्याग का फल अर्थात् चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान निष्ठारूप फल नहीं प्राप्त हो सकता है (१८।८) (३) शास्त्रविहित नित्य नियत कर्म (नित्य नैमित्तिकादि कर्म) मुझे केवल शास्त्र की आज्ञानुसार अवश्य ही करना है इस प्रकार की बुद्धि से मैं करता हूँ–इस प्रकार के अभिनिवेश का तथा इस कर्म से ऐसा फल प्राप्त कर लूँगा, इस प्रकार की वासना का त्याग करके यदि अन्तःकरण शुद्धि पर्यन्त नियत कर्म का अनुष्ठान किया जाय तो उस कर्तृत्व अभिनिवेश के त्याग तथा फलत्याग को शिष्ट लोग सात्त्विक त्याग कहते हैं (१८।९)।

सात्त्विक त्यागीकी अवस्था (१८।१०)

जो संग (कर्तृत्व अभिनिवेश) एवं फलाकांक्षा का त्याग करके केवल चित्तशुद्धि के लिए विहित कर्म का अनुष्ठान करता है वह त्यागी (क) सत्त्व-समाविष्ट होता है अर्थात् आत्मानात्म-विवेकज्ञान सम्पन्न होकर सम्यक् दर्शन के प्रतिबन्धकरूप रजः एवं तमः गुण के मल से रहित होने के कारण वह सम्यक् प्रकार से–सत्त्वगुण से आविष्ट होता है अर्थात् उसके चित्त में रजो एवं तमोगुण के अभिभूत होने के कारण वह अतिशय सत्त्वगुण से ही व्याप्त होता है (ख) वह मेधावी होता है अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा आत्मानात्म–विवेक आदि तथा शम,

दमादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर गुरुमुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त महावाक्य के श्रवण करने के साथ-साथ ब्रह्म एवं आत्मा एक ही है—इस प्रकार के ज्ञान से (जिसको मेधा कहा जाता है उससे) सम्पन्न होता है अर्थात् अनायास ही गुरुवाक्य से **परोक्षज्ञान** को प्राप्त होता है एवं तत्पश्चात् छिन्नसंशय होता है अर्थात् आत्मा अकर्ता है किन्तु अज्ञान के कारण ही देह में आत्माभिमान करके जीव कर्तृत्व-अभिमान करता है—इस प्रकार के ज्ञान से अविद्या से उत्पन्न हुए समस्त संशय एवं विपर्यय से रहित होता है अतः (ग) प्रारब्धवश देहादि जो कर्म करता है उसमें 'यह अशोभन है, यह काम्य है, यह निषिद्ध है अतः यह अकुशल है' इस प्रकार की प्रतिकूल बुद्धि से किसी कर्म से द्वेष नहीं करता है अथवा 'यह कर्म कुशल है (शोभनीय है) इस प्रकार की बुद्धि से नित्यादि शास्त्रविहित कर्मों में भी अनुषक्त (आसक्तियुक्त) नहीं होता है अर्थात् उन सब कर्मों में उसका अनुराग नहीं रहता है क्योंकि देहादि से किए जानेवाले किसी भी कर्म में उसका कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है सात्त्विक त्याग से ज्ञाननिष्ठा में योग्यतारूप फल प्राप्त होता है इसलिए मुमुक्षुको तामसिक एवं राजसिक त्याग का पूर्णतया निरादर करके सात्त्विक त्याग का ही आश्रय करना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है। (१८।१०)

त्याग के सम्बन्ध में भगवान् का निश्चय (१८।११)

देह में जबतक आत्मबुद्धि रहती है अर्थात् अज्ञान के कारण 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ' इस प्रकार से सोचनेवाला देहाभिमानी अज्ञ पुरुष निःशेष कर्मों का त्याग कभी नहीं कर सकता है क्योंकि देह की प्रयोजन-सिद्धि के लिए उसको कर्म करना ही पड़ता है। अतः जो कर्माधिकारी अज्ञ व्यक्ति केवल चित्तशुद्धि के लिए कर्मफल को आकांक्षा को त्यागकरके अपना वर्णाश्रम-विहित कर्म करता है उसको त्यागी कहा जाता है क्योंकि सर्वकर्मत्याग एवं कर्मफल त्याग इन दोनों में त्याग साधारण रहने के कारण गौणरूप से अर्थात् स्तुति के लिए सर्वकर्मत्याग न करने पर भी फलत्याग करनेवाले को त्यागी कहा जाता है। अशेष कर्मों का त्याग तो तत्त्वज्ञान होनेपर ही सम्भव है।' इसलिए वही **मुख्य-त्याग** है (१८।११)।

कर्मों का फलभोग अत्यागीको ही करना पड़ता है— संन्यासी को नहीं (१८।१२)

(१) जो लोग अज्ञानी हैं एवं कर्तृत्व-अभिमान एवं कर्मफलकी वासना का त्याग नहीं कर सकते उनको मरने के पश्चात् किये हुए धर्म एवं अधर्म (पाप-पुण्य) रूप कर्मों के फल को भोगना पड़ता है अर्थात् उनकर्मों के फल को भोगने के लिए वे अनिष्ट (नरकतिर्यगादि दुःखमय प्रतिकूल यानि), इष्ट (अनुकूल तथा सुखमय देवादि योनि) एवं मिश्र अर्थात् इष्ट-अनिष्ट (सुख-दुःख मिश्रित मनुष्ययोनि) को प्राप्त होते हैं।

(२) जो लोग चित्तशुद्धि के लिए कर्तृत्वाभिमान एवं फलाकांक्षा का त्याग करके ईश्वर-अर्पणबुद्धि से कर्म करते हैं उनकी यदि चित्तशुद्धि के द्वारा सम्यक्-दर्शन एवं ज्ञाननिष्ठा होने के पहले ही मृत्यु हो तो उनको भी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा अर्थात् छठे अध्याय में योगभ्रष्ट की जो गति कही गई है उस गति को वे प्राप्त करते हैं क्योंकि वे कर्तृत्व-अभिमान एवं फलासक्ति का त्याग करने से गौणी त्यागी हैं, सर्वकर्मत्यागी नहीं है। अर्थात् मुख्य त्यागी अथवा यथार्थ संन्यासी नहीं हैं।

(३) किन्तु जो परमार्थ संन्यासी हैं अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कृतकृत्य होने के कारण जिनके सर्वकर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है उनको तीन प्रकार के कर्मों का फल (अनिष्ट, इष्ट एवं मिश्रफल) भोगना नहीं पड़ता है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उनके सर्वकर्म भस्मसात् हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि सर्वकर्मत्यागी मुख्यसंन्यासी ही कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं (१८।१२)।

कर्मों के पाँच कारण हैं, आत्मा कर्ता नहीं है (१८।१३–१६)

सर्व कर्मों की सिद्धि के लिए 'सांख्ये' अर्थात् वेदान्त शास्त्र में पाँच कारण बताये गये हैं (१८।१३)–(क) अधिष्ठान—इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख इत्यादि का अधिष्ठान (आश्रय–शरीर) (ख) कर्ता—जो अपने को कर्ता, भोक्ता मानता है ऐसा जीवात्मा (ग) पृथग्विध-नानाप्रकार के करण (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय

दमादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर गुरुमुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त महावाक्य के श्रवण करने के साथ-साथ ब्रह्म एवं आत्मा एक ही है—इस प्रकार के ज्ञान से (जिसको मेधा कहा जाता है उससे) सम्पन्न होता है अर्थात् अनायास ही गुरुवाक्य से **परोक्षज्ञान** को प्राप्त होता है एवं तत्पश्चात् छिन्नसंशय होता है अर्थात् आत्मा अकर्ता है किन्तु अज्ञान के कारण ही देह में आत्माभिमान करके जीव कर्तृत्व-अभिमान करता है—इस प्रकार के ज्ञान से अविद्या से उत्पन्न हुए समस्त संशय एवं विपर्यय से रहित होता है अतः (ग) प्रारब्धवश देहादि जो कर्म करता है उसमें 'यह अशोभन है, यह काम्य है, यह निषिद्ध है अतः यह अकुशल है' इस प्रकार की प्रतिकूल बुद्धि से किसी कर्म से द्वेष नहीं करता है अथवा 'यह कर्म कुशल है (शोभनीय है) इस प्रकार की बुद्धि से नित्यादि शास्त्रविहित कर्मों में भी अनुषक्त (आसक्तियुक्त) नहीं होता है अर्थात् उन सब कर्मों में उसका अनुराग नहीं रहता है क्योंकि देहादि से किए जानेवाले किसी भी कर्म में उसका कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है सात्त्विक त्याग से ज्ञाननिष्ठा में योग्यतारूप फल प्राप्त होता है इसलिए मुमुक्षुको तामसिक एवं राजसिक त्याग का पूर्णतया निरादर करके सात्त्विक त्याग का ही आश्रय करना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है। (१८।१०)

त्याग के सम्बन्ध में भगवान् का निश्चय (१८।११)

देह में जबतक आत्मबुद्धि रहती है अर्थात् अज्ञान के कारण 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ' इस प्रकार से सोचनेवाला देहाभिमानी अज्ञ पुरुष निःशेष कर्मों का त्याग कभी नहीं कर सकता है क्योंकि देह की प्रयोजन-सिद्धि के लिए उसको कर्म करना ही पड़ता है। अतः जो कर्माधिकारी अज्ञ व्यक्ति केवल चित्तशुद्धि के लिए कर्मफल की आकांक्षा को त्यागकरके अपना वर्णाश्रम-विहित कर्म करता है उसको त्यागी कहा जाता है क्योंकि सर्वकर्मत्याग एवं कर्मफल त्याग इन दोनों में त्याग साधारण रहने के कारण गौणरूप से अर्थात् स्तुति के लिए सर्वकर्मत्याग न करने पर भी फलत्याग करनेवाले को त्यागी कहा जाता है। अशेष कर्मों का त्याग तो तत्त्वज्ञान होनेपर ही सम्भव है।' इसलिए वही **मुख्य**—त्याग है (१८।११)।

कर्मों का फलभोग अत्यागीको ही करना पड़ता है—संन्यासी को नहीं (१८।१२)

(१) जो लोग अज्ञानी हैं एवं कर्तृत्व-अभिमान एवं कर्मफलकी वासना का त्याग नहीं कर सकते उनको मरने के पश्चात् किये हुए धर्म एवं अधर्म (पाप-पुण्य) रूप कर्मों के फल को भोगना पड़ता है अर्थात् उनकर्मों के फल को भोगने के लिए वे अनिष्ट (नरकतिर्यगादि दुःखमय प्रतिकूल यानि), इष्ट (अनुकूल तथा सुखमय देवादि योनि) एवं मिश्र अर्थात् इष्ट-अनिष्ट (सुख-दुःख मिश्रित मनुष्ययोनि) को प्राप्त होते हैं।

(२) जो लोग चित्तशुद्धि के लिए कर्तृत्वाभिमान एवं फलाकांक्षा का त्याग करके ईश्वर-अर्पणबुद्धि से कर्म करते हैं उनकी यदि चित्तशुद्धि के द्वारा सम्यक्-दर्शन एवं ज्ञाननिष्ठा होने के पहले ही मृत्यु हो तो उनको भी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा अर्थात् छठे अध्याय में योगभ्रष्ट की जो गति कही गई है उस गति को वे प्राप्त करते हैं क्योंकि वे कर्तृत्व-अभिमान एवं फलासक्ति का त्याग करने से गौणी त्यागी हैं, सर्वकर्मत्यागी नहीं है। अर्थात् मुख्य त्यागी अथवा यथार्थ संन्यासी नहीं हैं।

(३) किन्तु जो परमार्थ संन्यासी हैं अर्थात् चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कृतकृत्य होने के कारण जिनके सर्वकर्म का स्वतः ही त्याग हो जाता है उनको तीन प्रकार के कर्मों का फल (अनिष्ट, इष्ट एवं मिश्रफल) भोगना नहीं पड़ता है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उनके सर्वकर्म भस्मसात् हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि सर्वकर्मत्यागी मुख्यसंन्यासी ही कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं (१८।१२)।

कर्मों के पाँच कारण हैं, आत्मा कर्ता नहीं है (१८।१३—१६)

सर्व कर्मों की सिद्धि के लिए 'सांख्ये' अर्थात् वेदान्त शास्त्र में पाँच कारण बताये गये हैं (१८।१३)—(क) अधिष्ठान—इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख इत्यादि का अधिष्ठान (आश्रय-शरीर) (ख) कर्ता—जो अपने को कर्ता, भोक्ता मानता है ऐसा जीवात्मा (ग) पृथग्विध-नानाप्रकार के करण (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय

एवं मन, बुद्धि–ये बारह करण)। जिससे कर्म होता है वह 'करण' कहा जाता है (घ) विविध–अर्थात् नाना प्रकार से प्राण-आदि की पृथक्-पृथक् चेष्टा (ङ) दैव–चक्षुरादि इन्द्रियों के आदित्यादि अधिष्ठाता देवता इनमें से कर्ता (अहंकार या कर्तृत्व-अभिमान) ही प्रधान है। इसलिए भागवत में कहा है–'अहंकारस्यैव संसृतिः' अर्थात् अहंकार की ही जन्म-मरणरूप संसारगति एवं सुख-दुःख का भोग होता है क्योंकि अहंकार ही चित्-जड़ ग्रन्थि है अर्थात् अनात्म देहादि के साथ चेतनस्वरूप आत्मा का जनित संयोग है (१८।१४)।

शरीर, वाक् एवं मन से जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं चाहे वे न्याय (शास्त्रसम्मत) हों चाहे अन्याय (शास्त्रविरुद्ध) हों, सभी कर्मों के उक्त अधिष्ठानादि पाँच कारण हैं (१८।१५)।

अतः चैतन्यस्वरूप आत्मा उन प्रकृति या माया से उत्पन्न हुए पाँच कारणों से सम्पूर्ण विलक्षण होने के कारण वह किसी कर्म का कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा केवल है अर्थात् शुद्ध, सर्व-उपाधिरहित, असंग, उदासीन, अविक्रिय एवं अद्वितीय होने के कारण उसमें कर्ता, कर्म, करण इन त्रिकोटि का अभाव है। तथापि जिस प्रकार से प्रतिबिम्बित सूर्य को तरंगायित जल में चंचल एवं कम्पित हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार आत्मचैतन्य का आभास (प्रतिबिम्ब) प्राप्त करके ही उक्त अधिष्ठानादि पाँच कारण कर्मों के हेतु होते हैं। ऐसा होने पर भी बिम्बरूप आत्मा को ही मूढ़ (अज्ञानी) व्यक्ति कर्ता, भोक्ता मानता है। इसका कारण यह है कि उसकी बुद्धि अकृत है अर्थात् शास्त्र एवं गुरु के उपदेश से संस्कृत (निर्मल) नहीं हुई है। इसलिए वह दुर्मति यानी जन्म-मरण रूप गति को प्राप्त करनेवाली विपरीत बुद्धि (यथार्थज्ञानहीनता) से युक्त है एवं इस कारण से आत्मा के यथार्थ-स्वरूप को ठीक-ठीक देखने में (जानने में) असमर्थ होता है (१८।१६)।

आत्मा को जो अकर्ता जानता है वह सुमति है। उसको शुभाशुभ कर्मफल का भोग नहीं करना पड़ता है (१८।१७)

जिसकी बुद्धि आचार्य के उपदेश द्वारा संस्कृत (निर्मल) हो चुकी है एवं जो आत्मानात्मविवेकादि साधनचतुष्टय से संपन्न हुआ है, अतः जिसका किसी

कर्म में 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का अभिमान नहीं है अर्थात् अविद्या से कल्पित अधिष्ठानादि पाँच कारण ही सर्व कर्मों के कर्ता हैं, मैं तो इन सब का साक्षीमात्र अप्राण, अमन, असंग, ब्रह्मस्वरूप आत्मा हूँ, इस प्रकार से जो अपने को देखता है एवं जिसकी उपाधिभूता बुद्धि (अन्तःकरण) 'यह कर्म मैंने किया अतः इसका फल मैं भोग करूँगा' इस प्रकार से सोचकर पुण्य कर्म करके हर्षरूप लेप को एवं पापकर्म करके पश्चातापरूप लेप को नहीं प्राप्त होती है अर्थात् कर्म एवं कर्मफल में लिप्त नहीं होती है वह पूर्वोक्त दुर्मति से विलक्षण होने के कारण सुमति है। वह सुमतिसम्पन्न पुरुष पितामह आदि गुरुजनों की हत्या करना तो दूर की बात है बल्कि सर्व लोकों के सर्वप्राणियों की हत्या करके भी अपने आत्मा के अकर्तृत्वरूप का साक्षात्कार करने के कारण स्वयं न तो हत्या करता है और न हत्यारूप क्रिया के फल से ही बद्ध होता है। कर्म बन्धन का कारण नहीं है, कर्म में कर्तृत्व-अभिमान एवं कर्मों से फल प्राप्ति की वासना ही संसारबन्धन का कारण है क्योंकि वे दोनों ही संसाररूप महावृक्ष का बीज हैं (१८।१७)

कर्मों का प्रवर्तक कौन है तथा आश्रय क्या है ? (१८।१८–१९)

(क) प्रवर्तक—ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय ये तीनों मिलकर कर्म के प्रवर्तक होते हैं अर्थात् इन तीनों में से एक का भी अभाव होने से कर्म में प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है। जैसे ज्ञेय (जानने के योग्य) वस्तु सामने है, ज्ञाता (जाननेवाला) भी उपस्थित है किन्तु ज्ञाता में ज्ञान (विषय के प्रकाशन की शक्ति) नहीं है तो ज्ञेयविषय में ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं होगी। उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञाता उभय रहने पर भी ज्ञेय वस्तु यदि बहुत दूर रहे तो उस ज्ञेय विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है।

(ख) आश्रय—कर्म, कर्ता तथा करण ये तीन प्रकार के कर्मसंग्रह हैं अर्थात् ये तीनों कारक कर्म के आश्रय हैं। (सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण) ये परम्परा संबन्ध से कर्मों के कारक होने के कारण इनको क्रिया का आश्रय नहीं कहा जाता है। कर्मसंग्रह का अर्थ है कर्म का आश्रय अर्थात् भोग। कर्ता है किन्तु कर्म नहीं है अथवा करण [अर्थात् मन, बुद्धि आदि अन्तर-इन्द्रिय एवं दश बाह्येन्द्रिय

(पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा पंच कर्मेन्द्रिय) जिनको करण कहा जाता है वे] नहीं रहने पर भोग नहीं हो सकता है (१८।१८)

कपिलप्रणीत सांख्यशास्त्र में गुणसमूह उनके कार्यों के भेदसहित सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित हुए हैं। इसलिए सांख्यशास्त्र के परमात्मतत्त्व का निर्देश करना ही प्रधान उद्देश्य होने से भी उस शास्त्र को 'गुणसंख्यान' कहा जाता है। उक्त तीन प्रकार के कर्मों के प्रवर्तक एवं कर्मों के आश्रय को अब ज्ञान, कर्म, कर्ता इन तीनों में अंतर्भुक्त करके उनके तीन प्रकार के भेद सत्त्वादिगुणों के भेद के अनुसार यथावत् अर्थात् (सांख्यशास्त्र एवं युक्ति के द्वारा) भगवान् वर्णन करते हैं (१८।१९)।

ज्ञान के तीन प्रकार के भेद (१८।२०–२२)

(१) सात्त्विक ज्ञान—सर्वभूतों में अर्थात् अव्यक्त से लेकर स्थावर-जंगम सभी भूतों में अर्थात् उत्पत्ति–विनाशशील समस्त दृश्यप्रपंच में सभी वस्तु परस्पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी जिस मिथ्या प्रपंच के बाध करने वाले अद्वैत आत्मदर्शन रूप ज्ञान के द्वारा उनमें आकाशवत् अविभक्त (सर्वत्र व्याप्त), अविच्छिन्न, एक (अद्वितीय), अव्यय (नित्य कूटस्थ) भाव को यानी स्वप्रकाश (आनन्द स्वरूप) आत्मा को देखता है (साक्षात् अनुभव करता है) उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं (१८।२०)।

(२) राजस ज्ञान--जिस ज्ञान के द्वारा सर्वभूतों को पृथक्-पृथक् देखकर भिन्न-भिन्न देह में अभिमानकारी आत्मा भी पृथक्-पृथक् है इस प्रकार की बुद्धि द्वारा नाना भाव को भी पृथक् प्रकार से जानते हैं अर्थात् यह सुखी है, यह दुःखी है, यह साधु है यह असाधु है इस प्रकार पृथग्विध (पृथक् प्रकार से अर्थात् परस्पर विलक्षण रूप से) जानता है, वह राजसी ज्ञान है।

जो राजस ज्ञान सम्पन्न हैं उनकी दृष्टि में (क) देह के भेद से सभी भूत परस्पर भिन्न भिन्न हैं, (ख) भाव भी (अर्थात् प्रतिदेह में अभिमानी आत्मा भी) पृथक् विध (नाना प्रकार के) हैं क्योंकि कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी है, कोई भिखारी है। अतः भिन्न भिन्न देह में एक आत्मा नहीं स्वीकार किया जाता

है क्योंकि आत्मा एक होने पर तो सभी जीवों में एक ही प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव होता रहता। रजोगुण का धर्म है चंचलता (विक्षेप)। विक्षिप्त चित्त द्वारा सर्वभूतों के अधिष्ठानस्वरूप एक, अद्वितीय, शान्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का सम्भव नहीं है। इसलिए राजस ज्ञान सर्वप्रकार से भेद-भाव में ही सीमा-बद्ध रहता है (१८।२१)।

(३) **तामस ज्ञान**—एक ही कार्य को अथवा किसी अंशविशेष को परिपूर्ण मानकर जो ज्ञाता बिना किसी युक्ति से आसक्त रहता है एवं जिसमें आसक्त रहता है वह वस्तु या कार्य यदि अतथ्यार्थवत् अर्थात् यथार्थ तत्त्व के साथ सम्बन्धशून्य एवं अल्प (तुच्छ अर्थात् नितान्त क्षुद्र) हो तो उस ज्ञान को तामस ज्ञान कहा जाता है। यदि कोई भक्त भी एक छोटी सी प्रस्तर मूर्ति को परिपूर्ण ईश्वर मानकर उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो उसका वह ज्ञान तत्त्वशून्य अहैतुक (प्रमाणशून्य या शक्तिशून्य) एवं अल्प (अतिक्षुद्र) होने के कारण वह तामस ज्ञान है (१८।२२)

कर्मों के तीन प्रकार के भेद (१८।२३–२५)—

(१) **सात्त्विक कर्म**—जो कर्म (क) नियत है अर्थात् शास्त्रों द्वारा नित्य करने के लिए विहित है (ख) वह यदि संगरहित हो अर्थात् 'मैं महा याज्ञिक हूँ' इस प्रकार के अभिमान या अहंकाररूप गर्व से शून्य हो (ग) रागद्वेष से रहित हो अर्थात् 'इस कर्म के द्वारा मैं राजसन्मान आदि प्राप्त करूँगा' अथवा द्वेष अर्थात् 'इसके द्वारा शत्रु को पराजित करूँगा' ये दोनों भाव न रहें तथा (घ) कर्मफल के लिये अभिलाषा न रहे तो उस यज्ञ, दान, होमादिरूप कर्मको सात्त्विक कहा जाता है (१८।२३)।

(२) **राजस कर्म**—(क) जिस कर्म में कोई न कोई फलप्राप्ति की ईच्छा रहती है (ख) मैं इतना भारी काम कर रहा हूँ, मेरे समान और कोई ऐसा कर्म नहीं कर सकता' इस प्रकार के अहंकार के (गर्व के) साथ जो कर्म किया जाता है तथा (ग) जिस कर्म में बहुत परिश्रम आवश्यक है अर्थात् जिस कर्म को करते हुए कर्ता अत्यन्त क्लेश का अनुभव करता है, वह कर्म राजस कर्म है (१८।२४)।

(३) तामस कर्म—(क) जिस कर्म में अनुबन्ध अर्थात् पश्चात् क्या अशुभ फल होगा। (ख) कितनी शक्ति एवं अर्थादिका क्षय होगा (ग) कितने प्राणियों की हिंसा होगी अर्थात् कितना पीड़ादायक होगा (घ) उस कर्मको करने के लिये पौरुष अर्थात् सामर्थ्य है कि नहीं है इन सबकी पर्यालोचना न करके (ङ) जो केवल मोह से (केवल अविवेक अर्थात् हठ से) किया जाता है, वह तामस कर्म है (१८।२५)।

कर्ता के तीन प्रकार के भेद (१८।२६–२८)—

(१) सात्त्विक कर्ता—(क) मुक्तसंग होता है अर्थात् फल की कामना से रहित होकर केवल शास्त्र की आज्ञानुसार भगवान् की प्रीति के लिए कर्म करता है। (ख) अनहंवादी होता है 'मैं इस कर्म को करता हूँ' इस प्रकार के अहंकारभाव से रहित होकर भगवान् की प्रेरणा से ये शरीर, इन्द्रियादि कर्म कर रहे हैं इस प्रकार से भावयुक्त होकर कर्म करता है। (ग) धृतियुक्त तथा उत्साहयुक्त होता है। विघ्न उपस्थित होने पर भी जिस कर्म का आरम्भ किया था उसका त्याग न करने की वृत्ति को धृति कहा जाता है एवं कर्तव्य कर्म हमको करना ही है इस प्रकार के दृढ़ संकल्प को उत्साह कहा जाता है–इन दोनों से युक्त होकर सात्त्विक कर्ता कर्म करता है (घ) सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार अर्थात् समभाव-संपन्न रहता है क्योंकि वह जानता है कि कर्म में ही मेरा अधिकार है, कर्मों के फल में नहीं क्योंकि कर्मफल भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है अतः कार्य की सिद्धि में उसका मुख प्रफुल्लित नहीं होता है तथा कार्य की हानि में भी मुख म्लान नहीं होता है (१८।२६)।

(२) राजस कर्ता—(क) रागी होता है। विषय की कामना से (आसक्ति से) आकुलचित्त रहता है (ख) कर्मफल का आकांक्षी होता है अर्थात् कोई भी कर्म फल की आशा के बिना नहीं करता है (ग) लोभी होता है अर्थात् पर द्रव्य को प्राप्त करने के लिए सर्वदा अभिलाषा करता है (घ) हिंसात्मक होता है। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रवृत्ति का छेदन तथा परपीणा में तत्पर होता है

(ङ) हर्ष या शोक से युक्त रहता है अर्थात् किसी समय इष्ट प्राप्ति में हर्ष एवं किसी समय अनिष्ट प्राप्ति या इष्ट वियोग से शोक से युक्त रहता है (१८।२७)।

(३) तामस कर्ता—(क) अयुक्त अर्थात् असमाहितचित्त अर्थात् कर्तव्य कार्य में असावधानता रखता है (ख) प्राकृत होता है अर्थात् पशु के समान पूर्व जन्मार्जित संस्कार के अनुसार जैसी मन में प्रेरणा आती है उसी को किसी प्रकार से विचार न करके कर लेता है। (ग) स्तब्ध (अनम्र) होता है एवं इसलिए गुरु, देवतादि को प्रणाम करने की प्रवृत्ति भी उसकी नहीं होती है (घ) शठ (प्रवंचक) होता है अर्थात् मन के भाव को गुप्त रखकर बाहर दूसरे प्रकार से अपने को प्रकट करता है (ङ) नैष्कृतिक होता है अर्थात् 'मैं तुम्हारा उपकारक हूँ' इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करके अपने स्वार्थ के लिए दूसरे की वृत्ति का उच्छेदन करने के स्वभाव वाला होता है (च) अलस होता है अर्थात् अवश्य कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान में भी प्रवृत्त नहीं होता है (छ) विषादी होता है अर्थात् सदा ही असन्तुष्ट एवं शोक-युक्त रहता है (ज) दीर्घसूत्री होता है यानी जिस कर्म का करना उचित है वह आज करूँगा, कल करूँगा इस प्रकार की भावना से महीने भर में भी नहीं कर सकता है (१८।२८)। गुणभेद से बुद्धि तथा धृति भी तीन प्रकार की होती यद्यपि धृति भी बुद्धि की वृत्ति है तथापि उसको विशेष रूप से पृथक् करके प्रत्येक का तीन प्रकार का भेद बतला रहे हैं (१८।२९)।

बुद्धि के तीन प्रकार के भेद (१८।३०–३२)

(१) सात्त्विक बुद्धि—जिस बुद्धि से (क) प्रवृत्ति (कर्ममार्ग) एवं निवृत्ति (संन्यासमार्ग) क्या है ? इसे जाना जाता है (ख) क्या कर्तव्य है ? एवं क्या अकर्तव्य है ? अथवा प्रवृत्तिमार्ग में जो कुछ फलाकांक्षा सहित किया जाता है वह कार्य (कर्म) है एवं निवृत्ति मार्ग में फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करते हुए भी वह कर्म अकार्य (अकर्म) ही है ऐसा जाना जाता है (ग) प्रवृत्ति मार्ग में गर्भवासादि दुःख के कारण भय रहता है एवं निवृत्ति मार्ग में मोक्ष रूप अभय प्राप्त हो सकता है यह जाना जाता है तथा (घ) प्रवृत्ति मार्ग में अज्ञानजनित

कर्तृत्वाभिमान रहने के कारण संसार बन्धन में पतित होना पड़ता है किन्तु निवृत्ति-मार्ग में तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान एवं उसके कार्य का नाश होने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है—ये सब तत्त्व जिस बुद्धि से जाने जाते हैं वह बुद्धि परमार्थ साधन के संबन्ध में निश्चयात्मिका होने के कारण सात्त्विकी बुद्धि कही जाती है (१८।३०)।

(२) **राजसी बुद्धि**—(क) जिस बुद्धि से धर्म क्या है, अधर्म क्या है, कार्य (कर्तव्य) क्या है, अकार्य (अकर्तव्य) क्या है इस विषय में यथावत् अर्थात् ठीक-ठीक निश्चय रूप से जाना नहीं जाता है वह संशयात्मिका बुद्धि राजसी बुद्धि है। रजोगुण से चित्त चंचल (विक्षिप्त) रहने के कारण राजसी बुद्धि किसी विषय को यथार्थरूप से जान नहीं पाती (१८।३१)।

(३) **तामसी बुद्धि**—तमोगुण का कार्य है प्रत्येक वस्तु को विपरीत भाव से देखना। अतः तमोगुण जब बुद्धि को आच्छन्न कर लेता है तो वह बुद्धि शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्म को अधर्म मानती है एवं इसी प्रकार समस्त वस्तु को ही विपरीत भाव से ग्रहण करती है यथा —नित्य-नैमित्तिक कर्म अनावश्यक है, इससे चित्तशुद्धि होना असम्भव है, फिर चित्तशुद्धि एवं उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि संसार ही एकमात्र सत्य वस्तु है, यह तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ता है अतः आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति भी पागल की कल्पना मात्र ही है, इस प्रकार से मिथ्या को सत्य एवं सत्य को मिथ्यारूप से ग्रहण करने वाली विपरीत बुद्धि ही तामसी है (१८।३२)।

धृति के तीन प्रकार के भेद (१८।३३–३५)

(१) **सात्त्विकी धृति**—अव्यभिचारिणी योग के द्वारा अर्थात् आत्मातिरिक्त अन्य विषय की चिन्ता का त्याग करके सदा ही चित्त आत्मा में समाधि रूप योग के द्वारा पुष्ट हुई जिस धृति से मन, प्राण एवं इन्द्रियों की चेष्टा शास्त्रनिषिद्ध मार्ग में विचरण नहीं कर सकती अर्थात् मन, प्राण एवं इन्द्रियों की क्रिया नित्य सत्य आत्मवस्तु को ही अवलम्बन करके विचरती है तो उस धृति को सात्त्विक धृति कहा जाता है (१८।३३)

(२) **राजसी धृति**—जिस बुद्धि वृत्ति से (धृति से) मनुष्य की धर्म, अर्थ एवं काम में प्रवृत्ति होती है अर्थात् इन तीनों को ही वह कर्तव्य रूप से निश्चय कर लेती है (मोक्ष को नहीं) एवं साथ-साथ कर्म करते हुए 'मैं कर्ता हूँ अतः मुझे फलप्राप्ति करनी है' इस प्रकार प्रसंग से (कर्तृत्वाभिनिवेश से) फलकांक्षा रहती है. उस धृति को राजसी कहा जाता है (१८।३४) ।

(३) **तामसी धृति**—हीन बुद्धि युक्त पुरुष जिस बुद्धि वृत्ति से (धृति से) स्वप्न (निन्द्रा), भय (त्रास), शोक (इष्ट-वियोग निमित्त संताप), विषाद (इन्द्रियों के अवसाद-विषन्नता). मद (विषय भोग की मत्तता) को धारण करके रहता है अर्थात् किसी प्रकार से इनका त्याग नहीं कर सकता है वह धृति तामसी है (१८।३५) ।

सुख के तीन प्रकार के भेद (१८।३६–३९)

(१) **सात्त्विक सुख**—विषय भोग से जो सुख होता है वह सहसा उत्पन्न होता है अर्थात् उसके लिए अभ्यास का प्रयोजन नहीं होता है एवं अन्त में वह सुख-दुःख में ही पर्यवसित (समाप्त) होता है। विषय सुख सामयिक (क्षणिक) एवं परिणाम में दुःख का हेतु होने के कारण विवेकी पुरुष के द्वारा वह सदा ही अग्राह्य है किन्तु स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप आत्मा के साथ एकत्व अनुभव करने पर जो सुख उत्पन्न होता है वह नित्य सुख है एवं उससे दुःख का अन्त (आत्यन्तिक निवृति) हो जाता है किन्तु इस आत्मसुख (परमानन्द) को प्राप्त करने के लिए अभ्यास (आत्मा में स्थित होने के लिए पुनः प्रयत्न या आवृत्ति) का प्रयोजन है। इसलिए ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि इत्यादि के लिए अत्यन्त प्रयत्न जब साधक करता रहता है तो उस समय में अर्थात् निर्विकल्प समाधि के पहले इस प्रकार का समाधि-जनित सुख अत्यन्त प्रयत्नसाध्य होने के कारण विष के समान क्लेशकर प्रतीत होता है। किन्तु परिणाम में अर्थात् ज्ञान, वैराग्य के परिपक्व होने पर जब निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मानन्द का साक्षात् अनुभव होता है तब वह अमृततुल्य हो जाता है। इस प्रकार का सुख आत्मविषया बुद्धि के प्रसाद से (स्वच्छता से अर्था-

बुद्धि जब रजोगुण एवं तमोगुणरूप मल से रहित होकर निर्मल सत्त्वगुण से व्याप्त होती है तभी) इस प्रकार का समाधिजनित सुख (आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द) प्राप्त होता है। यह सुख केवल सत्त्वगुण से ही उत्पन्न होने से इसको योगी लोग सात्त्विक सुख कहते हैं (१८।३७)।

(२) **राजस सुख**—विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है अर्थात् मान, प्रतिष्ठा, धन तथा स्त्रीसंग को प्राप्त करके जो प्रसिद्ध लौकिक सुख उत्पन्न होता है उसके लिए मनके संयम आदिरूप क्लेश को सहन नहीं करना पड़ता है। अतः वह पहले अमृत तुल्य प्रतीत होता है किन्तु परिणाम में वह बल, वीर्य, रूप, प्रज्ञा धन, उत्साह इत्यादि की हानि का हेतु होने के कारण एवं परलोक के भी दुःख का हेतु होने के कारण वह विषय तुल्य होता है। इस प्रकार वैषयिक सुख को राजस सुख कहते हैं (१८।३८)।

(३) **तामस सुख**—निद्रा, आलस्य, प्रमाद तमोगुण के कार्य हैं (गीता १४।१७)। अतः उनसे उत्पन्न हुए सुख निद्रा आदि के पहले एवं बाद में आत्मा को मोहकर ही होते हैं अर्थात् जिस निद्रादि के उत्पन्न हुए सुख में रत हुए पुरुष की कभी विवेक ज्ञान से मोह या अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है वह सुख तामस ही होता है (१८।३९)।

त्रिगुण से कोई भी प्राणी (देहाभिमानी) मुक्त नहीं है (१८।४०)

एक आत्मा से अतिरिक्त समस्त दृश्य जगत् अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सभी प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा उत्पन्न हुए हैं। अतः पृथ्वी में, स्वर्ग में अथवा देवगणों में ऐसा कोई प्राणी नहीं है (देवाभिमानी जीव नहीं है) जो प्रकृति से (माया से) उत्पन्न हुए सत्त्व,रज, तम इन तीनों गुणों से मुक्त है (१८।४०)।

[रजः तथा तमोगुण परमार्थ सिद्धि (मोक्ष) के लिये अन्तराय (विघ्न-कारक) है। सत्त्वगुण प्रकट न होने पर अन्तरात्मा का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। अपना-अपना स्वभावज कर्मद्वारा भगवान् की अर्चना ही सत्त्वगुण सम्पन्न होने का श्रेष्ठ उपाय हैं।] इसलिये कहते हैं—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के कर्म स्वभावज गुण के अनुसार विभक्त हुए हैं (१८।४१–४४)

समष्टि रूप से ईश्वर की प्रकृति (माया) को स्वभाव कहते हैं। व्यष्टि रूप से जन्मान्तरकृत कर्मों का संस्कार जो इस जन्म में कार्य करने के लिए अभिमुख (उन्मुख) होकर क्रमशः अभिव्यक्त होता रहता है उसको जीव-स्वभाव कहा जाता है। समष्टि स्वभाव के (माया से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के तारतम्य के) अनुसार जीव संस्कार के अनुकूल ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य अथवा शूद्रयोनि को प्राप्त होता है एवं जिसमें जिस गुण का आधिक्य रहता है उसी के अनुसार पृथक्-पृथक् वर्णों का कर्म भी पृथक्-पृथक् रूप से विभक्त हुआ है (१८।४१)।

(१) ब्राह्मण का स्वभावज कर्म—(क) शम—सात्त्विक गुण की प्रबलता के कारण विषय भोग के प्रति वैराग्य तथा तत्त्व ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण मन चंचल होने से जिस चित्त-वृत्ति के द्वारा उस मन को विषय से निवृत्त करके आत्मा में स्थित किया जाय वह शम है (ख) दम—जिससे चक्षुरादि पंचज्ञानेन्द्रिय एवं हस्तादि पंच कर्मेन्द्रियों को अर्थात् दश वाह्य इन्द्रियों को रूपादि विषय से हटाकर आत्म संबन्धीय पूजा, उपासना, श्रवणादि व्यापार में नियुक्त किया जाय वह चित्तवृत्ति दम है। (ग) तप—गीता के १७।१४–१७ श्लोकों में कहे गये शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक सात्त्विक तप अथवा आत्मा में चित्त की एकाग्रता परमतप है—ऐसा महाभारत में कहा गया है। (घ) शौच—जल, मृत्तिकादि के द्वारा देह की शुचिता का संपादन करना वाह्य शौच है। प्राणायाम आदि द्वारा अथवा मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा के द्वारा चित्त के मल के क्षालन का नाम आभ्यन्तर शौच है। (ङ) क्षान्ति—(क्षमा) बृहस्पति ने कहा—

> 'बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
> न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥

वाह्य किसी कारण से अथवा शरीरादि के रोग के निमित्त यदि किसी समय दुःख उत्पन्न होने पर भी क्रोध अथवा ताड़ना करने की इच्छा मन में न हो

तो उसे क्षान्ति कहा जाता है। (च) आर्जव—सरलता, बाह्य और भीतर में एक भाव। (छ) ज्ञान—शास्त्रों के अध्ययनजनित परोक्षज्ञान। (ज) विज्ञानकर्म—काण्डीय यज्ञादिका विशेषज्ञान (साधन कौशल) एवं ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादित ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का अनुभव करने का विशेष ज्ञान (झ) आस्तिक्य—सर्वात्मा भगवान् ही एकमात्र सत्यवस्तु है, शास्त्र ही परम कल्याण का एकमात्र पथप्रदर्शक है इत्यादि निश्चय एवं तद्विषय में श्रद्धा, उक्त नौ प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति सात्त्विक गुण का विशेष प्रकाश होने पर ही होती है। अतः ये सब सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण जाति के स्वभावज (स्वाभाविक) कर्म हैं अर्थात् जिस पूर्वजन्म के कर्म संस्कार से सात्त्विक गुण का आधिक्य रहने के कारण ब्राह्मण वंश में जन्म हुआ उस स्वभाव से ही इन सब कर्मों में ब्राह्मण की स्वतः ही प्रवृत्ति होती है (१८।४२)

(२) क्षत्रिय के स्वभावज कर्म—(क) शौर्य—शूरत्व अर्थात् युद्ध में निर्भयता से प्रवेश करने की सामर्थ्य (ख) तेज—जिस शक्ति को दूसरा धर्षण या पराभव नहीं कर सकता है वह तेज है (ग) धृति—अत्यन्त विपदा के उपस्थित होने पर भी कर्म की समाप्ति होने तक जिस चित्तवृत्ति के द्वारा देह तथा इन्द्रियों में तावसाद (शिथिलता) नहीं आ पाता है वह धृति है। (घ) दाक्ष्य—कर्मकुशलता अर्थात् सहसा कोई कर्म उपस्थित होने पर उसके सम्वन्ध में क्या करना उचित है उस विषय पर अतिशीघ्र निर्णय करने की सामर्थ्य (ङ) युद्ध से अपलायन—मृत्यु निश्चय होगी ऐसा जानकर भी युद्ध से पलायन नहीं करना (च) दान—जिनको देना है उनको मुक्त हस्त से वस्तु का स्वत्व त्याग करके देना (छ) ईश्वर-भाव अधीन व्यक्ति के प्रति प्रभुत्व प्रकाश एवं प्रजा पालन के लिए दुरात्माओं का दमन ये सभी रजोगुण के धर्म हैं। अतः रजोगुणप्रधान क्षत्रियों के ये स्वभावजात कर्म हैं (१८।४३)

(३) वैश्य के स्वभावज कर्म—(क) कृषि—शस्य का उत्पादन (ख) गो रक्षा—गोपालन एवं गोसमूह की वृद्धि (ग) वाणिज्य—धनसंचय करने के लिए द्रव्यादि का क्रय एवं विक्रय इन सब कर्मों में प्रवृत्ति अधिक रजोगुण एवं कम

तमोगुण मिश्रित स्वभाव से उत्पन्न होने के कारण ये वैश्य जाति के स्वाभाविक कर्म हैं (१८।४४)।

(४) **शूद्रों के स्वभावज कर्म**—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की परिचर्या (सेवा) ही तमोप्रधान शूद्रवर्ण का स्वभावजात कर्म हैं (१८।४४)।

अपने-अपने कर्मों में निष्ठा ही संसिद्धि प्राप्ति का साधन है (१८।४५-४९)।

जिस वर्णाश्रम के लिए जिस प्रकार का कर्म शास्त्र में विहित है अर्थात् जो कर्म जिस वर्ण के लिए स्वभावज हैं उनमें ही यदि वर्णाश्रम अभिमानी मनुष्य अभिरत (निष्ठावान्) रहे अर्थात् अपनी इच्छानुसार कर्म में प्रवृत्त न होकर शास्त्र-विधि के अनुसार अपना-अपना वर्णाश्रम धर्म पालन करे तो वह यथाकाल में संसिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् उन कर्मों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करके देह, इन्द्रिय तथा चित्त की शुद्धि के द्वारा यथाक्रम से सम्यक् ज्ञान (मोक्ष) प्राप्ति की योग्यता का लाभ करता है। यदि प्रश्न हो कि कर्म तो बन्धन का हेतु है, अतः उससे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर में कहा जाएगा कि जिस प्रकार से अपने-अपने कर्म में निरत (निष्ठावान्) पुरुष सिद्धि (मुख्य संन्यासरूप नैष्कर्म्य सिद्धि) को प्राप्त होता है उसे कहा जा रहा है (१८।४५)।

(१) जिस अन्तर्यामी ईश्वर से सर्व प्राणियों की कर्म में प्रवृत्ति होती है (क्योंकि चैतन्यस्वरूप ईश्वर के संयोग के बिना जड़ देहादि के लिए कोई कर्म करना सम्भव नहीं है) एवं जो आत्मस्वरूप अन्तर्यामी ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है उसकी यदि अपने-अपने वर्णाश्रम के लिए शास्त्रविहित कर्म के द्वारा पूजा की जाय अर्थात् निष्काम भाव से उसकी ही प्रीति के लिए सर्व कर्म भगवदर्पण बुद्धि से किए जाँय तो कर्मों में कर्तृत्वाभिमान एवं फलाकांक्षा न रहने के कारण सिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होती हैं (१८।४६)।

(२) यदि प्रश्न हो कि क्षत्रिय का धर्म हिंसात्मक होने के कारण उससे पाप एवं पाप से नरकभोग तो अवश्यम्भावी हैं। अतः क्षत्रिय यदि ब्राह्मण के

शम, दम, अहिंसा, भिक्षाटन आदि धर्म ग्रहण करे तो उसके लिए कल्याण होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि अपना धर्म विगुण भी हो यानी अंगहीन होने के कारण ठीक-ठीक अनुष्ठित न हो अथवा हिंसादि दोषयुक्त भी हो तथापि सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित हुए परधर्म से वह श्रेष्ठ है (कल्याणकर है) क्योंकि स्वभाव से जिस वर्ण के लिए जो कर्म नियत है वह यदि हिंसात्मक भी हो (जैसे क्षत्रिय के लिए युद्धादि कर्म) तो भी कर्मकर्ता को उस कर्म के अनुष्ठान से पाप नहीं होता है। जिस प्रकार से विष से उत्पन्न हुए कृमि का विष ही जीवन धारण के लिए सहायक है उससे उसके जीवन की हानि नहीं होती है उसी प्रकार अपने-अपने स्वभावज कर्म का श्रद्धापूर्वक एवं दृढ़व्रत होकर पालन करना ही परमकल्याणरूप मोक्ष के मार्ग में अग्रसर होने में प्रधान सहायक होता है (१८।४७)।

(३) स्वभावज कर्म दोषयुक्त (हिंसात्मक) होने पर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार अग्नि धूम से (धुँआ से) आवृत्त रहती है उसी प्रकार सभी आरम्भ अर्थात् कर्म (स्वधर्म, परधर्म, इहलोक के भोग के लिए किए हुए कर्म अथवा परलोक के लिए करने योग्य कर्म) त्रिगुणात्मक होने के कारण दोषयुक्त रहेंगे ही। जिस प्रकार कि मलिन वस्तु की भी अग्नि में आहुति है पर वह मलिनता से मुक्त होकर अग्नित्व को ही प्राप्त होती है उसी प्रकार अपने अपने स्वाभाविक कर्मों के किये जाने पर भी सभी कर्म नित्य शुद्ध भगवान् में अर्पित हों तो वे भी सर्व दोषमुक्त होकर चित्तशुद्धि उत्पन्न करके भगवत्स्वरूपता को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं (१८।४८)।

(४) प्रश्न होगा तब क्या कर्म यावज्जीवन करना होगा किन्तु ज्ञान विना कर्मों से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है, यह तो सर्व शास्त्रों के प्रमाण से सिद्ध है। इसके उत्तर में कहते हैं—निष्काम भाव से विहित कर्मों को करने का उद्देश्य है चित्तशुद्धि, जिसके बिना विविदिषा एवं तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर सर्वकर्म का त्याग करना संभव नहीं होता है। अतः निष्काम कर्म की परिसमाप्ति होती है। सर्वकर्मों के त्याग में अर्थात् ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि में। अब नैष्कर्म्यसिद्धि किस लक्षणयुक्त योगी को प्राप्त होता है उसे कहा जाता है—

(क) जब योगी सर्वत्र असक्तबुद्धि होता है अर्थात् पुत्र, दारादि में तथा देहादि में मैं उसकी 'मेरापन' बुद्धिजनित आसक्ति नहीं रहती है।

(ख) जितात्मा होता है—सर्वविषय से अपने आत्मा को (अन्तःकरण को) निवृत्त कर वशीभूत कर लेता है।

(ग) विगतस्पृह होता है–सर्व दृश्य वस्तु में दोष दर्शनकर अर्थात् नामरूपात्मक प्रपंच में मिथ्यात्व बुद्धि का दृढ़ निश्चय कर एवं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा का सत्यत्व अनुभव कर सभी वस्तु के प्रति (अपने जीवन रक्षा के प्रति भी) स्पृहा (तृष्णा) रहित होता है अतः इस प्रकार सर्वत्र आसक्तिहीन (स्पृहाहीन) एवं अन्तःकरण को वश में करनेवाले योगी को वाह्यविषय का किसी प्रकार से प्रयोजन न रहने के कारण उसके सर्वकर्मों का संन्यास (त्याग) स्वतः ही होता है एवं इस प्रकार संन्यास के द्वारा वह परम अर्थात् सद्योमुक्ति में अवस्थानरूप नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त होता है। आत्मस्वरूप ब्रह्म ही निष्क्रिय है (निष्कर्म है)। निष्कर्म के भाव को नैष्कर्म्य कहा जाता है। अतः 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त करता है इस वाक्य का अर्थ है कि संन्यास (सब कर्मों का त्याग) करके वह निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थितिरूप सिद्धि को प्राप्त होता है। अतः अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मोचित कर्म निष्काम भाव से एवं भगवदर्पण बुद्धि से करने पर [illegible] अवस्था में (ब्राह्मीस्थिति में) परिणत होता है एवं कर्मकर्ता निष्कर्मा (अक्रिय) यानी ब्रह्मस्वरूप होता है (१८।४९)।

नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त (ब्रह्मप्राप्ति) करने का उपाय या साधन क्या है ? (१८।५०–५३)

अपने-अपने कर्म के द्वारा ईश्वर की आराधना करने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है जिससे ज्ञानोत्पत्ति की योग्यता प्राप्त करके मुमुक्षु ब्रह्म को अर्थात् शुद्धात्माको साक्षात्कार कर लेता है। वही नैष्कर्म्यसिद्धि या ज्ञान की परानिष्ठा (परिसमाप्ति) है जिसके पश्चात् और अन्य कोई अनुष्ठान करने के योग्य साधन नहीं रहता है। चित्तशुद्धि के पश्चात् किस क्रम से उस अवस्था को मुमुक्षु

प्राप्तकर सकता है वह संक्षेप से कहा है (१८।५०)। (क) विशुद्धबुद्धि से (सर्व-संशय तथा विपर्ययशून्य होकर माया के कार्य में वैराग्ययुक्त बुद्धि से) अर्थात् वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुई 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति से युक्त (सम्पन्न होकर) (ख) सात्त्विक धृति से आत्मा को (शरीरेन्द्रियों के संघात को) नियमन करके (अर्थात् उन्मार्ग में प्रवृत्त न हो सके इसप्रकार वशीभूत करके) (ग) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन सब विषयों को त्यागकर [किन्तु ज्ञाननिष्ठा शरीर की स्थिति के बिना सम्भव नहीं है इसलिए केवल प्राणरक्षा के लिए जिस विषय का अत्यन्त प्रयोजन है उसके बिना और सब विषयभोग को त्यागकर] (घ) आत्मा ही सर्वत्र भोक्ता-भोग्यरूप में विराजमान है इस प्रकार दृढ़निश्चय बुद्धि से राग द्वेष का परित्यागकर (ङ) विविक्तसेवी होकर अर्थात् उपद्रवरहित पवित्र स्थान में वासकर (च) लघु (परिमित) हित एवं मेध्य (पवित्र) वस्तु का आहार कर अर्थात् निद्रा आलस्य प्रमाद को उत्पन्न करनेवाले तथा चित्त का विक्षेप एवं चित्त के लयकर अर्थात् कर्म (?)स एवं राजस भोजन का त्यागकर (छ) शरीर, वाणी एवं परलोक के लिए, आसनादि के द्वारा संयतकर (ज) ध्यान (आत्मस्वरूप का चिन्तन), योग (आत्मस्वरूप में चित्त का एकाग्रीकरण) में ही तत्पर होकर, ..., तीर्थ यात्रादि में तत्पर न होकर (झ) वैराग्य को आश्रय कर अर्थात् नित्यसत्य आत्मवस्तु में चित्तको स्थिर कर इहलौकिक एवं पारलौकिक सर्व विषय में तृष्णाहीन होकर (ञ) कुल, शील, रूप, जाति में 'मैं कुलीन हूँ' 'मैं धनी हूँ', मानी हूँ, इस प्रकार के अभिमान को त्यागकर तथा (ट) बल अर्थात् काम, रागादि युक्त राजसी बल (ठ) दर्प अर्थात् इच्छापूर्वक धर्म का अतिक्रमण करने में गर्व (ड) काम (विषय अभिलाषा) (ढ) क्रोध (द्वेष) (ण) परिग्रह (शरीर धारण के लिए नितान्त प्रयोजन के विषय से अतिरिक्त वस्तु का संग्रह) इन सबको परित्यागकर (त) निर्मम [देह (जीवन) धारण करने में भी ममत्व भाव का त्यागकर] अत एव (थ) शान्त (सर्वप्रकार चित्तविक्षेप से रहित होकर) ज्ञान-साधन के परिपाक के क्रम से योगी ब्रह्म होने के लिए [ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त (ब्रह्मसाक्षात्कार) करने में] समर्थ होता है (१८।५१–५३)।

ब्रह्मभूत होकर पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) प्राप्त होती है एवं उसके पश्चात् जीव और ब्रह्म एक हो जाता है (१८।५४–५५) ।

ब्रह्मभूत होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार से साक्षात् अनुभव करके विद्वान् प्रसन्नात्मा होने पर आत्मातिरिक्ति सभी वस्तु का मिथ्यात्व निश्चय करके देहादि का वैकल्य या हानि उपस्थित होने से शोक नहीं करता है और न तो अप्राप्त वस्तु के लिए आकांक्षा ही करता है । वह सर्वत्र एवं सर्वभूत में एक ही आत्मा को देखने के कारण समदर्शी होता है एवं इस अवस्था में उसकी दृष्टि में एक ही आत्मा का अस्तित्व रहने के कारण एवं आत्मा सबके लिए ही सबसे प्रियतम होने के कारण आत्मस्वरूप भगवान् के प्रति द्वैतदृष्टि विवर्जित एक मात्र भगवदाकारा चित्तवृत्ति से युक्त होकर अत्यन्त प्रेमलक्षणा ज्ञाननिष्ठारूपा परा (सर्वोत्तम) भक्ति को प्राप्त होता है (१८।५४) ।

५१ से ५४ वें श्लोक तक ज्ञानमार्ग में जीव किस प्रकार से परा भक्ति अर्थात् ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त कर सकता है यह कहा गया है । अब भक्तिमार्ग से (साधन भक्ति से) भी वही अवस्था किस क्रम से प्राप्त हो सकती है वह कहा जाता है । साधन भक्ति द्वारा भक्त भगवान् की कृपा से भगवान् कितना विस्तृत है अर्थात् भगवान् ही सगुण भाव से विश्वरूप है एवं भगवान् स्वरूपतः क्या है अर्थात् भगवान् या शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा सर्व प्रपंच से विलक्षण, सर्व उपाधिरहित, नित्य, शुद्धबुद्ध, मुक्त, अद्वैत, अखण्डैकरस, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप है, यह तत्त्व से (सर्वतो भाव से) जान लेता है । उसके पश्चात् भगवान् के स्वरूप को (केवल, निष्क्रिय, अचलस्वरूप को) ही तत्त्वतः जानकर अर्थात् वही भगवान् का यथार्थ स्वरूप है तथा विश्वरूप भी मायिक स्वरूप ही है, यह तत्त्वतः जानकर उसके पश्चात् ही अर्थात् तत्क्षण ही जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दर्पण का अपसरण करने के पश्चात् बिम्ब में ही प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण में (परब्रह्म में) प्रविष्ट होकर ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है । उसे ही ५४ वें श्लोक में ज्ञाननिष्ठा या पराभक्ति कहा गया है (१८।५५) ।

ज्ञान के अनधिकारी (कर्माधिकारी) पुरुष के लिए भगवान् की शरण लेकर सर्वकर्म करना ही मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है (१८।५६—६६)।

जिसका कर्म में ही अधिकार है (सर्वकर्म का त्याग करने में अधिकार नहीं है) वह 'सर्वात्मा भगवान् वासुदेव ही मेरा एकमात्र आश्रय (शरण) है' इस प्रकार की भगवदर्पणबुद्धि से यदि अपने-अपने वर्णाश्रम के धर्मानुकूल सर्व कर्म का अनुष्ठान करे अथवा यदि अनिच्छापूर्वक शास्त्रों से निषिद्ध कर्म भी कभी उससे अनुष्ठित हो जाय तो वह भगवान् के अनुग्रह से ही क्रमशः चित्तशुद्धि एवं तत्त्व-ज्ञान को प्राप्तकर शाश्वत (नित्य) अव्यय (अपरिणामी) वैष्णवपद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है (१८।५६) ।

किस प्रकार से भगवान् के शरणागत होना होता है अब वही कहा जाता है—जो कुछ कर्म किया जाता है वह विवेकबुद्धि द्वारा ईश्वर को (सर्वात्मा भगवान् को) 'यत्करोषि यदश्नासि' (गीता ९।२७) इत्यादि रीति से समर्पण करते हुए भगवान् में ही परायण होकर अर्थात् भगवान् वासुदेव मेरी आत्मा है अतः प्रियतम है इस प्रकार की भावना से अपने को भी भगवान में समर्पितकर जो मोक्ष के हेतुरूप बुद्धियोग (सर्वत्र भगवान को ही देखने के कारण समत्वबुद्धिरूप योग) को आश्रय करके सदा मच्चित्त होता है अर्थात् भगवान् में ही चित्त समाहित रखता है—कामिनी, कांचन आदि विषय में नहीं, वही मेरा यथार्थ शरणागत भक्त है (१८।५७) ।

जो मच्चित्त है अर्थात् भगवान् में जिसका चित्त निरन्तर समाहित रहता है वह भगवान् की कृपा से अनायास ही सभी दुस्तर (जिसको पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसे) संसारबन्धन के हेतुभूत काम क्रोधादि का अतिक्रमण कर जाता है । अतः भगवान् ने अर्जुन से कहा कि यदि तुम अहंकार से (अर्थात् अपने को पण्डित मानकर गर्व से) परमकल्याण का साधन जो मैंने बताया है उसे न सुनोगे (ग्रहण न करोगे अर्थात् स्वधर्म को छोड़कर परधर्म भिक्षाटन आदि का ग्रहण करोगे) तो विनाश को प्राप्त होओगे अर्थात् परमपुरुषार्थ जो मोक्ष है उससे भ्रष्ट हो जाओगे

[क्योंकि भगवदर्पणबुद्धि से (निष्कामभाव से) जिसके लिए जो कर्म शास्त्र में विहित है उसका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान ही चित्तशुद्धि की प्राप्ति का उपाय है और चित्तशुद्धि ही मोक्ष का द्वार है (१८।५८) ।]

फिर यदि तुम अहंकार का आश्रय करके अर्थात् मैं धार्मिक हूँ इस प्रकार अहंकार (अभिमान) का आश्रय करके 'हिंसात्मक युद्ध नहीं करूँगा' ऐसी चिन्ता करो अर्थात् निश्चय करो, तो यह निश्चय मिथ्या होगा क्योंकि तुम्हारी प्रकृति ही तुमको युद्ध में नियुक्त करेगी (प्रवृत्त करेगी) [पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कार के कारण तुम्हारा स्वभाव रजोगुणप्रधान है। इसलिए तुमने क्षत्रिय कुल में जन्मग्रहण किया है। अतः वह रजोगुणप्रधान प्रकृति या स्वभाव ही तुमको युद्ध में प्रवृत्त करेगा (१८।५९) ।]

सभी मनुष्य अपने-अपने स्वभाव (पूर्वकर्म संस्कार) से उत्पन्न हुए कर्मों में निबद्ध (निश्चयरूप से बद्ध) रहने के कारण इच्छा न करने पर भी अवश होकर उन कर्मों को करने में बाध्य होते हैं [स्वभाव व संस्कार के अनुसार सत्त्वादि तीनों गुणों का तारतम्य (प्रबलता एवं दुर्बलता) देखा जाता है। जिसके अन्दर जो गुण प्रबल हैं उसी के अनुसार उसको कर्म विवश होकर करना ही पड़ता है।] अतः हे अर्जुन ! तुम मोहवश [अर्थात् मैं स्वतंत्र हूँ एवं जैसी मेरी इच्छा है [illegible] करने में मैं समर्थ हूँ इस प्रकार के मोह से (भ्रम से)] यदि रजोगुण प्रधान क्षत्रिय स्वभाव वाले होकर भी युद्धादि कर्म करने के लिए अनिच्छुक हो तो तुमको भी स्वभाव के वशीभूत होकर उसको करना ही पड़ेगा (१८।६०) ।

यदि प्रश्न करो कि स्वभाव भी माया का कार्य होने के कारण जड़ है वह मुझसे कैसे कर्म करा लेगा ? तो इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से ही (अध्यक्षता से ही) माया या स्वभाव जड़ होने पर भी चेतन के समान ही क्रिया शक्ति प्रकट करता है। वह जो कुछ करता है वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान् या आत्मा में उपचरित (आरोपित) होने के कारण भगवान् ही सब कर रहा हैं, ऐसा कहा जाता है [किन्तु वस्तुतः आत्मस्वरूप भगवान् तो निष्क्रिय, केवल एवं साक्षीमात्र है।] मायायुक्त चैतन्यस्वरूप आत्मा को ईश्वर

कहा जाता है। सर्व भूतों के हृदय में स्थित वह ईश्वर ही माया या स्वभाव के द्वारा यंत्र में आरूढ़ (चढ़े हुए) कठपुतली के समान सर्व जीवों को भ्रमाता है (अपना-अपना स्वभावज कर्म करने के लिए बाध्य करता है)। अतः जब तक जीव देह में आत्मबुद्धि कर माया या स्वभाव के वशीभूत रहता है, तब तक वह अस्वतंत्र (परतंत्र) है। अतः स्वतंत्रता के बिना जब जीवन की लक्ष्य वस्तु परमानन्द की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है तो इस माया या स्वभाव का अतिक्रमण कर परम पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए एकमात्र उपाय है भगवान् की शरणागति क्योंकि एकमात्र सर्वात्मा भगवान् ही माया से परे है एवं मायाधीश है (गीता ७।१४)। इसलिए भगवान् ने उपदेश दिया कि जब तक देह में आत्मबुद्धि है अतः कर्म में ही अधिकार है तब तक सभी कल्याणकामी पुरुषों को सभी कर्म मुझे समर्पित करते हुए करने चाहिए क्योंकि इसप्रकार कर्मानुष्ठान से ही मेरा भक्त चित्तशुद्धि के द्वारा मुझे प्राप्त होकर माया या स्वभाव से तर जाता है एवं अपने स्वरूप का राज्य स्वाराज्य पाकर [illegible]तंत्र हो सकता है (१८।६१)

अतः उक्त कारण से अर्जुन से [illegible]भगवान् कह रहे हैं—उस ईश्वर की ही सर्वभाव से (अर्थात् कर्म से, वाणी से एवं मन से) संसाररूप महा समुद्र को पार करने के लिए शरण (आश्रय) लो। उनके अनुग्रह से ही अर्थात् तुम अपनी सत्ता जब आत्मा रूपी ईश्वर का चिन्तन करते-करते उसमें विलय कर दोगे तो शुद्धात्मा अपने स्वरूप से प्रकट होगा। वही उसका अनुग्रह (कृपा) है—एवं उस कृपा से (अर्थात् आत्मप्रकाश से) अविद्या एवं उसके सर्वकार्य की निवृत्ति होने पर ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य-अनुभव रूप परम शान्ति को प्राप्त होओगे तथा शाश्वत (नित्य) स्थान विष्णु के पद (अर्थात् सर्वव्यापी के परमपद) को अर्थात् परमानन्द स्वरूप में अवस्थिति को भी प्राप्त होओगे (१८।६२)।

भगवान् ने इस प्रकार से अर्जुन को गुह्य से गुह्यतर (गोपनीय से भी गोपनीय) अर्थात् अत्यन्त रहस्ययुक्त ज्ञान (अर्थात् कर्मयोग से आत्मतत्त्व का ज्ञानरूप मोक्ष का साधन) बतलाकर उसको सम्यग्‌रूप से पर्यालोचन करके अर्थात् उसका कर्म में अधिकार है या ज्ञान में अधिकार है ऐसा निर्णय करके उसकी जैसी इच्छा हो वैसा करने को कहा (१८।६३)।

जिसने भगवान् को ही जीवनरूप रथ सारथी रूप में ग्रहण किया उस शिष्य अर्जुन के विचार में किसी प्रकार भ्रम न हो इसलिए सर्वगुह्यतम अर्थात् कर्मयोग एवं उसके फलभूत ज्ञान से भी अत्यन्त रहस्य युक्त परम वाक्य (अर्थात् परम कल्याण की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ उपदेश) पुनः कहने लगे क्योंकि अर्जुन (शुद्धबुद्धि) में ही भगवान् का प्रकाश होना सम्भव है। अतः वह भगवान् को स्वभावतः अत्यन्त प्रिय है। फिर अर्जुन ने भगवान् का शिष्यत्व वरण कर लिया इसलिए सद्गुरु जब तक शिष्य को परमपद मोक्ष में नहीं पहुँचा देता है तब तक उसके हित के वचन (उपदेश) कहता ही रहता है (१८।६४)।

वह गुह्यतम हितवचन क्या है? यह कह रहे हैं (क) मन्मना हो अर्थात् मुझ भगवान् वासुदेव में ही चित्त समाहित करो (अर्थात् ब्रह्म एवं आत्मा के अभेद का साक्षात्कार करने के लिए मन की वृत्ति को निरन्तर ब्रह्माकारी करने में तत्पर हो) क्योंकि यही ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति का साक्षात् उपाय है। 'मन्मना' कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं (ख) मद्भक्त हो–अर्थात् विषय अनुरक्त न होकर प्रेमपूर्वक मुझमें निरन्तर अनुरक्त रहो। मद्भक्त कैसे हो? इसके उत्तर में कहते है (ग) मद्याजी हो अर्थात् सर्व कर्म मुझे ही [illegible] करते हुए मेरी पूजा में तत्पर हो अर्थात् भगवान् की प्रीति के लिए ही कर्म पापों से अहंकार की प्रीति के लिए नहीं। यदि प्रश्न हो कि दारिद्रय के कारण अथवा श्रद्धा के अभाव के कारण यदि ऐसा यजन (पूर्जन) सम्भव नहीं हो तो? इसके उत्तर में कहते है (घ) मुझे सर्वत्र नमस्कार करो अर्थात् मैं भगवान् ही सर्वत्र सर्व रूप में अवस्थित हूँ, इसी भावना से चलते-फिरते उठते-बैठते मुझे ही नमस्कार करने का अभ्यास करो क्योंकि नमस्कार ही महायज्ञ है। इसप्रकार से साधनपद्धति का अवलम्बन करके तुम मुझें भगवान् को अवश्य ही प्राप्त कर लोगे अर्थात् घटाकाश जिस प्रकार महाकाश को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी जीवात्मा को मुझमें लय कर मेरी स्वरूपता (ब्रह्म स्वरूपता) को प्राप्त कर लोगे। इस विषय पर तुम संशय न करो, मैं सत्य प्रतिज्ञा करके बोल रहा हूँ क्योंकि तुम ज्ञानी भक्त होने के कारण मैं तुम्हारा हूँ एवं तुम मेरी आत्मा हो अतः (गीता ७।१८)

तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो मैं भी तुम्हें अत्यन्त प्रिय हूँ प्रिय प्रिय की कभी प्रतारणा नहीं करता है (१८।६५)

उक्त साधनों के द्वारा जब मन्मना और मच्चित्त होकर मेरे यथार्थ स्वरूप को जानलोगे तो मूल अज्ञान का नाश होने के कारण सर्वधर्म का त्यागकरके एकमात्र मेरी ही (एक, अद्वितीय, अखण्ड, अचल नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा की ही) शरण लोगे क्योंकि तब दूसरी किसी वस्तु की सत्ता तुम्हारी दृष्टि में नहीं रहेगी। धर्माधर्म, पाप-पुण्य एवं पाप-पुण्य से उत्पन्न हुआ संसारचक्र, ये सभी अज्ञान के कार्य हैं (अज्ञान द्वारा कल्पित हैं)। अतः ज्ञाननिष्ठा के द्वारा एकमात्र भगवान् की कृपा से (उनके स्वरूप के प्रभाव से मूलसहित अज्ञान के नाश होने के कारण मनुष्य सर्व पापरूप संसारबन्धन से स्वतः ही मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की (भगवान् की सगुणभाव की) शरण लेने से भी कर्माधिकारी अज्ञानी पुरुष भी यथाक्रम से (चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर) पारमार्थिक अखण्ड, अद्वय, निर्गुण, निश्चल स्वरूप का साक्षात्कार कर भगवत्स्वरूपता को प्राप्त करके भवबन्धन से मुक्त हो सकता हैं यही भगवान् ने ५१ से ६६ श्लोक तक स्पष्ट किया है (१८।६६)।

गीतोक्त उपदेश का अधिकारी (१८।६७–७१)

(१) अधिकारी श्रोता कौन है ? (१८।६७)—जो (क) तपस्या से रहित अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ संयत नहीं हुई हैं, तपस्वी होते हुए भी जो (ख) अभक्त है अर्थात् गुरु एवं देवता में भक्तिहीन है, तथा तपस्वी एवं भक्त होने पर भी (ग) शुश्रूषाहीन है अर्थात् जिसकी गुरु की सेवा (परिचर्या) करने की प्रवृत्ति नहीं है अथवा गीताशास्त्र सुनने की इच्छा नहीं है एवं (घ) मुझ भगवान् में अभ्यसूया (दोषारोपण करके निन्दा) करता है उसको कभी गीताशास्त्र सुनाना नहीं चाहिए अर्थात् जो तपस्वी है, भक्त है शुश्रूषापरायण है, एवं भगवान् का माहात्म्य कीर्तन करता हुआ उनमें ही अनुरक्त रहता है वही गीताशास्त्र के श्रवण का योग्य अधिकारी है एवं उसको ही इसे सुनाना चाहिए [शास्त्र में तपस्वी और मेधावी इन दोनों में विकल्परूप से श्रवण का अधिकारी बतलाया। अतः तपस्वी नहीं होते

भी यदि मेधावी हो एवं अन्य तीनो गुणों से युक्त हो तो उसको भी सुनाना चाहिए] (१८।६७)।

(२) **गीताशास्त्र का श्रेष्ठ वक्ता कौन है ?** (१८।६८–६९)–तपस्या, शुश्रूषा से रहित होने पर भी मेरा भक्त ही गीताशास्त्र का श्रवण करने के लिए सबसे श्रेष्ठ अधिकारी है। अतः जो उपर्युक्त पराभक्ति से युक्त होकर इस परम गुह्य की [अर्थात् मोक्षप्राप्ति के श्रेष्ठ उपायरूप इस गोपनीय गीताशास्त्र की] व्याख्या मेरे प्रति अति अनुरक्त भक्त के निकट करता है। वह वक्ता मुझे ही प्राप्तकर लेता है, इस विषय में संशय नहीं है (१८।६८) मनुष्यों में इस प्रकार गीताशास्त्र की व्याख्या-कर्ता से अन्य कोई मेरा प्रियकृत् (अतिशय परितोषकर्ता) नहीं है एवं भविष्य में भी उसकी अपेक्षा प्रियतर पृथ्वी में अन्य कोई नहीं हो सकेगा (१८।६८–६९)।

(३) **गीता के अध्येता का (पाठ करनेवाले का) फल**—धर्म से व्याप्त इस श्रीकृष्णअर्जुनसंवादरूप गीताग्रन्थ का जो जपरूप से नित्य पाठ करता है, उसके द्वारा मैं (सर्वेश्वर भगवान्) ज्ञानरूप यज्ञ से पूजित होता हूँ, यही मेरा मत (निश्चय) है [क्योंकि इस प्रकार पाठ से भी चित्तशुद्धि एवं ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है] (१८।७०)।

(४) **श्रवण का फल**—जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर तथा [illegible]ति दोष-दृष्टिशून्य होकर इस गीताशास्त्र का केवल श्रवणमात्र करता है वह भी सर्व पापों से मुक्त होकर अग्निहोत्र आदि पुण्य कर्म करनेवाले को जो शुभलोक प्राप्त होता हैं उसे ही प्राप्त कर लेता है (१८।७१)।

अर्जुन का मोहनाश (१८।७२–७३)

ऐसा कहकर भगवान् ने प्रश्न किया कि समस्त गीताशास्त्र को अर्जुन ने एकाग्रचित्त से सुना कि नहीं अर्थात् सुनकर उसके तात्पर्य को वह धारण कर सका कि नहीं ? एवं उस श्रवण से उसके अज्ञाननिमित्त जो सम्मोह—विपर्ययबुद्धि अर्थात् अपने स्वधर्म के पालन में विमुखता हुई थी वह यदि सम्पूर्णतया नष्ट न हो गई तो भगवान् के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि वे उसे पुनः उपदेश देंगे (१८।७२) अर्जुन ने कहा मेरा अज्ञानजनित[illegible] कुछ भी [illegible]ष्ट हो चुका है। तुम्हारे

अनुग्रह से (मेरे हृदय में तुम्हारे आत्मप्रकाशन से) मेरी आत्मतत्त्वविषया स्मृति अर्थात् 'मैं शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की स्मृति मुझे प्राप्त हुई है एवं अज्ञानजनित जितना संशय था वह सब निवृत्त होने के कारण मैं अपने स्वरूप में स्थित हुआ हूँ। कर्म करना शरीर का धर्म है अतः मेरा शरीर तुम्हारी आज्ञा के अनुसार युद्धादि कर्म करता रहेगा अर्थात् जैसे तुम नचाओगे वैसे ही नाचेगा (१८।७३)।

श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद सुनकर संजय का उल्लास एवं प्रशंसा (१८।७४-७८)।

(१) संजय कहने लगे मैंने इस रोमांचकर एवं अति अद्भुत (अर्थात् अत्यन्त विस्मयकर) महात्मा वासुदेव एवं अर्जुन के संवाद को जो कि अतिगुह्य (गोपनीय) योग तथा मोक्ष प्राप्ति का उपाय है, उसे वेदव्यास की कृपा से योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं जैसा अर्जुन को कहा वैसे ही सुना है (१८।७४–७५)।

(२) केशव और अर्जुन का यह पवित्र एवं अद्भुत संवाद पुनः पुनः स्मरण करके मैं मुहुः मुहुः (बारम्बार) हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ एवं सर्व दुःख का हरण करने वाले वासुदेव ने जो अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया उसे पुनः पुनः स्मरण करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है एवं मैं पुनः पुनः हर्ष से प्लावित हो रहा हूँ (१८।७६–७७)।

(३) यह संवाद सुनकर मेरा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ है कि जिस पक्ष में योगेश्वर कृष्ण एवं धनुर्धर पार्थ (अर्जुन) सम्मिलित है उस पक्ष की श्री (राजलक्ष्मी) शत्रुपर विजय, भूति, (उत्तरोत्तर समृद्धि की वृद्धि) एवं ध्रुवा नीति (अव्यभिचारिणी न्यायसम्मत प्रवृत्ति अर्थात् न्याय्य कर्म में निरन्तर प्रवृत्ति) अवश्यम्भावी है [७४ से ७८ श्लोकों की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए इस ग्रन्थ की नारायणी टीका—द्रष्टव्य है]।

अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः

समाप्तमिदं गीताशास्त्रम्

ही इसे सुनाना
न से श्रवण का अधिक

गीतामाहात्म्यम् ।

(१) श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारोक्तगीतामाहात्म्यम् ।

शौनक उवाच--

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत् सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥ १ ॥

शौनकजी ने कहा--हे सूत ! पुरा काल में (प्राचीन काल में) नारायण क्षेत्र में (नैमिषारण्य में) महामुनि व्यासजी ने जो गीता माहात्म्य कहा वह मेरे पास यथायथ (ज्यों का त्यों) वर्णन करो ॥ १ ॥

सूत उवाच--

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीताम[illegible]त्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

सूतजी ने कहा--भगवन् ! आपने उत्तम प्रश्न किया है ; यह प[illegible]म गुह्यतम है किन्तु यह गीता माहात्म्य उत्तम रूप से वर्णन करने में कौन समर्थ है ।२।

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किंचित् कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णजी ही यह सम्यक् रूप से (भली भाँति) जानते है ; कुन्तीपुत्र या व्यासदेव या व्यासपुत्र शुकदेव या याज्ञवल्क्य या मिथिलापति जनक इसके फल से किंचित् (अल्प) अवगत हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्तयन्ति च ।
तस्मात् किंचिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥

दूसरे लोग इसे श्रवण कर कथंचित् (कुछ) कीर्त्तन करते हैं ; इस लिए (व्यासदेव के श्रीमुख से यत्किंचित् (जो कुछ भी) मैं सुना हूँ, वही कह रहा हूँ ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥

सारे उपनिषद मनोगामी (गौ) है; गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दोग्धा (दोहन करने वाला) है ; पार्थ गोवत्स (बछड़ा) है ; उत्तम वुद्धि व्यक्तियों भोक्ता (भोजन करने वालें) एवं गीतारूप परमामृत ही दुग्ध (दुध) है ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ६ ॥

अर्जुन का सारथ्य स्वीकार कर जो प्रथम (पहले) लोकत्रय के उपकारार्थ (उपकार के लिए) इस गीतामृत दान किए थे, वह परमात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति इस महान् [illegible] दुस्तर समुद्र पार होने की इच्छा करते हैं, उनके [illegible] (मुमुक्षुयों के [illegible]) गीतानौका स्वरूप (नाव जैसा) है। इस नौका का (नाव का) आश्रय ग्रहण कर वे (मुमुक्षुगण) परम सुख से यह (संसाररूप समुद्र) को तर जा सकते हैं ॥ ७ ॥

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥

जो सर्वदा योगाभ्यास अनुशीलन करते हैं परन्तु गीता का उपदेश श्रवण नहीं करते वे यदि मोक्षपद मिलने के लिए वासना करते है, तो वे मूढ़बुद्धि और बच्चों के पास भी उपहासास्पद (उपहास के पात्र) होते हैं ॥ ८ ॥

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥ ९ ॥

जो लोग दिन-रात गीताशास्त्र का श्रवण या पाठ करते हैं, वे मनुष्य नहीं—निश्चय ही वे देवता हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहाऽर्जुनाय वै।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम् ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधन कर गीताज्ञान उपदेश किए थे। वहाँ भक्तितत्त्व ही श्रेष्ठ है। वहाँ सगुण और निर्गुण उपासना भी है ॥ १० ॥

सोपानाऽष्टदशैरेवं मुक्तिभुक्तिसमुच्छ्रितैः।
क्रमशश्चित्तशुद्धिः स्यात् प्रेमभक्त्यादिकर्मसु ॥ ११ ॥

गीताशास्त्र में उक्त भुक्ति-मुक्ति-तत्त्वपूर्ण अष्टादश अध्यायरूप अष्टादश सोपान के द्वारा (सीढ़ीयों के द्वारा) प्रेमभक्ति आदि कर्म के द्वारा क्रमशः (धीरे-धीरे) चित्तशुद्धि होती है ॥ ११ ॥

साधु गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।
श्रद्धाहीनस्य तत् कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥ १२ ॥

गीता सरोवर (झील) जैसा [illegible]र का स्नान उत्तम है ; इसमें स्नान करने से संसार–मल (संसार की मलि[illegible]) का नाश होता है। किन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति का स्नान हस्तिस्नान के समान (हाथी [illegible] स्नान [illegible]) होता है ॥ १२ ॥

गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम्।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत् ॥ १३ ॥

जो व्यक्ति गीता पढ़ना और पढ़ाना नही जानते हैं वह इस संसार में वृथा श्रम करते हैं ॥ १३ ॥

यस्माद् गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥ १४ ॥

जो व्यक्ति गीता शास्त्रोपदेश से अवगत नही हैं उनकी अपेक्षा अधम और कोई नही हैं। उनका मनुष्य देह धारण करना धिक्कार है; उनका ज्ञान, कुल, शील सभी पर धिक्कार है ॥ १४ ॥

गीतार्थं न विजानाति नोद्यमस्तत्परो जनः ।
धिक् शरीरं शुभं शीलं विभवं तद् गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥

जो व्यक्ति गीता के अर्थ से परिज्ञात नही हैं (भली-भाँति नही जानते) उनकी अपेक्षा अधम और कोई नही है । उनका शरीर पर, उनका कल्याण पर, उनकी शीलता पर, उनका वैभव (धन) पर धिक्कार है और उनका गृहाश्रम ग्रहण भी वृथा है ॥ १५ ॥

गीताशास्त्रं न जानाति नोद्यमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रारब्धं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥ १६ ॥

जो गीताशास्त्र नहीं जानते उनकी अपेक्षा अधम और कोई नहीं है । उनकी प्रतिष्ठा एवं पूजा, उनका मान एवं महत्त्व सारे निष्फल हैं ॥ १६ ॥

गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति [illegible] तन्निष्फलं जगुः ।
वार तत्तु
धिक् तस्य ज्ञा[illegible] निष्ठां तपो यशः ॥ १७ ॥
तमासाद्य प

गीताशास्त्र में जिन[illegible]त (मन) नहीं है उनके सारे कर्म निष्फल है ।
उनके [illegible] को धिक्कार है; उनके व्रत, निष्ठा, तप, यश सारे ही वृथा हैं ॥ १७ ॥

गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्मतम् ॥ १८ ॥

जो व्यक्ति गीतार्थ अभ्यास नहीं करते है उनकी अपेक्षा नराधम नहीं है । जो ज्ञानगीता में गीत नही हुआ है, वह आसुरी-विद्या है ॥ १८ ॥

तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद् धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥ १९ ॥

उस प्रकार के (असुर) ज्ञान निष्फल, धर्मरहित एवं वेदवेदान्त-शास्त्रों से अनुमोदित नहीं है । इसलिए धर्ममयी गीता निखिल (समस्त) ज्ञान की दात्री है; गीता सारे शास्त्रों की सारस्वरूपा एवं विशुद्धा है ॥ १९ ॥

सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा त्रिशिष्यते ।
योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ॥ २० ॥

विष्णुपर्व के दिन, एकादशी में जो गीतापाठ करते है वे स्वप्नावस्था में, जाग्रत्-अवस्था चंचल या स्थिर अवस्थायों में निर्भीक (भयशून्य रूप से रहते हैं— शत्रुग्रों उनकी हानि नहीं कर पाते ॥ २० ॥

स्वपन् जाग्रन् चलंस्तिष्ठन् शत्रुभिर्न स हीयते ।
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये ॥ २१ ॥

जो शालग्राम-शिला के निकट देवालय में या शिवालय में, तीर्थस्थान में या नदीतट में गीतापाठ करते हैं वे निश्चय ही सौभाग्य लाभ करते हैं ॥ २१ ॥

तीर्थे नद्यां [illegible] सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ।
देवकीनन्दन[illegible] गीतापाठेन तुष्यति ॥ २२ ॥

देवकी सुत भगवान् श्रीकृष्ण[illegible] ने[illegible] से जितना तुष्ट होते हैं उतना दान, यज्ञ, तीर्थ व्रतादि द्वारा तुष्ट नहीं होते हैं ॥ २[illegible]

यथा [illegible] वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादि[illegible]
गीताऽधीता च येनाऽपि भक्तिभावेन चेतसा ॥ २[illegible] ॥

जो भक्तिप्रवण चित्त से गीता अध्ययन किए हैं वे सारे वेदशास्त्र तथा पुराणादि के अध्ययन का फललाभ किए हैं ॥ २३ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि तेनाऽधीतानि सर्वशः ।
योगस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ॥ २४ ॥

योगस्थान में, सिद्धपीठ में शालग्रामशिला के सामने एवं सज्जन सभा में, यज्ञ में विष्णु के सामने जो गीतापाठ करते हैं वह परम सिद्धि को प्राप्त होते है ॥ २४ ॥

यज्ञे च विष्णुभक्ताऽग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २५ ॥

जो नित्य गीता पाठ एवं श्रवण करते हैं उनका दक्षिणा के साथ अश्वमेधादि यज्ञ सम्पन्न होता है ॥ २५ ॥

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम्।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम्॥॥२६॥

जो गीतार्थ का श्रवण करते हैं या दूसरे के पास उनका कीर्तन करते है और दूसरों को सुनाते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात्।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत्॥२७॥

जो विधिपूर्वक भक्तिभाव से आदर के साथ पवित्र गीतापुस्तक का दान करते हैं उनकी भार्या (पत्नी) प्रिय होती है ॥ २७ ॥ धर्म और

यशः सोभाग्यमारोग्यं लरे निष्फल हैं संशयः।
दयितानां प्रियो भूत्वा तत्र निष्फलं सुखमश्नुते॥२८॥

वे यशः सौभाग्य एवं आरोग्य ला[illegible] करते हैं इस विषय में सन्देह नहीं है, गीताशास्त्र में [illegible] पर सुख लाभ करते हैं ॥ २८ ॥

[illegible] चारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत्।
नोपसर्पति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे॥२९॥

तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिर्भवेत् क्वचित्।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च॥३०॥

विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाऽव्यभिचारिणीम्॥३१॥

जिस गृह में गीताशास्त्र की अर्चना होती है वहाँ हिंसा और अतिपापजनित दुःख प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ कभी त्रितापजनित पीड़ा, व्याधि, अभिशाप या पाप, दुर्गति या नरक भोग नहीं होता और देह में (शरीर में) विस्फोटकादि दुःख प्रदान नहीं करते है। परन्तु वे श्रीकृष्ण पद में आश्रय और अव्यभिचारिणी भक्ति लाभ करते हैं। गीताभ्यासरत व्यक्ति सारे जीवों के साथ सख्यता (मित्रता) लाभ करते हैं ॥ २९–३१ ॥

जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह।
प्रारब्धं भुंजतो वापि गीताभ्यासरतस्य च॥ ३२॥

स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते।
महापापाऽतिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्।
न किंचित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा॥ ३३॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा॥ ३४॥

ज्ञानाऽ[illegible]तं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत् स[illegible]ति गीतापाठेन तत् क्षणात्॥ ३५॥

सर्वत्र प्र[illegible] च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं [illegible] न लिप्येत कदाचन॥

प्रारब्ध-कर्मभोग करते हुए भी वे कर्म द्वा[illegible] बद्ध [illegible]
बन्धन से मुक्त होकर सुख में वास करते हैं। जिस प्रकार [illegible]
नहीं कर सकता है, उसी प्रकार महापाप और अतिपाप करने [illegible] भी गीताध्[illegible]
उसमें लिप्त नहीं होते हैं। अनाचारजनित दोष, अवाच्य जनित पाप, अभक्ष्यभक्ष[illegible]
जनित पाप, अस्पृश्य स्पर्शन-जनित दोष, ज्ञानकृत या अज्ञानकृत दोष–सारे दोष
गीतापाठ मात्र से ही नाश को प्राप्त होते हैं। स्थानास्थान विचार न करने के
कारण, भक्षण (भोजन) और पात्रापात्र विचार न करने के कारण जो पाप होते हैं,
वे पापसमूह गीतापाठ करने वाले को लिप्त नहीं कर सकते हैं॥ ३२–३६॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याऽविधानतः।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धं स्फटिकवत् सदा॥ ३७॥

शास्त्रोक्त विधि लंधन कर रत्नपूर्णा सारी पृथ्वी को प्रतिग्रह करने से जो
पाप होता है, एकमात्र गीतापाठ करने पर उसका (ग्रहीता का) सारे पाप नष्ट
होते हैं और वह शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल हो[illegible] है॥ ३७॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः ॥ ३८ ॥

जिनका अन्तःकरण सर्वदा गीतामृत पान करता है वे साग्निक, सर्वदा जपाभ्यास, क्रियाशील एवं यथार्थ पण्डित हैं ॥ ३८ ॥

दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ३९ ॥

ऐसा व्यक्ति दर्शनयोग्य, प्राकृत धनी, योगी एवं ज्ञानवान् है। उसने याज्ञिक, ..जक एवं निखिल ही (सारे) वेद का अर्थ देखा है ... ान हुआ है ॥ ३९ ॥

...धर्म औ...

गीतायाः पुस्तकं यत्र ... निष्फल हैं वर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्र... भूतले ॥ ४० ॥

तन्निष्फलं

...न्य गीतापाठ होता है, वहाँ पृथ्वी के प्रयागादि सारे तीर्थ वर्त्तमान
... यश ...भाग्य ...

गीताशास्त्र में ...

...कों... सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा।
उनके ...यों वे
...दवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥ ४१ ॥
वृथ
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्श्वदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ४२ ॥

जिनका गीता में अनुराग है उनके पास जीवितावस्था में और मरणावस्था में सारे देवतायां, ऋषियों, योगियों उनके देहरक्षक होकर अवस्थान करते हैं और गोपाल बालकृष्ण पार्शदसह नारदजी एवं ध्रुवजी उनके सहायक होते हैं ॥४१–४२॥

यत्र गीताविचारश्च पाठनं पठनं तथा।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥ ४३ ॥

जिस स्थान में गीताशात्र का विचार, अध्ययन और अध्यापन होता है, श्रीराधिका के साथ श्रीकृष्णजी उस स्थान में आनन्दपूर्वक विराजमान होते हैं ॥ ४३ ॥ ...

श्री भगवानुवाच

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम्॥ ४४॥

श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—"पार्थ ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा सार-सर्वस्व है; गीता मेरा अत्युग्र एवं अव्यय ज्ञान है ॥ ४४ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः॥ ४५॥

गीता मेरा उत्तम (निवास) है, गीता मेरा परम पद है, गीता मेरा गुह्य परम् (पदार्थ) है, गीता मेरा परम गुरु है ॥ ४५ ॥

गीताश्रयोऽहं [illegible] गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समा[illegible] पालयाम्यहम्॥ ४६॥

गीता के आश्रय में मैं व[illegible] परम आवास [illegible]
गीताज्ञान आश्रय कर मैं त्रिलोक[illegible]

गीता मे परमा[illegible]
अर्धमात्रा [illegible]

त[illegible]
नित्य[illegible]
क[illegible]

गंगा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता।
ब्रह्मावलिर्ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥ ४९ ॥
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी।
भेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमंजरी ॥ ५० ॥

गंगा, गीता, सावित्री, सीता, सत्या, पतिव्रता, ब्रह्मविद्या, त्रिसंध्या, मुक्त-गेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमंजरी ॥ ४९–५० ॥

इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथाऽन्ते परमं पदम् ॥ ५१ ॥

इन नामों को जो व्यक्ति स्थिर चित्त से नित्य जप करता है वह नित्य ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करता है एवं मृत्यु होने पर परमपद को प्राप्त करता है ॥५१॥

पाठेऽसमर्थः ... तदर्धं पाठमाचरेत्।
...ा है, वहाँ पृथ्वी के
तदा गो... ...नाऽत्र संशयः ॥ ५२ ॥

ग... ...म्पूर्ण गीता... वे यदि आधी गीता का भी पाठ ...उनके ... ...र्मों वे ... प्राप्त करता है—इस विषय में वृथ...

...कर्मे... सदा देहे देहशेषे...
...सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो...
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारद... ...फलं लभेत्।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता ...वर्तते ॥ ५३ ॥

जिनका गीता में अनुराग है उनके पास जीवितावस्था में और मरणावस्था में सारे देवतायां, ऋषियों, योगियों उनके देहरक्षक होकर अवस्थान करते हैं और गोपाल बालकृष्ण पार्शदसह नारदजी एवं ध्रुवजी उनके सहायक होते हैं ॥४१–४२॥

यत्र गीताविचारश्च पाठनं पठनं तथा।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥ ४३ ॥

जिस स्थान में गीताशात्र का विचार, अध्ययन और अध्यापन होता है, श्रीराधिका के साथ श्रीकृष्णजी उस स्थान में आनन्दपूर्वक विराजमान होते हैं ॥ ४३ १९–